ALOCHNA HINDI

main. Gurukul Kangri Col

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

PR
:५६
रि.३७ आ
अं-३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ACCN 49453
49452
079583

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
पुस्तकालय

विषय संख्या R
पुस्तक संख्या C8 दि 36 आ
आगत पंजिका संख्या सं. 36

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
DHARI BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

Stock Verification-2004

४८४५२
४८४५२

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

Stock Verification-2004

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

विशेषांक

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग : ५

079583

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

CHECKED 1973

आलोचना

079583

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी

त्रैमासिक आलोचना

पूर्णांक ३७ नवांक ११ दिसम्बर १९६६

वार्षिक मूल्य १२) इस अंक का ४)

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

सूची

● *सम्पादकीय*

—आधुनिक समाज में 'अलगाव' (alienation) की समस्या
शिवदानसिंह चौहान १

● *स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त-चर्चा*

—समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न
डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ९

● *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना*

—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्याएँ
विजयशंकर त्रिवेदी १३

● *हिन्दी-साहित्य*

—सातवां दशक : कविता की दिशा
डॉ० माहेश्वरी ३०

—दिनकर के काव्य में नारी
डॉ० मधुरमालती सिंह ४१

—नया भाव-बोध और धर्मवीर भारती
बैजनाथ सिंहल ५९

—सन् १९४७ के बाद के उपन्यास साहित्य में नारी समस्याएँ
डॉ० श्रीमती दागयार अन्सारी ६८

—महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन
लक्ष्मीकान्त शर्मा ७५

● *भारतीय साहित्य*

—रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी : एक विवेचन
रसिक बिहारी ९४

—राष्ट्रकवि सुब्रमण्य भारति
ना० रामसुब्रमण्यन् ९९

—मगही का नया साहित्य
आचार्य रामनरेश मिश्र १०३

● *विश्व-साहित्य*

—ब्रॅख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान् व्यक्तित्व
सुधा माहेश्वरी १०९

● *पुनर्मूल्यांकन*

—तुलसीदास के सौन्दर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्व
डॉ० छोटेलाल दीक्षित ११६

—राहुल की उपन्यास कला—एक मूल्यांकन
डॉ० सुबोधचन्द्र १२४

—चित्रलेखा : एक पुनर्मूल्यांकन
चन्द्रकान्त बांदिवडेकर १३२

● *साहित्य और कला*

—बंगला का रंगमंच : एक आरोप एवं निराकरण १४६
प्रतिभा अग्रवाल

● *मूल्यांकन*

—विकासशील मानव-चेतना का महाकाव्य : लोकायतन
डॉ० रणवीर रांग्रा

—यशपाल : दो नवीन कथा-कृतियाँ
मधुरेश १६०

—चौरंगी : एक आधुनिक उपन्यास १६८
भगवतीशरण सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

आधुनिक समा... अलगाव (Alien... की समस्या

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय लेखक और चिन्तक भी 'अलगाव' (alienation) की समस्या के प्रति सचेत हो गए हैं। कीर्कगार्द और कामू की रचनाओं में यह पढ़कर कि जिन्दगी दरअसल एक बेमानी (absurd) चीज़ है, वे हर प्रकार की सोद्देश्य क्रियाशीलता को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं। आज सामाजिक और राजनीतिक जीवन में जो अराजकता और स्वार्थान्धता छाई है और अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने जो कटुताएँ झेली हैं, उन सबके अनुभव ने उन्हें जैसे धकेलकर आत्म-सीमित कर दिया है। आमतौर पर संवेदनशील व्यक्ति आज अपने को समाज में बेगाना और अजनबी महसूस करता है। इस अजनबीपन और अलगाव का भाव-बोध—भीड़ में होकर भी उससे तटस्थ, भिन्न और विरक्त महसूस करना—उसके मन में एक टीस, एक कचोट, एक दर्द भर देता है, जिससे छुटकारा पाने का उपाय नज़र नहीं आता। योरोप और अमरीका में आत्मा में गहराते इस शून्य से मुक्ति पाने के लिए उन सभी विचारधाराओं को नकारा गया, जो न्याय और समानता के आधार पर समाज का पुनर्संगठन करने का आदर्श पेश करती हैं। फिर अपने बेमानी अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए सामाजिक दायित्वों और नैतिकता से विमुख होकर एकदम विलक्षण बनने की चेष्टाएँ शुरू हुईं। नये-नये फैशन चले। रचना में से विचार-वस्तु और अर्थ के छिलके एक-एक कर उतार फेंके गए और अन्त में उपन्यास, कहानी, कविता, चित्र, संगीत और नृत्य भी ज़िन्दगी की ही तरह बेमानी (absurd) बन गए, और नौजवानों की पीढ़ी अपनी उच्छृंखल हरकतों से अपने ही व्यक्तित्व की विश्रृंखलता में आनन्द लेने लगी। 'अजनबीपन' और 'अलगाव' की स्थिति के विरुद्ध हमारी नई पीढ़ी का यह अभियान, उससे मुक्ति न दिलाकर, उसकी सिद्धि का साधन बन गया। इसमें दोष नई पीढ़ी का नहीं है, बल्कि आधुनिक व्यवसायिक समाज का है, जो व्यक्ति को इस बात की न तो प्रेरणा देता है और न सुविधा ही जुटाता है कि वह अपनी ज़िन्दगी के वर्तमान 'बेमानीपन' पर 'सार्थकता' और 'सोद्देश्यता' का विधान लागू करने की ओर प्रवृत्त हो। सभी आदर्शों और सामाजिक लक्ष्यों का नकारना ही काफ़ी नहीं है, न कुछ आदर्शों का खोखलापन सिद्ध होते ही 'अस्तित्व-रक्षा' के बहाने त्याग और संघर्ष से विमुख होकर सारे मानव समाज को एक विशाल 'वेश्यालय' घोषित करके सन्तोष पा लेना ही काफ़ी है। नीग्रो लेखिका लोरेन हेन्सबरी ने कहा है कि अगर यह संसार एक वेश्यालय है तो किसी ने इसकी इमारत का निर्माण किया होगा और अगर निर्माण करने वाला हाथ मनुष्य का था तो निश्चय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मनुष्य का हाथ इसको गिराकर नई इमारत भी बना सकता है। मनुष्य जो भी बनाता है, सृजन करता है या कल्पना करता है, उसका नये सिरे से निर्माण, सृजन या कल्पना भी कर सकता है। लेकिन आजकल ऐसी बात सोचनेवाले को निरा बुद्धू समझा जाता है।

इसका कारण है। नई पीढ़ी को आज सभी जगह लगता है कि उसे धोखा दिया गया है, उसके साथ विश्वासघात किया गया है और उसे झूठे नारों और झूठे वायदों से अँधेरे में रखा गया है। मेकार्थी, स्तालिन, माओ, जान्सन इन सब ने अपने कृत्यों से नई पीढ़ी में यह भाव पैदा करने में मदद की है। लेखक या कलाकार तीन दशक पहले जीवन के संभाव्य भावी रूप की मूर्ति तराशने में जो आनन्द प्राप्त करता था, वह जैसे उससे आज बरबस वंचित कर दिया गया है। नई पीढ़ी की स्थिति आज डॉन क्विग्ज़ोट जैसी है, जो हीरोइक जीवन की आकांक्षी तो है, लेकिन जिसे इस युग के कन्फ़्यूजन में यह ज्ञान नहीं रहा कि उसका दुश्मन कौन है और जो हर अच्छी और बुरी चीज़ को समान रूप से नकारती हुई हवाई दुश्मनों से लड़ती है। उसका विद्रोह लक्ष्यहीन है।

लेकिन 'अलगाव' की समस्या इतनी सतही नहीं है और न कुछ भ्रष्ट, क्रूर या कट्टरपन्थी नेताओं के दुर्व्यवहारों या कुछ सामाजिक आदर्शों की ख़ामियों की चेतना से उत्पन्न 'मोह-भंग' का ही परिणाम है। यह नई पीढ़ी का ही भाव-बोध है, ऐसा भी नहीं है। आदि-काल से मनुष्य अलगाव और अजनबीपन की समस्या से जूझता आया है, यद्यपि इस शब्द (alienation) का प्रयोग संभवतः पहली बार जर्मन दार्शनिक हीगल ने किया था और तब से लगातार दार्शनिकों के बीच यह विवाद का विषय बना हुआ है। 'अलगाव' की भावना क्या है और इसके पैदा होने का मूल कारण क्या है, इस पर अभी तक बहस जारी है। इस भावना से मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है, या यह कि समाज में व्यक्ति का सामंजस्य कैसे संभव है, जिससे वह अपने कर्त्ता या विषयी होने के पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सके और अपने को 'स्वतन्त्र' हस्ती समझ सके, यह बहस मानव-जीवन की इस मूलभूत विसंगति को दूर करने के निमित्त ही चल रही है, न कि इसे मानव-जीवन की दुर्निवार नियति मानकर 'पलायन' और 'समझौते' के मार्ग खोजने के लिए।

हीगल का कहना था कि मनुष्य का अपने 'तत्व' से विच्छेद हो गया है। इसका कारण वे दो स्थितियाँ हैं—'आवश्यकता' और 'अलगाव'—जिन्होंने उसे बंधनग्रस्त कर रखा है। 'आवश्यकता' का अर्थ है प्रकृति पर उसकी निर्भरता और उन भौतिक साधनों और शारीरिक क्षमता सम्बन्धी सीमाओं को स्वीकार करने के लिए उसकी विवशता जो प्रकृति मनुष्य पर आरोपित करती है। 'अलगाव' से हीगल का तात्पर्य था मनुष्य के 'स्व' का 'कर्त्ता' और 'वस्तु' इन दो रूपों में बँट जाना, यानी उसका एक 'कर्त्ता' भी होना, जो अपने भाग्य का निर्णायक बनने की चेष्टा करता है और साथ ही एक 'वस्तु' भी होना जिसे अन्य लोग मनमाने ढंग से इस्तेमाल करते हैं। इसलिए हीगल ने कहा कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य 'स्वतन्त्रता' है, जिसमें उसे आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता हो और वह अपने 'तत्व' का स्वामी हो और उसे अपना 'स्व' पुनः प्राप्त हो जाए।

विज्ञान के विकास से यह अनुमान तो किया जा सकता है कि मनुष्य 'आवश्यकता' पर क़ाबू पा सकेगा और प्रकृति को बड़ी हद तक जीत सकेगा। लेकिन विषयी और विषय, कर्त्ता और वस्तु की भिन्नता तो ऐसी बुनियादी है कि उस पर क़ाबू पाना क्या सम्भव होगा? व्याकरण में भी यह अलगाव स्वीकार किया गया है और जीवन में भी यह एक हक़ीक़त है। यानी 'मैं' केवल कर्त्ता 'मैं' नहीं हूँ जो अपनी मर्जी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

मुताबिक संसार को जैसा चाहूँ रूप दे सकता हूँ। मैं 'मुझ' भी हूँ, एक कर्म, विषयमात्र जिसकी हस्ती उन बिम्बों से बनी है, जिस रूप में दूसरे मुझे देखते हैं। इसलिए पूर्ण 'स्वतन्त्रता' असम्भव है। विषय और विषयी का द्वैत अनिवार्य है। 'मैं—मुझ' के होते कोई आत्म-निर्णायक होने का लक्ष्य कैसे प्राप्त कर सकता है?

हीगल के प्रगतिचेता अनुयायियों ने इस प्रश्न पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया। ब्रूनो बॉयर ने, जो कार्ल मार्क्स के शिक्षक थे, कहा कि मानव-सम्बन्धों की हक़ीक़त का पर्दाफाश करने वाले एक आलोचनात्मक दर्शन का विकास करना चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह था कि सामाजिक कार्यों के पीछे व्यक्तियों की असली मंशा क्या होती है, इसका विश्लेषण ज़रूरी है। इससे ही 'कथनी और करनी' का भेद पैदा होता है। अधिकांश लोग पैदा होकर संसार को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। वे इस बात से बेख़बर रहते हैं कि उनकी नैतिक और धार्मिक आस्थाओं का मूल स्रोत क्या है, या उनकी बौद्धिक मान्यताओं या अबौद्धिक धारणाओं का आधार क्या है। संसार (या समाज) ही उनके लिए इन आस्थाओं, मान्यताओं और धारणाओं का निर्णय करता है। इसलिए आलोचना के नश्तर से इन सबकी हक़ीक़त को चीर-फाड़कर देखने से मनुष्यों में आत्म-चेतना जाग्रत होगी और उनका छिना हुआ विवेक उन्हें फिर मिल जाएगा। इससे वे अपने 'स्व' को प्राप्त कर सकेंगे। ब्रूनो बॉयर के अनुसार आत्म-चेतना के ज़रिये ही मनुष्य द्वैत की स्थिति पर क़ाबू पा सकता है।

इसके विपरीत दार्शनिक फ़्योरबाख़ ने कहा कि 'अलगाव' की स्थिति का मूल स्रोत धार्मिक अन्धविश्वासों और जड़-पूजन की प्रवृत्तियों में है। उनके अनुसार मनुष्य बंधनग्रस्त इसलिए है कि वह अपनी आकांक्षा, चेतना और संवेदना के सर्वोत्तम भाग को किसी बाह्य वस्तु या कल्पित परमात्मा में प्रक्षेपित करके उसे 'दैविक' होने की संज्ञा प्रदान करता है और अपने 'स्व' से विच्छेद कर लेता है। अलगाव की इस स्थिति पर क़ाबू तभी पाया जा सकता है जब उस 'दैविक' तत्व को, जो वास्तव में मनुष्य का अपना 'तत्व' है, पुनः मनुष्य में अधिष्ठित किया जाए, किसी ईश्वर-केन्द्रित धर्म के ज़रिये नहीं बल्कि मनुष्य-केन्द्रित धर्म के ज़रिये, ताकि आत्म-प्रेम के माध्यम से वह अपने को पुनः सम्पूर्ण बनाए। फ़्योरबाख़ का कहना था कि अलगाव की स्थिति या आत्म-विरक्ति का अस्त्र लेकर आलोचना को चाहिए कि वह ब्रह्मज्ञान (theology) की जगह मानव-ज्ञान (anthropology) और ईश्वर की जगह मनुष्य को प्रतिष्ठित करे ताकि दर्शन पारलौकिक की चिन्ता छोड़कर लौकिक जीवन की ओर उन्मुख हो, मनुष्य अमूर्त-अव्यक्त की प्रेतच्छाया से मुक्त हो और आधिदैविक के पंजों से छुटकारा पाए। तभी मनुष्यों के पारस्परिक-सम्बन्ध "मैं-तू" (I-Thou) के आधार पर स्थापित हो सकेंगे।

क्लासिक दर्शन-परम्परा में आदर्श पुरुष की कल्पना इससे भिन्न होती थी। उसके अनुसार चिन्तन और साधना से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य था, दुखों और द्वैत से मुक्ति पाने का यह मार्ग ही सर्वोपरि माना जाता था। लेकिन हीगल ने मुक्ति या स्वतन्त्रता की चर्चा करते समय एक नये तत्व की अवधारणा की थी। यह नया तत्व 'कर्म का सिद्धान्त' था। उसने कहा कि द्वैत और अलगाव की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए, जो मनुष्य को बंधन में डाले रखती है, उसे कर्म करना पड़ेगा। चेष्टा या कर्म में ही मनुष्य अपने को पा सकता है। जीवन में वह जो भी चुनाव करता है, उससे उसका चरित्र या मूल स्वभाव प्रकाशित होता जाता है। लेकिन हीगल के लिए 'कर्म का सिद्धान्त' एक अमूर्त धारणा ही बनी रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फ़्योरबाख़ के विचारों में भी मूर्तता नहीं आ पाई, क्योंकि उसने जिस मनुष्य की चर्चा की वह जातिवाचक 'मनुष्य' था हालाँकि उसने पहली बार 'अलगाव' (alienation) की समस्या को निश्चित परिभाषा दी थी और धर्म में उसका स्रोत खोजा था। जो भी हो हीगल के वामपंथी अनुयायियों ने 'अलगाव' की समस्या को लेकर पहली बार तमाम पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं पर प्रहार किया और मनुष्य के चिन्तन में 'आधुनिकता' के युग का सूत्रपात किया। इससे पहले प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने 'फॉस्ट' के रूप में 'आधुनिक मनुष्य', का चरित्र-चित्रण किया था—निर्बन्ध महत्वाकांक्षा के मनुष्य का—लेकिन गेटे भी नैतिक आदर्श के लिए प्राचीन यूनान का मुँह जोहता था। हीगल के दक्षिणपंथी अनुयायियों ने, जिनमें कीर्केगार्द सबसे अधिक उल्लेखनीय है, हीगल की 'अलगाव' (alienation) सम्बन्धी धारणा को धार्मिक साँचे में ढालने की कोशिश की। उसने कहा कि चूँकि मनुष्य किसी भी बौद्धिक चेष्टा से कर्त्ता-कर्म या विषयी-विषय के द्वैत पर क़ाबू नहीं पा सकता, इसलिए यह संसार बेमानी (absurd) है और हमेशा बेमानी बना रहेगा। संसार में मनुष्य हमेशा ही बंधनग्रस्त बना रहेगा—यह उसकी नियति है। वह केवल अपने से परे किसी धार्मिक अर्थ की प्रतीति के रूप में आस्था की कुलाँच भरकर निरपेक्ष सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की आशा भर कर सकता है। किन्तु यह कोई नया विचार नहीं था, क्लासिक विज्ञानवादी दर्शन का ही नये शब्दों में पिष्टपेषण था।

हीगल के वामपंथी अनुयायियों में कार्ल मार्क्स ने पहली बार उसके 'कर्म के सिद्धान्त' की कार्य (श्रम, work) के रूप में पुनर्व्याख्या करके उसे एक निश्चितता और मूर्तता प्रदान की। २६ साल के तरुण मार्क्स ने अपनी पुस्तक Economic-Philosophical Manuscripts में, जो अब तक अप्रकाशित थी, और जिसके कारण विचारक मार्क्स के आर्थिक-राजनीतिक सिद्धान्तों का ही अध्ययन-विवेचन करते रहे, उसने मनुष्य और उसकी स्थिति-प्रकृति का विश्लेषण किया है। मार्क्स के अनुसार कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य-मनुष्य बनता है और जीवित रहता है, कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह अपने अकेलेपन (अलगाव की स्थिति या alienation) से मुक्ति पाता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है और इस प्रकार अपने 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह प्रकृति को भी इच्छानुसार बदलता है। अलगाव (alienation) का स्रोत कार्य (श्रम) में अवस्थित करके मार्क्स ने एक क्रान्तिकारी क़दम उठाया और हीगल और उसके अनुयायियों की अमूर्त धारणाओं से मुक्त करके दर्शन को मानव-क्रियाशीलता की ठोस ज़मीन पर खड़ा कर दिया।

कार्य (श्रम) से विरक्ति या अलगाव की भावना के बारे में पहले तो मार्क्स ने भी आदर्शवादी द्वैत की परिकल्पना की। यानी यह कि कार्य (श्रम) करते समय मनुष्य बाह्य वस्तुओं (अपने श्रम से बनी वस्तुओं) में अपने-आपको परिवर्तित करता है। यह वस्तुएँ श्रम का ही रूप होती हैं, जो उस विरोधी और अजनबी विश्व का अंग बन जाती हैं, जो उसके ऊपर और उसके विरोध में खड़ा है। श्रम में मनुष्य को हाँका जाता है। श्रम में मनुष्य को दूसरे मनुष्य के बंधन, नियंत्रण और आदेश के मुताबिक चलना पड़ता है। इसके विपरीत 'स्वतन्त्रता' की स्थिति है, जहाँ मनुष्य प्रकृति को सचेत आत्मस्फूर्ति, सृजनात्मक कार्य (श्रम) से बदल सकेगा। लेकिन ऐसी 'स्वतन्त्रता' की प्राप्ति के मार्ग में बाधा कौन-सी है ? बाधा है यह स्थिति कि कार्य (श्रम) की प्रक्रिया पर मनुष्य का अधिकार खो गया है, साथ ही अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं पर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी, जिससे कार्य (श्रम) के प्रति उसमें विरक्ति (alienation) पैदा हुई है। अतः मार्क्स के अनुसार अलगाव और विरक्ति का मूल स्रोत अन्ततः वर्तमान सम्पत्ति-विधान में है। धर्म तो केवल अफीम का का नशा है जो इस तथ्य पर पर्दा डालता है। इसलिए फ़्योरबाख़ के विश्लेषण का महत्व गौण है। समाज (पूँजीवादी) में कार्य का संगठन-विधान इस रूप में होता है कि श्रम क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है और मनुष्य दूसरों के उपयोग का विषय-बन गया है, जिससे उसे अपनी ही हस्ती से विरक्ति हो गई है और उसमें अपने 'स्व' का अहसास खो गया है। प्रचलित मनोवैज्ञानिक अर्थ में संसार से विरक्ति के भाव-बोध को 'अलगाव की भावना' (alienation) कहते हैं। जर्मन दर्शन में इस स्थिति को मानव-अस्तित्व की एक दुर्निवार स्थिति (ontological fact) के रूप में देखा जाता था। एक निरपेक्ष स्थिति होने के कारण मनुष्य के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि वह 'अलगाव' (alienation) को अपने अस्तित्व की नियति मानकर स्वीकार कर ले। लेकिन मार्क्स ने, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, 'अलगाव की भावना' को सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर देखा। उसके अनुसार इतिहास-जनित मानव-सम्बन्धों में ही इस भावना का मूल है और समाज की वर्तमान व्यवस्था को बदल देने से अलगाव की भावना या स्थिति पर क़ाबू पाया जा सकता है। यह कैसे सम्भव होगा ? वर्तमान समाज (पूँजीवाद) में कुछ लोगों के पास सम्पत्ति है, कुछ सम्पत्तिहीन सर्वहारा हैं—इस वैषम्य का कारण क्या है ? मार्क्स ने इन प्रश्नों की तह तक पहुँचने के लिए दर्शन के अमली पहलू, अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू किया ताकि वह 'अलगाव की भावना या स्थिति' के भौतिक आधार को उद्घाटित कर सके। इस गम्भीर खोज के परिणाम-स्वरूप मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा कि पूँजीवाद (तथा अन्य वर्ग-समाजों) में शोषण की प्रक्रिया ही 'अलगाव की भावना' के लिए ज़िम्मेदार है। यदि पूंजी पर व्यक्ति का अधिकार न रहे और उसका समाजीकरण कर दिया जाए तो शोषण की प्रक्रिया खत्म हो जाएगी और मनुष्य अपने श्रम से जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, वह सभी लोगों में बाँटा जा सकेगा, और श्रम के प्रति मनुष्य में आज जो विरक्ति का भाव है, वह नहीं रहेगा। इससे कुछ लोगों ने यह ग़लत निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद ही मनुष्य में अलगाव की भावना का एकमात्र कारण है और पूँजीवाद और उसके साथ शोषण का अन्त होते ही मनुष्य में अलगाव की भावना का लोप हो जाएगा और मनुष्य अपने-आपको 'स्वतन्त्र' महसूस करने लगेगा, यद्यपि Manuscripts में मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि निजी सम्पत्ति को खत्म करते ही मनुष्य 'स्वतन्त्र' नहीं हो जाएगा, क्योंकि यह स्थिति 'सच्चे साम्यवाद' से भिन्न होगी—दरअसल वह 'कच्चे साम्यवाद' की स्थिति होगी, एक अनिवार्य पूर्व स्थिति जो 'सच्चे साम्यवाद' और 'विधेयात्मक मानववाद' की ओर आरोहण करने में सोपान का काम करेगी, जहाँ मनुष्य अपने रचे संसार में अपने स्वरूप को पहचान सकेगा। 'सच्चे साम्यवाद' में मनुष्य अपने को सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र और बंधन-मुक्त महसूस करेगा, क्योंकि वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सब चीजें उपलब्ध होंगी।

मार्क्स ने इस तथ्य का भी विवेचन किया कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यद्यपि व्यक्ति क़ानूनी तौर पर स्वतन्त्र है, फिर भी मालिक और मज़दूर का रिश्ता ऐसा है कि उसमें पड़ते ही मज़दूर अनजाने ही ग़ुलाम बन जाता है और कार्य (श्रम) से अलगाव भी महसूस करने लगता है। वह कौन-सा माध्यम है जो प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र व्यक्ति को ग़ुलाम बना देता है ? मार्क्स ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका उत्तर दिया कि 'धन' या 'पैसा' ही ऐसा माध्यम है। धन सबसे निर्वैयक्तिक प्रकार का मूल्य है और देखने में निष्पक्ष भी। जो व्यक्ति पैसे के लिए अपना श्रम बेचता है, वह अपने को स्वतन्त्र तो महसूस करता है लेकिन दरअसल उसके श्रम से बनी वस्तु का आसानी से धन के रूप में अमूर्त्तीकरण किया जा सकता है। श्रम धन के रूप में परिवर्तित हो जाता है और व्यक्ति बिना यह जाने ही कि 'अतिरिक्त मूल्य' उससे निचोड़ लिया गया है, अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है। अलगाव की भावना का यही मूल कारण है। इसीलिए मार्क्स ने कल्पना की कि 'सच्चे साम्यवाद' की स्थिति में पहुँचकर विनिमय के लिए 'मुद्रा' के माध्यम की ज़रूरत नहीं रहेगी।

यहाँ प्रसंगवश इस बात का उल्लेख जरूरी है कि कार्य (श्रम) से मनुष्य में अलगाव की भावना पैदा होने की स्थिति की ओर मार्क्स से पहले भी जागरण-युग के अनेक विचारकों और लेखकों ने संकेत किया था। जिन क्रूर परिस्थितियों में मज़दूरों और किसानों को काम करना पड़ता था, उससे द्रवित होकर उन्होंने सोचा कि 'श्रम' ही अलगाव की भावना और विरक्ति का कारण है। लेकिन चूँकि श्रम से मुक्ति असंभव है, इसलिए उन्होंने एक ऐसे यूटोपियन समाज की कल्पना की जिसमें श्रम-विभाजन से उत्पन्न होनेवाली सभी विकृतियाँ मिट जायेंगी और श्रम और खेल का भेद भी मिट जायगा। खेल में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और उसमें अनुरक्त मन से भाग लेता है। शिलर, मोज़ार्त और फॉरियर आदि का कुछ ऐसा ही विचार था। श्रम की वर्तमान क्रूर परिस्थितियाँ कैसे बदली जाएँ, उन्होंने इस समस्या पर गौर नहीं किया और न तात्विक दृष्टि से यही देखा कि श्रम और खेल दो प्रकार के कार्य हैं, जिनका भेद मिटाना सम्भव नहीं है। जैसा कि हंगेरी के विचारक मिक्सलोस अल्मासी ने लिखा है, 'श्रम' कभी खेल नहीं बन सकता, क्योंकि खेल बाह्य आवश्यकता की शृंखला से बाहर की वस्तु है। खेल के नियम मनुष्य के अपने बनाये नियम होते हैं, वह उन्हें बदल सकता है, खेल गड़बड़ हो जाय तो वह पुनः उसे खेल सकता है। खेल की स्वतन्त्रता एक विषयीगत स्वतन्त्रता है, जबकि कार्य (श्रम) प्रकृति के नियमों को समझकर उनका कुशलता से उपयोग करने पर आधारित होता है। कार्य (श्रम) में 'आवश्यकता' का जो बंधन है, उसे अलगाव (alienation) का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए। दरअसल अलगाव की भावना से मुक्ति श्रम की ऐसी परम्परा के विकास से ही संभव होगी, जिसमें हर मनुष्य अपनी अन्तरतम भावनाओं और रुचियों की तुष्टि कर सके। अर्थात् मनुष्य कार्य (श्रम) के माध्यम से इस बाह्य जगत में अपने को पा सके, अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त कर सके और यह न महसूस करे कि उसे ऐसा कार्य करना पड़ रहा है, जो उसकी इच्छा के विपरीत है। तभी वह प्रकृति पर अपने लक्ष्यों को आरोपित कर सकता है और संसार को अपना बना सकता है और ऐसा करने के बीच स्वयं अपने को भी बदलकर उच्चतर मानव बन सकता है। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि "वास्तविक स्वतन्त्रता, जिसकी क्रिया श्रम है, व्यक्ति की आत्मप्राप्ति और आत्माभिव्यंजना है।"

हंगेरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक-दार्शनिक जार्ज लूकाच के शिक्षक सिमेल ने यह मत प्रकट किया कि औद्योगिक समाज ही आधुनिक मनुष्य में अलगाव की भावना के विकास का मूल कारण है। औद्योगिक समाज में मनुष्य अपनी सामाजिक हस्ती खोकर एक गुमनाम इकाई बन गया है और उसका व्यक्ति अनेक भूमिकाओं में बँटकर बिखर गया है। बाद में उसने अपने विचार को व्यापक आधार देते हुए कहा कि अलगाव की भावना मनुष्य की सृजनशीलता और सामाजिक संस्थाओं के दबाव के बीच चलनेवाली अनवरत टकराहट का परिणाम है। फ्रॉयड ने भी 'सभ्यता और उससे उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असन्तोष' नाम की पुस्तक में इससे मिलती जुलती धारणा व्यक्त की थी कि मनुष्य की सहज वृत्तिमूलक आवश्यकताओं और सभ्यता द्वारा आरोपित वर्जनाओं में निरंतर तनाव की स्थिति बनी रहने के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य का जीवन दुखमय है। लूकाच ने 'इतिहास और वर्ग चेतना' नामक पुस्तक में इस सारी बहस को नैतिक-स्तर पर उठाकर भौतिकवादी दृष्टि से मानव-अस्तित्व के भविष्य को देखने का प्रयत्न किया।

अलगाव की भावना की अन्य कारणभूत सामाजिक स्थितियों पर परवर्ती चिन्तकों ने भी और कई दिशाओं से प्रकाश डाला है। सोवियत यूनियन में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित हुए पचास वर्ष हुए। पूर्वी योरोप के सात-आठ अन्य देशों में भी समाजवादी व्यवस्था को कायम हुए लगभग बीस साल हो चुके। चीन को हम इस प्रसंग में नहीं गिनेंगे, क्योंकि वहाँ समाजवादी व्यवस्था का विद्रूप ही नजर आता है। इस बीच का अनुभव यह बताता है कि अलगाव की भावना पैदा करनेवाली कुछ कारणभूत सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं, जो पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से पाई जाती हैं, और 'सच्चे साम्यवाद' में भी उनका बाह्यरूप शायद ही बदले, जैसे श्रम-विभाजन की स्थिति या तकनीकी विकास की स्थिति या व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के द्वैत की स्थिति। यह ठीक है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाने के कारण वहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण तो खत्म हो गया, लेकिन व्यक्तित्व को बाँटने और खंडित करनेवाले न तो सभी मनोवैज्ञानिक कारण ही मिट सके हैं और न अलगाव और द्वैत की स्थिति पैदा करनेवाली उपरोक्त सभी अनिवार्य तथा कारणभूत सामाजिक स्थितियों के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का नियमन इस ढंग से किया जा सका है कि उनके रहते हुए भी मनुष्य पूर्णतः सम्पृक्त हो सके और अलगाव न महसूस कर सामाजिक कार्य में एक कलाकार और सृष्टा जैसा उल्लास और अनुराग महसूस कर सके। संभवतः इसका कारण यह भी है कि समाजवादी व्यवस्थाएं अभी 'सच्चे साम्यवाद' की पूर्व-स्थितियाँ हैं। लेकिन इतना तो निश्चित है कि बीच में व्यक्ति-पूजा के अस्थाई किन्तु निरंकुश दौर से गुजरने के बावजूद समाजवादी देशों में व्यक्ति और समाज का वैषम्य और अन्तर्विरोध कम होता आया है और वहाँ के शोषण-मुक्त मानव को अलगाव की भावना से मुक्ति दिलाने की ओर भी सजग चेष्टा हो रही है। वहाँ कम-से-कम अलगाव की भावना से उत्पन्न मानसिक विश्रृंखलता की वह स्थिति तो नहीं है जो पाश्चात्य के पूँजीवादी देशों में आज पाई जाती है। मार्क्स की तरह अब तक यही सोचा जाता था कि आधुनिक समाज में कार्य (श्रम) का एक ही रूप बंधन-मुक्त है। केवल कलाकार और रचनाकार ही सृजन कार्य में अपने को मुक्त-हृदय और स्वतन्त्र महसूस करता है, और उन क्षणों में अलगाव की भावना पर काबू पा लेता है। लेकिन पूँजीवादी देशों में अब स्थिति ऐसी नज़र आती है कि कलाकार और कवि का व्यक्तित्व इस हद तक खंडित हो गया है कि वह सृजन के क्षणों में भी सम्पूर्ण नहीं हो पाता, विभाजित और बेगाना बना रहता है, जिसका मार्मिक वेदन उसकी रचना में ध्वनित होता है। आज कलाकार सृजन के स्फूर्तिदायी क्षणों में भी अगर अपने व्यक्तित्व को सीमित और विभाजित करनेवाली अलगाव की भावना से आक्रान्त करनेवाली स्थितियों से ऊपर उठकर मनुष्यमात्र से एकात्म महसूस नहीं कर सकता और पूरे समाज के भाग्य में रुचि लेकर विश्व-मानव होने की अखंडित अनुभूति नहीं कर सकता और सृष्टा के गौरव से वंचित होने की इस स्थिति को ही 'आधुनिक भाव-बोध' या 'भोगा हुआ सत्य' कह कर मन को सन्तोष देता है, तो कहना होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पूँजीवाद में सृजनात्मक कार्य भी अब 'स्वान्त: सुखाय' नहीं रहा। टोटल अलगाव (alienation) की यह स्थिति चाहे तथ्य हो लेकिन सत्य और अनित्य और दुनिवार भी है, यह समझना जीवन को बेमानी और फालतू मान लेना है और उन सामाजिक कारणों से आँख मीच लेना है, जिन्होंने यह स्थिति पैदा की है।

चूँकि अलगाव की समस्या के प्रति हमारे देश के बुद्धिजीवी भी अब सचेत हो गये हैं, आवश्यकता इस बात की है कि इस पर गम्भीरतापूर्वक हर पहलू से विचार किया जाय। जीवन को बेमानी समझनेवाले व्यक्तियों की भी आन्तरिक इच्छा यही है कि जीवन में सार्थकता नजर आये, क्योंकि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य आज भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। वह अपने से ही बेगाना नहीं होना चाहता, कर्त्ता का गौरव प्राप्त करना चाहता है और चाहता है कि सामाजिक जीवन इसके लिए उसे अनुकूल अवसर प्रदान करे।

आभार प्रदर्शन

'आलोचना' के सम्पादन-कार्य से आज मुक्त होते समय मैं हिन्दी और अन्य भाषाओं के उन सभी समालोचकों, विद्वानों और नई व पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिनका स्नेह-सौहार्द्र और सहयोग मुझे लगातार मिलता रहा है, जिसके कारण ही 'आलोचना' आज के कन्फ्यूजन में एक विधेयात्मक भूमिका अदा कर सकी। सन् १९५१ में 'आलोचना' का आरम्भ करते समय मेरे सामने यह उद्देश्य था कि वह साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों का गम्भीर मूल्यांकन प्रस्तुत करे और यथासंभव उन्हें नया मार्ग-निर्देश दे। दोबारा मैंने जब इसका सम्पादन-भार संभाला तो उस समय भी मेरे सामने यही उद्देश्य था। अपनी अक्षमताओं से मैं बेखबर नहीं हूँ, फिर भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आलोचना के माध्यम से जो कुछ भी कर सका, उसका श्रेय वास्तव में साहित्य के उन मर्मज्ञ विद्वानों को है, जिन्होंने अपना मूल्यवान् सहयोग देने में कभी संकोच नहीं दिखाया। इस बीच अन्य कार्यों में, जिनका परोक्ष रूप में साहित्य से ही सम्बन्ध है, मेरी व्यस्तता इतनी बढ़ गई है कि 'आलोचना' के सम्पादन की ज़िम्मेदारी का निर्वाह करना कठिन हो गया है।

शिवदानसिंह चौहान

श्री शिवदान सिंह चौहान ने जिस योग्यता, दक्षता और तत्परता के साथ अब तक 'आलोचना' का संपादन किया है उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। चौहानजी 'आलोचना' के एक संपादक ही नहीं, बल्कि संस्थापक हैं; और इसके लिए राजकमल प्रकाशन उनका चिरऋणी है। इस पत्रिका के द्वारा साहित्य में समीक्षा की एक स्वस्थ मर्यादा स्थापित हुई है और राजकमल को भी गौरव प्राप्त हुआ है। चौहानजी 'आलोचना' और राजकमल-परिवार से जिस प्रकार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं उससे हम आश्वस्त हैं कि वे आगे भी 'आलोचना' को अपना सहयोग और परामर्श देते रहेंगे। भविष्य में 'आलोचना' उनके द्वारा स्थापित स्वस्थ एवं प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाने का पूरा प्रयास करेगी।

शीला संधू
मैनेजिंग डाइरेक्टर,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमानन्द श्रीवास्तव

समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न

आकस्मिक नहीं है कि पिछले दिनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिबद्धता (कमिटमेन्ट) की सबसे अधिक चर्चा हुई है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लेखन की समस्याओं में इसे सबसे अधिक प्रतिष्ठा भी मिली है। इसके पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण संभवतः यह है कि दायित्व-चेतना के विरोध में 'स्वतन्त्रता' का जो नारा दिया गया था वह देखते-देखते 'निषेध' एवं 'नकार' के स्वर में घुल-मिल गया। आवश्यक हो गया था कि लेखक संक्रमण और विघटन की स्थिति में भी स्वीकार का कोई रास्ता चुने। समय की चुनौती स्वीकार करने वाले लेखक ने तब प्रतिबद्धता को भी मूल्य के रूप में चुना। प्रतिबद्धता का प्रश्न नये सन्दर्भ में इतना महत्वपूर्ण हो उठा कि लेखकों ने वक्तव्यों एवं टिप्पणियों में इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया और एक-दो पत्रों ने इस प्रश्न पर अपने विशेष अंक भी निकाले। इस सिलसिले में अधिकतर लेखकों ने स्पष्ट किया कि उनकी प्रतिबद्धता आज की जटिल और निर्मम मानव-नियति के प्रति ही है। जिन्हें यह व्याख्या अविश्वसनीय लगती है वे प्रतिबद्धता को ग़ैर-साहित्यिक, दूसरे शब्दों में राजनीतिक प्रश्न मान रहे हैं और सफ़ाई के तौर पर कहते हैं कि साहित्यकार के रूप में वे अपने अतिरिक्त किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रतिबद्धता अपना अर्थ-विस्तार भी कर सकती है या उसकी अर्थ-व्यंजना इतनी सीमित नहीं है जितनी वे समझते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या प्रतिबद्धता राजनीतिक प्रश्न है? शायद है—शायद नहीं है! अमरीका अपने को वियतनाम में प्रतिबद्ध कहता है और साबित करता है कि इस शब्द की आड़ में राजनीतिक षड्यन्त्र भी चल सकता है नहीं तो यह कौन-सी प्रतिबद्धता है जो मानव जाति के बहुत बड़े हिस्से को बर्बरता से नष्ट करने के लिए तत्पर है। दूसरी ओर भारतीय लेखक जब अल्जीरिया की स्वाधीनता की मांग करता है या वियतनाम में अमरीकी रुख़ के प्रति अपना विरोध ज्ञापित करता है तो यह प्रमाण देता है कि प्रस्तुत प्रश्न उसके लिए राजनैतिक से पहले नैतिक प्रश्न है। लेखक के रचनात्मक मानस में भीतर से ही प्रतिबद्धता की यह नैतिक चेतना उत्पन्न होती है—बाहरी दबावों के कारण नहीं। जिस तरह राजनीति सही और ग़लत हो सकती है वैसे ही इस प्रश्न का उपयोग सही या ग़लत रूपों में संभव है। समकालीन लेखन में इसका साक्ष्य मौजूद है कि ईमानदार लेखक समकालीन मानव-नियति के प्रति अपने कठोर दायित्व के रूप में इसे स्वीकार करता है। किसी प्रश्न को राजनीतिक कह कर टाल देना भी एक प्रकार की राज-नीति है— तमाम विराट और वायवी शब्द या सन्दर्भ उसे छिपाने में समर्थ नहीं हैं। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिडम्बना ही है कि अठारह वर्षों के भारतीय लोकतन्त्र में यह 'राजनीति' कई बार दुहराई गई है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि राजनीति के स्वर में लिखा हुआ साहित्य भी मानव-नियति के बुनियादी प्रश्नों को उसी तरह टालता रहा है जिस तरह राजनीति की छाया से परहेज़ करने वाला व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी लेखन।

प्रतिबद्धता अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि वह किसी न किसी के प्रति होती है। भक्तिकाल में प्रतिबद्धता धर्म या ईश्वर के प्रति थी, रीतिकाल में राज्याश्रय (दरबारी संस्कृति) के प्रति। यह प्रतिबद्धता समर्पण ही थी। आधुनिक काल में प्रतिबद्धता राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग के प्रति थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में कुछेक लेखकों के मस्तिष्क या लेखन में ही सही, वह भारतीय लोकतन्त्र के प्रति उन्मुख रही है। भारतीय राजनीति एवं सत्ता की विसंगतियों के कारण वह टूटती गयी है क्योंकि समकालीन परिस्थितियों के विघटन के बीच उसकी दिशा इतनी स्पष्ट नहीं रह गई है। देखते देखते दुनिया के तमाम देशों की समस्याएं एक दूसरे से इस तरह घुलमिल गई हैं कि सृजनकर्ता सबसे पहले अपने को व्यापक मानवीय नियति के प्रति ही प्रतिबद्ध अनुभव करता है। समकालीन सृजन-प्रक्रिया में यह प्रश्न जटिलतर हो गया है। स्थितियों की अनिश्चयता निर्मम चुनौती के रूप में समकालीन लेखक के सामने है जिसे बदलना आसान नहीं है। लेकिन सिर्फ इस लिए उसकी प्रतिबद्धता की चेतना घटती नहीं, पहले की तुलना में बढ़ ही जाती है। अब लेखक सहज प्रतिबद्ध नहीं है, प्रतिबद्ध होने के लिए अभिशप्त है, उस पूरी मानवीय नियति के प्रति, जिसने आज की कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित होने वाले भयानक अमानवीकरण का ही अनुभव कराया है।

समकालीन लेखक की प्रतिबद्धता इस यथार्थ-स्थिति के स्वीकार के प्रति है जिसके सन्दर्भ में स्पष्ट है कि मानव-प्रेम, देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, सह-अस्तित्व जैसे शब्दों के अर्थ छिलके की तरह उतर गये हैं। उसकी प्रतिबद्धता इस निर्मम स्थिति के स्वीकार के प्रति है। नये कवि केदारनाथ सिंह की कविता इस 'स्वीकार' से ही शुरू होती है :

उठो और दरवाजा खोल दो।
अखबार का समय हो गया है
और कुछ भी ठीक नहीं
सूरज और हाकर में किसकी दस्तक
पहले पड़ जाय !

और आगे वे अपने को स्पष्ट करते हैं:—

'प्रतीक्षा'—प्रेमिका की हो या अखबार की
एक ग़लत शब्द है
ग़लत और बेमानी।
आदमी को सिर्फ़ 'तैयार' रहना चाहिए।

यहीं समकालीन कविता छायावाद के रूमानी भाव-बोध से, जो घिसटकर आगे की नवरोमानी कविता तक चलता रहा, अलग हो जाती है। केदारनाथ सिंह क्योंकि अपने ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्ध कवि हैं अतः वे आज की जटिल नियति को उसके निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करते हैं :

> क्योंकि इस समय
> कितना मुश्किल है अलग कर पाना
> प्रेमिका को अखबार से
> और अखबार को
> सुर्ख़ आँखों वाले किसी जंगली जानवर से !

केदार इसी कविता में सचेत करते हैं कि आज के व्यक्ति को उन अस्पष्ट शब्दों से बचना चाहिए जो उसकी कठोर प्रतिबद्धता के मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सावधान रहना चाहिए :

> कुछ शब्द हैं,
> जैसे 'भविष्य'—जिसके जादू से बचना चाहिए।
> कुछ चीज़ें हैं,
> जैसे साबुन का यह डिब्बा
> जिसके बारे में तुम्हारी चुप्पी
> सिर्फ़ उन ताक़तों को लाभ पहुँचाती है
> जो तुम्हें
> तुम्हारे तौलिए के विरुद्ध इस्तेमाल
> करना चाहती हैं।

निर्मल और बाद के कहानी लेखकों, जैसे दूधनाथसिंह, महेन्द्र भल्ला या ज्ञानरंजन आदि की कहानियों में यथार्थ स्थिति के स्वीकार का स्वर तेज़ है—चाहे अस्वीकारात्मक स्थिति के ही स्वीकार का स्वर हो। यह केवल संयोग नहीं है न अभ्यास का परिणाम कि समकालीन लेखन की भाषा में अतिरंजना एकदम नहीं है— सतही आवेश भी नहीं. जो झूठे आश्वासन का ही एक पहलू होता है।

आक्टोवियो पाज़ जब ब्रेख़्त पर विचार करते हैं तो कुशलता से कहते हैं– 'विद्रोह अपने अन्दर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता। मगर इससे भी बड़ा ख़तरा तब पैदा होता है जब कमिटमेन्ट या प्रतिबद्धता को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मान-दण्ड मान लेने का आग्रह किया जाता है।' पॉज़ की आखिरी बात से सहमत होना कठिन नहीं है लेकिन ग़लत स्थितियों के प्रति विद्रोह का ख़तरा प्रतिबद्ध लेखक को उठाना ही पड़ता है (यों अपने ढंग से हर जागरूक व्यक्ति को, नागरिक को उठाना पड़ता है)! आख़िर आधुनिक कवि एवं लेखक स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने यह ख़तरा उठाया ही। मार्क्सवाद में उनकी आस्था न भी होती तब भी प्रतिबद्ध लेखक के रूप में वे यह ख़तरा उठाने के लिए अभिशप्त थे। वे यथार्थ स्थिति के प्रति अत्यन्त जागरूक थे—यथार्थ उनके लिए यथार्थ ही था, फैन्टेसी नहीं। उन्होंने यथार्थानुभव को प्रतीकों में समाप्त नहीं कर दिया, रूपकों में फैलाया। इसकी चिन्ता उन्हें नहीं हुई कि उनकी कविता के 'सौष्ठव' में कोई कमी आती है। फैलाव मुक्तिबोध की कविता का गुण है क्योंकि वह बुनियादी प्रश्नों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ऐतिहासिक भूमि पर व्याख्या करता है। प्रतिबद्ध कवि मुक्तिबोध की पहचान कितनी अचूक और तीखी थी यह बताने की आवश्यकता नहीं— जब वे लिखते हैं—

काले लिबास में ढंकी हुई गहरी छाँहें
हाथों में लालटैन मद्धिम
जेबों में धन
आज़ादी को खरीदने का ऊधम···
वे छाँहें तो दुनियाँ के आरपार जाती-सी
बाहें हैं
उसकी बाहें—
जो उस बँगले में अदृश्य बनकर बैठा है
वे गुप्त सीढ़ियाँ रूपक छिपे तरीकों के···

तो उनके ऐतिहासिक तर्क को समझना कठिन नहीं होता।

समकालीन सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र से सहमत हो सकते हैं जब वे आज की स्थिति में इसे आवश्यक प्रश्न मान कर उठाते हैं परन्तु कृतिकार के संस्थान में रूपान्तरित होकर रह जाने की नियति का विरोध भी करते हैं क्योंकि प्रतिबद्ध होना प्रतिबद्ध होना है, समर्पित होना नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजयशंकर त्रिवेदी

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्याएँ

युग-जीवन के प्रभाव साहित्य की गरिमा में संश्लिष्ट होते हैं। युग और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का सेतु बौद्धिक चेतना हुआ करती है, जो उसके अस्तित्व का बोध करवाती है। संवेदनाओं का प्रदेय उसके महत्व को स्थायित्व देता है, किन्तु उसके स्थायित्व का मूल्यांकन समीक्षकीय चेतना करती है। अपितु, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि समीक्षा की चेतना ही उसके मूल रूप से प्रस्थापन में सहायक होती है। जिसे समय की आँच अपने में गला नहीं पाती बल्कि उसे तपाकर कुन्दन की तरह उसके महत्व को प्रकट करती है। समीक्षा का प्रदेय किसी भी साहित्य को ऊपर उठाता है, हिन्दी साहित्य को भी समीक्षा ने एक स्थैर्य दिया है जो कई कठिनाइयों के बाद प्रकट हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी समीक्षा के निकट विगत का सम्मोहन और आगत का आग्रह उपस्थित हुआ। यही नहीं, कई समस्याओं का उदय भी हुआ। इन समस्याओं के बीच समीक्षा अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर ही अपने पथ का प्रस्थापन कर अपनी महत्ता को प्रकट कर सकती है।

सन् १९४७ से हमने स्वतन्त्रता का जीवन आरम्भ किया था। स्वतंत्र होते ही हमारे सामने कई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। और अधिकांश समस्याएँ वर्तमान की आवश्यकता बन गईं। जन-जीवन के व्यवहार के लिए भाषा की समस्या भी प्रमुखता रखती थी। जो उस समय हल न होकर २६ जनवरी १९५० में जाकर हुई। हमारे संविधान में राष्ट्र-भाषा की महत्ता को स्वीकारा गया और हिन्दी को उसकी उपयुक्तता के अनुकूल पाया गया। कदाचित इसलिए कि हिन्दी इस महादेश की एक ऐसी भाषा थी जो लगभग एक सहस्र वर्ष से अपने साहित्य और व्यवहार के बूते पर राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी हो सकती थी। राष्ट्र जीवन को बड़ी व्यापकता के साथ छूने वाली इस भाषा ने अपने महत्व को प्रतिपादित किया। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने उसकी महत्ता को प्रकट करते हुए कहा है, "जिस भाषा को जितने अधिक लोग बोलते हों उसका उतना ही राष्ट्रीय महत्व मानना होगा। हिन्दी का करीब एक हजार वर्षों का साहित्य है, जिसमें सूर, तुलसी, मीरा और भारतेन्दु से लेकर आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों की बहु-मूल्य निधियाँ मौजूद हैं। गद्य-लेखन का कार्य भी काफी हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की अपनी परम्परा है जो राष्ट्र के जीवन के समस्त संघर्षों से जुड़ी हुई है। वह इतिहास की दृष्टि से भी केन्द्र की भाषा है।"[१] अस्तु राष्ट्र-भाषा की समस्या एक ढंग से

१. राष्ट्र-भाषा की कुछ समस्याएँ : प० नन्ददुलारे बाजपेयी, पृष्ठ ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल हो चुकी थी किन्तु उसके निकट राजनैतिक स्वार्थों के उपस्थित हो जाने के कारण उसमें जो विपुल साहित्य 'वैज्ञानिक शब्दावली', पारिभाषिक कोश तेज़ी से निर्मित हो रहा था, वह उलझ गया। डा० नगेन्द्र ने कहा भी है कि 'हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी था कि संविधान सभा ने उसे राज-भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतंत्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनैतिक वत्याचक्र में फँस गई।'[1] इसके बावजूद हिन्दी के प्रति जो दुर्भावनाएँ थीं वे धीरे-धीरे मिटती गईं। और स्वतंत्रता के बाद लगभग दो दशकों में हिन्दी और उसके साहित्य ने विपुल प्रगति की है।

हिन्दी की प्रगति के साथ उसके साहित्य की प्रगति निरन्तर होने लगी और विपुल मात्रा में हिन्दी का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकाशन ने हिन्दी को बलवती बनाने में निश्चय बहुत बड़ा योग दिया है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि हिन्दी के प्रकाशन की प्रगति ने जहाँ हिन्दी के लाखों पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया है, वहीं उसकी समृद्धि ने हिन्दी के गौरव को राष्ट्रभाषा की महत्तर शालीनता से अभिषिक्त भी किया है। कविता, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, अनुसन्धान आदि पर प्रकाशन ने प्रगति के द्वार खोल दिये हैं। प्रकाशन ने हिन्दी की चहुँमुखी प्रगति की। प्रकाशन सुविधा ने हिन्दी में एक ओर यदि व्यावसायिकता को ऊपर उठाया तो दूसरी ओर सद्-असद् के विवेक से उसे वंचित भी किया है। सद्-साहित्य की समृद्धि में अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन कम हुआ और व्यावसायिकता की पूर्ति के लिए धड़ल्ले के साथ घटिया किस्म का प्रकाशन बहुत हुआ। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी में आचार्य द्विवेदी के युग के बाद फिर संक्रमण-काल आ उपस्थित हुआ है, जिसमें अच्छे और बुरे साहित्य की पहचान कम हो गई। मूल्यांकन की दृष्टि क्षीण हो गई।

एक ओर हम प्रगति करते जा रहे थे तो दूसरी ओर इस संक्रमण की पीड़ा से भीतर ही भीतर आक्रांत हो उठे। जीवन की विकटता का दृष्टिकोण व्यवसायिकता के परिवेश में काफी खोखला हो उठा। कदाचित् यही कारण है कि सद् और असद् के बीच की पहचान के लिए समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। जीवन के ह्रासोन्मुख रूप-तत्व साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा में सहायक नहीं हो पाये। युग जीवन के अन्तर्संघर्ष को इस व्यावसायिक साहित्य की आँखें नहीं देख पाईं। कदाचित् तभी नई चेतना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और हम अपने साहित्य में स्वस्थ मूल्यों की स्थापना की दिशा में अग्रसर हो चले। हिन्दी के विकास में उत्पन्न यह संक्रमण एक नये संघर्ष की भूमिका लेकर आया, जिसमें सद्-साहित्य की दिशा में गतिरोध तो अवश्य था, किन्तु इसने आत्म-निरीक्षण का अवसर भी प्रदान किया। स्वस्थ समीक्षादर्शों की आवश्यकता ऐसे ही अवसरों में उत्पन्न होती है, ताकि वे उत्पन्न हुए गतिरोध को हटा सकें। काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की महत् परम्परा हमारी भारतीय मनीषा में कालांतर से चली आ रही है। शास्त्रीय दृष्टिकोण समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को सदैव निर्मित करते रहे हैं।

१. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समीक्षा के विकास की जो सम्भावनाएँ दिखाई पड़ने लगीं, उसमें साहित्य की समृद्धि का भी योग है। अगर हम स्वतंत्र नहीं हुए होते तो न राजभाषा का प्रश्न आता और न हिन्दी के साहित्य का अपना इतना विकास ही हुआ होता। स्वतंत्रता ने साहित्य की समृद्धि को जो दिशा दी है, वह निःसन्देह उर्वर है। किन्तु इस उर्वरता का यह आशय नहीं कि कुछ भी उच्छिष्ट, गर्हित को उर्वरता का प्रदेय मान लिया जाय। प्रकाशन के सम्मुख आज यह सबसे बड़ा प्रश्न है कि सद्-साहित्य को सामने लाने में वह कहाँ तक व्यावसायिकता के सामने झुकता है। ऐसे अवसरों पर ही समीक्षकीय चेतना निर्णय के लिए बाध्य करती है। १५ वर्षों में राष्ट्र-भाषा बनाने का दिया गया समय यद्यपि राजनैतिक षड्यन्त्र ही था, किन्तु इन वर्षों में हिन्दी को अपने विकास और समृद्धि के जो अवसर मिले वे हितप्रद अधिक थे। इस सबसे साहित्य की समृद्धि ही हुई और हिन्दी गौरवान्वित भी हुई। समृद्धि के नाम पर शैवाल, प्रकाशन के आधार पर व्यावसायिकता; जीवन की रागात्मक अनुभूतियों के स्थान पर भौतिकता की अनास्था सभी कुछ समीक्षा के सद्-विवेक को उत्पन्न करते हैं। हम जीवन के मूल्यों को सदैव शाश्वत आधारों पर देखने के पक्षपाती रहे हैं। विकृति का संवेग अधिक समय तक स्थायी नहीं रखा जा सकता। नीर-क्षीर की दृष्टि विवेक के साथ वहाँ उत्पन्न हो ही जाती है। समीक्षा इन्हीं आधारों को स्थिर रखने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, जो सुकृति की नियामक होती हैं। समीक्षा की यही विधायकता है। साहित्य अपने समय के साथ बराबर चलता हुआ शाश्वत मूल्यों को स्थापित करता है। वह दैनन्दिन संघर्ष की समस्याओं को उसके सत्य और सत्व के आधार पर स्वीकार करता है। समस्याएँ और संघर्ष साहित्य का उन्मूलन नहीं कर पाते अपितु उसकी दृष्टि को स्थिर बनाने में सहायक होते हैं। कदाचित् इसलिए कि इनका अस्तित्व नई चेतना की भूमिका लिए आता है। जीवन की संवेद्य शक्ति को साहित्य, आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत बना देता है। उसके निकट उत्पन्न सद् और असद् के विवेक को स्थिर रखता है। सुश्री शचीरानीगुर्टू ने कहा भी है कि 'युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इंसान उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है पर उसकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकरा कर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात नहीं होते वरन् नित नये रूपमें उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस कशमकश में ही पथ खोजना पड़ता है।''[1] समीक्षक, विधायक तत्वों के लिए समग्र जीवन की ऊहापोह कर डालता है, ताकि उसके मूल्यांकन में किसी तरह की हीनता का लेश न रह जाय।

साहित्य समाज की चेतना है, और समीक्षा साहित्य की चेतना। अस्तु, समीक्षा की चेतना, चेतना की चेतना है। उसके निकट दुहरा दायित्व है, वह बड़ी गम्भीरता से अपने अस्तित्व को प्रकट करती है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि समीक्षा जीवन की समग्रता से अन्तर्दृष्टि प्राप्त करती है और विवेक के माध्यम से आस्फालित होती है। जीवन मूल्यों को साहित्य के माध्यम से कलाकार ऊपर उठाता है। सौंदर्य की दिशा को उन्मुक्त करने में समीक्षा की दृष्टि ही अधिक समीचीन हुआ करती है। श्री शिवदान सिंह

१. वैचारिकी : शचीरानी गुर्टू, पृ० ३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौहान ने कहा भी है "आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों के पूरे सौंदर्य-मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्यकारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमांत खोल देती है। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियन्त्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा भी देती है।"[१] समीक्षा की विधायकता कृति के कालजयी मूल्यों की स्थापना करती है। वह संवेदना और विवेक के माध्यम से सत्य के उद्घाटन का अभिनव स्वरूप उपस्थित करती है। साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में उत्पन्न व्यावसायिक अथवा घटिया, असौलिक तत्वों के उन्मूलन का महत् भार वहन करती है। जिसके माध्यम से नई दिशा और नई आस्था को प्रकट करती है।

विश्लेषण और मूल्यांकन इस विधा के अन्तर्सत्य हैं। समीक्षा इन्हीं के आधार पर अपने उद्देश्य को पूरा करती है। ये आधार कृतित्व के प्रति दृष्टि-निर्माण में सहायक होते हैं। अन्तर और बाह्य के सूक्ष्म विश्लेषण से सत्य के उद्घाटन में सहायता मिलती है। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि मूल्यांकन के आयाम स्पष्ट हो जाते हैं। संवेदना और विवेक मूल्यांकन के सही रूप को स्थिर करते हैं, जिससे एकांगिता का दोष नहीं आ पाता। डा० देवराज ने कहा भी है, "जीवन की रागात्मक संवेदनाओं के उद्घाटन या चित्रण को साहित्य कहते हैं तथा विश्लेषण एवं मूल्यांकन को आलोचना।"[२] अस्तु समीक्षा के निकट जो अन्तर्दृष्टि है, वह उसी के माध्यम से कृति के प्रति उचित मूल्यांकन को प्रस्तुत करती है। समीक्षा जहाँ सद् और असद् के विवेक को उत्पन्न करती है, वहीं वह कलाकार के प्रति सृजन के द्वार खोलती जाती है। यही उसकी विधायकता की परिणति हुआ करती है। इसका अभाव एकांगिता को अधिक उभारता है। और समीक्षा के मूल उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं हो पाती, जिसमें उसे सद् और स्थिर साहित्य का निर्माण करना होता है। सृजन के अनहित में समीक्षा का कोई मूल्य नहीं रह जाता। सही और सम्यक् अन्तर्बाह्य के आधार पर उसका मूल्यांकन करना समीक्षा का अभिप्रेय है। डॉ० भगवत्-स्वरूप मिश्र ने कहा भी है, "वस्तु को उसके सम्पूर्ण रूप में विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से देखना ही समीक्षा है।"[३] समीक्षा, शास्त्र और परीक्षण के आधार पर निरन्तर विकसित होती रही है। समीक्षादर्शों के निर्माण में काल का भी अपना प्रभाव रहा है।

हिन्दी समीक्षा को संस्कृत से साहित्य-शास्त्र की अमूल्य परम्परा प्राप्त हुई है। हिन्दी में शास्त्रीय समीक्षा के आधार संस्कृत के ग्रन्थ ही हैं। रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय ये छः सम्प्रदाय भारतीय साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्रचलित रहे हैं। नाट्य-शास्त्र, श्रृंगार प्रकाश, रस मंजरी, रसतरंगिणी आदि ग्रन्थ रीति-शास्त्र और काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्य दर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में उपयोगी रहे हैं।

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष ; श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ २०८
२. आधुनिक समीक्षा : डा० देवराज, १०६
३. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, पृष्ठ २१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रीय समीक्षा हिन्दी समीक्षा के लिए निश्चय ही विकासमान तत्व रही है। इसी समीक्षा का आगे चलकर जो स्वरूप स्थिर हुआ वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० सूर्यकान्त, श्री सुधांशु की कृतियों में दिखाई पड़ता है। काव्यानुशीलन में सैद्धान्तिक पक्ष की प्रबलता में साहित्य शास्त्र का अपना योग है। श्रेष्ठ काव्य के मूल्यांकन में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्राचीन समीक्षादर्शों को भले ही उपस्थित करे, किन्तु उसकी फल-श्रुति में संतुलित, जीवन्त और स्थायी तत्वों का प्रदेय निहित रहता है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने कहा भी है कि "समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यवहारिक रूप का आधार स्तम्भ है।"[1] वस्तुतः सैद्धान्तिक पक्ष समीक्षा को एक स्थायी आधार प्रदान करता है। शास्त्रीय समीक्षा का प्रचलन हिन्दी समीक्षा को अधिक गौरवान्वित करने में सफल रहा है। शुक्लोत्तर समीक्षा में भी शास्त्रीय समीक्षा का गहरा सम्पर्क दिखाई पड़ता है जो उसके महत्व का द्योतक है। वे तत्व काल के प्रभावों के बाद भी अशेष हैं।

शास्त्रीय-प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक समीक्षा मुख्य है, किन्तु परीक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत व्याख्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, निर्णयात्मक समीक्षाएँ विशेष प्रचलित हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा में कलाकार अथवा कवि की समग्र चेतना की अन्तर्बाह्य की पैठ के आधार पर ऊहापोह करते हुए उसके तत्त्वों का, आदर्शों का, उद्देश्यों का विवेचन करना ही समीक्षा का अभिप्रेय है। विश्लेषण इस विधा का मुख्य दृष्टिकोण है। रचना की व्याख्यात्मकता को ध्यान में रखकर ही मौल्टन ने इसे साहित्य का अंग न समझकर विज्ञान का अंग समझने पर बल दिया है।

मनोवैज्ञानिक समीक्षा में भी कवि या कलाकार के अन्तर्मन की प्रक्रिया को रचना में खोजना आवश्यक हो जाता है। चेतन मन की अपेक्षा उपचेतन के संस्कारों के आधार पर मन की प्रक्रिया का विश्लेषण इस समीक्षा-प्रणाली में अधिक दिखाई पड़ता है। बाह्य-संस्कारों की अपेक्षा आन्तरिक संस्कारों को यह पद्धति अधिक सूक्ष्मता के साथ देखती है। फ्रायड और युंग की विचारधारा की सम्पृक्ति इस पद्धति के साथ स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कला, कला के लिए वाली बात सौन्दर्य-तत्त्व को लेकर अधिक दिखाई पड़ती है। डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और स्व० नलिन विलोचन शर्मा आदि इस पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

बाह्य-जीवन के प्रभावों में राजनीतिक, धर्म, अर्थ काम सभी का योग दिखाई पड़ता है। आज के जीवन में उत्पन्न गतिरोध, संकट, असमानता रचनाकार के निकट नये प्रश्न उपस्थित करते हैं। कदाचित, तभी समीक्षक, मार्क्सवादी विचारधारा के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और समाज की व्याख्या करता हुआ समीक्षा में प्रगतिशील तत्त्वों की स्थापना करता है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने कहा भी है कि "प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय-पद्धति को न अपनाकर हिन्दी आलोचना के सम्मुख साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हुए साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामा-

१. वही आलोचना : उद्भव और विकास, डा० भगवत्स्वरूप, पृष्ठ ५८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिक दायित्व का प्रश्न उठाया।"[1] प्रगतिशील विचारों के माध्यम से इस समीक्षा में संकीर्णता और विशिष्ट मतवादी आग्रहों का भले ही दोष दिखाई पड़े, किन्तु इस पद्धति ने समीक्षा को विकसित ही किया है। श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, नामवरसिंह, शमशेर बहादुरसिंह, स्व० मुक्तिबोध आदि विभिन्न समीक्षकों ने इस विधा को अधिक विकसित बनाया है।

तुलनात्मक समीक्षा एक ही विषय पर दो विभिन्न कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन करती है। उसके अंगों के विवेचन के अतिरिक्त दोनों कवियों की दृष्टि, पैठ और अभिव्यक्ति की तुलना करते हुए दोनों का मूल्यांकन इसके लिए आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी आलोचक की विशिष्ट अभिरुचि कवि विशेष के साथ पक्षपात के दोष से ग्रसित हो जाती है। 'साहित्य दर्शन' इस समीक्षा-पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है।

निर्णयात्मक समीक्षा का समीक्षक लगभग शास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित रहता है। वह आलोच्य कृति को सिद्धान्तों के आधार पर परखता और देखता है। उसका दृष्टिकोण लगभग न्यायाधीश-सा हो जाता है। कभी-कभी कलाकार की रचना के अपने ऊपर पड़े प्रभावों के आधार पर भी समीक्षक निर्णय दे दिया करता है। कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को देखते हुए निर्णय देने का दृष्टिकोण निर्णयात्मक समीक्षा में अधिक होता है। कदाचित् इसीलिए यह विधा आज भी समीक्षकीय-प्रणालियों में अधिक प्रचलित दिखाई पड़ती है।

इन पद्धतियों का प्रचलन स्वतन्त्रता के पहले भी था और आज भी दिखाई पड़ रहा है। वस्तुतः ये पद्धतियाँ आज अधिक उत्कर्ष और व्याप्ति के साथ सामने आ रही हैं। साहित्य और शिक्षा के अनुशीलन और प्रसार से आज नई-नई सम्भावनाएँ समीक्षा के निकट दिखाई पड़ने लगी हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन से जहाँ एक ओर समीक्षा को गहराई मिली है, वहीं पाश्चात्य साहित्य के प्रभावों से उसे नई चेतना भी मिली है।

इन समीक्षा-पद्धतियों से समीक्षा का स्वरूप निश्चित हो चला था। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि विकासमान रूप ही अधिक सामने आए हैं। जैसा कि कहा गया है कि स्वतन्त्रता के बाद हमारी राष्ट्रभाषा ने साहित्य की संवर्द्धना में अच्छा यत्न किया। इसी के साथ हमारे यहाँ कई नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए। विश्वविद्यालयों में हिन्दी को लेकर जो कार्य हुआ करता था अब वह अपने नये सन्दर्भ में नये विकास लेकर आने लगा था। हिन्दी का क्षेत्र नई समृद्धि से आगे बढ़ा। उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल उसके स्तर के लिए पाठ्य-सामग्री के चयन का प्रश्न भी सामने आया। परिणामतः विश्वविद्यालयों की आवश्यकता के अनुरूप पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण और तेजी से आरम्भ हुआ। अस्तु, स्पष्ट है कि उच्च कक्षाओं के लिए लिखा जाने वाला साहित्य अपने नये रूप में नई गरिमा को लिए प्रकट हुआ। हिन्दी में गरिमा का आस्फालन दिखाई पड़ता है। बी० ए० और एम० ए० के पाठ्य-क्रम के अनुरूप पुस्तकों ने ज्ञान की दिशाओं में एक नई चेतना भर दी। कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि विभिन्न प्रकार की पुस्तकें इन

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ्य-क्रमों में सम्मिलित की गई। इन्हीं के साथ शोध और अनुसन्धान की दिशा में भी कार्य आरम्भ हुआ।

शोध और अनुसन्धान के कार्यों की अपेक्षा बौद्धिक चेतना के उन्मेष में इन विश्वविद्यालयों के लिए लिखी जाने वाली समीक्षा ने एक नया स्वरूप पाया। इस समीक्षा ने पाठ्य-क्रम के मूल्यांकन की अपेक्षा समीक्षकीय स्तर को ऊपर उठाने में काफी योग दिया है। पाठ्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त समीक्षा के ग्रन्थों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि समीक्षा के विकास ने जहाँ एक ओर प्रशस्त कार्य किया वहीं आचार्यों की महिमा के अनुरूप समीक्षा में एक परिसीमन भी आ गया। हर विश्वविद्यालय और हर आचार्य की महिमा का प्रभाव समीक्षा के साथ संश्लिष्ट होने लगा। शास्त्रीय प्रभावों के अनुशीलन के अतिरिक्त व्यक्तिवादी मूल्यों का भी प्रचलन समीक्षा के साथ जुड़ गया। समीक्षा के साथ एक और जो कार्य इन विश्वविद्यालयों में आरम्भ हुआ वह शोध और अनुसन्धान का था, जिनमें पी० एच-डी० और डी-लिट के शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए जाने लगे। शोध की दिशा में जो कार्य आरम्भ हुआ उससे अनुपलब्ध साहित्य सामग्री के अतिरिक्त नई विचारधारा, नये तथ्य, नई स्थापनाएँ, नये मूल्य सामने आए। अनुसन्धान के साथ समीक्षा के तत्त्व किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए सामने आए।

अनुसन्धान की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से समीक्षा ग्रन्थों का प्रणयन भी हुआ। काव्य शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, रस शास्त्र की दिशा में अच्छी कृतियाँ सामने आईं। सुधाशुंजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' डा० नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त' और डा० राममूर्ति मिश्र का 'रस विमर्श' पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श' आदि कृतियाँ सामने आईं। रस शास्त्र की मीमांसा में जो नये प्रयत्न आरम्भ हुए वे निश्चय ही शुभ हैं। इससे समीक्षा में स्थायित्व के अतिरिक्त आत्म-प्रतिष्ठा की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। डा० भगीरथ मिश्र और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षक काव्य शास्त्रीय आधारों के अतिरिक्त रसवत्ता उद्भावनाओं की पैठ और मीमांसा में गहन चिन्तन रखते हैं। साहित्य की स्थायी अभिवृद्धि में समीक्षा की जीवंत चेतना ही अधिक उपादेय है। शुक्लत्तोर समीक्षा में रस-मीमांसा का दायित्व बढ़ा जिससे नये साहित्य और नये मूल्यों की अभिवृद्धि हुई। यही नहीं, साहित्य के निकट नई आधार शिलाएँ प्रस्तुत हुईं। कदाचित् यही कारण है कि रस शास्त्र की मीमांसा में जो उपलब्धियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनमें प्रबुद्धता है और नई ताज़गी है।

एक ओर जहाँ रस शास्त्र की दिशा में प्रगति दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं की परीक्षा के लिए परीक्षोपयोगी सामग्री में विकास दिखाई पड़ते हैं। परीक्षोपयोगी समीक्षाएँ विशेषतः टीकाओं पर ही आधारित रहती हैं। वैसे मराठी में टीका को समीक्षा का पर्याय मानकर उसका उपयोग किया जाता है किन्तु हिन्दी में टीका शब्द संस्कृत की तरह समझाए जाने वाले दृष्टिकोण के अधिक निकट है। टीका शब्द हिन्दी में कुँजियों अर्थात परीक्षोपयोगी साहित्य के लिए व्यवहृत होता है। संस्कृत साहित्य में 'जिस तरह कालिदास पर मल्लिनाथ की टीका', श्रीहर्ष के 'नैषध चरित' पर नारायण की टीका, भवभूति के 'उत्तररामचरित' पर वीर राघव की टीका और भवभूति के ही उत्तर रामचरित पर घनश्याम की टीका, शूद्रक के 'मृच्छकटिक' पर पृथ्वीधर की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाएँ पाई जाती हैं, हिन्दी में इस तरह की अच्छी टीका डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पदमावत संजीवन भाष्य' की पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कुँजी और गाईड सम्प्रदाय ने टीका के क्षेत्र में जो कार्य किया है उसमें अर्थ का दृष्टिकोण अधिक रहा है। अस्तु, जो इस ढंग का अर्थप्रधान दृष्टिकोण सम्प्रदायों की वृद्धि में भले ही सहायक रहा हो उसने सद्साहित्य का कोई हित नहीं किया। दुर्भाषा से मूर्च्छित कविता को नया चैतन्य देने में कोई विधायकता नहीं अपनाई। यद्यपि यह सत्य है कि व्याख्या के आधार पर [यदि वह सही हो] मूल्यांकन की विधा विषय को सरलता का परिवेश देती है। जो उसकी बोधगम्यता को अधिक स्पष्ट करती है। अस्तु, काव्यानुशीलन के लिए सही दिशा की ओर तभी बढ़ा जा सकता है जब हम उसके अन्तर्बाह्य को गहराई के साथ समझ लें। अन्यथा परिचय ग्रन्थों की बाढ़ असम्बद्ध और असंगत परिणाम सामने रखेगी। जो सही दिशा का अनुवर्तन न कर भ्रमित अधिक करेगी। श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस विषय में सर्वथा उचित कहा है कि "पुस्तक बाजार में प्राचीन भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का परिचय देने वाले अध्यापकों के लिए ग्रन्थों की इन दिनों बाढ़-सी आ गई है, लेकिन उनके अनुशीलन से पता चलता है कि कैसे इधर-उधर से जमा करके साहित्य और कला-सम्बन्धी विभिन्न मतों के असंख्य, असम्बद्ध उद्धरणों से परचून या स्टेशनरी की दुकान सजायी गई है। किसी वस्तुपरक अध्ययन और शोध का उनसे कहीं पता नहीं चलता।"[1] वस्तुतः यह कथन अपना औचित्य बनाए हुए है इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में अनुसन्धान का कार्य बड़ी तेज़ी से हो रहा है। नई खोजों के लिए, नई मान्यताओं के लिए और अनुपलब्ध साहित्य के प्रकाशन के लिए। अनुसन्धान के साथ आलोचना के सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। कदाचित् इसलिए कि तथ्यों के आकलन के अनन्तर विश्लेषण और विवेचन की समस्या आलोचना के माध्यम से ही हल होती है। अन्वेषण के उपरान्त अनुशीलन की आवश्यकता उसके मूल्यांकन को अनिवार्य कर देती है। यही नहीं तथ्यों की प्रामाणिकता में उसके पक्ष-विपक्ष के प्रतिपादन में आलोचना को ही व्यवहृत किया जाता है। अस्तु आलोचना के साथ अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। इसके बावजूद "आलोचना अनुसन्धान का पर्याय नहीं है।"[2] दोनों में एक अन्तर है, इसके अलावा दोनों की पद्धतियों में एक समानता है। डा० नगेन्द्र ने दोनों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कहा भी है कि "अनुसन्धान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या विश्लेषण है, दोनों में विवेचन कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण तथा अर्थव्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के सन्तुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है। उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसन्धान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है।"[3] अनुसन्धान और आलोचना अपने पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर नई

१. आलोचना के सिद्धान्त : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१
२. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ६८
३. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धि और नई मान्यताओं को प्रस्तुत करती हैं। अनुसन्धान के किसी भी क्षेत्र में उसकी उपादेयता है। वह उपलब्धि के मूल्यांकन का माध्यम बनती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कहा भी है कि "आधुनिक आलोचना पद्धति में अनुसन्धान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा ऐतिहासिक मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य-कृति के अधिक से अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर मिल जाता है।"[1] अस्तु स्पष्ट है कि आलोचना और अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। आलोचना के विकास के साथ अनुसन्धान के योग का विस्मरण नहीं किया जा सकता। हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद अनुसन्धान की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

एक ओर जहां अनुसंधान के रूप में आलोचना की प्रगति हो रही है, वहीं शोध-ग्रन्थों में विषयों की पुनरावृत्ति भी दिखाई पड़ती है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि ऐसे विषय हैं जिन पर किसी न किसी रूप में अनुसंधान कार्य किया गया है। और नये तथ्यों के स्थान पर पुराने तथ्यों के विस्तार का ही संवर्धन किया गया है। यही नहीं, विषयों के चयन में परिष्कृति और परिश्रम की संभावनाओं का ह्रास दिखाई पड़ता है। जिन विषयों को अनुसंधान के उपयुक्त नहीं समझा जाता, ऐसे विषयों पर भी शोध कार्य करवाया जाता है। जो प्रगति के स्थान पर वस्तुतः प्रगति के आगे विराम ही लगाता है। विषय-विस्तार की सीमा में धर्म, समाज और राजनीति भले ही प्रवेश पा गई हो किन्तु अकाव्य को प्रवेश देना निश्चय ही घातक है। ऐसे अवसरों पर अनुसंधान को आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी)[2] से होकर जाना चाहिये। डाक्टर नगेन्द्र के विचार इस दिशा में उपयुक्त लगते हैं। अनुसंधान के नाम पर गर्हित विषयों पर शोध कार्य साहित्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करता। पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, ऋतुवर्णन, जादू टोने, पकवान-पुराण आदि जैसे विषयों को चुन कर सिद्धों की बानियों में, कबीर की साखियों में अथवा लोक या वार्ता साहित्य में कार्य करने का आग्रह समीचीन नहीं दिखाई पड़ता, इससे शोध की मर्यादा का ह्रास होता है। पं० नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी विषयों के प्रति आशंका प्रकट करते हुए कहा है कि—"हिन्दी के वर्तमान शोध-कार्य पर यदि थोड़ी-सी गंभीरता से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार अधिकांश कार्य संग्रह-मूलक होता जा रहा है। जहां कहीं सैद्धांतिक स्तर का विवेचन होता भी है, वहाँ 'उस स्तर का आद्यन्त निर्वाह नहीं हो पाता। विषय ही ऐसे दिये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण एकात्मता नहीं होती और शोधकर्ता को वैचारिक और सैद्धान्तिक गहराइयों में जाकर आद्यन्त अपने विषय का ऊहापोह करने का अवसर नहीं मिलता[3]।" शोध और समीक्षा का स्तर तभी श्रेष्ठ और मूल्यवान हो सकता है, जब हम सद्-साहित्य और अनुपलब्ध साहित्य को सही तथ्यों के आधार पर, सही मूल्यांकन के आधार पर प्रस्तुत करें। अन्यथा विकास की संभावनाओं के नाम पर भ्रांति उत्पन्न होने की बड़ी आशंका है। शोध और समीक्षा जहां अपना संतुलन खो बैठती हैं, वहीं उसकी दृष्टि मृत और जीवित

१. आलोचना, अंक—१ वर्ष—५३ अक्टूबर—३, पृष्ठ : १५
२. अनुसंधान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : १०४।
३. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १५, अंक : ३–४ सन् ६२ पृष्ठ : २५।

07958.3

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों की सामान्य उपलब्धियों पर केन्द्रित हो जाती है। 'व्यक्ति और काव्य' के अनुशीलन में व्यक्तित्व का ही विस्तार दिखाई पड़ने लगता है। काव्यानुशीलन पूर्ववर्तियों की परम्परा में समानधर्मी विचारों के प्रतिपादन में ही बृहदाकार हो जाता है। इससे जुड़वा लेखन की नयी परम्परा का विकास हिन्दी शोध में सम्पृक्त होता दिखाई पड़ रहा है। यह जुड़वा लेखन शोध की दिशा में व्यापकता ग्रहण करता जा रहा है, जो नींव को खोखला करने की अपेक्षा कुछ नहीं कर पायेगा। इसका विकास कैंसर की भांति ही हिन्दी शोध को ले डूबेगा। बृहदाकार ग्रन्थों से ही श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, छोटे और सादे, वजन में हलके ग्रन्थों से भी श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। पुनरावृत्ति का पोषण जुड़वा लेखन को भले ही समृद्ध बनाये, शोध की श्रेष्ठ उपलब्धियों को वह सामने नहीं ला पायेगा। इस ढंग की परम्परा का उन्मूलन आवश्यक हो गया है।

शोध प्रबंधों में तात्विकता को प्राधान्य दिया जाता है, वही उसके सत्यान्वेषण की सिद्धि हुआ करती है। सत्यान्वेषण के लिए सामग्री की ऊहापोह कर जहां एक ओर मूल्यांकन किया जाता है, वहीं उसमें निहित तात्विकता को स्पष्ट कर दिया जाता है अथवा उसे प्रकट कर अपने निष्कर्षों को प्रमाणित किया जाता है। हिन्दी के शोध प्रबंधकों में तात्विकता की ओर, लगता है, उतना ध्यान नहीं दिया जाता। प्रबंध के बृहदाकार(वजनदार) संस्करण का मोह शोधकर्त्ता को अधिक रहता है। परिणामतः प्रबंध में उपलब्धि का अंश कम होता है और अन्य संग्रहित फुटकर सामग्री का विज्ञापन अधिक होता है, जो ग्रन्थ को बृहदाकार करने में सहायक होती है। स्व० नलिन विलोचन शर्मा को भी शोध प्रबन्धों में तात्विकता का अभाव अनुभव हुआ तभी उन्होंने 'गुंजाइश' वाली बात कही। उन्होंने कहा कि कुछ वर्षों से ही हिन्दी शोध कार्य परिणामतः इतना विकसित हुआ है कि अब हम विषय या लेखन के सूक्ष्म पक्षों पर ही कार्य करने की बाध्यता अनुभव करने लगे हैं, गोकि इस बाध्यता का परिणाम अच्छा ही होगा, किन्तु वास्तविकता यह भी है कि हिन्दी में अभी तात्विक शोध कार्य के लिए काफी गुंजाईश है, बल्कि यह कहना उचित है कि इसकी आवश्यकता बनी हुई है और हमारा ध्यान इधर कम गया है'[1]। वस्तुतः हम इस ओर नहीं बढ़ पाते। शोध प्रबन्धों की सफलता और उसकी श्रेष्ठता के लिए उसमें तात्विकता का अंकन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त फुटनोट की सीमा इतनी लम्बी कर दी जाती है कि प्रबन्ध का तात्विक रूप ढंक जाता है और फुटनोट ही हावी दिखाई पड़ने लगते हैं। छोटे-छोटे फुटनोटों की जगह ५-५ पृष्ठों के फुटनोट प्रबन्ध का गौरव बढ़ाने की जगह उसकी आकृति और वजन का अधिक संवर्धन करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त का शोध प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यही नहीं, इस तरह के कई अन्यान्य प्रबन्ध भी यहां उदाहरण के लिए रखे जा सकते हैं। शोध और समीक्षा तात्विकता के प्रति मूल आकर्षण बनाये रखने के उपरांत ही अपने विकास की दिशाओं को उज्ज्वल बना सकती है। वजन और आकृति का मोह तात्विकता के सवर्धन में सहायक नहीं हो सकते।

हिन्दी के शोध प्रबन्धों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है और यह प्रगति का शुभ

१. हिन्दी अनुशीलन अंक—३, सन् ६१ पृष्ठ : २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण भी है। इस ढंग की प्रगति को पीछे मुड़ कर देख लेना या अपने गिरहबान में झांक लेना अपने इस कार्य को अधिक श्रेष्ठ और जीवंत बनाना है। वस्तुतः शोध प्रबन्धों को शीघ्र प्रस्तुत करने के तीव्र मोह में शोधार्थी सद्-असद् का विवेक भूल जाता है। वह किसी न किसी रूप में अपने तथाकथित कार्य को विश्वविद्यालय के आधीन कर देना चाहता है। और उसके परीक्षक आपसी समझौते के अनुसार अपने मित्रों के छात्रों को डाक्टरेट प्रदान कर अपने समझौते की रक्षा किया करते हैं। परिणाम यह होता है कि घटिया स्तर के शोध प्रबन्ध इन समझौतों के अन्तर्गत निकल जाते हैं। इन निकल जाने वाले प्रबन्धों की बाढ़ स्तर के सामने प्रश्नचिह्न लगाती है। शोध की संख्या के नाम पर भले ही अभिवृद्धि का गौरव दे किन्तु गुणता के नाम पर अभाव ही दिखाई पड़ता है। कई ऐसे शोध प्रबन्ध हैं जिन्हें देखकर सहज ही में सशंकित हो जाना पड़ता है। श्री अगरचंद नाहटा ने भी इसी आशंका को उठाते हुए कहा है कि 'बहुत से शोध प्रबन्ध जिन पर डाक्टरेट मिल चुकी है, वे वास्तव में इसके योग्य थे, यह कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं कह सकेगा। उनका स्तर बहुत ही साधारण है, और कईयों में इतनी भूल भ्रांतियां हैं कि उनका संशोधन करना भी एक नया शोध कार्य हो जायेगा।'[२]

इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न यह भी आजकल उठ खड़ा हुआ है कि शोध प्रबन्धों में कहां तक अस्तेय वृत्ति की प्रमुखता है। शोध प्रबन्धों से जहां नई उपलब्धि, नई मान्यता की आशा की जाती है वहीं यदि उनमें अस्तेय वृत्ति के भी दर्शन हों तो उनके विषय में क्या सोचा जायेगा। शोध की दिशा में जो बाढ़ आई है, उसके कारण क्या हम अपने गिरहबान में भी न झांक कर देखें ? देश के मान्य विश्वविद्यालयों में मान्य प्राध्यापकों और विद्वानों की देख-रेख में ऐसे अस्तेयवादी शोध प्रबन्ध तैयार हुए हैं, जिनकी ओर से बहुजन हिन्दी विद्वान समाज आँखें मूंदे बैठा है। वस्तुतः यह अस्तेय वृत्ति शोध के आगे प्रश्न-चिह्न लगाती है। सृजन के नाम पर हम कितनी सबलता से आगे बढ़े हैं ? लगता है आपसी समझौते और आपसी मान प्रतिष्ठा के सम्बन्ध विद्वानों को इस ओर बढ़ने नहीं देते। आने-वाली पीढ़ी को ये अस्तेयवादी शोध-ग्रन्थ प्रामाणिकता के नाम पर कौन सी मनीषा का दिशा निर्देश कर सकेंगे ? सद्-साहित्य की दिशा में जो कार्य होगा वही जीवंत, प्रतिष्ठित और उपादेय हो सकेगा।

शोध के माध्यम से, समीक्षा के स्वरूप में भी वही व्यक्तिवादी तथ्य जुड़ते चले गये हैं। जहाँ समीक्षा सद्-साहित्य की प्रवर्धना में अपनी सार्थकता रखती थी वहीं शोध भी नई उपलब्धि और तथ्यों से आस्था रखता था। अब वह भी व्यक्तिगत मूल्यों से प्रभावित होता जा रहा है। व्यक्ति विशेष के विचारों का पाद टिप्पणियों में अधिक से अधिक प्रयोग कर, उसके बाद विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा आचार्य को उसका समर्पण व्यक्तिनिष्ठा के अन्तर्गत ही हुआ करता है। यदि यह संभव न हुआ तो व्यक्ति विशेष के समूह के अन्तर्गत आने वाले विद्वान की अनुशंसा के अतिरिक्त परीक्षक भी देखा गया है कि वे भी समुदाय विशेष के होते हैं और आपसी अनुशंसा के लिए विद्यार्थियों से शोधप्रबन्धों के माध्यम एक दूसरे को प्रसन्न कर लिया करते हैं। इस तरह के शोध

२. हिन्दी अनुशीलन अंक—३-४ सन् ६२ पृष्ठ : ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध तथ्यों और उपलब्धियों के लिए नहीं लिखे जाते वरन् अनुशंसा, समर्पण और जीविका के लिए लिखे जाते हैं। नये ज्ञान की संभावनाओं को यही त्रिकोण ग्रस लेता है। हर विश्वविद्यालय डाक्टरों के उत्पादन की संख्या को महत्त्व देता है, गुणता को महत्त्व देने वाले कितने आचार्य, विद्वान हिन्दी की कोख में शेष हैं? सभी के निकट समुदाय की मर्यादा की प्रतिष्ठा के प्रश्न बने हुए हैं, घेरेबन्दी का आग्रह है। राजनीति का फरेब साहित्य में प्रतिष्ठित करवाया जा रहा है। उत्पादन की चिंता वाले आचार्य शोधप्रबन्ध को शीघ्रातिशीघ्र प्रस्तुत करने का आषिर्वचन बहुतायत से देते पाए और देखे जाते हैं। यही नहीं, इस उत्पादन प्रक्रिया में कई अनधिकृत [विषय] के आचार्य अपने अन्तर्गत विषय से अनभिज्ञ रहने पर भी निर्देशक और परीक्षक बनना स्वीकार कर लेते हैं। कदाचित् इसलिए कि उनके निकट स्पर्धा का मोह और समुदाय की प्रतिष्ठा का ही प्रश्न अधिक होता है। यही दशा रही तो कोई आश्चर्य नहीं होगा कि कुछ दिनों बाद डाक्टरेट प्राप्त करना होमयोपेथी की डिग्री प्राप्त करने की तरह आसान हो जाएगा। उत्पादन की अपेक्षा शोध के सही रूप को प्रतिष्ठित करना अधिक हितकर होगा। डा० हरदेव बाहरी ने कहा भी है कि "लोग पहले किसी एक विश्वविद्यालय में डाक्टर उत्पादन की भर्त्सना करते थे, आज वह.........फिर भी वे धन्य हैं कि जिस मार्ग पर वे कभी चले नहीं थे उसका दिग्दर्शन कराने लगे हैं। वे स्वयं तो डाक्टर नहीं थे, किन्तु उन्हें डाक्टरों के जनक बनने की धुन सवार हो गई। बाद में इस होड़ में दूसरे विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक आ मिले। आज उनके आवेदन पत्रों में बराबर रहता है, मैंने इतने डाक्टर पैदा किए'।[1] वस्तुतः इन डाक्टरों के उत्पादन की बीमारी में सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, आगरा, बनारस आदि विश्वविद्यालयों का विशेष योग रहा है और समर्पण अनुशंसा और जीविका के क्रम को शोध प्रबन्धों के माध्यम से पूरा किया जा रहा है। समुदाय के विद्वान व्यक्तियों की मान-प्रतिष्ठा के लिए इन प्रबन्धों का उपयोग किया जाता है। अस्तु, यह कहना अधिक उचित होगा कि शोध और समीक्षा के विकास में व्यक्तित्व की केन्द्रियता का आकर्षण कम नहीं है। नए ज्ञान की दिशाओं में अभी भी धुंधलका छिटका दिखाई पड़ता है जो प्रगति के क्षेत्र में गतिरोध बन गया है।

नई विचार धारा को लेकर लिखे गए काव्य को प्रारम्भ में प्रतिष्ठा नहीं मिलती रही है। उसे तो संघर्ष के सन्मुख चुनौतियों से जूझना पड़ा है। ये चुनौतियाँ अधिकांशतः विशिष्ट विचारधारा के कवियों के लिए हुआ करती थीं। उनके उपहास, निन्दा से सम्बन्धित समीक्षा उन्हें हतप्रभ करने के लिए सहायक हुआ करती थी। और अन्त में विचारधारा अपनी आन्तरिक दृष्टि और सांस्कृतिक आधार, सामाजिक आधार अथवा दर्शन के आधार पर जीवित रह जाती थी। निन्दा उपहास के दृष्टिकोण अपने आप झुठलाए जाते रहे हैं। विचारधारा में काव्य का सत्य और व्याप्ति का गुण हो तो जीवित रह जाती है। छायावाद को प्रारम्भ में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान समीक्षक उसे शैली से अधिक नहीं मान सके।[2] छायाभास [परिचय], छायानुकृति

१. हिन्दी अनुशीलन : अंक—२-४, सन् ६२।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे आरोप उसे सहने पड़े, किन्तु इस युग के कवियों ने उन आरोपों का सामना कर अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया और अपनी मान्यताओं को स्थापना की दिशा दी। कविवर निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि की कृतियों में इसी तथ्य को देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता के पूर्व ही अपने वक्तव्य देकर अपनी बात को स्पष्ट करने का आग्रह दिखाई पड़ता है जो भूमिकाओं और स्पष्ट लेखों में पाया जाता है। यही परम्परा प्रगतिवाद के समय में भी आरम्भ हुई। प्रगतिवादी विचारधारा की कविताओं को मार्क्स और एंजल्स के प्रभावों में देखने की बात अक्सर सामने आई। नारे और प्रचार तथा संकीर्णता के अभियोग सहने पड़े।[1] किन्तु उसके विषय में जो बाद को नये तथ्य आए उनमें शोषण और शासन के सही रूप भी दिखाये गये। सामाजिकता को जीवन के सही यथार्थ में देखने की दृष्टि दी गई। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० नामवरसिंह आदि ने उसके विषय में सामग्री प्रस्तुत कर भ्रांतियों का निवारण किया। छायावाद, प्रगतिवाद के संघर्ष, स्थापन और स्वीकृति के अनन्तर प्रयोगवाद के चिह्न क्षितिज पर उभरने लगे थे जिन्हें परम्परागत रूप से आलोचकों, आचार्यों ने अपनी कुपित दृष्टि का लक्ष्य बनाया। हर नये विचार और दृष्टि के आगमन पर हो-हल्ला जैसे अवश्यम्भावी हुआ करता है। और हुआ भी वही। जो परम्परा स्वतंत्रता के पूर्व थी, वह बाद में भी दिखाई दी, उसका उन्मूलन नहीं हो सका, पूर्वाग्रह समाप्त नहीं हो पाये थे। यही कारण है कि प्रयोगवादी कविता का नई कविता तक आते-आते कई तरह से खंडन-मंडन होता रहा।

इस पंथ के अन्वेषक श्री अज्ञेय को इस विषय में स्पष्ट भी करना पड़ा, "तो प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन। क्योंकि एक तो वह सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया और उसके साधनों को जानने का भी साधन है।"[2] प्रयोगवादी विचारधारा को शनैः-शनैः स्थायित्व मिलने लगा, भले ही उनके बौद्धिक आतंक के कारण या प्रतिभा के कारण रहा हो, यद्यपि उसमें खोटी प्रतिभाओं का अभाव नहीं है। इस विचारधारा की स्थापना में निकष, प्रतीक, संकेत जैसे पत्र ही नहीं अपितु कुछ समीक्षात्मक पुस्तकें भी आई। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान' उसके अन्तर-बाह्य के पक्षों को अच्छी तरह स्पष्ट करती है। श्री स्व० मुक्तिबोध की पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' जैसी कृतियाँ उसके अन्तर्मन्थन को प्रकट करती हैं। नई कविताओं को लेकर निकलने वाले संकलन प्रथम तार-सप्तक से लगाकर संक्रांत तक सभी में लगभग भूमिकाएँ हैं जिसमें इस विचारधारा की प्रतिष्ठापना का आग्रह है। डा० धर्मवीर भारती, वीरेन्द्र कुमार जैन, डा० जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल, शमशेरबहादुर सिंह, डा० प्रभाकर माचवे आदि ने अपने लेखों और भूमिकाओं से नई कविता की विचारधारा को स्थापित करने में अच्छा योग दिया है। नई विचारधारा में नया शब्द-संस्कार उसके महत्व को बढ़ाता है। श्री अज्ञेय ने कहा भी है कि "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ : २२६-२२७।
२. दूसरा सप्तक : भूमिका—श्री अज्ञेय, पृष्ठ : ७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है।"[१] अस्तु, प्रयोगवादी कविता समीक्षा के वत्याचक्रों से कालांतर में स्थिरता की ओर उन्मुख हुई। इसे भी वह सब कुछ सहना पड़ा जो छायावाद अथवा प्रगतिवाद के पुरस्कर्ताओं और समर्थकों को सहना पड़ा था। नवीनता की चकाचौंध में अंधकारजीवी अचम्भित हो जाते हैं और उसी के प्रभाव में पूर्वग्रहों से ग्रस्त अपनी मान्यताओं को सामने लाने लगते हैं, जो कदाचित समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों के लिए हितकर नहीं है।

प्रयोगवाद के साथ ही नकेनवाद भी प्रचलित हुआ, किन्तु नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार, नरेश द्वारा प्रवर्तित यह आन्दोलन अधिक विकसित नहीं हो सका। प्रपद्यवाद की भूमिका में 'पस्पशा' में इस काव्यांदोलन का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। इनकी कविताओं में वयस्कता का आग्रह अधिक है। 'पस्पशा' में कहा भी गया है कि "हिन्दी कविता को अपने में वयस्क बुद्धि लानी होगी और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्रोग से मुक्त होना होगा।"[२] नकेनवाद वस्तुतः अपने में सीमित हो गया, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि वह अकेला हो गया, उसकी अभिवृद्धि में उतनी भूमिकाएँ, लेख और पुस्तकीय समीक्षाएँ नहीं मिल सकीं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि समीक्षाओं ने स्वतन्त्रता के बाद भूमिकाओं में, स्फुट लेखों में और कतिपय पुस्तकों में भी विकास पाया है। यद्यपि काव्यालोचन के लिए जो कार्य हुआ उससे अनहित नहीं हुआ और परम्पराओं का विकास एक स्वस्थ रूप में होता रहा। अपने मतवादन और अपनी दृष्टियों के प्रवर्तन में विभिन्न वादों के मध्य से समीक्षा ने अपना पंथ बनाया। जो उसकी सशक्त उपलब्धि है। नयी धाराओं को पुष्ट करने में इस तरह की समीक्षा-पद्धति ने नयी प्रतिभाओं और नये प्रतिमानों को भी जन्मा है।

व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर समीक्षा में नयी पद्धति का प्रचलन हुआ है। इससे व्यक्तिगत महत्व के आधार पर उसके कृतित्व को आँका जाता है। कृतित्व के माध्यम से व्यक्तित्व को नहीं। कदाचित् इसलिए कि व्यक्तित्व के प्रभाव आज अधिक श्रेष्ठता रखते हैं। कृतित्व जैसे अधम हो गया है। देखा गया है कि आदमी देखकर उस पर लिखा जाता है। पद, पैसा और प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसका मूल्यांकन करना मित्रालोचन की सिद्धि है। कृतित्व की अधमता को व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ढंक लेती है। और इस ढंकने की विधा में २६ वर्षी कवि-समीक्षकों से लगाकर ७० वर्षी वृद्ध राष्ट्रकवि तक ने भाग लिया है। अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि समीक्षा में व्यक्तिगत मूल्यों की प्रतिष्ठापना में जो लिखा जा रहा है वह सब पारस्परिक हितों की रक्षा के लिए है। जो कहीं न कहीं सम्बन्ध रखते हैं और उनका निर्वाह करने के लिए लिखना आवश्यक हो जाता है। 'कल्पना में उर्वशी पर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की सशक्त समीक्षा प्रकाशित हुई उसमें उर्वशी के दुर्बल पक्ष दर्शाए गए थे। इसके बाद पता नहीं किस आतंक से 'कल्पना सम्पादक ने उसकी मान-रक्षा में 'उर्वशी' अंक निकाल दिया। जिसमें युवक कवि-समीक्षक से राष्ट्रकवि तक को भाग लेना पड़ा। यही नहीं 'संस्कृति के चार अध्याय' पर भी बहुत कुछ लिखा गया। 'उसमें कृतित्व का' स्थान गौण था और व्यक्तित्व का आतंक अधिक था

१. तीसरा सप्तक : भूमिका : श्री अज्ञेय; पृष्ठ : १४
२. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) पृष्ठ ५२१-५२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सावित्री सिन्हा की 'युग-चारण दिनकर' में भी कृतित्व गौण है।

इसी तरह परिचित कवि-समीक्षकों ने एक-दूसरे पर श्रेष्ठ कवियों की मान्यता के संदर्भ में सीरीज़ तक निकाल डाली। अभी 'रससिद्धान्त' पर चर्चा चालू है, किन्तु उसका सही मूल्यांकन पं० विद्यानिवास मिश्र के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। प्रकाशन समारोह में तो उसे बिना पढ़े ही आचार्यों ने प्रशस्तियों से विभूषित कर दिया। वस्तुतः ये प्रकाशन समारोह व्यक्तित्वों के प्रकाशन के आपसी मिलन-स्थल होते हैं। जहाँ एक-दूसरे की प्रशंसाओं के माध्यम से विद्वान कहलाने की भूख मिटाई जाती है। पुस्तक-परिचय के स्तम्भ में देखा गया है कि बिना पढ़े ही पुस्तकों की समीक्षाएँ कर दी जाती हैं क्योंकि उसमें लेखक के व्यक्तिगत प्रभावों का अधिक ध्यान रखा जाता है, पुस्तक के आलेखन से कुछ भी नहीं। साफ बात वही कह-लिख सकता है जो उसे पढ़ता है और अपनी अध्ययनशील प्रवृत्ति के आधार पर उसका संतुलन कर सकता है। व्यक्तिगत प्रभाव आज के समीक्षक की निर्भीकता को ग्रसे हुए है। स्वस्थ मूल्यांकन दब गया है। एक समय था जब कवियों को समीक्षक बनकर (छायावाद, प्रयोगवाद के कवि) दोहरा दायित्व सम्हालना पड़ता था। तब वे सही मूल्यांकन के लिए कृतित्व का अध्ययन किया करते थे और समीक्षा को स्तर प्रदान किया करते थे परन्तु आज समीक्षक व्यक्तित्व की रक्षा, प्रतिष्ठा और अभिवृद्धि के लिए लिखता है और अपने सम्बन्धों के सेतुओं को स्थिर बनाना चाहता है। उसके निकट समीक्षादर्श गौण हैं, व्यक्तित्व के आदर्श प्रमुखता रखते हैं। व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर लिखी जाने वाली समीक्षाएँ अधिकतर दलबन्दी का शिकार होती हैं जो मित्रालोचन का अपना अंग हुआ करती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में चर्चाओं के माध्यम से जो विज्ञापन करवाया जाता है, वह व्यक्तित्व के प्रसरण और प्रकाशक के हितवर्धन में ही अधिक उपयोगी होता है। समीक्षा की प्रतिष्ठा तब तक सही रूप में नहीं बढ़ती जब तक उसे व्यक्तित्व के प्रभावों से मुक्त न किया जाय। स्वतन्त्र, चिन्तनप्रद, मौलिक दृष्टिकोण ही उसके उत्कर्ष में सहायक हो सकेंगे।

समीक्षादर्शों की जगह व्यक्तित्वों के प्रश्न अधिक आधार बनते जा रहे हैं जिससे स्वस्थ समीक्षा का उत्कर्ष नहीं हो पा रहा। चाहे वह समीक्षा पुस्तक-परिचय के अन्तर्गत लिखी गई हो अथवा शोध-प्रबन्ध की उपलब्धि हो, उसमें स्तर और मर्यादा का ह्रास दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त नए ग्रन्थों के प्रणयन में एक ओर व्यावसायिकता का दबाव है, जिससे प्रकाशन का क्षेत्र व्यापक हुआ है किन्तु उसमें स्वस्थता का गुण परिणामतः न्यून है। इस न्यूनता का संदर्भ हमें और कहीं नहीं विश्वविद्यालयों की माँग और माँग की खपत के अन्तर्गत दिख जाता है। साहित्य और समीक्षा की अभिवृद्धि के लिए जहाँ एक-दूसरे के चिन्तन-मनन को स्वीकरण मिलना चाहिए था, वहाँ अब स्वीकरण की जगह द्वेष और घृणा मिल रही है। समीक्षा इस आधार पर कितनी स्वस्थता पा सकती है ? स्वतन्त्रता के पूर्व और पश्चात् हमारे दृष्टिकोणों और विश्वासों में एक अन्तर दिखाई पड़ता है। श्री शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में यहाँ कहना अधिक उचित होगा। उन्होंने कहा है कि "साहित्य के स्वस्थ विकास के लिए पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान और विचार-संघर्ष को आवश्यक समझते थे। यह किसी काल्पनिक 'स्वर्ण-युग' की बात नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजादी के पहले की बात है। तब यह सामान्य स्थिति थी। यद्यपि उस ज़माने में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादा, यथार्थवादी और रूपवादी विचारधाराओं की टक्कर कटुता और तीक्ष्णता में किसी क़दर कम नहीं थी। गिरोहबन्दियाँ भी उन दिनों कम नहीं थीं, फिर भी इतनी असहिष्णुता नहीं थी कि वार्तालाप ही बन्द कर दिया जाय और मतभेदों की अभिव्यक्ति या तो मौन उपेक्षा द्वारा की जाय या दूर से केवल पत्र-पत्रिकाओं में अपने विरोधियों पर आवेश-भरे आरोपों और लांछनों की बौछार करके।''[१] अस्तु यह स्पष्ट है कि आजादी के बाद हिन्दी समीक्षा में गतिरोध, दलबन्दी, संकीर्णताएँ, प्रचारात्मकता आई, जिससे स्वस्थ समीक्षा की भूमि में काफी कटाव आ गया है। उर्वरता का अभियान पारस्परिक समझौतों के कारण दुर्बल हो गया। स्वस्थ समीक्षा का सामना करने का साहस हम में घट गया है। लेखक और समीक्षक के बीच काफी दूरी आ गई है। इस दूरी को चिन्तन और अनुभूति से भरने की जगह द्वेष, घृणा, उपेक्षा के विष से व्यक्तिगत आधारों पर भरा जाता है जो सद्-साहित्य की लक्ष्य पूर्ति न कर महज स्वार्थों की ही पूर्ति करता रहा है। वस्तुतः चाहिए यह था कि दोनों के बीच [लेखक और समीक्षक] पारस्परिक समझ हो, व्यक्ति की अपेक्षा कृति का अधिक मूल्य हो, तभी वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कथ्य सामने ला सकेगा। श्री शिवदान सिंह चौहान की बात यहाँ उपयुक्त लगती है। उन्होंने कहा है कि "आलोचक यह स्वीकार करके चले कि लेखकों को अपने अनुभव और Vision के अनुसार लिखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और लेखक भी यह स्वीकार करके चले कि आलोचक को भी अपने चिंतन मनन, और अनुभव की रोशनी में उसकी कृति की आलोचना करने की पूरी स्वतन्त्रता है।''[२] चिंतन और मनन की जगह व्यक्तिगत स्वार्थों की उपेक्षा आवश्यक हो गई है। सही अर्थों में मूल्यांकन करने से ही समीक्षा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, नहीं तो सम्मान-रक्षा की भावना में गुटबन्दियाँ ही अधिक मजबूत होंगी और सही प्रतिभा का ह्रास होगा, जो समीक्षा के लिए अशुभ लक्षण है।

हम 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीय' को मानने के अधिक पक्षपाती थे। कदाचित् इसलिए कि इसमें व्यक्ति-चिंतन को प्राधान्य मिल जाया करता था, और हम उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाते थे। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि हम अपनी मान्यताओं को रखने और प्रकट करने में दुविधा के शिकार हो जाया करते थे। परिणामतः समीक्षा की स्वस्थ परम्परा व्यक्तित्व के प्रभाव के आगे अपने को विकसित नहीं कर पाती थी, अहोम् ध्वनि···अहोम् रूपम्···का स्वर प्रबल हो उठता। हिन्दी की समीक्षा में इस गुण का अभाव नहीं है। पहले तो कवियों ने समीक्षा और काव्य का दुहरा दायित्व सम्हाला और आज उन्हीं शेष होते चिह्नों को कतिपय कहानीकारों ने भी अपना लिया है जिसके माध्यम से वे जीना चाहते हैं। समीक्षा में यह गुण अधिक दिखाई पड़ रहा है। स्व० नलिनविलोचन शर्मा ने कहा है कि "वास्तविकता यह है कि आज हिन्दी आलोचना में 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' और 'जीवितकवेराशंसा कार्या' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का पालन कुछ अपवादों को छोड़कर [ऐसे अपवादों में साम्यवादी आलोचकों को नहीं रखा जा सकता,

१. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ १।
२. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ-११४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माचवे, केसरी, नरेश, शिवचन्द्र उल्लेख्य हैं] किया जा रहा है और दोनों में अन्तर कुछ विशेष नहीं है।"[1] सामाजिकता के पार्श्व में भले ही मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर व्यक्ति के रूपों को देखे और मूल्यांकन करे, वह उसके अन्तर्गत अभीष्ट है, किन्तु व्यक्ति की अहोम् ध्वनि वाली स्थिति में उसका अनुसरण और आकलन उपादेय नहीं है। डा० इन्द्रनाथ मदान ने व्यक्ति-चिंतन के साथ समाज के मंगल की भावना को स्वीकार करते हुए कहा और देखा है। उन्होंने कहा है कि "इस समय हिन्दी आलोचना में व्यक्ति-चिंतन तथा समाज-मंगल के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। साहित्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में एक अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी उनका विवेचन और मूल्यांकन विभिन्न जीवन-दृष्टियों से हो रहा है।"[2]

हिन्दी समीक्षा में ऐसी बात नहीं कि साहस के साथ कह सकने की स्थिति नहीं आई हो, उसका भी प्रारम्भ हो गया है। 'उर्वशी' पर सशक्त समीक्षा हो चुकी है। उसी के साथ अन्यान्य विषयों पर भी काम हो रहा है। इस तरह का कार्य हिन्दी समीक्षा के गौरव को बढ़ा सकेगा। डा० रामकुमार वर्मा की 'साहित्य समालोचना' आज से कई वर्ष पहले संवत् १९८७ में प्रकाशित हुई थी जिस पर कार्य करके डा० इन्द्रकान्त शुक्ल ने सिद्ध करदिया है कि वह 'अनुवाद का अश्वमेध' है जो अँग्रेजी की पुस्तक रेडीमेंट्स ऑफ क्रिटिसिज़्म' का रूपान्तर मात्र है। इसी तरह मैथिलीशरण गुप्त पर निकली एक थीसिस को भी एक विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया है। ऐसा कृतित्व ही हिन्दी समीक्षा को सम्मानित करता रहा तो उसका भविष्य अन्धकारमय हो उठेगा। यह प्रवृत्ति छायाभास के अन्तर्गत स्वीकारी जा सकेगी अथवा जुडवालेखन के अन्तर्गत या शोध के लिए पुनर्लेखन के अन्तर्गत। इस दिशा में सत्य के उद्घाटन की नितान्त आवश्यकता है।

---

१. आलोचना, अंक १, अक्टूबर ५३।

२. आलोचना तथा काव्य : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ ६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० माहेश्वरी

सातवाँ दशक : कविता की दिशा

सातवें दशक पूर्वार्द्ध की हिन्दी कविता एक नई दिशा की ओर बढ़ चली है। 'तार-सप्तक' के प्रकाशन से आज तक लिखी जाने वाली कविता, जिसे प्रयोगवादी (अज्ञेय आदि के बार-बार अस्वीकारने के बावजूद) या नई कविता कहा जाता है, वस्तुतः केवल प्रयोगशील कविता है। 'वाद' शब्द स्वयं में किसी सिद्धान्त या मतवाद का द्योतक है, किन्तु स्पष्टतः इन कवियों के पास कोई सिद्धान्त, कोई वाद या कोई दर्शन नहीं है।

छायावादी कविता की रहस्य-रोमांच शैली वाली बुर्जुआ रोमांटिकता को तोड़ने की आवश्यकता के रूप में प्रयोगशील कविता सामने आई। यों, कहा जाता है कि 'टेकनिक के जितने प्रयोग इन कवियों ने किए सब उनके पूर्व ही, निराला कर चुके थे (नामवर—आधुनिक आलोचना—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता)। यह बात सौ फ़ी सदी सही नहीं मानी जा सकती। निराला जी ने तुकों को भले तोड़ा, पर उनकी कविता में लय या संगीत बना रहा। प्रयोगशील कवियों ने फार्म को पूरी तरह तोड़ा और उससे भी आगे बढ़े। एक प्रकार से नई कविता कथ्य, फार्म, संगीत, ध्वनि तथा बिम्बों की भी अवहेलना के प्रयोग करती रही है। यह वर्जनात्मकता या रूप-निषेध यहाँ तक बढ़ जाता है कि कविता, ताज़ी-कविता और एब्सर्ड-कविता नाम से जो कई कवितायें लिखी जाने लगी हैं उनमें से कुछ शब्द, अर्थ, ध्वनि, बिम्ब, मूर्त-अमूर्त कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। यह अमूर्तता तथा एब्सर्डिटी कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है अतएव ये रचनायें पूर्णतः असंवेद्य हो उठती हैं। मुद्राराक्षस की एब्सर्ड कविता की कुछ पंक्तियाँ इस चरम अमूर्तता या रूप-रस-गंध-स्पर्शहीनता का परिचय देती हैं।

'विबोध'
प्रतीतात्म्य
अन्त्य
वीयायन
लोनक्त
क्त— (उत्कर्ष नववर्षांक ६६)

इस या ऐसी कविताओं के विषय में उनका वक्तव्य भी मनोरंजक है—'लोग अब तक ऐसी कृतियों के आदी रहे हैं, जो, कहीं-न-कहीं उनके अनुभव या संकल्प में आये हुए तत्व-जगत् की प्रतिकृति लगें। ऐसी कृतियाँ या संरचनायें क्यों नहीं हो सकतीं जो इनसे बाहर की हों? और एक बात और। समझ में आने का मतलब किसी ने सोचा है? समझ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासमझी की एक मात्रा के अलावा कुछ नहीं ?' (वही)

मुद्राराक्षस की ये कवितायें, ये वक्तव्य स्वयं उनके अनुसार एब्सर्ड हैं। फिर कोई एब्सर्ड बात पर एतराज़ क्यों करे ? ठीक ही है, नयी कविता का एक बड़ा वर्ग जहाँ पहुँच गया है उसको ईमानदारी से अपने को एब्सर्ड—या बकवास करने वाला मान लेना चाहिए। धीरे-धीरे प्रयोगशील कविता प्रयोगमयता और फिर अमूर्तता की ओर बढ़ी है। अमूर्तता के आगे उसको एब्सर्ड अर्थात् बेहूदा, हास्यास्पद, ऊलजलूल (नालन्दा शब्दकोश के अनुसार) होना ही पड़ेगा।

प्रयोगशील कविता को जन्म देने वाली पृष्ठभूमि प्रगतिवादी विचारधारा से सम्पृक्त थी। प्रगतिवादी विचारधारा को जन्म देने वाली प्रवृत्ति '३६ के आस-पास हिन्दी कविता में आयी। रूस में मार्क्सवाद पर आधारित समाजवादी सरकार की स्थापना और प्रतिगामी शक्तियों पर उसकी जीत ने '३० और '३६ के बीच सारे विश्व के बुद्धिजीवी एवं श्रमजीवी वर्ग को अनुप्राणित किया। समाजवादी चेतना की यह लहर भारत में भी आई। भारत का बुद्धिजीवी उस समय गांधी-दर्शन के चमत्कार में फँसा हुआ था। देश का नेतृत्व सेठाश्रयी राजनीतिक दलों के हाथों में था और वे पूँजी के प्रति समाजवादी ख़तरे से वाकिफ़ थे। फिर भी लाहौर में कांग्रेस ने समाजवाद का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। आज भी (असली या नकली) कांग्रेस समाजवाद को ही अपना लक्ष्य मानती है।

इस प्रभाव को हिन्दी में प्रगतिवादी दौर कहते हैं। यह दौर बड़ा तूफ़ानी था। न जाने कितने छायावादी कवि रातों-रात लाल झंडे और मज़दूर-किसानों के पृष्ठपोषक तथा समर्थक बन गये। किन्तु इन सभी कवियों के संस्कार एकदम भिन्न थे, उनकी चेतना मार्क्सवादी विचारधारा और चिन्तनपद्धति को पचा नहीं पायी थी। फलस्वरूप शीघ्र ही ये सभी कवि नारेबाज़ी की समरसता और सस्तेपन से ऊब गये। कुछ लोग समझते हैं— 'तार-सप्तक' या प्रयोगवादी कविता, प्रगतिवादी कठमुल्लापन के विरुद्ध एक विद्रोह थी (भारत भूषण—आधुनिक कविता—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता), किन्तु ऐसे लोग भूल जाते हैं कि 'तार सप्तक' के सात में से छः कवि मार्क्सवादी विचारधारा से कमोबेश प्रभावित थे। मुक्तिबोध (पूँजीवादी समाज के प्रति) नेमिचन्द्र जैन (कवि गाता है), भारत-भूषण (जागते रहो) माचवे (निम्नमध्यवर्ग), रामविलास शर्मा (विश्व-शान्ति) और अज्ञेय (जनाह्वान) की कवितायें सीधे मार्क्सवादी विचारों की मिट्टी से बनी दीख पड़ती हैं। किन्तु यह कहना है कि 'प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की कुक्षि से हुआ है (जगदीश गुप्त-आलोचना-२६ पृष्ठ ८५) भ्रमपूर्ण है, क्योंकि मूलतः ये कवि मार्क्सवादी सिद्ध नहीं होते और बाद में आने वाली—इनमें से अधिकांश कवियों की रचनायें मानववादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों के बीच किसी धुंधले बिन्दु पर कांपती रहती हैं। नई कविता का संघर्ष अपनी पूर्ववर्ती कविता से प्रायः नहीं के बराबर है, क्योंकि उसका प्रारम्भ ही ऐसी रिक्तता से हुआ है, जो पूर्ववर्ती कविता छोड़ गयी थी।' (विद्यानिवास—'अज्ञेय'—भूमिका, पृष्ठ २३)।

प्रयोगशील कविता वस्तुतः छायावादी अतिभावुकता, रोमांटिकता तथा अध्यात्मपरकता के विरुद्ध जन्मती है। प्रगतिवादी कविता का जो दौर उस समय आया वह नकली नारेबाजी और लालसेना तथा क्रान्ति के गुणगान तक सीमित था। यह प्रभाव 'तार सप्तक'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक बना रहा। किन्तु 'दूसरा सप्तक' तक अधिकांश कवि इस नकली कविता से ऊबकर धीरे-धीरे स्वच्छन्द प्रवृत्ति अपनाने लगे थे। उनकी दृष्टियाँ गांधीवादी और मार्क्सवाद के संघात से उत्पन्न खींचातानी में लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई थीं। 'दूसरा सप्तक' के एक कवि की स्वीकारोक्ति है कि कि 'मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता...... जागरूक रहकर दृष्टिकोण बनाना होगा।' (रघुवीर सहाय) सचमुच प्रगतिवादियों ने शब्दों पर मार्क्सवाद की केवल गिलाफ चढ़ाई थी। उनका जीवन-दर्शन न जीवन से मिला था न दर्शन से।

प्रयोगवादी (प्रयोगशील) कविता पर एक प्रयोगवादी कवि का वक्तव्य काफी साफ़ और शायद सच के बहुत पास है। 'उनकी भाषा और कला ऊबड़-खाबड़ है। उनके कलात्मक संस्कार अच्छे स्तर के नहीं हैं। उनमें चतुराई और कौशल है। धोखा आमतौर पर नहीं है, मगर नातजर्बेकारी है कला की, पद की (यानी शेर की)।' (संभवतः शमशेर ने कविता के नवीनतम रूपों—अकविता, एब्सर्ड कविता, लिंग्वातलमानवाद आदि को निगाह में रखकर यह बात नहीं कही थी। इन प्रवृत्तियों को देखने के बाद शमशेर की इस पंक्ति को मैं यों सुधारना चाहूँगा—आमतौर पर धोखा है, सरासर धोखा है) सबसे बुरी बात है कि उनका दिमाग आसमान पर है और उन दिमाग़ों में अक्सर सिर्फ हवा है। उलझन और हवाई उलझन। इसका कारण एक यह भी है कि उनमें आधे से ज़्यादा राजनीति की थ्योरी से ज़्यादा बेचैन हैं, ज़िन्दगी के मसलों से उतना नहीं; उनके ग्रुप और गुट हैं और कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति के अधीन हैं। दूसरी तरफ विरोधी तबकों में इसी की प्रतिक्रिया है। कविता के नाम पर भावुकता है, जिसे बीसियों तथाकथित आधुनिक तरीकों से छिपाया गया है। दो-तीन कवि इस जुमले में गम्भीर हैं और कला में वाकई संघर्ष कर रहे हैं। उनमें एक अज्ञेय दूसरा मुक्तिबोध और तीसरा त्रिलोचन। बाकी मैं हूँ या कोई और, सब लेबॉरेटरी में शोध-सा कर रहे हैं—र्‌हेटरिक के घालमेल से सच्ची भाषा को, अपनी-अपनी बिसात के अनुसार शायद अलगा रहे हैं और रास्ता खोज रहे हैं, मगर (लगता है) किसी कदर मजबूरी से और इसीलिए कुछ लापरवाही के साथ। नतीजा ज़ाहिर है।' (शमशेर) इस वक्तव्य से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे—

एक : कि प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) अभी लेबॉरेटरी में ही है और यही उसकी नियति है।

दो : कि इन कवियों की कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति की सीमा में बाँधकर लिखा जाता है।

तीन : कि प्रयोगशील कविता की तीन उपलब्धियाँ हैं—अज्ञेय, मुक्तिबोध और त्रिलोचन।

त्रिलोचन की कृतियाँ बहुत उभरकर सामने नहींआई हैं। किन्तु अज्ञेय और मुक्तिबोध को हम यदि अपनी दृष्टि में रखकर देखें तो एक बात साफ़-साफ़ सामने आती है कि इन दोनों की कविदृष्टि की परिणति में दो ध्रुवों की दूरी है। मुक्तिबोध एक ओर जहाँ मार्क्सवादी-समाजदर्शन केवल से प्रभावित ही नहीं हैं, अपितु भयंकर पूंजीवादी यंत्रणा को भोगकर उसके बीच से उभरती हुई वितृष्णाओं और असंगतियों पर तेज़ी से प्रहार करते हैं, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर अज्ञेय पूंजीवादी प्रतिक्रिया के व्यक्तिपरक यथार्थ और उलझे हुए व्यक्तिनिष्ठ जीवन-मूल्यों को अपनी कविता का आधार बनाते हैं।

प्रयोगशील कविता के इस अन्तर्द्वन्द्व के पीछे मूलभूत राजनैतिक-सामाजिक कारण हैं। स्वतंत्रता के पूर्व से ही हमारे देश का नेतृत्व पूंजीपतियों द्वारा समर्थित बुर्जुआ के हाथ में रहा है। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में धीरे-धीरे शोषण की जड़ें गहराती गई हैं और आज यह स्थिति आ पहुँची है कि खुद सरकार, जो समाजवाद का नारा देती है, पूंजी के हाथों में खिलौना बन रही है। इस स्थिति ने बहुत शीघ्र जनता का मोहभंग किया और शीघ्र ही सभी की दृष्टि में यह बात साफ़ हो गई है कि हम भीतर-बाहर दोनों ओर पूंजीपतियों पर आश्रित हैं। यह आश्रय देशी पूंजी के माध्यम से विदेशी पूंजी द्वारा हमें मिल रहा है। यह भी तभी तक जब तक देश में पूंजी रक्षित है। हमारा भोजन और प्रतिरक्षा आज पूर्णतया दूसरों पर आश्रित है। पी. एल. ४८० के जहाज न आयें तो भोजन नहीं मिल सकता। और कोई समर्थ देश यदि आक्रमण करे तो हमें सामरिक उपादानों के लिए भी उन्हीं का मुंह जोहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक असमानता ने भ्रष्टाचार, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि अनेक रोगों को जन्म दिया है।

इस सामाजिक यथार्थ को समाजवादी दर्शन के संदर्भ में देखने वाली और पूंजीवादी शोषण की समस्त यंत्रणा, त्रास और अमानुषिकता की अनुभूति तथा भोग के साझीदार की हैसियत से बेनक़ाब करने वाली मुक्तिबोध की कविता है। इसके विपरीत नई कविता वालों ने "जीवन के बिलकुल सामयिक गुण-अवगुणों को आधुनिकता के मूल्यों के रूप में मानकर मानव-विकास की सांस्कृतिक परम्परा की सभी कलात्मक उपलब्धियों को झाड़ूमार ढंग से तिरस्कारना शुरू किया है। मानव-परम्परा की कलात्मक उपलब्धियों को नया कवि अपने आधुनिकतम स्वभाव (यदि वे आधुनिकता और सामयिकता के भेद को अपनी रचना में स्पष्ट रूप से समझ सके हैं तो) के कारण आत्मसात् न कर सके तो यह उनकी मजबूरी है लेकिन उनको तिरस्कृत करने की आदत डालना एक मनोवैज्ञानिक रोग भी तो हो सकता है। और यह रोगग्रस्त आधुनिकता कम-से-कम आधुनिक मूल्य नहीं बन सकती। इसलिए मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में ऐसी विपरीत गति मानव-विरोधी हो जाती है।' (गोपालकृष्ण कौल, आलोचना-२६, पृष्ठ ९६)

नई कविता के 'विपरीत गतिवादियों' के विपरीत आज का नवप्रगतिवादी कवि समाजवादी यथार्थ को चित्रित करता हुआ एक ओर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की असंगतियों और कुत्साओं की नंगी तस्वीर उतारता है तो दूसरी ओर उसके विनाश के लिए संघर्षशील शक्तियों के संघात से निरन्तर पुष्ट होते हुए प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ के विकास को स्वर देता है। प्रयोगशील कवियों का सबसे प्रमुख स्वर अज्ञेय और नव-प्रगतिवादियों का मुक्तिबोध है।

इन स्वरों के मूल अन्तर को विवेचित किया जाय इसके पूर्व ही कुछ अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा कर लेना ठीक होगा। वैसे इस चर्चा का केवल प्रासंगिक महत्व होगा, क्योंकि हम जिन प्रवृत्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं वे अभी भी साफ़ उभर कर सामने नहीं आ सकी हैं। वैसे भविष्य में भी उनके उभर आने की कोई संभावना नहीं दीख पड़ती क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे केवल किन्हीं शिल्पगत प्रयोगों या प्रयोजनों को अतिरिक्त महत्व देकर नई काव्य प्रणालियाँ निर्मित कर देने का प्रयास करती हैं। ऐसी प्रवृत्तियों की सार्थकता केवल इ तथ्य में है कि ये ऊपर कही गई दो प्रमुख काव्य-धाराओं में से निकली हुई या उनमें किसी एक में मिलती हुई प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, मूढ़ताओं और अ कारणों से जन्मती हैं।

इन प्रवृत्तियों में अकविता, ताजा कविता या आज की कविता के आन्दोलन लिंग्वातलमोतवाद, अन्यथावाद, एब्सर्ड कविता, युयुत्सावाद आदि का नाम लिया जा सकता है। मूढ़ताओं के उदाहरण अन्यथावाद, लिंग्वातलमोतवाद महत्वाकांक्षाओं के युयुत्सावा या एब्सर्ड कविता और साहित्यिक गुटबाज़ी के नवगीत आदि नामों से प्रचलित काव्य प्रवृत्तियों के पीछे कोई ठोस आधार मान्यता या दृष्टि नहीं है। वस्तुतः ये सारी रचनाएँ शिल्प के अतिवादी प्रयोग-भर हैं जो अक्सर 'एब्सर्डिटी' को भी मूल्य के रूप में प्रतिष्ठि करने का प्रयास करती हैं। उन सारी अस्थापित अथवा विस्थापित स्थापनाओं में से केवल युयुत्सावाद है जो प्रगतिवादी आन्दोलन से यदि अपने को जोड़ सके तो उसको अर्थ मिल सकता है अन्यथा अन्य बेपैंदी के आन्दोलनों की तरह इसकी प्रगति भी घोषणा तक ही सीमित रह जायगी। यों तो युयुत्सा शब्द हिन्दी कविता के लिए एकदम नया नहीं है। प्रयोगवादी कवियों ने आरम्भ में 'युयुत्साभाव' और 'प्रतिरोध' का नारा दिया था किन्तु प्रयोगशील कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उसे कहाँ ले गईं, यह अज्ञेय की आधु निकतम कृति 'सुनहरे शैवाल' की आलोचना सिद्ध करती है। अगर ये कविताएँ अज्ञेय की प्रतिनिधि कवितायें हैं, तो उन्हें नव-छायावाद के प्रवर्तक कहना ही अधिक समीचीन लगता है।' (रवीन्द्र कालिया, धर्मयुग, २४ अप्रैल, पृष्ठ ३५)। (यदि उक्त कृति को प्रयोग वाद की प्रतिनिधि रचना न मानें तो भी हमारे हाथ एब्सर्ड कविता ही लगती है। अस्तु जब तक अज्ञेय के चेले स्वयं उन्हें अस्वीकारना प्रारम्भ न कर दें हमें एतराज़ नहीं है उनको प्रयोगशील कविता का प्रतिनिधि कवि मानने में, यद्यपि प्रयोगशील कविता की बागडोर अज्ञेय के हाथों से उसी समय छूट गई जब नलिन विलोचन, केशरी कुमार 'प्रपद्यवाद' की घोषणा की।)

अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविताएँ परस्पर-विरोधी दो ध्रुवों को स्पर्श करती कवितायें हैं। शेष कवि इन्हीं के बीच कहीं न कहीं स्थित हैं। इन दोनों कवियों की विकास प्रक्रिया को यदि हम सामने रखें तो कहना पड़ेगा कि पिछले बीस-बाईस वर्षों में हि कविता एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व से गुज़र चुकी है जिसके फलस्वरूप कुछ बातें स्पष्ट रूप से उभ कर सामने आई हैं।

यों तो अभी द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ है फिर भी 'विपरीत गति' ह्रासोन्मुखी, मध्य वर्गीय, व्यक्तिवादी, बोज़र्वा कविता ने एक बार लगता है वर्गों के द्वन्द्व को उभारने वाले पूँजीवादी शोषण को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करती हुई, भयंकर उत्पीड़न और त्रास बीच भी समाजवादी आस्था और प्रयोगशील कविता की सारी उपलब्धियों की धनी न प्रगतिवादी कविता के सामने घुटने टेक दिए हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यों की परिणति को उनके सम्पूर्ण काव्यजीवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित होगा। प्रयोगवाद के प्रारम्भिक दिनों से ही अज्ञेय और कतिपय अन्य कवियों—जैसे भारतभूषण, नेमिचन्द्र और मुक्तिबोध के आतमबोध के स्वरूप में अन्तर रहा। 'अज्ञेय' की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था, किन्तु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन जन-आन्दोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नये ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह कशमकश है संस्कार और विवेक की, आत्मस्थ होने की चाह को, असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने की कशमकश है। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में 'सक्रिय-जीवन-शक्ति' अधिक है। (नामवर—आधुनिक-साहित्य की प्रवृत्तियाँ)।

अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही प्रयोगकालीन अन्तर्द्वन्द्व से उभरे हैं। किन्तु दोनों की उपलब्धियाँ पूर्णतया भिन्न हैं। वस्तुतः प्रयोगशील कविता का काल कुछ ऐसे विरोधी तत्वों का द्वन्द्व हमारे सामने प्रस्तुत करता है कि सहसा उनमें से किसी को चुन लेना ग़लत ही हो सकता है। इन या उन प्रवृत्तियों को चुन लेने वाले ऐसे ही समीक्षक रहे हैं जिन्हें भीतर का यह अन्तर्द्वन्द्व प्रायः नहीं दीखता। इस कारण वे प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) की उपलब्धियों के दो परस्पर-विरोधी कोणों को एक-दूसरे के पर्याय रूप में देखने की भूल करते हैं।

अज्ञेय की कविता व्यक्तिनिष्ठता तथा आत्मनिष्ठता से होकर अध्यात्म की तरफ संक्रमित हुई है और रावीन्द्रिक शैली की रहस्यवादी अभिव्यक्ति में परिणत होती है :—

आँगन के पार द्वार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन।
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।
कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा लागन। (आँगन के पार द्वार)

इसके ठीक विपरीत व्यक्ति की पीड़ा को एक व्यापक सामाजिक तथा मानविक परिप्रेक्ष्य में रखकर भोगने और उनसे मुक्त होने की एक तीव्र छटपटाहट जो मुक्तिबोध की कविता में हमें, करीब-करीब हर कविता की किन्हीं पंक्तियों में मिल जायेगी—अज्ञेय में नहीं है :—

"अजीब संयुक्त परिवार है—
औरतें व नौकर व मेहनतकश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही वक्ष को
खुरदरा वृक्ष-धड़
मानकर घिसती हैं, घिसते हैं
अपनी ही छाती पर ज़बर्दस्ती
विषदात्री भावों का सर्प-मुख।
विद्रोही भावों का नाग-मुख
रक्तप्लुत होता है।
नाग जकड़ लेता है बाँहों को,
किन्तु वे रेखायें मस्तक पर
स्वयं नाग होती हैं।
चेहरे के स्वयं भाव सरीसृप होते हैं,
आँखों में ज़हर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुँडेरी से कूद अरे
आत्महत्या करती हैं।
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ ?
ठीक है हम भी तो दब गए,
हम जो विरोधी थे
कुँओं तहख़ानों में बन्द—क़ैद,
लेकिन हम इसलिए
मरे कि जरूरत से
ज्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम
हम बाग़ी थे।
मेरे साथ
खण्डहर में दबी हुई अन्य धुकधुकियो
सोचो तो—
कि स्पन्द अब
पीड़ा भरा उत्तरदायित्व—भार हो चला,
कोशिश करो,
कोशिश करो,
जीने की,
ज़मीन में गड़कर भी।

(एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन)

एक साधारण संयुक्त परिवार की, जो पूँजीवादी दबाव में ज़मीन के नीचे गड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हने को बाध्य है, के सारे आक्रोश-विक्षोभ को दिशा देती हुई ये पंक्तियाँ भारत की मेह-तकश जनता में विद्रोह की कमी की ओर संकेत करती हैं और उसे ज़मीन में गड़कर भी ीने की आस्था देती हैं क्योंकि इन पंक्तियों के लेखक के हाथ में समाजवादी आस्था का रचम है। वह अस्तित्ववादी से कहीं अधिक व्यक्तित्व के संकट से ग्रस्त होकर भी उस ंकट से आक्रान्त नहीं होता और ज़मीन में गड़कर भी जीता है, सोचता है और विद्रोह ा आह्वान करता है।

तारसप्तक से क्रमशः 'आँगन के पार द्वार' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तक संक्रमण रने वाले अज्ञेय और मुक्तिबोध की ये काव्य-यात्राएँ प्रयोग से पलायन तक तथा प्रगति नवप्रगति तक की यात्राएँ हैं। अज्ञेय शुद्ध प्रयोगशील कवि हैं और उनके प्रयोग आधुनिक रहते हुए भी पीछे हटते चले जाने के प्रयोग हैं। मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कवि हैं और उनके प्रयोग शैली और शिल्प तक ही सीमित रहते हैं। चिंतन तथा अनुभूति में वे यथार्थ की पर्तों के नीचे धँसते हैं, धँसते चले जाते हैं। वह उस जीवन का चित्र ींचते हैं जिसे वे जी रहे हैं और उसकी ओर उनकी दृष्टि है जिसे वे जीना चाहते हैं।

हिन्दी के एक चोटी के समीक्षक ने, जो अज्ञेय के परम आत्मीय रह चुके हैं, नयी कविता के लक्षण गिनाते हुए लिखा है—इसकी पहली विशेषता है 'जीवन का आस्वादन' फिर नई कविता का दूसरा लक्षण है 'पार्थिव जगत की समग्रता का ग्रहण,' नई कविता ी तीसरी विशेषता है उसकी प्रश्नाकुलता, और नई कविता की चौथी विशेषता है अपनी ावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण(विद्या निवास)।

यदि इन महासमीक्षकजी की बातों को आप मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि नई कविता के पहले की कविताओं में जीवन का आस्वादन, जगत् की समग्रता का ग्रहण, प्रश्नाकुलता और भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा नहीं थी। ये सभी लक्षण क्या पूर्ववर्ती कवियों पर नहीं घटते? क्या रीतिकालीन कविता में जीवन का आस्वादन नहीं था? क्या भक्तिकालीन महाकाव्यों में जगत् की समग्रता को ग्रहण नहीं किया गया था? क्या रहस्यवादी कवियों से भी अधिक प्रश्नाकुल हैं ये नई कविता वाले? क्या भावाकुलता में छायावादी कवियों से वे आगे बढ़ सके हैं और क्या भावाकुलता के अनुरूप भाषा बनाने में पहल इन्हीं ने की है? और फिर लय से क्या अर्थ लिया जाए, तुक, संगीत-ध्वनि या क्या?

क्यों ऐसा है कि लम्बी अवधि तक एक काव्य-प्रवृत्ति गिनी जाने वाली प्रयोगशील कविता यानी नई कविता को कोई आलोचक नहीं मिला और अज्ञेयजी को 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन यानी आज से सिर्फ़ सात वर्ष पूर्व भी यह कहना पड़ा कि—'परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।' इतना ही नहीं, उन्होंने कहा 'कि कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी)।' सचमुच यह तो बड़ा अँधेर है कि एक काव्य-प्रवृत्ति स्थापित हो जाए और सारी पत्र-पत्रिकाएँ उस काव्य-प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्वीकार्य ख़ास किस्म की कविताओं से भरी रहें, फिर भी नये-पुराने ढेर सारे आलोचकों में से एक भी उसका पक्ष लेने वाला न हो। जाने क्या बात है कि अव्वलन तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई आलोचक नई कविता की समीक्षा करने की सोचता नहीं; अगर करता ही है तो ही वह प्रयोगशील कविताएँ भी लिखता रहा हो वह प्रगतिवादी मानदण्ड को ही प्रयोग लाता है (रामविलास-नामवर) और जोड़-तोड़ करके यदि कोई आलोचक मैदान में उतरा जाता है तो अपने सारे जिरह-बख्तरों के बावजूद वह डान क्विक्ज़ोट की तरह धूल फाँक नज़र आता है (विद्यानिवास, शमशेर, श्रीकान्त, अज्ञेय)।

'तीसरे सप्तक' की भूमिका में नकेनवादियों द्वारा प्रयुक्त भाषा की अतिप्रयोग वादिता का खण्डन तथा विषय और वस्तु की व्याख्या तथा शिल्प के प्रयोगों का मह स्वीकारने के अतिरिक्त अज्ञेय को स्वयं नई कविता के विषय में कुछ नहीं कहना है। छोटे या बड़े सफल या असफल कवि की बड़ी आसान कसौटी उनके पास है। 'नये (पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभा जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशतः चेतन भी और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिक की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि-मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नई परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके उसी के सहारे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसीसे हम निश्चय करते हैं कि व कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र के उपयोग की पड़ताल कर यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाए)।'

अज्ञेय के पास नई कविता का केवल एक ही लक्षण नया है और वह है प्रयोग शीलता। शेष लक्षण जैसे विषय और वस्तु, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, सम्प्रेषणीयता बुद्धि और संवेदना का सन्तुलन, सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) का उपयोग आ सभी लक्षण क्या सब कालों की कविता के विषय में नहीं दोहराए जा सकते?

वस्तुतः नई कविता को परिभाषित करने के सारे प्रयास व्यर्थ हैं, इसलिए न कि नई कविता की परिभाषा करने की सामर्थ्य ही पिछले बीस वर्षों में कोई नहीं जु पाया बल्कि इसलिए कि नई कविता में, केवल प्रयोग-वैचित्र्य और नवीनता के आग्रह कुछ भी नया नहीं है। दर्शन के नाम पर नई कविता का हर कवि अपनी ढफली अप राग बजा रहा है। सुविधा के लिए वह अस्तित्ववाद—जैन या बौद्ध दर्शन तथा शां दर्शन को भी एक हाथ में उठा सकता है।

नई कविता नई परिस्थितियों की उपज है किन्तु नई स्थितियों, नई संवेदना और नये परिवेश की विशिष्टता को स्वीकार करके भी वह नये दर्शन को स्वीकार कर से हिचक रही है इस कारण कभी तो वह लोकगीतों की धुन पर गाती दीख पड़ती है तो कभी युद्धोत्तर यूरोप के कवियों के सुर में सुर मिलाकर मर्सिया पढ़ना शुरू कर देती है या फि कमिंग्स तथा मायाकोव्स्की की तरह शब्द-चित्र बनाती है। 'नई कविता को उत्तराधिका के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई न भौतिकवादी' (मुक्तिबोध—आधुनि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि में) सम्भवतः एक नये कवि के शब्दों में—'नई कविता के नाम पर आज जो-कुछ लिखा जा रहा है उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास है।' (प्रयागनारायण, तीसरा सप्तक) तीसरा सप्तक में संकलित कवि की नई कविता के सन्दर्भ में दी गई यह प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है। इसे केवल विनम्रता मान लेना सही नहीं होगा।

दर्शन के नाम पर नई कविता हमें जो दे रही है वह कुछ ये चीज़ें हैं—

वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है—चाहे वह साम्यवादी हो चाहे पूँजीवादी—
इस व्यवस्था में व्यक्तित्व का विकास नहीं होता।
व्यक्तिनाश प्रायः अवश्यम्भावी है।
अतएव मानव-दुःख भी अवश्यम्भावी है।
इसलिए निष्कर्ष—दुःख, निराशा, ग्लानि, विरक्ति, अगतिकता, कुण्ठा आदि-आदि—
अगतिकता मनुष्य की नियति है।
इसलिए उसे बदलने या उससे विक्षुब्ध होने की बात असंगत है।
आदर्श ग़लत हैं। उनके द्वारा हमें छला गया है।
हम लघु-मानव अपने लघु-प्रयत्नों द्वारा अपनी उन्नति या विकास करते हैं और अपनी जो भी भावनाएँ हैं उन्हें काव्य में व्यक्त करते हैं।
जनता एक भीड़ है।
भीड़ की कोई आत्मा नहीं होती।
व्यक्ति को भीड़ का हिस्सा बनने से बचना चाहिए। अर्थात् चेतन को अचेतन बनने से बचना चाहिए।
शुद्ध और शाश्वत कलाकार राजनीति या समाजनीति के चक्कर में नहीं पड़ता।
उसे तो केवल मानव की चिरन्तन संवेदना से मतलब रखना चाहिए। वह केवल
सौन्दर्य का आराधक है।

इन सारी बातों को प्रयोगशील कविता में ढूँढ़ा और पाया जा सकता है किन्तु नव-प्रगतिवादी के पास इन सभी दर्शनों का उत्तर है। वह प्रगतिवादी कवि के समान केवल नारा नहीं लगा रहा है और न प्रारम्भिक प्रगतिवादी आलोचकों के समान भद्दे ढंग से किसी भी कृति को या साहित्यधारा को कलम के एक झटके से प्रतिक्रियावादी या प्रगतिवादी घोषित कर रहा है। वह उसकी जड़ों में जाता है और सारे सामाजिक अंतर्विरोधों को अपने सामने रखकर कृति के भीतर से रचनात्मक-तत्त्वों तथा सौन्दर्यबोध को संवेद्य करती हुई पंक्तियों को चुनता है और एक पूरी सामाजिक तथा एस्थेटिक (सौन्दर्य-शास्त्रीय) कसौटी पर उसे कसता है। उसे किसी कृत्रिम दर्शन के मुखौटे से त्रस्त नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता। क्योंकि वह सत्य को अपनी दृष्टि से देखता है, किसी भी दर्शन का चश्मा पहनकर नहीं।

नई कविता के दर्शन का उत्तर नव-प्रगतिवादी के पास है। वह जानता है कि मानव को सुखी बनाने के लिए उद्योगों का प्रसार हुआ है। यदि मनुष्य की शान्ति की गारंटी हो जाए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का खुला क्षेत्र प्राप्त हो—(ऐसा कुछ साम्यवादी देशों में हो भी रहा है) मानव का दुःख यदि अवश्यम्भावी है तो सुख भी। और यदि दुःख के कारणों को कम किया जा सके और किया जा सकता है तो सुख की सम्भावनाएँ अपने आप बढ़ जाएँगी। पुराने आदर्श ग़लत हैं। इसलिए उन्हें तोड़ दिया जाए और नया मानव लघु तथा आदर्श-हीन होने के बदले नये आदर्शों को पकड़े। मानव का समाज से निरासक्त या अलग कोई विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति की काव्य-रचना किसी-न-किसी स्तर पर समष्टि की रचना होती ही है।

जनता एक भीड़ है किन्तु जागृत जनता अचेतन भीड़ नहीं रहेगी। चैतन्य जनता महान् उद्देश्यों के लिए संघर्ष करने वाली जुझारू जनता होती है जो मानवता के भविष्य की दिशाएँ निर्धारित करती है। वह यह भी जानता है कि कोई भी व्यक्ति आज की ज़िन्दगी में राजनीति से उसी प्रकार नहीं बच सकता जैसे मध्य-युग में भगवान् से। उसे यह भी मालूम है कि मानव की चिरन्तन-संवेदना या सौन्दर्य को कोई भी कलाकार केवल समसामयिक यथार्थ के चित्रण द्वारा ही कर सकता है और उसकी दृष्टि अपने समाज के जीवन को हर कोण से परखने को बाध्य है। इसके अतिरिक्त नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि ये सारे सिद्धान्त उसे केवल इसलिए पिलाए जा रहे हैं—'कि कहीं ऐसा न हो कि ये भाव प्रगतिवादी जीवन-दर्शन में बँधकर कवि-हृदय में, एक भिन्न आलोक में चमक उठें। अतएव, यह आवश्यक समझा गया कि नये कवि उसके चक्कर में न पड़ें।' (मुक्तिबोध—'नई कविता का आत्म-संघर्ष और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १८३)

नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि जन-भावना या साधारणी-कृत भावना से ही काव्य की मूर्ति गढ़ी जाती है और यह मिट्टी केवल अपने को समाजवादी घोषित करने वाले साहित्यकारों में ही नहीं अन्य जागरूक और संवेदनशील साहित्यकारों में भी पाई जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी अचेतन-जागृति दिशाहारा होती है और प्रायः उसको गुमराह करने या उसके लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने का खतरा रहता है।

'हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक उच्च मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरी-करण (संवेदनात्मक प्रतिक्रिया—लेखक) ये दो वर्ग करते जा रहे हैं उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के मानव-चित्रों में अधिक पाए जाते हैं। इस श्रेणी में, जीवन-संघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप अन्तर्मुखता और भावसघनता तो होती है, किन्तु उसके साथ स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च मध्यवर्गीय काव्य-संस्कृति से आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते।' (मुक्तिबोध—काव्य की रचनाप्रक्रिया)

इन शब्दों में मुक्तिबोध ने साफ़-साफ़ आज की हिन्दी कविता की मीमांसा की है और उन्हें इस बात का विश्वास है कि नई कविता में 'नियो-क्लासिसिज़्म' के बीज पक चुके हैं और अभी से विभिन्न कवियों में उसकी आशाएँ प्रकट हो रही हैं। (मुक्तिबोध—वही)

हिन्दी के सातवें दशक के पूर्वार्ध में हमें प्रयोगशील कविता या नई कविता में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीख रही हैं। एक व्यक्तिवादी बोर्ज़्वा संस्कारों के माध्यम से प्राप्त एक विशेष प्रकार की सौन्दर्य-अभिरुचि के रेजिमेण्टेशन से सम्बन्धित मुमूर्ष प्रवृत्ति जो अपनी ह्रासशीलता के कारण एब्सर्डिटी की ओर बढ़ती जा रही है और दूसरी सम्पूर्ण मनुष्य की अन्तस्थित जीवनानुभूति को सम्पूर्ण बाह्य-सन्दर्भों के साथ उपस्थित करने वाली, मानव की सारी पीड़ा को उसके संकल्पों और विकल्पों के साथ प्रस्तुत करने वाली और मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से अपने को जोड़ने वाली तथा हिन्दी कविता के भविष्य की ओर चलने वाली जीवन्त-प्रवृत्ति है।

डॉ० मधुरमालती सिंह

दिनकर के काव्य में नारी

३१ जुलाई, १९६५ को दिल्ली विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भवन में मैथिलीशरण गुप्त जयन्ती मनाई गई। गुप्तजी के काव्य की विशेषताओं और मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण संश्लेषण करते हुए दिनकर ने अपने वक्तव्य में कहा, "आधुनिक काव्य की मुख्य तीन विशेषताएँ रहीं, एक बुद्धिवाद, दूसरा नारी की मर्यादावृद्धि और तीसरा पौराणिक कथानकों की ओर झुकाव जिसमें भारत का हृदय है।" इसी वक्तव्य में भारतीय नारी के जीवन इतिहास को संक्षेप में दिनकर ने इस भाँति व्यक्त किया, "वेद नारी के महत्त्व के प्रमाण थे। वैदिक युग में ऋषिवाद था, मुनिवाद नहीं। वह प्रवृत्ति का युग था। गृहस्थ का महत्त्व था। मुनिवाद के पश्चात् बुद्ध का युग आया; हट्टे-कट्टे लोग नारी को छोड़कर चले जाते थे। नारी आजीवन वैधव्य का जीवन भोगती थी; जिसके आँसुओं में यह देश अब तक डूबा है।"

उपर्युक्त वक्तव्य में दिनकर ने युग परिवेश के साथ अपना नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अनायास अभिव्यक्त कर दिया है। उनके काव्य का एक महान् अंग 'नारी' है, उसके आँसुओं को इस कवि ने जैसा पहचाना है और उसकी मर्यादावृद्धि का जैसा प्रयत्न किया है उससे परिचय प्राप्त करके हत्प्रभ रह जाना पड़ता है।

हिन्दी काव्य के इतिहास में नारी का क्या स्थान रहा? यदि उस ओर दृष्टिपात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आदियुग से भारतेन्दु युग तक नारी प्रिया थी या फिर प्रेयसी या माया। आदि युग का कवि राजा की सामन्ती नारियों की परम्परागत विरह व्यथा में डूबता उतराता रहा। कबीर के लिए वह ठगिनी माया थी और जायसी के लिए नागमती जैसी साध्वी गृहस्था शैतान। तुलसी अवश्य एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नारी को जीवन की विविध परिस्थितियों में आँका और पुरुष का साझीदार समझा; किन्तु उनके मुख्य नारी पात्र राम के संदर्भ से स्वयमेव महान् हो गए थे। फिर भी तुलसी की नारी विषयक ईमानदारी उपेक्षणीय नहीं है। तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित नारी-सम्बन्धी महत्त्व का युग ने आदर नहीं किया; नारी का प्रिया और प्रेयसी या यूँ कहें कि कामिनी और विरहिणी रूप ही कवियों का प्रिय विषय रहा। रीतियुग और फिर भारतेन्दु युग तक स्थिति ऐसी ही चलती रही। काव्य के अनुकूल काव्य शास्त्र में भी नायिका भेदों में वासक सज्जा, आगत पतिका, प्रोषित पतिका, प्रवत्स्य पतिका आदि प्रधान रहे। नारी के गुण और स्वभाव का विश्लेषण करते समय आचार्यों की दृष्टि उसके हाव-भाव और हेला पर टिकी रहीं। वह सौंदर्य की कठपुतली-सी पुरुष की वासनापूर्ण कामुक दृष्टि का खिलौना और तृप्ति बनी रही। काव्यशास्त्र में नारी या यूँ कहें नायिकाभेद अब तक इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। उसके रूप-सौंदर्य के अंकन में किसी भी काव्यशास्त्री की दृष्टि उसके मन और आत्मा के सौंदर्य पर नहीं गई।

द्विवेदी युग के सुधारवादी आन्दोलनों ने अनायास कवि का ध्यान नारी महत्त्व की ओर केन्द्रित कर दिया। जीवन के प्रति प्रवृत्ति में आस्था हुई, गार्हस्थ के महत्त्व के साथ उसमें पुरुष की बराबर की साझीदार नारी अपने सम्पूर्ण आत्मिक मानसिक सौंदर्य से आवेष्ठित काव्य-भूमि पर अवतरित हुई। रामनरेश त्रिपाठी के स्वप्न और पथिक, हरिऔध के प्रिय-प्रवास और वैदेही वनवास तथा मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य नारी के इसी सौंदर्य से आभासित है।

नारी महत्त्व की इसी शृंखला को दिनकर ने अद्भुत सौंदर्य पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। प्रिया और प्रेयसी के साथ सखी और माता रूप अपने समस्त दोष-गुण के साथ उनके काव्य में प्रतिष्ठित हैं। दिनकर के काव्य में प्रतिभाषित नारी सौंदर्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करके सम्भवतः भविष्य के हिन्दी काव्यशास्त्रियों को गर्भिणी, सद्यःप्रसूता आदि नवीन नायिका भेदों को अपने ग्रन्थों में स्थान देना पड़े।

काव्य सर्जना के प्रारम्भिक दिनों से ही सम्भवतः दिनकर को नारी के विविध सौंदर्य ने आकर्षित किया है, उसके उल्लास ने आह्लादित और पीड़ा तथा रुदन ने आप्लावित किया है। सन् १९३१, ३४, ३५, ३६ आदि वर्षों में लिखे गए स्फुट गीतों में नारी के विविध रूपों को कवि देख सका है। कृषक पत्नी और राजकुमारी दोनों ही उनके काव्य में अवतरित हुईं; विधवा के एकान्त साधनारत जीवन के प्रति उन्होंने श्रद्धांजली अर्पित की, माता और प्रेयसी दोनों के महत्त्व का कवि ने गुणगान किया। भावी प्रबन्ध काव्यों में कवि नारी के जीवन की जिस विशद व्यथा और उल्लास को अभिव्यक्त कर सका है उस सबके बीज स्फुट गीतों में ही विद्यमान हैं। प्रस्तुत निबन्ध में दिनकर के स्फुट काव्य की नारी का परिचय प्राप्त करके उनकी प्रबन्ध कृतियों का नारी सम्बन्धी अंकन अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनकर के स्फुट काव्य में नारी—सन् १९३६ में 'नारी' नामक कविता में नारी के सौंदर्य को दिनकर जी ने यूँ अभिव्यक्त किया—

कुशल विधि-मानस का नवनीत
एक लघु दिव सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

कल्पना और दिव्य विभा के अतीन्द्रिय उपमानों से आवृत होती हुई भी उनकी नारी 'माया सी' न रह सकी—

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से त्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष और बाण।
हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह विजयी बर्बर लाचार,

पुरुष की निसर्ग प्राप्त हिंसा वृत्ति पर नारी कोमल प्रबल अंकुश है; वह हिंस्रता का लोप कर उज्ज्वल कोमल कमल पंक्तियों की सृष्टि करती है, बर्बर से बर्बर पुरुष भी नारी के मदिर नेत्रों के आजीवन दास हो जाते हैं, यह जीवन का सत्य है। प्रसाद की प्रलय की छाया में बर्बर अलाउद्दीन ने कमला से कहा था—

शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से।

—लहर

राजा और ऋषि दोनों नारी के उस मदिर प्रभाव से अभिभूत हुए थे—

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक मृग पर होकर हतज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान!

प्रेयसी रूप में पुरुष ने—

तुम्हारे अधरों का रस प्राण।
वासना तट पर पिया अधीर;

और माता रूप में अपत्य ने—

अरी ओ मां हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

× × ×

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृषा प्राणों की है पर देवि !
एक पल को न हो सकी मन्द ।

माता और प्रेयसी दोनों रूपों में नारी के आत्मिक, मानसिक और शारीरिक रू… सौंदर्य रस का पान करके भी पुरुष उसके लिए प्यासा ही है । दिनकर के लिए उनके ही शब्दों में नारी—

भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ अगेय ।

भारत का हृदय उसके ग्रामों में है जहाँ उसकी ८० प्रतिशत जनता निपट अपढ़त… और निर्धनता में विवश जीवनयापन कर रही है । सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग के कवि… की वाणी स्वभावतः उन दीन मलीन मानव कहलाने वाले अस्तित्वों की ओर आकर्षि… हुई है, मैथिलीशरण गुप्त ने कृषक् वेदना में लिखा—

वर्षा का सब सलिल खुले सिर पर है पड़ता
है बैलों के साथ बैल भी बनना पड़ता
जलता तो भी उदर अहो जीवन की जड़ता ।

कृषक की वेदना को आत्मसात करके भी नारी महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले कवि की वाणी इस विषय में मूक रह गई; कृषक परिवार और विशिष्टतः कृषक पत्नी की कोई झाँकी मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत नहीं की । दिनकर कृषक-पत्नी के जीवन की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करने में सफल हुए । वह इस विषय में अग्रगामी हैं ।

ज़मीदारी व्यवस्था में दलित पीड़ित कृषक जाति खेतों में सोना उगाकर भी दाने दाने को मुहताज रहती थी । अषाढ़ की रिमझिम कृषक-पत्नी के जीवन में नया उल्ला… भर देती है । खेत भरे पूरे हैं, आज वह किसी राजा की रानी से कम नहीं है, यद्यपि व… जानती है कि उसका आह्लाद, अनाज के खलिहान में पहुँचने के साथ ही समाप्त हो जाएगा ! समाज के लुटेरे महाजन और ज़मीदार कुछ भी न छोड़ेंगे—फिर वही अभाव… मय जीवन; तब भी वह कवि की 'कविता की पुकार' के रूप में कह उठती है—

कवि ! आषाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,
कृषक सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो ।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में खेतों में तो हर्षाने दो ।

'रोऊँगी खलिहानों में' अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक और सत्य है ।

अपनी अपढ़ता के कारण विवश एक कृषक वियोगिनी वधू प्रियतम को प… लिखने में असमर्थ है । दूर देश गए बालम से सम्पर्क बनाये रखने का एक यही तो उ… है । निदान विवश किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति द्वारा पत्र लिखवाना ही एकमात्र चारा… जाता है । ग्राम वधू की सरलता में उसी के अनुकूल भाषा का प्रयोग करके दिनकर… अपनी अपढ़ वियोगिनी से कहलाया है :—

"भैया लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
चारों कोने खेम-कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनकर की 'कविता की पुकार' ने कृषक परिवार की दाम्पत्य झाँकी भी देखी है और गार्हस्थ्य परिस्थिति भी।

दाम्पत्य झाँकी—

शस्य-श्यामला निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा,
तब मैं उसके हृदय स्रोत में उमड़ूँगी बनकर आशा।
अर्धनग्न दम्पति के गृह में मैं झोंका बन आऊँगी।
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी।

गृहस्थ दिनचर्या—

ऋण शोधन के लिए दूध-घी बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।

× × ×

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर, क्या जाने कैसे जीते हैं?
बँधी जीभ, आँखें विषण्ण, गम खा शायद आँसू पीते हैं।
पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना?
चूस-चूस सूखा तन माँ का, सो जाता रो विलप नगीना।
विवश देखती माँ अंचल से, नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र-सी छाती।

ऋण के बोझ से दबी हुई कृषक-वधू दुग्धाभाव के कारण अपनी सन्तति से भी हाथ धो बैठती है, उसकी वज्र की छाती तब भी नहीं फट पाती; अपनी विवशता में उसे जीना पड़ता है। दिनकर के कवि की सम्वेदना दलित वर्ग के साथ जैसे उसके जीवन को जीकर आत्मसात कर सकी है। नारी के जीवन की मार्मिक वेदना की यह तस्वीर हिन्दी-काव्य में अभूतपूर्व है।

नारी केवल निर्धनता में ही विवशता का जीवन नहीं जीती रही है, धनाधिक्य में भी उसका वही हाल रहा है। धन-वैभव से आवेष्टित धनी-मानी, प्रतिष्ठित सामन्ती वर्ग उसको वासना का खिलौना मात्र समझता रहा है। 'राजा-रानी' नामक कविता में दिनकर ने राजा को ऋतुओं के राजा वसन्त और रानी को ऋतुओं की रानी वर्षा के समकक्ष ठहरा कर उनकी नाम-गुण सटीकता को प्रमाणित किया है।

राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी।
राजा के मुख में हँसी कंठ में माला,
रानी का अन्तर विकल दृगों में पानी।
डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने,
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आयी,
उमड़ी जाने क्या व्यथा लगी वह रोने।
रानी रोओ, पोंछो अश्रु अंचल से,
राजा अबोध खेलें कचनार कमल से।
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,
सींचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से ?
लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है,
रानी की सब दिन गीली रही कथा है।

'परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने' अथवा 'राजा अबोध खेलें कचनार कमल से' आदि अभिव्यक्तियों में जो चोट दिनकर इस वर्ग पर कर सके हैं वह काव्य में अपना सानी नहीं रखती। हीरे-मोतियों के आवरण में आवृत विवश नारी विश्व की स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से चाहे स्वयं के वास्तविक रूप को छिपा ले; कवि की सर्वग्राही पैनी दृष्टि से नहीं छिप सकती। 'राजा-रानी' कविता दिनकर ने सन् १९३५ में लिखी थी। रानी के विवश जीवन की जिस कसक ने दिनकर को तब अभिभूत किया था उसकी अभिव्यंजना 'उर्वशी' काव्य में पूर्ण हो सकी। 'औशीनरी' के चरित्र और वर्षा ऋतु रानी के जीवन में अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है।

औशीनरी की भाँति सीता-राम के चरण-पूजन में ही लगी रही और--

विधु संग-संग चाँदनी खिली बन-बन में,
सीते तुम तो खो रहीं चरण पूजन में।
तो भी यह अग्नि-विधान ! राम निष्ठुर हैं,
रानी जनमी थी तुम किस अशुभ लगन में।
नृप हुए राम तुमने विपदाएँ झेलीं,
थी कीर्ति उन्हें प्रिय, तुम बन गईं अकेली।
वैदेही तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने,
रानी करुणा की तुम भी विषम पहेली।

'थी कीर्ति उन्हें प्रिय तुम बन गईं अकेली' में अग्नि-परीक्षा में भी उत्तीर्ण सीता की विवशता कवि ने मुखरित की है। त्रेता युग और फिर द्वापर युग की सामन्ती नारी पुरुष के सुख-दुख की सहचरी कहलाकर भी; केवल उसके हाथ की कठपुतली थी; उससे अधिक कुछ नहीं। कवि दिनकर ने पौराणिक नारी की भर्त्सना करते हुए सीता से कहा है

रो-रो राजा की कीर्ति लता पनपाओ,
रानी आयसु है, लिए गर्भ बन जाओ !
सूखो सरयू ! साकेत ! भस्म हो रानी।
माँ के उर में छिप रहो न मुँह दिखलाओ।

शकुन्तला के प्रति कवि के उद्‌गार अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं—

प्याली थी विष भरी, प्रेम में भूली,
पी गईं जिसे तुम भोली लता, भुवन में···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा हँसते हैं हँसें तुम्हें रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है;
रानी ! विधि का अभिशाप यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है ।

राजपूताने के सामन्ती इतिहास में नारी ने अपना मूल्य पहचाना और जौहर की रस्म अदा करके हताश-निराश सैनिकों में प्राण संचार किया—

छिटकी तुम विद्युत शिखा, हुआ उजियाला,
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला;
हल्दीघाटी हुँकार उठी जब रानी !
तुम धधक उठीं बनकर जौहर की ज्वाला ।

जौहर की रस्में स्वाभिमान की रक्षा के लिए विवशता में की गई थीं । भारत की स्वाभिमानी नारी के पास स्वरक्षा का और कोई उपचार उस युग में नहीं था । अपना पहचानने न पहचानने का अवसर और अधिकार उन रानियों को प्राप्त नहीं था, अन्यथा एक पुरुष के अन्तःपुर में सैकड़ों की संख्या में कैसे वे चली जातीं? यह संयोग की बात है कि रानियों के उत्सर्ग से, जौहर से सैनिकों के रक्त में उष्णता आई; कवि दिनकर ने सामन्ती युग की असमर्थ नारी के चरित्र-बल के महत्त्व को उदार दृष्टि से देखा, यह उनके लिए बधाई का विषय है ।

वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारियों के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त दिनकर ने समाज में अत्यन्त तिरस्कृत एक और वर्ग की नारी का अंकन किया है और वह है नर्तकी । नर्तकी के जुगुप्सापूर्ण जीवन की झाँकी कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

बरसते हैं तुम्हारे अंग पर भी बाण आँखों के
असूया में तुझे, विद्वेष के तीखे ज़हर वाले ?
उन्हीं के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में,
नहीं तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो ?

× × ×

अतल गहराइयों को छोड़ क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, सब भाले लिए फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियों तक है !
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है ।

नर्तकी जिस वातावरण में रहती है वहाँ कला के पारखी नहीं, 'सतह के फेन के ग्राहक' आते हैं । उन 'सतह के फेन के गाहकों' के कामना के सागर में केवल वारुणी का नशा रहता है । वे उच्च नशे से रंगीन नर्तकी का झिलमिलाता रूप ही केवल देख पाते हैं; रस का उमड़ता हुआ सागर ही उन्हें दृष्टिगत होता है, कल्पनाओं के मन्थन से उबलती हुई ज़हर की आग नहीं । ज़हर की वह आग जो नर्तकी के हृदय में सुलगती रहती है ।

सतह के फेन के गाहक, कलाएँ मौज हैं इनकी ।
कभी जब काम से थककर महल से ये निकलते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी ओर भी कुछ घूमते फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।
इन्हें है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है,
अतल को छोड़कर आती भुवन में वारुणी केवल।
नहीं यह जानते हैं कल्पनाएँ जब मथी जातीं,
निकलती है ज़हर की आग भी, पीयूष का जल भी।

नर्तकी सामाजिक व्यवस्था की वह अभिशप्त नारी है जिसके जीवन में कोमल अतीन्द्रिय पवित्र प्रेम की एक किरण भी कभी नहीं फूटती न कभी अपने प्रेम का प्रतिरूप अपत्य मिलता, माँ बनना, और यदि बन भी जाये तो अपत्य का पालन नर्तकी के भाग्य में नहीं होता—

न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धरकर पास आ जाये।

आत्मवंचना की जलन में जलकर और कला की साधना में रत रहकर भी नर्तकी विश्व में मान कभी नहीं पा सकती। ग्लानिपूर्ण जीवन का ज़हर वह निरन्तर पीती है, रसपूर्ण जीवन के कुछ क्षण भी वह समाज के एक विशिष्ट वर्ग को देती है। उसके जीवन की सार्थकता क्या है ? कवि उससे सीधा-सादा किन्तु अत्यन्त मार्मिक प्रश्न करता है—

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुमको।
जहर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सबको खिला करके बिना आहार सोती हो ?

उपर्युक्त विवेचित नारियों के अतिरिक्त अपने स्फुट काव्य में दिनकर ने विधवा, गीतवासिनी और विपक्षिणी का अंकन भी किया है।

'विधवा' नामक कविता में तरुणी विधवा के घर वातावरण और शारीरिक-मानसिक भावस्थिति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। 'नवयौवन की चिता बनाकर' भग्न मनोरथ की समाधि पर वह तपस्विनी कैसे बैठी रहती है ? देखिये—

उजड़े घर, निर्जन खंडहर में,
कंचन थाल लिये निज कर में।
रूप आरती सजा खड़ी किस सुन्दर के स्वागत चिन्तन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।
सूखी सी सरिता के तट पर,
देवि ! खड़ी सूने पनघट पर,
अपने प्रिय दर्शन अतीत की कविता बाँच रही हो मन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव यौवन की चिता बनाकर ।
आशा कलियों को स्वाहा कर,
भग्न मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में ।
जीवन के शुचि शून्य सदन में ।

'गीत वासिनी' में सौंदर्य-सज्जा के विभिन्न उपकरण लेकर कवि ने अपनी कल्पना ी नायिका का शृङ्गार किया है । इस शृङ्गार की विशिष्टता यह है कि वह स्थूल सौंदर्य ी सर्जना न करके अतीन्द्रिय भास्वर रूप का निर्माण करता है ।

स्वर्णदीप्त ललाट पर दे एक टीका लाल,
बालरवि से आँक दूँगा चन्द्रमा का भाल ।
आँख में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास,
साँस में दूँगा मलय का पूर्ण भर उच्छ्वास ।

'विपक्षिणी' मैथ्यू आयर की एक कविता का भावानुवाद है । उसमें कवि ने तर्क- ीला नारी के सन्मुख पुरुष की पराजय घोषित की है । नारी तर्कमयी हो अथवा मौन, ुरुष उससे बौद्धिक समकक्षता नहीं चाहता, भावना का आधार लेकर हार मान लेता है ग्रही इस कविता का प्रतिपाद्य है ।

दिनकर के प्रवन्ध-काव्यों—उर्वशी और रश्मिरथी में नारी के विविध रूप प्राप्त हैं जिनको हम मुख्य इन चार परिसीमाओं में बाँध सकते हैं—प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता । एक पाँचवाँ रूप सखी का भी है । 'उर्वशी' में उर्वशी के चरित्र में कवि ने प्रेयसी और प्रिया (उर्वशी के प्रिया-रूप के सन्मुख प्रश्नचिह्न लगा है सिवाय इसके कि वह आयु की माता है) और माता, औशीनरी के चरित्र में पत्नी, सुकन्या के चरित्र में प्रिया और माता का अंकन किया है, बाकी स्त्री-चरित्र या तो औशीनरी की सखियाँ हैं या उर्वशी की । 'रश्मिरथी' का मुख्य स्त्री-चरित्र कर्ण की माता कुन्ती है ।

'उर्वशी' में दिनकर ने उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या तीन चरित्रों को बराबर-बराबर रखकर नारी को प्रत्येक पहलू से देखने का प्रयत्न किया है । प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता-रूपों के संदर्भ में इन चरित्रों का अंकन अनुपयुक्त न होगा ।

प्रेयसी—उर्वशी पुरूरवा की प्रेयसी है । विवाहित होकर भी राजा पुरूरवा अपनी रानी को भूलकर उसके प्रति लुभाये हैं । प्रेयसी में जिस यौवन मदालस भाव को पुरुष देखना चाहता है उसकी अभिव्यंजना दिनकर ने इस प्रकार की है—

किसी सान्द्र वन के समान नयनों की ज्योति हरी थी,
बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निद्रा भरी भरी थी ।
अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली,
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगाने वाली ।

प्रेयसी के इस रूप को पुरुष अंक में भर लेता है, उसको प्राप्त करने के लिए किसी भी महान से महान कष्ट को झेलने से भी नहीं कतराता । उर्वशी को प्राप्त करके पुरूरवा हर्ष-विह्वल पुकार उठे थे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रेम पीड़ित नृप बोले, 'क्या उपचार करूँ मैं ?'
सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं ?

× × ×

प्राणों की मणि ! अयि मनोज्ञ मोहिनी ! दुरन्त विरह में
नहीं झेलता रहा वेदनाएँ क्या-क्या दुस्सह मैं ?

प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके प्रेम में उन्मत्त होकर इतर स[...] विश्व को भूल जाता है। प्रेयसी स्वकीया भी हो सकती है और परकीया भी। उ[...] परकीया से प्रारम्भ होकर स्वकीया प्रेयसी बनी थी। गन्धमादन पर्वत पर अपना राज[...] सब-कुछ भूलकर पुरूरवा उसके प्रेम में डूबे रहे थे। प्रिया बनना उर्वशी के सौभाग्य[...] था क्योंकि राजा की रानी की भाँति वह राजा के नित्यप्रति की दिनचर्या में समभागि[...] हो सकती थी। वह अभिशप्त नारी माता बनकर पति और पुत्र दोनों का मुख एक साथ देख सकती थी। कुलवधुओं की दृष्टि में वह गणिका से अधिक कुछ न थी। औशीनरी [...] शब्दों में—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुल वामाओं को तड़पाती हैं !
जाल फेंकती फिरती अपने रूप और यौवन का,
हँसी-हँसी में करती हैं आखेट नरों के मन का।

किन्तु फिर भी प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके बुद्धिबल का सम्मा[...] समादर करता है; वह नर की प्रेम-पात्री होकर उसके साथ जीवन के गम्भीर तत्त्वों [...] स्वर्ग और धरती के विषय में परस्पर विचार-विनिमय के योग्य समझी जाती है। पुरू[...] ने उर्वशी को इसी प्रकार का गौरव प्रदान किया था।

पुरूरवा और उर्वशी के रूप में कवि ने उन दो पात्रों को मिला दिया है जिनमें [...] पुरूरवा पृथ्वी का जीव होकर भी स्वर्ग की असीमता में विहरना चाहता है और दूस[...] स्वर्ग का वासी होकर भी उससे अतृप्त है क्योंकि सीमा के बन्धन का आकर्षण अतुल[...] असीमता उसकी क्या बराबरी कर सकेगी ?

पुरूरवा ने कहा—

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौंदर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।
पर, जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

उर्वशी ने उत्तर दिया—

इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जूही की कली-सी ?
गौर चम्पक यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा के स्वप्न-साँचे में ढली सी ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तुम्हारी कल्पना है प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल कपूर कुँकुम से, कुटज से
इस अतुल सौंदर्य का शृङ्गार कर लो।

प्रेयसी के प्रति उद्दाम वासना पुरूरवा के इन वाक्यों में अभिव्यंजित हुई है—

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज़ देता,
फिर अधर पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छूकर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

× × ×

कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर,
वारुणी की धार से नहला रही है ?
कौन है यह जग समेटे अंक में ज्वालामुखी को,
चाँदनी चुमकार कर बहला रही है ?

प्रेयसी की बाँहों में सिमटे हुए पुरुष की अवशता को दिनकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

पर न जाने बात क्या है !
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल करता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता,
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूप-सी नारी उसे मुसकान से।
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।

प्रेयसी जीवन संग्राम से जूझते हुए पुरुष के तप्त वपु के लिए ही केवल विश्रांम-भूमि नहीं है; उसके अंक में आतमा की तृप्ति भी प्राप्त है जो विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। पुरूरवा के शब्दों में—

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही बन्दी नहीं है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र, व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं।

प्रेयसी के नयनों की गहराई में पुरुष तन की सीमा का अतिक्रमण करके उस लोक के दर्शन करता है जहाँ सीमा समाप्त हो जाती है ... कवि दिनकर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार प्रेयसी वही सौन्दर्य-सेतु है जो देह और आत्मा की खाई को दूर करके उनको परस्पर मिलाता है—

तन का अतिक्रमण, यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ मृत्ति की सीमा सूनेपन में बिला रही है ।
अनुलंघ्य वह नहीं प्रभा के पुल से संयोजित है ।
मध्यान्तर में देह और आत्मा के जो खाई है,
अतिक्रमण कर इसलिए पार कर इस सुवर्ण सेतुक को
उद्‌भासित हो सकें भूतरोत्तर जग की आभा से ।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, आलिंगित नर-नारी का,
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है ।

× × ×

ले जाना है यह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलाश-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी ।

पत्नी—भारतीय समाज में पत्नी की परिकल्पना यद्यपि प्रेयसी और प्रिया की भावना से समन्वित है तदपि संस्कार इस समाज की 'पत्नी' कहलाने वाली नारी को गृह-स्वामिनी से अधिक गौरव प्रदान नहीं करते । सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में पति की समभागी सहभोक्ता होती हुई भी यह नारी प्रायः उसके प्रेम से आजीवन वंचित-सी रहती है; पुरुष उसे अधिकार से प्राप्त सम्पत्ति से अधिक महत्त्व नहीं देता । कालिदास के 'शाकुंतलम्' की वेत्रवती, हँसपदिका आदि और उर्वशी काव्य की औशीनरी ऐसी ही अभागिनी नारियाँ हैं ।

पति के अन्य-स्त्री-अनुरक्त होने पर ये नारियाँ विद्रोह नहीं कर सकतीं । एक दुर्बल आह-मात्र भरकर रह जाती हैं—

औशीनरी—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है ।

कुलवामाओं के कुलधर्म में सिमटी-सिकुड़ी यह पति को अपनी ओर अनुरक्त करने वाली स्त्री से क्षुब्ध तो होती हैं किन्तु स्वयं को लाचार पाती हुई कह उठती हैं—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुलवामाओं को तड़पाती हैं ।

भारतीय पत्नी संस्कार से ही स्वयं अपने को पति की सम्पत्ति समझती है । इसी से सहज समर्पण तो कर देती है, किन्तु जिस लीला-विलास का पुरुष प्यासा होता है उसे केवल गणिका का निरावृत प्रेमोद्‌घाटन समझकर अपनी कुलशील महिमा को बचाती हुई उसकी छाया भी नहीं छूने देती; इसी से केवल पत्नी कहलाने वाली नारी से पुरुष दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता जाता है। नारी में प्रेम की उद्दाम तरंग देखने के लिए वह अन्य स्त्रियों की, अप्सराओं की मरु-मरीचिका में भटका करता है। औशीनरी ने जीवन में सब-कुछ खोकर इस तथ्य को समझा था। उसने पुरूरवा के वनगमन के पश्चात् सुकन्या के सम्मुख इस तथ्य की स्वीकृति भी की थी—

गँवा दिया सर्वस्व हाय मैंने छिपकर छाया में,
अस्वीकृत कर खुली धूप में आँख खोल चलने में।
देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है
गई नहीं क्यों मैं तरंग आकुल उस रसित पुलिन पर ?
पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ व्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझ में भी छिपी हुई थी ?

× × ×

जीत गईं वे जो लहरों पर मचल-मचल चलती थीं,
उड़ सकती थीं खुली धूप में, मेघों-भरे गगन में,
हारी मैं इसलिये कि मेरे व्रीड़ा विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

भारतीय नारी अपने इस विवश रूप में भी गौरवमयी रह सकी है क्योंकि सामाजिक उत्तरदायित्वों के जिन गुरु भारों से पुरुष घबरा गया है, सामाजिक संघर्ष में न जूझकर उसने वन की शरण ली है वहाँ परिताप की अग्नि में दग्ध होकर भी पत्नी कहलाने वाली नारी कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुई है। औशीनरी उसी पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है जो पति की दुर्बलताओं को दुलराती हुई, उसके हाथों अनेक कष्ट सहती हुई भी उसकी वंश-रक्षा के उत्तरदायित्व को निभाती है। अप्सरा के पुत्र को गले से लगाती हुई औशीनरी कह उठती है—

हाय पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

सुकन्या ने औशीनरी के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिये इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

पुरूरवा के बिना बताए वन-गमन के विषय में औशीनरी का आक्रोश गुप्तजी की यशोधरा के वाक्यों की दुर्बल प्रतिध्वनि मात्र लगता है। यशोधरा के समर्थ मान का वहाँ नितान्त अभाव है।

प्रिया—प्रिया नारी का वह रूप है जिसमें पत्नी प्रेयसी बन जाती है; वह पुरुष के सुख-दुःख की समभागी बनकर उसके लिए अपूर्व शान्तिमय लोक की सर्जना करती है, सुकन्या ने च्यवन के लिए वैसा ही किया था। सुकन्या को देखकर च्यवन के शुष्क स्थाणु-प्राय हृदय में हरियाली छा गई थी; अपने मन के भावों को सीधे-सादे से शब्दों में अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त करके जब उन्होंने सुकन्या से स्वयं उसको माँगा था तो गद्गद् हुई राजकुमारी ने धन-वैभव को पाँवों तले रौंदकर ऋषि-पत्नी बनना स्वीकार कर लिया था। नारी का ऐसा प्रणयी-रूप ही सम्भवतः दिनकर का आदर्श है। च्यवन ने सुकन्या को देखकर कहा था—

कहाँ मिला यह रूप, देखते ही जिसको पावक की
दाहकता मिट गई, स्थाणु में पत्ते निकल रहे हैं ?
× × ×
मणि-माणिक्य नहीं, तप केवल एक रत्न तापस का;
शुचिस्मिते ! मैं वही रत्न तुमको अर्पित करता हूँ।
हम तुम मिलकर साथ रहेंगे जहाँ पर्णशाला में,
शुभे स्वर्ग वरदान माँगने वहाँ स्वयं आयेगा।

सुकन्या वह प्रिया थी जिसे पति के पवित्र प्रेम की दृढ़ आधार-भूमि प्राप्त थी। जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा के आदर्श की भाँति जो 'विश्वास रजत नग पगतल में पीयूष स्रोत-सी बहती थी।' उस दृढ़ विश्वास से प्रेम का अमरत्व भोगती हुई 'प्रिया' 'नारी' अप्सरियों को भी चुनौती देती हुई कह सकती है—

अप्सरियाँ उद्विग्न भोगतीं रस जिस चिर-यौवन का,
उससे कहीं महत सुख है जो हमें प्राप्त होता है
निश्छल शान्त विनम्र, प्रेम भर उर के उत्सर्जन से

तथा

अप्सरियाँ जो करें किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के
जीवन का आनन्द कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।

माता—नारी के विविध रूपों में मातृत्व वह स्थिति है जहाँ उसका वास्तविक रूप निखरकर आता है। माता के रूप में नारी स्वयं सृष्टि की अधिष्ठात्री सत्ता ही है। अत्यन्त असंग भाव से अरूप को रूप तो वह देती ही है निस्वार्थतः उसका पोषण भी करती है। दिनकर ने शब्दों में मातृत्व की इस महान् स्थिति को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव-दानव-मनुज से छिपकर
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।
सच पूछो तो प्रजा सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
सत्व भार सहती असंग सन्तति असंग जनती है;
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में
जहाँ निरापद सुखद कक्ष है शैशव के झूले का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि यह ठीक है कि मातृत्व को प्राप्त करने पर स्त्री में वह युवावस्था का स्वाविक लावण्य विनष्ट होने लगता है जो पुरुष के आकर्षण का मुख्य केन्द्र है; शरीर के रेखा-ा आदि वैसे साँचे में ढले से नहीं रहते किन्तु मातृत्व की गरिमा के गुरुभार के सम्मुख न्दर्य के वे मानदण्ड कितने हलके हैं ? मेनका के शब्दों में कवि दिनकर कह उठते हैं—

गलती है हिमशिला सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

हिमशिला जब गलकर जीवन-वाहिनी स्रोतस्विनी बन जाती है और क्षेत्रों को ा-भरा करती हुई प्रवाहित होती है तभी उसका सौन्दर्य मुखर होता है। जड़ हिम के रूप देह की गठन रखकर भी उसका क्या मूल्य ?

'उर्वशी' में दिनकर ने आयु को गर्भ में वहन करती हुई उर्वशी के रूप में गर्भिणी री का बड़ा सजीव सुन्दर वर्णन किया है। मातृत्व के संभार से युक्त नारी के व्यक्तित्व अभूतपूर्व सन्तोष और तृप्ति का सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है। दिनकरजी ने गर्भिणी की ामा उस मेघाली से की है जिसने समुद्रजल को छककर पिया हो—

और नारियों में भी श्लथ, गर्भिणी सत्त्वशीला को,
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा सी हो आती है।
कितनी विवश किन्तु, कितनी लोकोत्तर वह लगती है।
देह कान्ति पीतिमायुक्त, गति नहीं पदों के वश में,
चल लेती है किसी भाँति पीवर उस मेघाली-सी,
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही हो।

गर्भिणी की मुख मुद्रा पर भविष्य के उस शिशु कहलाने वाले जीव के भाव ही प्लावित रहते हैं क्योंकि सत्त्ववती नारी अपत्य के ध्यान में अधिकांश निमग्न रहती है—

जो चाहता भविष्य, वक्त पर वही भाव आते हैं।
मानो जो ले जन्म कभी तुतली वाणी में बोलेगा,
लगा भेजने वह अजात तुतले संकेत अभी से।

सद्यःप्रसूता उस नौका के समान है जो दृश्य से अदृश्य जग में जाकर दृश्य के लिए ार्थ ले आई हो और उस गुरुभार से उऋण होकर अब अशेष तन्द्रा में निमग्न-सी हो गई । च्यवन के शब्दों में—

तट पर लगी अचल नौका सी जो अदृश्य में जाकर,
दृश्य जगत के लिए सार्थ जीवन का ले आई हो,
और रिक्त होकर प्रभार से अब अशेष तन्द्रा में,
याद कर रही हो धुँधली बातें अदृश्य के तट की।

मातृत्व का गौरव केवल उन नारियों को ही प्राप्त नहीं है जिन्होंने सत्त्व ग्रहण रके उसको जन्म दिया हो; बल्कि माता वह भी है जो शिशु को हृदय से लगाकर पालती । उर्वशी ने सुकन्या से कहा था—

केवल भ्रूण वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है
माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उर्वशी' काव्य में उर्वशी-जैसी अप्सरा में भी माता के अपत्य के प्रति सहज अ राग को कवि ने बड़ी समवेदना और सहानुभूति से अभिव्यंजित किया है। दैविक शाप कारण उर्वशी यद्यपि पति और पुत्र दोनों का मुख एक साथ न देख सकने के लिए अभि थी किन्तु च्यवन के आश्रम में पुत्र को छोड़कर जाने के लिए बाध्य होने पर भी वह सम समय पर आयु को कैसे हृदय से जुड़ाती थी—

'अरी जुड़ाना क्या इसको ? ला दे इस हृदय कुसुम को,
लगा वक्ष से स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूँ।

अपने गर्भ के दिनों की स्मृति-रूप में उर्वशी प्रत्येक माता की अपत्य के प्रति सह कामना को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है—

यही चाहती थी, समेट कर पी लूँ सूर्य-किरण को,
विधु की कोमल रश्मि, तारकों की पवित्र आभा को,
जिससे यह अपरूप, अमर ज्योतियाँ गर्भ में जाकर,
समा जायँ इसके शोणित में, हृदय और प्राणों में।
यही सोचती थी त्रिलोक में जो भी शुभ सुन्दर है,
बरस जाय सब एक साथ मेरे अंचल में आकर,
मैं समेट सबको रच दूँ मुस्कान एक पतली सी,
और किसी भी भाँति उसे जड़ दूँ इसके अधरों पर।

पुरूरवा के राज्य में लौटने के पश्चात उर्वशी राजरानी बनकर रह रही थी राजा ने च्यवन के आश्रम का स्वप्न जब देखा तो उर्वशी को ज्ञात हो गया कि पति औ पुत्र दोनों से बिछुड़ने का समय अब आ गया है। राजा के स्वप्न की एक-एक कड़ी पश्चात्, 'हाय ! अपाले पानी दे' की घोषणा उर्वशी के नारीत्व, मातृत्व पर देवशाप कुठाराघात की व्यंजना करती है।

मातृत्व की प्यास प्रत्येक नारी के हृदय में निहित रहती है। औशीनरी अप सुख से आजीवन वंचित रही। परम्परागत संस्कारों में पोषित औशीनरी पति के पुत्र ही पुत्र मानकर पुकार उठती है—

हाय ! पुत्र मैं भी जीवन-भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

'उर्वशी' काव्य के अतिरिक्त मातृत्व की एक बिलकुल भिन्न परिस्थिति दिन ने 'रश्मिरथी' में देखी है। कर्ण की माता कुन्ती कुरुकुल की राजमहिषी थी। कुमार जी में सूर्य के साहचर्य से कर्ण-जैसा यशस्वी बालक उसे मिला था। कुन्ती भारतीय स की भीरु कुमारी माता से अधिक कुछ नहीं थी जो माता बनने पर समाज के ठेकेदार डरकर अपत्य को फेंक देती हैं और फिर ग्लानि की आग में मन-ही-मन जलकर भी महलों के प्रतिष्ठित जीवन की प्रवंचना में मन बहलाती है। विवाहिता होकर यह अ प्रथम शिशु को भूल जाती है।

कुन्ती कर्ण के पास इसलिए नहीं गई थी कि कर्ण के प्रति उसका उमड़ता स्नेह स्रोत था; बल्कि इसलिए गई थी कि पाण्डवों की प्राणरक्षा करने का महत् प्रश्न उ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख था । कुन्ती का अभागा त्यक्त पुत्र कर्ण इस विडम्बना को भली-भाँति जानता था। लिए कुन्ती के ममत्व-प्रदर्शन पर (चाहे स्वाभाविक ममत्व भी पुत्र को देखने पर ड़ आया हो परन्तु वह ममता पहले कहाँ थी ?) कर्ण क्षुब्ध हो गया। कर्ण के रूप में त्र दिनकर इस बात को मानने को तत्पर नहीं है कि कुमार-जीवन में माता बन जाने नारी अपने हृदय के टुकड़े को फेंक दे, केवल समाज से डरकर, प्रतिष्ठित जीवन न की साध में।

'रश्मिरथी' में कर्ण कुन्ती की इस दलील से सहमत नहीं है कि—

पर मैं कुमारिका थी जब तू आया था,
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
अतएव हाय, अपने दुधमुँहे तनय से,
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।
बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

ष्ठा के पद में भूली हुई अपनी माता के प्रति कर्ण के ये शब्द बड़े मार्मिक और हृदय- रह रही थी हैं—

ठकुरानी क्या लेकर तुम मुझे करोगी ?
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी ?

× × ×

उलटे मुझको असहाय छोड़कर जल में,
तुम लौट गई इज्जत के बड़े महल में।

प्रसूत दुधमुँहे बच्चे को त्यागकर चले जाने वाली माँ, माँ कहलाने की अधिकारिणी हीं है क्योंकि नारी-हृदय के सहज ममत्व को उसने सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए लाञ्जलि दे दी। कर्ण कुन्ती से कहता है—

अपना खोया संसार न तुम पाओगी,
राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी।
छीनने स्वत्व उसका तो तुम आई हो,
पर कभी बात भी यह मन में लाई हो ?
उसको सेवा तुमको सुकीर्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगाकर सेंका।

कुमारी कन्या यदि सुयोग अथवा दुर्योग से माता बन जाय तो कवि दिनकर की के प्रति चुनौती और संदेश यह है—

विधि का पहला वरदान मिला जब तुमको,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोदी में नन्हा दान मिला जब तुमको,
क्यों नहीं वीर माता बन आगे आई,
सबके समक्ष निर्भय होकर चिल्लाई,
सुन लो समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी,
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो बन में।
पर मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का संबल है।

× × ×

शायद समाज टूटता वज्र बन तुम पर,
शायद घिरते दुख के कराल घन तुम पर।

× × ×

पर, सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम।

× × ×

भोगती राजसुख रहकर नहीं महल में,
पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु तल में।
लूटती जगत में देवि ! कीर्ति तुम भारी,
सत्य ही कहाती सती सुचरिता नारी।

मातृत्व के इस गौरव की महिमा को हिन्दी के जागरूक लेखक ने आज के यु पूर्णतः पहिचान लिया है। हिन्दी का कोई भी प्रगति-प्रेमी लेखक समाज से प्रताड़ित न को भीरु नहीं देखना चाहता। कुमारी माता के प्रति दिनकर की उपर्युक्त चुनौती मह के इन वाक्यों से कितना साम्य रखती है देखिये—

"यदि ये स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि, ' तुमने हमारा नारीत्व-पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न तो इनकी समस्या तुरन्त सुलझ जावे। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्या मातृत्व के साथ स्वीकार नहीं कर सकता, क्या वह इनकी कायरता और दैन्य-भरी को ऊँचे सिंहासन पर रखकर पूजेगा ?"—अतीत के चलचित्र ६।

कुन्ती को असहाय कुमारिका माता बनकर कर्ण से प्रार्थना करनी पड़ी वह उसके प्रति कुछ द्रवित हो सका। अर्जुन से इतर चार पाण्डवों के लिए उसने अ दान भी कुन्ती को प्रदान किया।

इस प्रकार दिनकर के काव्य में नारी के विविध रूपों का परिचय प्राप्त यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस महान कवि ने युग की चेतना के अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ नारी के प्रति दृष्टिकोण को पर्याप्त सच्चाई और सहानुभूति से प्रतिष्ठित किया है। नारी-जीवन के मुख्य पहलुओं प्रेयसी, प्रिया, पत्नी और माता की स्वस्थ और तथ्यपूर्ण व्याख्या और प्रतिष्ठा तो की ही है साथ ही उनकी कमज़ोरियों की यदि उन्हें कहीं पाया है तो कटु-शब्दों में आलोचना भी की है। ऊँच अथवा नीच कहलाने वाले सभी वर्गों की नारियों की विवशताओं और सबलताओं को कवि ने अपनी आत्मा में आत्मसात किया है।

कवि के अनुसार नारी सृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति है। उसके वक्ष पर सिर रखकर जीवन-संघर्ष में जूझता पुरुष मर्त्य-भाव को भूलकर कुछ क्षणों के लिए ही चाहे हो अमर हो जाता है—

और वक्ष के कुसुम कुँज, सुरभित-विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।

नारी-जीवन की सार्थकता को कवि ने पुरुष और नारी की प्रणय-निगूढ़ एकत्वानुभूति की स्थिति में माना है। चित्रलेखा के शब्दों में—

बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर में,
केवल मन ही नहीं, अंग संज्ञा भी खो जाती है।
धन्य त्रिया वह जो बलिष्ठ नर की पिपासु बाँहों में,
आँख मूँद रसमग्न प्रणय-पीड़न असह्य सहती है,
जैसे बहता कुसुम तरंगित सागर की लहरों पर।

'नारी-जीवन' के विविध पक्षों का समग्र विवेचन करके दिनकर ने आधुनिक युग के काव्य के एक बृहद् उत्तरदायित्व की पुष्टि की है।

बैजनाथ सिंहल

नया भाव-बोध और धर्मवीर भारती

आज हिन्दी-जगत् में 'आधुनिकता और नये भाव-बोध' विषय पर आक्षेपकों और समर्थकों के ऐसे दो वर्ग बने हुए हैं जिनमें अधिकांशतः कवि और आलोचक ठोस सैद्धान्तिक सत्य को स्वीकारते हुए भी जान-बूझकर आँख मींच जाते हैं और पूर्वाग्रहों (Platitudes) के रंग में रँगकर गतानुगतिकता को श्रेयस्कर समझते हैं। इनमें—पहला और ऐसा वर्ग उन कवियों और आलोचकों का है जो छायावादी प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सका है और कदाचित् विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सस्ती कविताओं के अध्ययन-मात्र से नयी कविता का विरोधी हो बैठा है, क्योंकि नये अधिकारी-कवियों के काव्यों पर उसने दृष्टि-निक्षेप प्रथमतः तो किया ही नहीं, दूसरे एक चिढ़ जो बन गई है। इस प्रकार उक्त विद्वान नयी-कविता का मूल्यांकन छायावादी मान-दण्डों के आधार पर करते हैं। दूसरे वर्ग में कुछ ऐसे विद्वान हैं जो कि स्वयं नये कवि और आलोचक, दोनों हैं। नयी-कविता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयुक्त समर्थन से ऊपर उठ, ये लोग अतिवादिता का ऐसा गहरा मुल्लमा चढ़ाते हैं जो वास्तविकता में अस्वीकार्य हो उठता है। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठक अथवा साहित्य-प्रेमी की स्थिति अनिवार्यतः शोचनीय हो उठी है। नयी-कविता के अतिरिक्त समस्त हिन्दी-काव्य-जगत् में पारंगत होने पर भी इन नये कवियों और आलोचकों को उसकी योग्यता पर सन्देह है। यदि वह समसामयिकता से कदम सटाकर चले तो उसे यह अतिवादिता का मुल्लमा कुछ अंशों में स्वीकारना ही होगा।

उक्त भ्रान्तियों के सम्यक् निवारण हेतु नए भाव-बोध का विश्लेषण छायावाद के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही करना होगा। नया भाव-बोध क्या है ? छायावाद से इसमें क्या भिन्नता है ? इसकी केन्द्रीयता छायावादी भित्ति से किस रूप में विलगता पाती है ? आदि —सभी पर तर्क आश्रित निर्णय अपेक्षित है।

यदि रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया मान लिया जाए, और छायावाद को रीतिकालीन नायिका के गालों पर से पान-पीक के धब्बे पोंछकर स्वच्छ और सुसज्जित पोशाक पहनाने वाला मान लिया जाए, तो निश्चित रूप से नयी-कविता को छायावाद के इसी रूप की प्रतिक्रिया स्वीकार करना होगा, क्योंकि इसी में सौन्दर्य के अन्दर छिपी नर और नारी दोनों की हार्दिक रुग्णता मुखरित हो सकी है। छायावादी कविता यथार्थता से बहुत दूर कोरी भावुकता के स्वप्नजाल में उलझकर आत्म-सन्तोष पाती रही। वहाँ पर स्वर्ण-धूमिका में प्रच्छन्न स्वर्ण प्राची की अनवरत प्रतीक्षा होती रही। सभी कटु-सत्यताओं के प्रति छायावादी कवि आँख मींचकर गरलपान करता हुआ खोखली राष्ट्रीयता का दम्भ भरता रहा, जो न्यूराटिक (Neurotic) ओज की पुंसत्वहीन साहसिकता पर आधारित थी, वह इसे अपने हृदय का हार इसलिए बनाए रहा क्योंकि यह सभी प्रकार की यथार्थता की घुटन से दूर उस एकाकी.को काल्पनिक स्वप्नलोक के उस स्वर्गिक उद्यान में विचरण कराती थी। यहाँ इस सबकी पहुँच नहीं थी। मन में विक्षुब्ध, प्राण में थका, तन में जर्जरित, घ्राण में मूर्च्छित होकर भी वह इसी स्वप्नजाल को ग्राह्य मानता रहा क्योंकि उसकी धारणा बन चुकी थी कि दिल-बहलाव के लिए इससे अधिक उपयुक्त साधन और कोई नहीं।

नयी कविता इसके ठीक विपरीत युग-सत्य, यथार्थता, आधुनिकता को लेकर चली है। वह शिव-अशिव, प्रकृति-विकृति, हार-जीत, क्षणिकता, ऐन्द्रिकता से विकसित होती हुई भाव-जगत् के नूतन सन्दर्भों को विकसित करती रही है। जिन कमियों को छायावाद ने रहस्याच्छादित कर दिया था, उन्हीं की पोल खोलकर नयी कविता विवेक और सत्यता की आँच में तपकर निखरी है। नया-कवि केवल स्वर्ण ही नहीं देखता, मिट्टी भी देखता है, वह केवल चन्द्रमा की शीतलता में ही नहीं नहाता, प्रत्युत सूर्य की गर्मी में भी तपता है, नक्षत्रलोक में ही विचरण नहीं करता पृथ्वी की धूल में भी लोटता है, सभी अंगों में निरी कमलों की सुन्दरता नहीं निरखता वरन् जर्जर हाड़ों का भी साक्षात्कार करता है। शलभ को जलते देख किसी के विरह में उच्छ्वास और आहें ही नहीं छोड़ता बल्कि लाखों, करोड़ों दीन-दुखियों, निस्सहायों और पीड़ितों की आहों और रुदन की ध्वनि को भी सुनता है। इस प्रकार उसका काव्य युगमय है और युग स्वयं में नयी कविता। जो नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का अध्ययन करना चाहे, मेरी सम्मति है कि वह पहले युग का अध्ययन करे। कोरी कल्पना और भावुकता को छोड़कर वास्तविक युग-सत्य की आँच में तपे। सस्ते मनोरंजन की अपेक्षा आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष सत्य का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषण करे।

नयी-कविता में आधुनिकता का परिप्रेक्षण केवल कालगत (Chronological) आधुनिकता नहीं, वरन् भावगत नवीनता भी है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के शब्दों में—"नवीनता को बहुधा लोग अनोखा (Strange) का नाम देकर हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि वे भाव की नवीनता, स्तर की नवीनता, दृष्टि की नवीनता को महत्वहीन समझकर साधक और सिद्धि को सत्य मानते हैं, एकालाप और विलाप की निष्क्रियता को सक्रिय मानते हैं, महफिल और मजलिस में मनोरंजन उनका ध्येय होता है, तुक और लय में बेतुकी कहने की धृष्टता उनमें होती है। आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष-तत्व को वे अमर्यादित सत्य कहकर ठुकरा देना चाहते हैं। वे सारी हिन्दी-कविता को सिनेमा गीत के स्तर पर देखना चाहते हैं।[1] अस्तु ये साहित्य-प्रेमी व्यंग्यार्थ में सच्चे सहृदय (प्रमत्ता) नये कवि की रचना को देखकर बौखला क्यों न जाएँ। वे उस गरीब पर दुस्साहस का आरोप कर यह भूलना चाहते हैं कि नवीनता के स्तर के साथ-साथ वह एक नूतन दृष्टि का भी बोध कराता है। नया भाव-बोध नये स्तर और नयी-दृष्टि के साथ-साथ नये मूल्यों को साथ लेकर विकसित हुआ है। यह नया-मूल्य आधुनिकता में रंगकर आत्मवेदना की गहराई से उठता हुआ काव्य-परिवेश के अन्वेषण की ओर अग्रसर होता है।

बहुत से साहित्य-मर्मज्ञ जो नये भाव-बोध का विरोध केवल विरोध करने के लिए ही करते हैं उनसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे छायावाद के उस युग पर क्षणिक दृष्टि-निक्षेप करें, जहाँ पर यथार्थ की संवेदनशीलता से द्रवीभूत होकर छायावादी कवि गुलाब की पंखुड़ियों का मोह छोड़ उस दिशा में सोचने पर बाध्य हो गया, जिस भूमि पर आज की नयी कविता प्रतिष्ठित है। निराला उनमें सर्वप्रथम हैं। संस्कारबद्ध रूढ़ि में उलझे शब्दार्थ को छोड़कर समकालीन यथार्थता को प्रदर्शित कर सकने की क्षमता से युक्त शब्दों द्वारा उनका विषय 'जूही की कली' पर से कुकुरमुत्ता पर आ ठहरा। इसका प्रमुख कारण थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ और इससे प्रमुख थी कवि की अनुभूति की प्रगाढ़ता जो गत और आगत बन्धनों को तोड़कर सच्चा-जीवन जीने के लिए चीत्कार कर उठी। आरोपित मूल्यों का अवमूल्यन कर उसमें जागृति की प्रौढ़ता ने पर्यावसान पाया। यह युग था संक्रमणकाल का। इसका यथार्थ, विघटित मानव-आस्था के स्तर का यथार्थ, युद्ध जनित यथार्थ के समक्ष अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुका था। सौन्दर्य के प्रतिमान, मनुष्य का अस्तित्व सब कुछ बदल रहा था। युद्ध के यथार्थ, संक्रमण की मार्मिक चोटों से आहत छायावादी कोमल-मानव सत्यता की पथरीली धरती पर आ गिरा। इस स्थिति का वहन छायावादी कवि न कर सका, उसकी भाषा न कर सकी, उसकी अनुभूति न कर सकी, उसकी क्षमता न कर सकी। प्रश्न होगा केवल निराला ही इस ओर उन्मुख क्यों हुए? उत्तर सहज है। निराला का व्यक्तिगत जीवन उपर्युक्त परिस्थितियों का अनुभूत था। वह इस ठोस धरातल

१. 'नयी कविता के प्रतिमान'—लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर ठहर सकता था। निराला जैसे छायावाली व्यक्तित्व द्वारा उद्भूत यह क्रान्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आधुनिकता के आयामों को छू सकी। यह ऐसी मन:स्थिति है जो आक्रान्त मर्यादा की विकलता में गर्भ से प्रसूत हुई। यह प्रयोग स्वयं में विशिष्टतम महत्व का है।[1]

प्रयोग एक जान-बूझकर की गई धारणा का निश्चित फल होता है अथवा स्वयमेव प्रस्फुटित परिस्थितियों का परिणाम। काव्यगत प्रयोगों की प्रवृत्ति एवं प्रयोजनीयता पर विमर्श करते हुए पाश्चात्य-साहित्य में प्रयोगवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक टी० एस० इलियट[2] के अनुसार—प्रयोग शब्द को उन कवियों की कृतियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है जो विकसित होते हुए परिपक्वता प्राप्त करते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है वह नयी विषय-वस्तु की ओर मुड़ता है या पुरानी विषय-वस्तु को ही नयी के माध्यम से उपस्थित करता है, क्योंकि हमारे आदिम 'स्व' और युगीन 'स्व' एक ही युग में रहने लगते हैं अथवा उसी विश्व में भिन्न व्यक्ति होते हैं। "कुकुरमुत्ता के प्रयोग में ऐसी ही परिपक्वता है, उसमें ऐसी ही विषय-वस्तु की पकड़ में कवि का प्रयास रहा है। इस पकड़ को कई अन्य छायावादी-कवियों ने भी पकड़ने का साहस किया, परन्तु उनकी रचनाओं में व्यक्त आँसू और पीड़ा उस स्तर पर हमारे हृदय को स्पर्श न कर सकी जिस स्तर पर सहपीड़ा और संवेदना की अनुभूति जागृत होती है। इसलिए छायावाद का भाव-बोध, उसका शब्द-विन्यास, उसकी प्रेषणीयता आगे चलकर अर्थहीन-सी हो गई।" छायावाद का पतनोन्मुख काल केवल एक स्नॉबरी (Snobbery) का काल रह गया था।"[3]

इससे पूर्व कि नयी-कविता में आधुनिकता के निर्वहन का मूल्यांकन किया जाये, यह जान लेना परमावश्यक है कि 'आधुनिकता' शब्द का मूल्यांकन किस प्रकार हुआ है? आधुनिकता के विषयगत और वस्तुगत अर्थ के प्रति आधुनिक कवियों और आलोचकों में मतैक्य नहीं। एक मत आधुनिकता को मात्र समसामयिकता की संज्ञा प्रदान कर शेष सभी बन्धनों से मुक्त हुआ चाहता है, जबकि दूसरा मत इसे अधिक आन्तरिक और मूल्यगत

१. प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं साधन है और दोहरा साधन, क्योंकि एक तो वह उस युग-सत्य को जानने का माध्यम है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को भी जानने का साधन है। दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ७

२. The word experimentation may be applied and honourably applied to the work of many poets, who develop and change in maturity. As a man grows older, he may turn to new subject-matter or he may treat the same material in a different way. As we are, we both live in a different world and become different men in the some world—T. S. Eliot.

Selected prose. P. 81 Penguin Edition 1963

३. (क) नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६२

(ख) A Society with plenty of snobberies is like a dog with plenty of fleas, it is not likely to become Comatie. Every snobbery demands of its devotees unceasing efforts, a succession of sacrifices. —Aldous Huxley

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव मानता है। उसके अनुसार—आधुनिकता युग-विशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति-विशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो देशकाल के बोध के साथ-साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। आधुनिकता काल-बोध, युग-बोध की उद्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि सम-सामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।[1] वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता तो हर काल में हर साहित्य के लिए उसका रचनाकाल रहा करता है, परन्तु आधुनिकता में मेरे विचार से वे परम्परागत तत्व अनिवार्य रूप से समाहित रहा करते हैं जो विगत प्रस्तुत (वर्तमान) और आगत समसामयिकता जन्य होते हैं। उन सभी की समन्वय-कारिणी-आधुनिकता वास्तविक आधुनिकता हो सकती है। अतः समसामयिकता और आधुनिकता क्षणिक वर्तमान में एक होते हैं और स्थिति-विशेष में भिन्न भी हुआ करते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार हर लेखक और कवि का हर नयी रचना को स्वतन्त्र मानकर चलना, (जिसकी प्रेरणा और नियम अपने ही बाह्यरूप नियमों से परिचालित हों) दूसरे शब्दों में व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में उसकी परख को व्यर्थ समझना एक नितान्त भ्रान्त और अतिवादी धारणा है। नया कवि अनुभव करने लगा है कि नया भाव-बोध आमूल-चूल रूप में नया है जो परम्परा-विच्छिन्न और स्वतन्त्र है। ऐसी धारणा साहित्य में विकृति और अनर्गल रचनाओं को जन्म देगी जिससे नव्यता जैसे निराधार मापदण्ड रूढ़ हो जाएँगे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों—"आधुनिकता (नवीनता) काव्य के प्रतीयमान रूप को स्पर्श करती है, माँजती है, खरोंचती है उसके अन्तर्निहित स्थिर और विकासमान धर्म को नहीं।"[2]

"आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिखकर रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने को उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने को उत्सुक हैं—"[3] छायावाद के इस स्वप्न जड़ित सुनहले अभियान के उपरान्त हम युग-चेतना की भाव-भूमि पर उतर कर उस विस्तृत आयाम का भ्रमण करेंगे जो नया-भाव-बोध बनकर धर्मवीर भारती की काव्य-भूमि में प्रसरित होकर, उगा है और विकसित हुआ है।

धर्मवीर भारती का नयी-कविता क्षेत्र में अप्रतिम स्थान है। साहित्य की अन्य विधाओं के कुशल परिष्कार-कर्त्ता होने के साथ-साथ एक जागरूक काव्य-रचना को अत्यन्त दायित्वपूर्ण और महत्व-सम्पन्न कर्म मानते हुए उन्होंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि कहीं अकाव्यात्मकता उन्हें छू न जाए। वे सरलता की ओर अकाव्यात्मक पलायन की भर्त्सना करते हैं। ऐसे पलायन का कारण एक तो वे रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य प्रकृतिगत माँगों की उपेक्षा कर किसी संकीर्ण परिधि में ही सौंप देने को मानते हैं और दूसरे समूची जीवन-प्रक्रिया और यथार्थ की कठोर भाव-भूमि से असम्पृक्तता को। ऐसे रचनाकार रचना-प्रक्रिया को जीवन-प्रक्रिया से भिन्न ही नहीं अपितु विरोधी भी

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २६४-२६५।
२. आधुनिक साहित्यबोध (एक परिसंवाद) पृ० ५ (प्रकाशक शिल्पायतन कालेज कलकत्ता।)
३. यामा 'भूमिका'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेते हैं—ऐसा उनका विचार है। ऐसी सजगता को नयी कविता की जड़ कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी वरन् कुछ नये कवियों के लिए यह प्रेरणा पुंज होगी। भारती के इसी मन्तव्य से उनकी रचना-प्रक्रिया की प्रौढ़ता, उनकी सजगता और दायित्व के निर्वाह का अन्दाज़ा हो सकता है। इस प्रकार काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की नयी संतुलित भूमि की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे।

भारती का कवि मानव-मूल्यों के प्रति दायित्व चेतना को ही कविता की विशिष्टतम उपलब्धि स्वीकारता है। उनका विश्वास है कि सच्चा कवि वही हो सकता है जो किसी प्रकार का दम्भ न कर, मिथ्याडम्बरों से दूर, कुण्ठाओं का निवारणकर-एकाकी रहकर भी सर्व से लेकर 'प्रत्येक' से नाता जोड़ता है। अन्धेरी गुफाओं और सुरंगों में से गुजरता, वह एकाकी अन्धेरे में ही उसी अन्धेरे से सम्बन्धित रचना किया करता है। वह ऐसी भावस्थिति को मानता है—"जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने को परदेशिनी वहाँ मानती। ऐसे लोग असाधारणता का बाना नहीं ओढ़ते, सहज रूप में जीवन को सम्पूर्णता में जीने के हामी हैं, व्यक्तित्व को हारते नहीं, जगत को अस्वीकारते नहीं।"[१]

भारती का समस्त काव्य नये भाव-बोध पर आश्रित आधुनिकता का पोषक है। वह आधुनिकता केवल कालगत (Chronological) भाव में नहीं वरन् चिन्तन-विधि में है, दृष्टिकोण और विवेक में है, जीवन की स्पष्ट व्याख्या तथा ऐतिहासिक दायित्व में है, वल्कि इससे आगे वह आधुनिक इसलिए है कि आज के जीवन-सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयोग करता है। उसकी दृष्टि पिटी-पिटाई लकीर से दूर— अन्वेषणगत है, परीक्षण जन्य है। उसमें तर्कगत अवलोकन है, उसके आधार पर परीक्षण करके किसी समुचित निष्कर्ष कर पहुँचने की अदम्य लालसा है। अपने ही निष्कर्षों को वह अन्तिम सत्य नहीं स्वीकारती, प्रत्युत सत्य की अनवरत खोज में वह आगे भी चला करती है— अजस और शाश्वत। वह पूर्वाग्रहों (Platitudes) और वर्जनाओं (taboos) को न मानकर स्पष्टवादिता में विश्वास रखती है। मर्यादित सत्य उसकी दृष्टि में कोई पाप नहीं है—"अनुभूति की ईमानदारी मूल्यों की मर्यादा को निखारती है।"[२] ऐसा उसका विश्वास है।

अनुभूति की इसी प्रगाढ़ता में सराबोर कवि वर्तमान की विभीषिका को मिटाकर संघर्ष और नवीन-चेतना द्वारा नव-निर्माण का मंगल संदेश देता है। वह कल्पना के स्वर्ग में न रहकर अपनी सृष्टि के जीवन में ही स्वर्ग-निर्माण की कामना करता है। इस हेतु कविता की अतुल शक्ति पर उसका अडिग विश्वास है। इसी माध्यम से वह मानव-मन को बदलकर उसमें एकता स्थापित करना चाहता है :—"

फिर उभर कर कहेगी कविता
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी है

---

१. सातगीत वर्ष—भूमिका पृ०—
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी मेरी आखिरी आवाज़ बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गई है।[1]

''अन्धा-युग' ऐसी ही कृति है जिसमें अन्धों के माध्यम से एक चिरन्तन आलोक विकीर्ण हो रहा है। उसकी समस्त भाव-भूमि, विषय-वस्तु का संयोजन-विवेक, मर्यादा, सापेक्ष और अर्द्धसत्य की अन्वेषण प्रवृत्ति पर आधारित होकर चला है—'' जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्त हों, उसकी कथा में विवेक ही प्रकाश दे सकता है।''[2] अत: उसका स्वर अशक्तता, निराशा से ऊपर खिन्नता से मुक्त होकर, विषैली सँकरी गलियों में अमृतमय प्रकाश की वृष्टि से अनुभूति को समस्त सहृदयता में बाँध देता है—

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्ध सत्य, रक्तपात हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना है।[3]

जो आलोचक 'अन्धा युग' में मुखरित इस स्वर को यूरोप के सामाजिक, राजनीतिक, रॉक-एण्ड-रोल, चा-चा-चा, ट्विस्ट आदि के सन्दर्भ में देखना चाहें उनसे मेरा आग्रह है कि वे लोग यह भयंकर भूल न करके वास्तविक केन्द्रीयता को समझने, परखने और निरखने की चेष्टा करें। भारती के कवि का विश्वास है कि भावनाएँ लोकहित के संयोग से ही फलीभूत होंगी। इसी कारण वह 'युग-संघर्ष-समष्टि के प्रति जागरूक है। वह व्यक्तिगत अतृप्त तिक्तता की वर्जना कर समष्टि के व्यापक हित में ही अपना मंगल मानता है। उनकी कविता उस आँगन में जहाँ पर सतह बेल-बूटों से सजी हो और भीतर तप्त बालू भरा हो नृत्य न करके बालू की उस मरुस्थली चट्टान पर भी चढ़ती प्रतीत होती है जहाँ से वह स्वस्थ, सहज, समाजोन्मुखता को देख, सोच और समझ सकें। सुदृढ़ मानवता का खोज और उसमें भी एक समग्र-जीवन-दृष्टि का विकास उसकी लोक सम्पृक्ति की दो सम्बद्ध दिशाएँ हैं। वह विवेक की बल्गाओं से मर्यादित गतिशील सामूहिकता की कामना करता है :—

''वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहास के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग-पथ पर
जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग
उन्नत माथ

१. भारती—ठण्डा लोहा, 'कविता की मौत'।
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ७५
३. अन्धायुग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम सबके ओठों पर सामूहिक गीत
गतियों की वल्गा
जन-नायक के हाथ।"[१]

परन्तु उसका यह समष्टि-रूप में दृष्टिकोण हारी हुई मनोवृत्ति का प्रतीक नहीं है। वह व्यक्तिगत सत्ता को मूल सार्थकता से निरस्त्र नहीं करता। उसकी आत्म-चेतना समष्टि प्रवाह से रुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसके अंग रूप में निज का महत्व स्वीकारती है। वह व्यक्ति सामर्थ्य को बल प्रदान कर उसके आत्म-विश्वास को वाणी देती है :—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस
दुरूह चक्रव्यूह में, अक्षौहिणी सेनाओं को
अकेले चुनौती देता हुआ···[२]

यहीं से—'न हो यदि वासना तो ज़िन्दगी की माप कैसे हो'[३]—की स्वस्थ व्याख्या करते हुए वे सहज जीवन का उद्घोष 'कनुप्रिया' में करते हैं—'लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है, और जो अब उद्घोषित् महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं होता बल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगा।'

ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का।"[४]
कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य, मेरा गन्तव्य।[५]
इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे सहयात्री।[६]

इस पथ का यात्री समस्त, विगत आगत आपदाओं से अवगत ही नहीं अपितु वज्र की चट्टानों को घायल फूल की भाँति बिखरते देख सकने की सामर्थ्य से भी युक्त है। जिस प्रकार 'अन्धायुग' महाभारत की ही अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं वह तो आज का इतिहास है, उसी प्रकार कनुप्रिया भी कनु से अन्तःप्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक बोध, और जीवन से परिचित राधा एक आधुनिका की भाँति ही अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करती है। उसके लिए वायदे, आश्वासन, कर्म, स्वधर्म सब अर्थहीन हैं। यह राधा की स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है न कि उसने पागलपन का। कनुप्रिया वैयक्तिक सुख-अभिलाषा के अतिरिक्त कनु के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है :—

और जब तुमने कहा था—माथे पर पल्ला डाल लो"
तो क्या तुम चिता रहे थे

१. सात गीत वर्ष—'जिज्ञासा'—पृ० ३८
२. वही पृ० ६१-६३
३. दूसरा सप्तक—धर्मवीर भारती पृ० १८६
४. कनुप्रिया, पृ० ७
५. कनुप्रिया—पृ० ३६
६. वही पृ० ३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अपने इस निजत्व को अपने आन्तरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रखूं
रसमय और पवित्र रखूँ
नव वधू की भाँति"[१]

भारती का समस्त काव्य वैज्ञानिकता और विवेक आश्रित है जो भले ही भावनावादी कवियों को न रुचे। उसमें चिन्तन की गहराई स्पष्ट हुई है, नई समस्याएँ प्रकाश में आई हैं और उनके संशोधन का अवसर मिला है। यथार्थ की तिक्तता और कटुता को उसने सहर्ष अंगीकार किया है। उसमें पलायन और घृणा की प्रकृति कहीं भी लक्षित नहीं होती, उसकी समस्त नैतिकता की पाचन-शक्ति, कार्य-कारण, कल्पना और बौद्धिकता के परिवेश में कलागत अभ्यास लेकर चली है।[२] नयी-कविता की समस्त नवीनताओं, विशेषताओं और संभावनाओं की उपलब्धि के साथ-साथ वहाँ पर नयी-कविता के प्रभान्विति, असंगति या वैचारिक विरोधाभास आदि दोषों का भी यथासम्भव परिष्कार हुआ है। उनके काव्य में कविता की समग्रता (Wholeness) संगति (Harmony) और दीप्ति (Radiance) आदि सरणियों का भी समुचित निर्वाह हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्मवीर भारती के काव्य में नयी-कविता के आधुनिकतम स्वरूप तक की व्यंजना अत्यन्त सुदृढ़ हुई है। अस्तु वे नये कवियों में मूर्धन्य कवि हैं। नयी कविता में उनका योगदान अप्रतिम और अमूल्य है। छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्य-धारा में रत अल्हड़ प्रेमी-हृदय इन सीमाओं से उठता हुआ युग और बाह्य जीवन से प्रेरित हो, नये मानव-मूल्यों और नयी जीवन-स्थिति की स्थापना पौराणिक पात्रों, प्रतीकों के माध्यम से कर सकने में सफल हुआ है।

---

१. वही—पृ०

२. A man would not be moral without the capacities for reason and imagination for intellectual and artistic experience. He cannot philosophise unless he had a strain of poetry and a strong and delicate conscience. —Croce.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० दागमार अन्सारी

सन् १६४७ के बाद के उपन्यास के साहित्य में नारी समस्याएँ

[इस लेख की लेखिका डॉ० दागमार अन्सारी आजकल हम्बोल्ट विश्वविद्यालय बर्लिन में हिन्दी साहित्य में शोध-कार्य कर रही हैं। आपने हिन्दी और उर्दू भाषा तथा साहित्य और यत्किंचित् भारतीय इतिहास का अध्ययन प्राग के चार्ल्स विश्वविद्यालय में किया, विशेषकर डॉ० पोरीज़का के नेतृत्व में। संस्कृत का भी अभ्यास किया है, परन्तु मुख्य विषय हिन्दी रहा। आधुनिक भाषा और साहित्य तथा भारत की वर्तमान समस्याओं में आपकी रुचि है। विवाह के बाद अपने पति डॉक्टर अन्सारी के साथ जर्मन जनवादी प्रजातंत्र में आईं और हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रूबेन की अध्यक्षता में अपना अध्ययन समाप्त किया। सरकारी परीक्षा के लिए प्रेमचन्द की कहानियों पर थीसिस लिखी। इसके बाद विश्वविद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ किया। आपको भारत यात्रा का अवसर भी मिला। भारत से लौटने के बाद पी-एच०डी० की थीसिस का प्रश्न उठा। भारत-यात्रा के दौरान यहाँ मध्यवर्ग की साधारण स्त्री तथा पढ़ी-लिखी बुद्धिजीवी स्त्री की जीवन-परिस्थितियाँ काफी समीप से देखने का अवसर मिला और इसी का परिणाम निकला "हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में नारी-समस्याएँ" नामक शोध-प्रबन्ध, जो प्रो० रूबेन की अध्यक्षता में लिखा गया। हिन्दी की नई कहानी पर काम करने की आपकी योजना बन रही है।]

स्वतंत्र भारत के संविधान पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि कानून के लिहाज़ से भारतीय स्त्री की स्थिति पहले से कितनी सँभल गई है। परन्तु कानून और नित्य व्यवहार में अभी कितना बड़ा भेद है और नित्य व्यवहार में ही कितने अन्तर्विरोध हैं ! जो भेद एक कर्मशील राजनीतिक अधिकारिणी और एकदम कुचली हुई बुर्का ओढ़े या घूँघट निकाले अपने पतिदेव के कुछ कदम पीछे चलती हुई वधू के बीच है, वह भारत के सबसे तीव्र और सबसे पीड़ाजनक भेदों में है। इसके सम्पर्क में एक बार आकर कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति इससे उदासीन नहीं रह सकता। साहित्य में भी प्रदर्शित स्त्री-समस्याओं की न केवल संख्या बढ़ गई, बल्कि उनमें परिवर्तन भी हुआ।

पहले यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस लेख की लेखिका को वर्तमान हिन्दी साहित्य के पूरे भंडार से परिचित होने का अवसर नहीं मिला। भारत से दूर रहकर यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। जिन कृतियों की यहाँ चर्चा की जायेगी, वे केवल उदाहरण का काम दे सकती हैं। फिर भी, अधिक-से-अधिक विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों के साहित्य का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

कह सकते हैं कि कुछ पुरानी समस्यायें—जैसे, बाल-विवाह और विधवा-विवाह-नई सामाजिक परिस्थितियों में पीछे हट गई हैं। पुराने काल की कुछ समस्याएँ अब भी जीवित हैं, जिनमें से जाति-प्रथा की समस्या विशेष महत्व की है। वह उदाहरणतः अमृत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राय के उपन्यास 'बीज' में, नागार्जुन के 'दुखमोचन' में और अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में सामने आती है।

प्रेम-विवाह की समस्या आज भी अधिकांश उपन्यासों में आती है। सामाजिक वास्तविकता में भी लगभग हर प्रेम-विवाह के सामने—विशेषकर यदि वह अन्तर्जातीय विवाह हो—बड़ी वस्तुगत तथा व्यक्तिगत रुकावटें उठती हैं और यह स्थिति फिर साहित्यिक चित्रण की रोचक सामग्री बनती है।

आजकल की नई परिस्थितियों में नई समस्याएं पैदा हो रही हैं, जिनका पहले कोई बड़ा महत्त्व नहीं था। उनमें स्त्री के काम करने, उसके राजनीतिक कार्य, वास्तविक अर्थों में उसके समान अधिकारों और अविवाहित स्त्री की स्थिति की समस्याएँ हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय स्त्री के जीवन में कुछ ऐसी नई समस्याएँ पैदा हुई हैं जिनके विषय में बहुत कम या नहीं के बराबर लिखा जाता है; उदाहरणत: प्रगतिशील स्त्री-संगठनों का कठिन कार्य, काम करने वाली माँओं की कठिनाइयाँ, सामान्य स्त्रियों की शिक्षा, विवाह-विच्छेद आदि। काम करने वाली माँओं की कठिनाइयों का उल्लेख अमृतराय के उपन्यास 'बीज' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में है। विवाह-विच्छेद का भी सन्तोषपूर्ण हल यशपाल की कृति में मिलता है। निस्सन्तान स्त्री की कठिन स्थिति का उल्लेख बहुत कम मिलता है। बहुत विस्तार प्रसंग इस प्रश्न पर मिल सकता है कि हृदय की अच्छी, पर अनजान अशिक्षित माँ अपनी सन्तान के लिए किस स्थिति में कुछ कर पाती है और किस स्थिति में नहीं। उदाहरण के लिए, उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में यह समस्या विवाह की समस्या से सम्बन्धित है। यह प्रश्न भी न केवल विचार करने योग्य है, बल्कि साहित्य में भी इसका कलात्मक रूप से अधिक-से-अधिक विश्लेषण किया जाना चाहिए कि आजकल के भारतीय मध्य-वर्ग के अधिकतर लोग, स्त्री-स्वतंत्रता को किस दृष्टि से देखते हैं और उनकी कल्पनाओं और स्त्री-स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ में क्या अन्तर है।

यशपाल 'झूठा सच' में इन प्रश्नों की चर्चा जरा विस्तार से करते हैं और नई पीढ़ी के लिए उनका महत्त्व दिखाते हैं। अकेली स्त्रियों की समस्याओं की चर्चा अमृतराय अपने उपन्यास 'बीज' में, यशपाल 'झूठा-सच' में, भगवतीचरण वर्मा 'भूले बिसरे चित्र' में, नागार्जुन 'वरुण के बेटे' में, और अज्ञेय 'नदी के द्वीप' में करते हैं। साधारणत: वे ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनको किसी-न-किसी कारण से वैवाहिक जीवन से निराशा हुई है और जो पति से अलग हो गई हैं। जो स्त्रियाँ किसी कारणवश विवाह नहीं कर सकतीं या करना नहीं चाहतीं, उनकी चर्चा बहुत कम और प्रासंगिक होती है; यद्यपि यह समस्या बढ़ती हुई स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ बढ़ रही है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मुस्लिम महिलाएँ बहुत कम चित्रित होती हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि इस प्रकार की विषय-वस्तुओं के सहारे हिन्दी और उर्दू साहित्य एक-दूसरे के बहुत निकट लाये जा सकते हैं। इसके अपवाद उदाहरणत: 'झूठा सच' और मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' में छोटे-से नारी-पात्र हैं। हिन्दू-मुसलमान विवाह की चर्चा हिन्दी उपन्यासों में बहुत कम होती है। ऐसा लगता है कि साहित्यकार इस सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं अस्थिर चित्त हैं और वे अंशतः आशंका करते हैं कि कहीं उनका दृष्टिकोण उनके पाठकगण को बुरा न लगे। 'झूठा-सच' में ऐसे एक प्रासंगिक हिन्दू-मुसलमान विवाह के प्रति यशपाल की सहानुभूति है, परन्तु नायिका तारा का मिश्रित विवाह नहीं हो पाता। गुरुदत्त 'स्वराज्य-दान' में हिन्दू-मुसलमान विवाह की आलोचना करते हैं।

वास्तविकता के प्रति विभिन्न लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। स्त्री का वस्तु से व्यक्ति बनना, विभिन्न लेखकों में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। लेखकों की आयु इसमें निर्णायक महत्त्व नहीं रखती, निर्णायक महत्त्व उनकी विचारधारा रखती है जो आदमी के सामाजिक अस्तित्व, जीवन की परिस्थितियों और सारी जीवन-प्रणाली के आधार पर बनती है और सदा विशेष स्थिति तथा उद्देश्य प्रकट करती है।

लेखकों का एक भाग ऐसी स्त्री पसन्द करता है जो केवल गृहलक्ष्मी हो। वे पुरानी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाये रखना या पुनर्जीवित करना चाहते हैं। स्त्रियों के समान अधिकारों के लिए प्रयत्न इन रूढ़िवादी मान्यताओं को संकट में डालते हैं। गुरुदत्त के उपन्यास इसी बात के उदाहरण हैं।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१) में स्त्री बहुत दुर्बल प्राणी है जो पुरुष के बिना जीवित नहीं रह सकती। स्त्री की अधिकारहीनता की ओर वे संकेत तो करते हैं लेकिन इस स्थिति के कारणों का भंडाफोड़ करने का प्रयत्न नहीं करते। स्त्री-समस्याएँ यहाँ केवल प्रेम-समस्याओं के रूप में दिखाई देती हैं।

जैनेंद्र कुमार की 'सुखदा' (१९५२) की स्वतंत्रता का फल बहुत बुरा हुआ। 'विवर्त' (१९५२) में मोहिनी सुखदा के रास्ते पर नहीं चली, बल्कि उसकी सहायता से कुछ विचित्र प्रकार के आतंकवादी अहिंसा के पथ पर आई। लेकिन मोहिनी में मुझे ऐसी अकर्मण्य स्त्री का चित्र दिखाई देता है जो सामान्यतया दुर्लभ है। स्त्री को घर रहने का उपदेश प्रत्येक अवसर पर दिया जाता है। 'व्यतीत' (१९५२) में तो सारी समस्या यौन-सम्बन्धों की समस्या है। उसमें स्त्री राजनीति आदि में भाग लेने का नाम तक नहीं लेती।

अफ़सोस की बात है कि मोहन राकेश भी 'अँधेरे बन्द कमरे' (१९६१) में, जो अनेक दृष्टियों से उच्च कोटि का उपन्यास कहा जा सकता है, स्त्री को गृहलक्ष्मी बनने का उपदेश देते हैं। नीलिमा तो अपनी प्रयत्नशीलता के कारण कभी प्रसन्न हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, शुक्ला अपने पति की तीसरी पत्नी बनकर भी प्रसन्न है। परन्तु इस धारणा और इन दोनों चरित्रों के कलात्मक वर्णन में विरोध है। नीलिमा उपन्यास का सबसे यथार्थ चरित्र है जिसकी तुलना में शुक्ला बिल्कुल कागज़ी ढाँचा मालूम होती है। शुक्ला में नेकी के अतिरिक्त न कोई गुण है, न अवगुण; माना कि वर्तमान परिस्थितियों में स्थापित अच्छे चरित्रों का जीवित ढंग से वर्णन करना कठिन है। नीलिमा के चरित्र का कथानक में विकास तो नहीं हुआ, लेकिन फिर भी वह बिल्कुल जानी-पहचानी-सी लगती है। उसके शब्द "मैं नाचने के बिना नहीं रह सकती······मैं जानती हूँ कि मेरे अन्दर वह चीज़ है जो मुझे इस क्षेत्र में आगे ला सकती है। (पृ० ३०६)—उसके दिल की गहराई से उमड़कर आये हैं और उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। और नेक शुक्ला नीलिमा की समस्यापूर्ण स्थिति पर क्रोध में केवल इतना ही कह सकती है—"तो अपनी इन जरूरतों
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अरुण की और भापाजी की जिन्दगी तबाह कर डालिए, और साथ ही अपनी भी !" (पृ० ३१६)

रामकुमार के उपन्यास 'वापसी' (१९६२) का लहजा बहुत निराशावादी है। स्त्री किसी की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती और यह संसार ऐसा ही है कि सहायता देने वाला कोई नहीं मिलता। उपन्यास में जो कुछ चित्रित है, वह तो अवश्य वास्तविकता का एक भाग है, पर पूरी वास्तविकता नहीं। 'प्रायश्चित्' के लेखक यज्ञदत्त शर्मा स्त्रियों की समस्याओं में केवल पति की सेवा की गणना करते हैं।

सामाजिक आलोचना का प्रयत्न इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में मिलता है, परन्तु यह पता नहीं चलता कि लेखक स्त्री के लिए आख़िर चाहते क्या हैं ! इसकी आशा तो नहीं की जा सकती है कि बेला के रूप में विकास के नये तत्वों से युक्त एक "विद्रोह-मूलक बीज" (पृ० २२८, दूसरा संस्करण, १९५६) का अपने आप विकास होगा। बेला कैसे मान ले कि "वह बटोरी हुई ताकत एक दिन तुम्हें अपने-आप सही रास्ते पर रख देगी।" (पृ० २४७)

स्त्री की कठिन स्थिति की आलोचना अधिकतर उपन्यासकार करते हैं, लेकिन अधिकतर वे कोई नया सुझाव नहीं प्रस्तुत करते जो व्यवहार में लाया जा सके। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था की उनकी आलोचना तथा मानवतावादी उमंग अन्ततः प्रगति को अग्रसर करती है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) में दहेज-प्रथा की बड़ी आलोचना की गई है। उपन्यास का महत्त्व उससे और भी बढ़ जाता है कि वह दहेज-निषेध बिल पेश करने के एक साल बाद प्रकाशित हुआ। नवल के अंध आज्ञा-पालन ने विद्या को बहुत दुःख दिया। इसमें नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढालने के अयोग्य अति भौतिकवादी रूढ़िवादी व्यवहार की बड़ी आलोचना है। नवल का व्यवहार रामायण की याद दिलाता है और यह तुलना स्पष्ट करती है कि राम सदृश व्यवहार, विशेषकर नये जमाने में, कितना अनुचित कहा जायेगा। यह कहना कठिन है कि क्या यही उपन्यासकार का अभिप्राय था। वैसे विद्या का चरित्र बहुत उत्तम है। विलासिनी उषा उसके बिल्कुल विपरीत है फिर भी, उषा का भी अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है जो उपन्यास के पुरानी पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों के विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता, और यही भगवतीचरण वर्मा द्वारा चित्रित पुरानी और नई पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों में अन्तर है।

उपेन्द्रनाथ अश्क 'गिरती दीवारें' (१९४७) में चेतन पर ध्यान इस प्रकार केन्द्रित करते हैं कि स्त्री-पात्रों के मानसिक जीवन का कुछ अधिक पता नहीं चलता, लेकिन हर प्रकार से वह माता-पिता द्वारा की गई शादियों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं। "तुम्हें लड़की दिखा देंगे बेटा, मैं स्वयं आज़ाद-ख़याल आदमी हूँ। जिसके साथ जीवन-भर का नाता हो, उसे देखा न जाय, इसे मैं अन्याय समझता हूँ।" (पृ० ५२, तीसरा संस्करण, १९५७)। इन शब्दों में लेखक का कितना उदास व्यंग छिपा हुआ है ! देखने से क्या होता है ! चेतन की माँ की जीवन-कथा भी एक उदास उदाहरण है, जिससे लेखक का अफ़सोस प्रकट होता है कि भारत में आज भी इस प्रकार की स्त्रियों की कमी नहीं है जो बचपन में तेज़ लड़कियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं, लेकिन जिनके मानसिक विकास में बाधा डाल दी गई।

'गर्म राख' (१९५२) के विषय में अफसोस प्रकट कर सकते हैं कि कथानक के केन्द्र में सत्या के स्थान पर द्रौपदी नहीं है। सत्या अपनी सारी कर्मशीलता, प्रेम और यौन-प्रश्नों पर समर्पित करती है जब कि द्रौपदी नई दुनिया की स्त्री की प्रतिमा समझी जा सकती है। -

अमृतलाल नागर 'बूंद और समुद्र' (१९५६) में स्त्री के लिए समान अधिकार चाहते हैं। उदाहरण के लिए, कन्या कहती है : 'जहाँ स्त्री-पुरुष बराबर-बराबर काम करते हों, वहाँ उनमें मैत्री भाव होना स्वाभाविक ही है। वहाँ दबने और दबाने का प्रश्न नहीं, इसलिए व्यवहार में सरलता, खुलाव है।' (पृ० ३३७) परन्तु चौक के मध्यकालीन वातावरण के स्त्री-चरित्र कन्या से कहीं जीवित ढंग से वर्णित हैं। आजकल के जमाने में पर्दा कितना कालदोष है और यह कालदोष स्त्री को कितने संकट में डालता है, यह 'बड़ी' के चरित्र द्वारा दिखाया गया है। 'छोटी' का चरित्र भी खूब ही सफल हुआ है। 'छोटी' का मानसिक क्षितिज, उदाहरणतः इस सक्षिप्त से कथन में प्रकट होता है : 'वह एक जगह मन में अपने को तारा और अपनी जिठानी—दोनों से भी अधिक भाग्यशाली मानती है। उसने 'लव-मैरेज' नहीं की (लव मैरेज अपना सारा जादू लेकर भी उसकी निगाह में ओछी चीज है), फिर भी प्रेम-विवाह का पूरा सुख शंकरलाल की सोहबत में पा लिया।' (पृ० ६३) 'छोटी' के सम्बन्ध में 'आधुनिक', 'आधुनिकता' शब्द बार-बार कहने में कितना सफल हल्का-सा व्यंग्य है! वही हल्का-सा व्यंग्य तारा पर भी लागू होता है। फिर भी उपन्यासकार की सहानुभूति तारा और उसके अन्तर्जातीय विवाह के साथ है।

रांगेय राघव के उपन्यास 'काका' (१९६३) में मुझे यह बात सबसे महत्वपूर्ण और दिलचस्प प्रतीत हुई कि स्त्री के प्रभाव में आकर अब तक आलसी, अकर्मण्य ब्राह्मण ने काम करना शुरू किया। परन्तु कान्ता इसी ब्राह्मण से प्रेम क्यों करने लगी, यह बात स्पष्ट समझ में नहीं आती। यह तथाकथित प्रेम वही पुराना प्रभाव उत्पन्न करता है कि स्त्री पुरुष के बिना कभी नहीं रह सकती और वह उस पहले पुरुष से ही प्रेम करने लगती है जो उससे अच्छा व्यवहार करता है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४) के विषय में कमलेश्वर जी ने लिखा है कि इसमें 'हर पात्र पूर्ण रूप से उभरा है' (फणीश्वरनाथ रेणु, नई कहानियां, मेरा हमदम, मेरा दोस्त, पृ० १८)। फिर भी लगता है कि कमला का चरित्र ममता के चरित्र से कहीं अधिक जीवित ढंग से वर्णित है। ममता केवल नेक है। ऐसा मालूम होता है कि रेणु जी उपन्यास में एक काम करने वाली बुद्धिजीवी स्त्री का भी चरित्र चित्रित करना चाहते थे, पर गांव की लड़की का चरित्र उनके लिए अधिक सुगम हुआ। वैसे 'मैला आंचल' कुछ इने-गिने ऐसे उपन्यासों में से एक है जिनमें अवैध सन्तान पैदा होती है, जिसके माँ-बाप सन्तान होने के बाद विवाह करते हैं। इसमें लेखक ने जरूर साहस से काम लिया है।

नागार्जुन के उपन्यासों में से 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) काफी निराशावादी है। इसकी तुलना में 'दुखमोचन' और 'वरुण के बेटे' के स्त्री-चरित्र, गौरी जैसे असहाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं। 'दुखमोचन' में माया का अन्तर्जातीय विधवा-विवाह उल्लेखनीय है। 'वरुण के बेटे' (१९५७) में माधुरी का चरित्र तो नई दुनिया की स्त्री का चरित्र कहा जा सकता है, जिसका अभी विकास हो रहा है। परन्तु 'नई पौध' (१९५७) इस दिशा में अगला कदम नहीं है। इसमें न कोई प्रेम-विवाह हो पाता है, न कोई स्त्री अपनी मर्जी और अपनी शक्ति से स्वयं कुछ कर पाती है। उपन्यासकार का सामाजिक महत्त्व इसमें नज़र आता है कि इसमें असमान विवाहों का भंडाफोड़ और कम उम्र लड़कियों की शादी करने पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव है।

पुराने संस्कारों और रूढ़ियों से पूरी तरह से छुटकारा पाना वास्तव में आसान नहीं है। फिर भी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में कई ऐसी कृतियाँ मौजूद हैं जिनमें सच्चे अर्थ में स्त्री के समान अधिकारों के लिए तकाज़ा किया हुआ मिलता है।

राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' (१९५६) में यह बात है। आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी आलोचना में ('आजकल', जून, १९५७) इसका उल्लेख तक नहीं किया कि 'उखड़े हुए लोग' का एक पहलू स्त्री की स्थिति की आलोचना भी है। जिस परिच्छेद में जया कपिल की दकियानूसी पत्नी से मिलती है, वह उपन्यास के विशेष सफल परिच्छेदों में से एक है। इसमें पर्दे के पीछे के उस सड़े वातावरण से उपन्यासकार की घृणा व्यक्त होती है जो स्त्री का दृष्टिकोण इतना संकुचित और संकीर्ण कर देता है। उपन्यास के आरम्भ में नवदम्पति जया और शरद को और पाठक को भी संशय है कि उन लोगों ने अपनी इच्छा से विवाह करके ठीक किया या नहीं। उपन्यास के अन्त में दूसरे लोगों की जीवन-प्रणाली से तुलना करके पाठक भी इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि······उन लोगों ने कुछ ऐसा किया है जो भावना को, बंधी लीकों और सड़ी रूढ़ियों से आगे ले जायेगा—कम-से-कम एक नयी राह है, और यदि कुछ के लिए द्वेष की वस्तु हो सकती है तो कुछ के लिए स्पृहा और आकांक्षा की भी।' (पृ० २५४)। 'कुलटा' (१९५८) और 'शह और मात' (१९५९) में भी स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण मिलता है। 'कुलटा' में मिसेज़ तेजपाल के व्यक्तित्व का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करने वाले प्रतीक कुतिया और बच्ची बहुत सफल लगते हैं।

अमृतराय का दृष्टिकोण राजेन्द्र यादव से मिलता है। 'बीज' (१९५३) के पात्रों के व्यक्तित्त्व भाग्य का कारण ऐतिहासिक आवश्यकता है जो किसी-न-किसी दिन समाज का पथ-निर्देशक बन जायेगी। उषा "न होती तो कोई दूसरी नई रोशनी की लड़की इस घर में आती और उसके संग भी वही सब होता जो उषा के संग हुआ। यहाँ व्यक्तियों की तो बात ही नहीं है, यह तो दो युगों—दो दुनिया—की टकराहट है।" (पृ० १६३) विशेष ध्यान उषा के विकास पर दिया गया है जो धीरे-धीरे अपने पति की बराबर जीवन-संगिनी बनती जाती है। अभागी राजेश्वर का दुखान्त एक तो स्त्री की समाज में अधीन स्थिति का और दूसरे समाज के प्रति राजेश्वरी के अकेले पृथक् विद्रोह का फल है।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' (१९५८-६०) को यदि भारतीय स्त्री के जीवन का कलात्मक विश्वकोश कहा जाये तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'मनुष्य के रूप' (१९४९) में भी मनोरमा के विकास द्वारा दिखाया गया है कि स्त्री सच्चा सम्मान तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-सम्मान कैसे प्राप्त कर सकती है। 'झूठा-सच' में तो वे संस्कार और अंधविश्वास और भी आलोचनात्मक रूप से दिखाये गए हैं जिनमें अधिकांश भारतीय स्त्रियां जकड़ी हुई हैं। कभी-कभी (उदाहरणतः, तारा के विवाह के अवसर पर) ऐसा लगता है कि उपन्यासकार का, गैर-हिन्दू पाठक को भी उन सारी रूढ़ियों की जानकारी कराने का विशेष विचार था। आगे मुसलमान रूढ़ियों की भी आलोचना की गई है। लेकिन यशपाल के ध्यान का केन्द्र नई रोशनी की पढ़ी-लिखी काम करने वाली स्त्रियों के चरित्रों पर है जिनका अभी विकास हो रहा है। पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं के विरोध की सब अवस्थाओं का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक क्रान्तिकारी लेखक का काम है, विशेषकर तारा के मनोभाव का चित्रण बहुत सूक्ष्म है। कनक की समस्या द्वारा यह दिखाया गया है कि पुरुष का, केवल हुक्म चलाने की इच्छा के कारण प्रेम-विवाह भी कैसे टूट सकता है। कनक और तारा, दोनों के चरित्र कुछ आलोचकों की इस धारणा को गलत साबित करते हैं कि 'यशपाल की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गई है।''

यशपाल, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि के स्त्री-चरित्रों का केवल नारीत्व ही नहीं, बल्कि अपना मानवी व्यक्तित्व और सामाजिक अस्तित्व है और इसे दोष मानना आज के ज़माने में रूढ़िवादिता नहीं तो क्या है ? आशा है कि इन स्त्री-चरित्रों का उदाहरण और भी भारतीय स्त्रियों का साहस बँधायेगा। यह साहित्यकार नारी-समस्याओं को सारे सामाजिक विकास-क्रम से पृथक न करके भूतकाल की केवल वे परम्पराएँ रखने के पक्ष में हैं जो समाज को आगे ले जा सकती हैं। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध रामायण काल नहीं है और आज का आदर्श स्त्री-चरित्र सीता का चरित्र नहीं हो सकता। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी भावना और चिन्तन की सभ्यता है जो समाज के इतिहास से और मनुष्य की अपनी आप-बीती से बनी हुई है। भावना और चिन्तन की सभ्यता को ऊँचे स्तर पर चढ़ाना भी साहित्य का एक कर्तव्य है।

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अपनी समग्रता में भारतीय स्त्रियों की अन्तर्विरोध पूर्ण असमान स्थिति का सच्चा चित्र देता है जिनको समान अधिकार भिन्न-भिन्न मात्रा में प्राप्त हैं। एक ओर से विशुद्ध भारतीय स्त्री-समस्याओं की उपन्यासों में चर्चा होती है, जैसे विधवा-विवाह या अन्तर्जातीय विवाह हैं; दूसरी ओर ऐसी समस्याएँ भी मिलती हैं जो भारत या पूर्व तक सीमित नहीं हैं उनमें प्रेम-विवाह जैसी समस्याएँ भी हैं जो यूरोप के साहित्यों में पुनरुत्थानकाल से अब तक बड़ी और महत्त्वपूर्ण मात्रा में मिलती हैं, और ऐसी समस्याएँ भी हैं जिनकी उत्पत्ति और साहित्य में उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि बीसवीं शताब्दी भारत के द्वार पर नहीं रुकी है। भारत में भी स्त्री अब वस्तु न रहकर व्यक्ति बन रही है और उत्पादन तथा संस्कृति में अपनी भूमिका अदा करना शुरू कर रही है। वह स्वतंत्र चिन्तन तथा निश्चय और स्वतंत्र जीवन का अधिकार माँगने लगी है। हिन्दी साहित्य की कुछ कृतियों में अब स्त्री का यह रूप भी चित्रित होने लगा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीकान्त शर्मा

महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

पृष्ठभूमि :—महादेवी वर्मा को छायावाद एवं रहस्यवाद की एक महान कवयित्री के रूप में तो हम सभी जानते हैं, पर उनका गद्यकार भी कम सशक्त नहीं है। इसका प्रमाण है कविता-पुस्तकों के लिए लिखी गई उनकी भूमिकाएं। इन भूमिकाओं को पढ़कर पाठक के मन में एक सहज ही प्रतिक्रिया होती थी, और वह यह कि कविता में महादेवी जितनी अस्पष्ट हैं, उतनी ही गद्य में सुस्पष्ट हैं। क्या इस सुस्पष्टता को काव्य-सृजन के संदर्भ वाली अस्पष्टता की क्षति-पूर्ति समझा जाय ? महादेवी का गद्यकार हमें तीन रूपों में मिलता है : (१) आलोचनात्मक निबंधों के रूप में (२) नारी-जीवन संबंधी आक्रोशपूर्ण निबंधों और (३) संस्मरण-कथाओं में।

महादेवी जी के आलोचनात्मक निबंध अपनी गहन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण दुरूह एवं क्लिष्ट हो गए हैं। उनके नारी-जीवन संबंधी निबंध, 'श्रृंखला की कड़ियाँ,' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इन निबंधों को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि नारी-जीवन का इतना शक्तिशाली एवं तर्क-संयुक्त वकील और कोई नहीं हो सकता। दरअसल, ये निबंध 'चाँद' की संपादिका के रूप में संपादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत लिखे गये थे। इनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं समाजशास्त्रीय विवेचन तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं वे नारी की विवशता एवं असमर्थता का ऐसा चित्र अंकित कर जाती हैं कि उन्हें पढ़कर मन में यह बात आती थी कि यदि लेखिका संस्मरण या रेखाचित्र लिखे, तो वह बहुत अधिक सफल हो सकती है। पाठक की इसी भावना की परिणति हमें महादेवी जी की तीन संस्मरणात्मक पुस्तकों में अत्यन्त ही सफल एवं मार्मिक रूप में उपलब्ध होती है। ये पुस्तकें हैं : (१) अतीत के चलचित्र (२) स्मृति की रेखाएँ और (३) पथ के साथी।

'अतीत के चलचित्र' का प्रकाशन-काल सन् १९४१ है। यद्यपि इसमें संकलित संस्मरण सन् १९३० से लगाकर सन् १९३९ तक फैले हुए हैं। रचना-काल के इस विराट् प्रसार को देखते हुए एक बात स्पष्ट है कि लेखिका ने इन कृतियों को बड़े धैर्य, संयम एवं सुविधा के साथ लिखा है। इन्हीं गुणों के मूल में उनकी सफलता का रहस्य अन्तर्निहित है। 'अतीत के चल-चित्र' की प्रस्तावना में इन स्मृति-चित्रों को 'संस्मरण-कथाएँ' कहा गया है। ऐसे व्यक्ति, जो लेखिका के जीवन में आये और उसकी चेतना के अभिन्न अंश बन गये, उन्हीं के करुणापूर्ण इतिवृत्त को लेखिका ने इन संस्मरणों में संजोया है।

क्रम-विकास—संस्मरण की विधा सन् १९४१ में हिन्दी-साहित्य के लिए नई ही थी। राजनीति एवं साहित्य के महान खिलाड़ियों को लेकर तो संस्मरण लिखे गये हैं, पर रामा, लछमा एवं अलोपी जैसे व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे जाना एक नई बात थी। ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद की तुमुल-ध्वनि के कारण लेखिका के लिए छायावादी गीत लिखना तो संभव न हुआ, इसीलिए उनका प्रतिभाशाली कृतिकार गद्य की ओर उन्मुख हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसमें उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उनके संस्मरणों की मानवता, करुणा, संवेदना एवं कहीं-कहीं तीव्र व्यंग्य-विनोद अपने आपमें इतने कारगर सिद्ध हुए कि उन्होंने संस्मरण की विधा के लिए साहित्य में एक सुरक्षित स्थान बना लिया। इस कार्य का आरम्भ निराला जी इससे पूर्व ही कर चुके थे। उनका 'कुल्लीभाट' एवं 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस बात के जीवित-जाग्रत प्रमाण हैं। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों में एक प्रकार की औपन्यासिकता है। जीवन-चरित्र की रेखाएँ भी इन कृतियों में स्पष्ट रूप से उद्भासित हुई हैं। इन्हीं की समकालीन महादेवी ने औपन्यासिक आधार के स्थान पर अपने संस्मरणों को कहानी की पृष्ठभूमि प्रदान की और अपनी कला को करुणा में भिगोकर ऐसे रमणीय चित्र अंकित किए कि प्रगतिवादी आलोचकों ने भी लेखिका का अभिनन्दन किया। अमृतराय ने बंबई से निकलने वाले 'नया-साहित्य' में लेखिका की इस नई साहित्य-सृष्टि की विस्तृत विवेचना की।

संस्मरण का स्वरूप—वस्तुतः 'अतीत के चलचित्र' में जो साहित्यिक विधा हमारे सामने आई है, उसमें संस्मरण, कहानी एवं रेखाचित्र का गंगा-जमुनी सम्मिलन है। संस्मरण के अन्तर्गत लेखक जीवन की उन घटनाओं या व्यक्तियों को याद करता है, जिन्हें वह भुला नहीं सका था, जो उसकी मानसिक चेतना के अभिन्न अंश बन गये हैं। स्वाभाविक ही है कि ऐसी रचना लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक सही आकलन प्रस्तुत करेगी। इस प्रकार यह विधा जीवनी और आत्मकथा के बीच की एक कड़ी है। आधुनिक युग में जिन परिस्थितियों ने गीत, कहानी एवं एकांकी को जन्म दिया है, उन्हीं परिस्थितियों ने जीवनी और आत्मकथा के बीच में से संस्मरण एवं रेखाचित्र को उत्पन्न किया है। मैंने इन संस्मरणों को कहानी इसी दृष्टि से कहा कि इनमें कथा जैसी रोचकता एवं मर्मस्पर्शिता सहज-सुलभ है। महादेवी एक कुशल चित्रकार भी हैं. इसलिए स्वाभाविक ही था कि उनकी रचना में सूक्ष्म निरीक्षण एवं सौंदर्य-ग्रहण की एक अन्तरंग विशेषता हो। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हम उनके संस्मरणों में किसी व्यक्ति-विशेष के बड़े सरस शब्द-चित्र भी पाते हैं। इन कृतियों में लेखिका का स्वयं का जीवन भी बीच-बीच में से झाँकता है, जैसे शरद् ऋतु में बदली के हट जाने पर आकस्मिक रूप से सूर्य-किरणों के माध्यम से प्रकाश एवं उष्णता सुलभ होती है, उसी प्रकार इन रचनाओं में जहाँ-जहाँ लेखिका का जीवन झाँकता है, वहाँ-वहाँ पाठक एक गहरी रसानुभूति में गोते लगाने लगता है। मैं अपने इस कथन के प्रमाण-स्वरूप 'रामा' शीर्षक संस्मरण का अंतिम अंश देना चाहूँगा। 'आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भैया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना-जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौंदर्य, भ्रांति हो गया है, पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक, निस्तन्द्र पर स्नेह-तरल!'

रेखाचित्र के लक्षण—उपर्युक्त उद्धरण में मैं अंतिम वाक्य को रेखांकित करना चाहूँगा, क्योंकि यह वाक्य इतना मार्मिक है और इसकी अनुभूति इतनी तरल है कि हम लेखिका की चित्रण-शक्ति के क़ायल हो जाते हैं, जैसे उसने एक वाक्य के ही चषक में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रामा के सम्पूर्ण मानवीय जीवन को परिप्लावित कर दिया हो। सचमुच, कुछ व्यक्ति मन पर ऐसा गहन प्रभाव डालते हैं कि हमारी चेतना उससे नित्य-नवीन उल्लास की अनुभूति प्राप्त करती है। **रेखाचित्र में चित्रकार का सूक्ष्म-निरीक्षण, रंगों, आकारों एवं प्रवृत्तियों का सहज समन्वय और उनका कम-से-कम शब्दों में चित्रण रहता है। व्यंग्य और विनोद रेखाचित्रकार के अलादीन के चिराग हैं, जिनके आलोक में एक नई दुनिया ही चमक उठती है।** चूँकि लेखिका स्वयं एक कुशल चित्रकार हैं, इसलिए रेखा-चित्रण या शब्द-चित्रण तो उनके बायें हाथ का खेल है। एक उदाहरण लीजिये, इसमें लेखक ने रामा की बहू का बड़ा ही व्यंग्य-विनोद पूर्ण चित्र अंकित किया है। 'उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता है और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हत-बुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अंत में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ ही में नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे, और रख दे तो स्वयं जिये कैसे। फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।'

प्रस्तुत उद्धरण में हम बालक-बालिकाओं एवं रामा के मधुर संबंधों के बीच दाल-भात में मूसरचंद की तरह रामा की बहू को पाते हैं और जब वह रूठ कर मायके चली जाती है, तो न केवल लेखिका और उसके भाई-बहिन ही प्रसन्न होते हैं, बल्कि रामा और इस संस्मरण के पाठक भी मुक्ति की साँस लेते हैं।

अनेक विधाओं का सम्मिलित रूप—गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। और कोई कवि इस कसौटी पर खरा उतरे चाहे न उतरे, पर महादेवी वर्मा को तो इस दिशा में अद्‌भुत सफलता मिली है। **संस्मरण, रेखाचित्र और कहानी के सम्मिलित व्यक्तित्व को लिये हुए यह मधुर गद्य-सृष्टि हिन्दी साहित्य की एक विलक्षण घटना है।** काव्य की स्वाभाविक कोमलता, कहानी की मनोरंजकता, रेखाचित्र का सूक्ष्म विवरण और संस्मरण का हार्दिक संवेदन—सभी-कुछ इन कृतियों में अत्यन्त कलात्मक रूप में पिरोये हुए हैं। ये संस्मरण सहानुभूति से आर्द्र, सामाजिक असंगति के प्रति आक्रोशमय और पददलितों के प्रति अतलस्पर्शी ममत्व से छलछलाते हुए हैं। इन तथ्यों की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण देने आवश्यक हैं।

"हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़ने वाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना, ठहरना संभव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।"

प्रस्तुत उद्धरण में हम काव्य की स्वाभाविक कोमलता के दर्शन कर सकते हैं, क्योंकि लेखिका ने शैशवावस्था के संबंध में कल्पना की तूलिका से अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किया है। इसमें कहानी की मनोरंजकता भी है। ऐसा लगता है कि हम शुष्क संस्मरण न पढ़कर रोचक कहानी पढ़ रहे हैं। **इसका आधार है लेखिका की तरल भावनायें और**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका गंभीर मानवीय दृष्टिकोण। निम्नलिखित उदाहरण से रेखाचित्र की सूक्ष्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।'

'फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता इत्यादि निकाल कर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ, तब हम सब बहुत सभीत हो गये, क्योंकि ऐसी सजधज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर संदेह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, 'क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया। 'हाँ राजा भैया, ऐसी देहों ना समिटन को'···पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य-नवीन उपाय सोचने पड़े।'

उपर्युक्त उद्धरण से लेखिका का सूक्ष्म निरीक्षण एक ऐसा शब्द-चित्र अंकित करता है कि पाठक के मानस-पट पर गुलाबी साफा बाँधे रामा का चित्र स्पष्ट रूप में अंकित हो जाता है।

संस्मरणों का वैशिष्ट्य—रेखाचित्र में व्यक्ति के वैचित्र्य का जो मार्मिक अंकन होता है, वह भी यहाँ सहज-सुलभ है। रामा की मिठास से भरी हुई बोली, वात्सल्य-रस से पूर्णतः परिप्लावित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उद्धरण में हम संस्मरण का हार्दिक संवेदन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका की स्मृति एक स्नेहपूर्ण अनाथालय है, जिसमें सभी के लिए स्थान है। इस स्नेहपूर्ण परिधि में कहीं कोई परिचारिका आती है, तो कहीं कोई युवती-विधवा अपनी करुणा से हमारे मन को पूर्णतः भिगो देती है। वैधव्य के मार्मिक चित्र की दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ सहज ही द्रष्टव्य हैं।

"उस उन्नीस वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ, जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरौंदों के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल वह ही नहीं गये, वरन् उसे इतना एकाकी छोड़ गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका। ऐसी दशा में उसने आठ वर्ष की बालिका को अपने संगी-हीन हृदय की सारी ममता सौंप दी, परन्तु वह बालिका तो उसके संसार में प्रवेश करने में असमर्थ थी, इसी से उसने उसी के गुड़ियों वाले संसार को अपना लिया।" (अतीत के चलचित्र-महादेवी वर्मा : पृष्ठ ३६)

इन पंक्तियों में करुणा का अथाह सागर लहर रहा है। लेखिका ने अत्यन्त विस्तार से उस बाल-विधवा के दैन्य और अभाव का चित्र अंकित किया है। इस प्रकार के संस्मरणों में लेखिका का ध्यान वातावरण-स्रजन की ओर ही विशेष रूप से रहा है। निम्नलिखित उद्धरण में बाल-विधवा की दिनचर्या और जिस प्रकार के वातारण में वह काम करती है, उसका मार्मिक चित्र बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया गया है :

"जिस प्रकार उसका खंडहर जैसे घर और लम्बे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठ कर बुहारना, आँगन के कुएँ से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में, मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना, मेरी हँसी का सख्न बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकड़ियों से प्रकाशित, दिन में भी अँधेरी रसोई की कोठरी घुटते हुए धुएँ में से रह-रह कर आता हुआ खाँसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वर, कुछ गीली और कुछ सूखी राख से चाँदी-सोने के समान चमका कर तथा कपड़े से पोंछकर रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए वर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थी।'' (महादेवी–अतीत के चलचित्र : पृष्ठ ३८)

इन संस्मरणों का प्रारम्भ और अन्त प्रायः बड़ा मार्मिक रहा है। बिन्दा पर अध्यापिका महादेवी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका आरम्भ किसी विद्यालय में नव-प्रविष्ठ छात्रा की दृष्टि से कितना सचित्र है।

''सभीत-सी आँखों वाली उस दुर्बल छोटी अपने आप ही में सिमटी-सी बालिका पर दृष्टि डालकर मैंने सामने बैठे सज्जन को, उनका भरा हुआ प्रवेश-पत्र लौटाते हुए कहा—'नहीं, यह तो गत आषाढ़ में चौदह की हो चुकी।' सुनकर मैंने कुछ विस्मित भाव से अपनी उसी भावी विद्यार्थिनी को अच्छी तरह देखा, जो नौ वर्षीय बालिका की सरल चंचलता से शून्य थी और चौदह वर्षीय किशोरी के सलज्ज उत्साह से अपरिचित।
(महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ४९)

इसी प्रकार का प्रारम्भ प्रत्येक संस्मरण में हमें देखने को मिलता है। लेखिका की तूलिका इतनी सधी हुई है कि वह कहीं नहीं चूकती। इसी संस्मरण का अन्त भी देखिये—

''कई दिन बिन्दा के घर झाँक-झाँककर जब मैंने माँ से उसके ससुराल से लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब पता चला कि वह तो अपनी आकाशवासिनी अम्माँ के पास चली गई है। उस दिन से मैं प्रायः चमकीले तारे के आस-पास फैले छोटे तारों में बिन्दा को ढूँढ़ती रहती, पर इतनी दूर से उसे पहचानना क्या सम्भव था ? तब से कितना समय बीत चुका है, पर बिन्दा और उसकी नई अम्माँ की कहानी शेष नहीं हुई। कभी हो सकेगी या नहीं, इसे कौन बता सकता है ?'' (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ६०)

संस्मरण के इस अन्त में, प्रत्येक शब्द से, कितना ममत्व छलक रहा है और नियति की क्रूरता का चित्र कितना भास्वर हो उठा है, यह सहज ही उल्लेखनीय है। अन्त में प्रश्न पूछकर लेखिका अपने पाठक एवं पाठिकाओं को भी अपनी समवेदना का सम-भागी बना लेती है और तब संस्मरण की परिसमाप्ति अत्यन्त ही करुण हो उठती है।

सबिया पर महादेवी जी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका पतिव्रत-धर्म, सौत की उपस्थिति में भी अडिग है। वर्तमान-युग में नर-नारी के बीच जो भयंकर प्रतियोगिता चल रही है, उसके सन्दर्भ में सबिया का पातिव्रत्य कितना महिमापूर्ण है, यह निम्न उद्धरण से स्पष्टतः प्रकट हो जाता है—

''वह उन महिलाओं में नहीं है, जो पति के हल्केपन को, उसके बंगले, कार, वैभव आदि के पासंग में रख-रखकर, भारी कर सकती है। उसकी गणना न उनमें हो सकती है, जिनके यातना-मन्दिर के द्वार पर स्वयं धर्म कठोर और सजग पहरेदार है, और न उनमें, जिनके उद्भ्रान्त मस्तकों पर समाज की नंगी तलवार लटकती रहती है। वह तो सब प्रकार से निकृष्टतम प्राणी कही जायगी। फिर इस पारस की उपस्थिति, जिसके स्पर्श से कैसे भी लोहे का आवरण सोना हो सकता है, किस प्रकार समझाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाये !" (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृ० ७५)

लेखिका की करुणा केवल नारी-जाति के लिए ही सुरक्षित नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर घीसा जैसा विद्यार्थी भी उनकी करुणा का बहुत बड़ा अंश पा जाता है। यह विद्यार्थी आधुनिक एकलव्य से कम नहीं है। उसकी ज्ञान-पिपासा का चित्र देखिए—

"पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी ! वे निरन्तर घड़ी की तरह खुलीं मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्याबुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था !" (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृष्ठ ११७)

घीसा के साथ-ही-साथ लेखिका ने उसकी माँ के व्यक्तित्व को भी बड़ी मार्मिकता से संवारा है। उसकी माँ के सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित था, उसका निराकरण घीसा की माँ का निम्न आत्माभिमानपूर्ण वाक्य भली-भाँति करता है—

"हम सिन्ध के महरारू होइके का सियारन के जाब ?"

घीसा जैसे शिष्य से लेखिका को गुरु-दक्षिणा के रूप में भक्ति से लबालब मिला एक तरबूज ! इस गुरु-दक्षिणा पर महादेवी की यह टिप्पणी बड़ी मार्मिक बन पड़ी है —

"उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।"

महादेवी जी की मानवीयता का एक बड़ा ही हार्दिक चित्र हमें अलोपी के रूप में मिलता है। अलोपी का भक्ति-भाव हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की वैमनस्यपूर्ण आग में सलिल जैसी शीतलता का काम देता है। वर्तमान युग के इस सनातन वैमनस्य के सन्दर्भ में अन्धे अलोपी के स्नेह को लेखिका ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अंकित किया है—

"एक बार जब अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब अलोपी पहले से दुगुनी बड़ी डलिया में न जाने क्या-क्या भरे और एक बड़ी गठरी रग्घू की पीठ पर भी लादे सुनसान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अन्धे हो, ऐसी अँधेरी गलियों में प्राण देकर कुछ स्वर्ग नहीं पहुँच जाओगे।' आदि-आदि स्वागत वचनों के उत्तर में अलोपी बैंगन-लौकी टटोलने लगा। मेरे आँगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहाँ से लौटकर जब वह सूखी आँखें पोंछता और ठिठकता-सा सामने आ खड़ा हुआ, तब मेरा क्रोध बरस कर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी।"

प्रस्तुत उद्धरण में मानवीय सम्बन्धों का बड़ा ही विचित्र माधुर्य एक सर्वथा विचित्र व्यंजना के साथ छलक रहा है। अलोपी की ममता और लेखिका की सजलता अब विगत युग की वस्तु भले ही रह गई हों, पर अब भी स्वार्थों की परिधि में घिरा हुआ मानव-जीवन इस प्रकार के व्यवहार से एक ताज़गी अनुभव करता है। अतीत के चलचित्र में अन्तिम संस्मरण है लछमा पर, जो उनकी परिचायिका, सखी और संरक्षिका है—ये सब व्यक्तित्व लछमा के व्यवहार के अभिन्न अंग बन गये हैं। लछमा एक पहाड़ी युवती है, जिसका व्यक्तित्व पहाड़ की वेगवती नदी के समान उच्छृंखल एवं विद्रोही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका व्यक्तित्व इस्पाती अवयवों से विनिर्मित हुआ है, उसकी एक ही झलक काफी होगी—

"यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है, उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दराँती के साथ वह अँधेरी-से-अँधेरी रात में भी मार्ग ढूँढ़ लेती है, उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर-से-घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।" (अतीत के चल-चित्र—पृष्ठ २०६)

ऐसी विद्रोहिणी लछमा लेखिका के सम्मुख मोम-सी मुलायम और आषाढ़ के मेघों के समान समर्पणशील है। इसे लेखिका के व्यक्तित्व की विजय कहें या लछमा के विद्रोही व्यक्तित्व की ममता?

सामान्य विशेषताएं—"अतीत के चलचित्र" में जो संस्मरण संकलित किये गए हैं, उनकी सामान्य विशेषताओं की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य दृष्टव्य हैं—

(१) कवित्व की माधुर्यपूर्ण भावना से उनका गद्य झिलमिल है और इसका आधार है—करुण-रस। रहस्यवादी एवं छायावादी कवयित्री, गद्य में मानवतावादी हो गई हैं और उनका मानवतावाद अत्यन्त ही उच्चकोटि का है। उसमें रामा, अलोपी, लछमा, घीसा, बिट्टू आदि पात्र उनके ममतालय के अभिन्न अंग हैं। **ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने वैयक्तिक परिवार के अभाव को सामूहिक परिवार के रूप में पूर्ण कर रही हैं।**

(२) उनकी करुणा उस समय आक्रोश का रूप ले लेती है, जब उनके किसी आत्मीय पात्र पर कोई अत्याचार होता है, पर तब उनका आक्रोश व्यंग का रूप धारण कर लेता है और उसकी साहित्यिक छटा निराली होती है।

(३) इन संस्मरणों में व्यक्तियों के रेखाचित्र ऐसे विविध-रूप में बिखरे पड़े हैं कि हम लेखिका की सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति एवं सम्वेदनापूर्ण चित्रण के कायल हो जाते हैं।

(४) इन संस्मरणों में कथा की रोचकता भी है और लेखिका ने इन्हें जो संस्मरण-कथा कहा है, वह समीचीन है। किसी संस्मरण को आरम्भ करने पर पाठक का कौतूहल बढ़ता जाता है और वह जब तक उसे समाप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे चैन नहीं। उसकी रुचि निरन्तर रूप से बनी रहती है, जैसे वह करुणा के सरोवर में कल्पना की नौका पर आसीन होकर विचरण कर रहा हो।

(५) जहाँ इन संस्मरणों के ऐसे उज्ज्वल पक्ष हैं, वहाँ उनका एक कृष्ण पक्ष भी है और वह है—लेखिका का क्लिष्ट साहित्यिक गद्य। जो मार्जित-रुचि के हैं, उन्हें तो इसमें आनन्दानुभूति ही होती है, पर साधारण पाठक के हाथ के तोते उड़ जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लेखिका का साहित्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उसका आधार जन-जीवन की क्रूर वास्तविकतायें हैं। इन संस्मरणों में लेखिका का समाज-दर्शन एवं व्यक्ति-दर्शन दोनों ही इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि वे अनायास ही अमूल्य मणि-रत्नों को प्राप्त कर लेते हैं।

"अतीत के चलचित्र" की लोकप्रियता ने महादेवी जी को अपनी 'स्मृति की रेखायें' अंकित करने के लिये प्रेरणा दी। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों के शीर्षकों में शाब्दिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भले ही अन्तर हो, पर भावना की दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों की अन्तर्धारा एक जैसी ही है। रामा, अलोपी और घीसा पर लिखने वाली लेखिका ही भक्तिन, बिंदिया, गुंगिया, ठकुरी बाबा आदि पर लिख सकती है। विविधता हमें मिली—'चीनी' व 'दो भाई' के चित्रण में। इन दो संस्मरणों में लेखिका की सहानुभूति का एक छोर जहाँ दो पर्वत-पुत्रों को स्पर्श करता है, वहीं वह अपनी भावना की बाँहों में एक विदेशी का भी आलिंगन करता है, जिसके होठों से सदा-सर्वदा 'सिस्तर' शब्द की झड़ी लगी रहती थी और जो केवल रेशमी वस्त्रों का विक्रेता ही नहीं है, अपितु लेखिका का भाई बनने का भी दावा करता है। अपनी पूर्व-पुस्तक की तरह इन संस्मरणों का आधार भी करुणा एवं मानवता है।

'स्मृति की रेखाओं' में पहली रेखा है 'भक्तिन' पर, उसका व्यक्तित्व बड़ी आड़ी-तिरछी रेखाओं में अंकित हुआ है, पर फिर भी उसकी व्यंजना लेखिका के कौशल की द्योतक है। प्रारम्भ में भक्तिन की पारिवारिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी गई है, तब लेखिका ने अपने सम्बन्धों की कहानी बड़ी लाघवता के साथ अंकित की है। किस प्रकार उन्होंने अपने भोजन की परिभाषा बदली, किस प्रकार वह इधर-उधर भूल से पड़े हुए रुपयों को ठिकाने लगाती है और किस प्रकार वह लेखिका के साहित्य-कला-सृजन एवं परीक्षण-कार्य में योग देती है, यह सब कहानी बड़े मनोरंजक रूप में अंकित की गई है। मुहावरों के प्रयोग ने महादेवी जी के संस्मरण-लेखन के स्तर को एक नई दिशा दिखायी है और हमें प्रेमचन्द जी का मुहावरेदार गद्य याद आने लगा। सोचता हूँ कि प्रेमचन्द जी मुहावरेदानी के सम्राट् थे, तो क्या देवी जी को मुहावरेदानी की साम्राज्ञी कहूँ ? मुहावरों के सार्थक प्रयोग की कुछ बानगी देखिये :

(१) दुख से शिथिल और अपमान से जलती हुई वह उस घर में **पानी भी बिना पिये उल्टे पैरों** ससुराल लौट पड़ी। सास को **खरी-खोटी सुनाकर** उसने विमाता पर आया हुआ क्रोध शान्त किया और पति के ऊपर गहने फेंक-फेंककर उसने पिता के चिर-बिछोह की मर्म-व्यथा व्यक्त की। (स्मृति की रेखाएँ : पृष्ठ ७)

(२) जब उसने गेहुएँ रंग और बटिया जैसे मुखवाली **पहली कन्या के दो संस्करण** और कर डाले, तब सास और जिठानियों ने ओठ बिचकाकर उपेक्षा प्रकट की। (वही)

(३) इस दंड-विधान के भीतर कोई ऐसी धारा नहीं थी, जिसके अनुसार **खोटे सिक्कों की टकसाल-जैसी पत्नी** से पति को विरक्त किया जा सकता।

(४) उसके ससुर, पितिया ससुर, अजिया सास आदि ने उसकी पाककुशलता के के लिए न जाने कितने **मौखिक प्रमाण-पत्र** दे डाले हैं। (वही, पृष्ठ ११)

(५) भक्तिन की कंजूसी के प्रमाण पुंजीभूत होते-होते पर्वताकार बन चुके थे, परन्तु इस **उदारता के डाइनामाइट** ने क्षण भर में उन्हें उड़ा दिया। (वही, पृष्ठ १६, १७)

उद्धरण-संख्या एक में रेखांकित अंश परम्परागत मुहावरों की बानगी प्रस्तुत करते हैं, तो उद्धरण-संख्या दो, तीन चार और पाँच के रेखांकित अंशों में नये मुहावरों की सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गई है। इनका व्यंग्य-विनोद लेखिका के व्यक्तित्व की चाशनी में घुलकर एक सशक्त गद्य का रूप धारण कर सका है। 'कन्या के दो संस्करण', 'खोटे सिक्कों की टकसाल', 'मौखिक प्रमाण-पत्र' 'उदारता के डाइनामाइट'—ये लेखिका की अनुभूति की टकसाल में ढले हुए नये मुहावरे हैं। इन मुहावरों ने एक ओर तो लेखिका की अभिव्यंजना को वक्रता प्रदान की है, तो दूसरी ओर उनकी आलोचनात्मक-शैली सहृदय पाठकों को पुष्कल पौष्टिक पदार्थ भी परोसती रही है।

'भक्तिन' का व्यक्तित्व-चित्रण कमाल का है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में जिठानियों और देवरानियों का जो विभेद-चित्रण है, वह लेखिका की संस्मरण-कला की ऋजुता का अद्भुत उदाहरण है। निम्नलिखित अनुच्छेद को पढ़ते हुए हमें भ्रम होता है कि हम महादेवी को पढ़ रहे हैं या प्रेमचन्द को। अपने कथन की पुष्टि में, मैं उस अनुच्छेद को अविकल रूप में उद्धृत करता हूँ : "जिठानियाँ बैठकर लोक-चर्चा करतीं और उनके कलूटे लड़के धूल उड़ाते, वह मट्ठा फेरती, कूटती, पीसती, राँधती और उसकी नन्हीं लड़कियाँ गोबर उठाती, कंडे पाथतीं। जिठानियाँ अपने भात पर सफेद राब रखकर गाढ़ा दूध डालतीं और अपने लड़कों को औटाते हुए दूध पर से मलाई उतारकर खिलातीं। वह काले गुड़ की डली के साथ कठौती में मट्ठा पीती और उसकी लड़कियाँ चने-बाजरे की घुघरी चबातीं।" (वही, पृष्ठ ७)

उपर्युक्त उद्धरण लेखिका के समाज-दर्शन का एक कलात्मक आकलन है और मानवीय मनोवृत्ति को बड़े ही सबल व्यंग्यपूर्ण शब्दों में प्रकट करता है। इसमें कुछ देशज एवं देहाती शब्दों का भी बड़ा मार्मिक प्रयोग हुआ है, कलूटे, राँधती, कंडे थापती, राब, घुघरी चबातीं और कठौती में हमें न केवल स्थानीय रंग ही मिलता है, बल्कि ग्रामीण वृत्ति का एक सहज चित्र भी सुलभ होता है।

लेखिका ने एक स्थान पर भक्तिन और उसके पति के सम्बन्धों की घनिष्ठता और उसके परिणाम की निम्नलिखित शब्दों में अत्यन्त ही सटीक व्याख्या की है : "इसके अतिरिक्त परिश्रमी, तेजस्विनी और पति के प्रति रोम-रोम से सच्ची पत्नी को वह चाहता भी बहुत रहा होगा, क्योंकि उसके प्रेम के बल पर ही पत्नी ने अलगौझा करके सबको अँगूठा दिखा दिया।" (वही, पृष्ठ ८)

यहाँ 'अलगौझा' शब्द और 'अँगूठा दिखा देना' मुहावरा कितना सप्राण है और उसकी तीक्ष्ण व्यंग्यमयी भंगिमा अपनी बाँकी चितवन से पाठक के मन को हर लेती है। भक्तिन की युवती-पुत्री का विवरण भी व्यंग्य-विनोद से परिप्लावित है : "तीतरबाज युवक कहता था, वह निमन्त्रण पाकर भीतर गया और युवक उसके मुख पर अपनी पाँचों उँगलियों के उभार में इस निमन्त्रण के अक्षर पढ़ने का अनुरोध करती थी। अन्त में दूध-का-दूध, पानी-का-पानी करने के लिये पंचायत बैठी और सबने सिर हिला-हिलाकर इस समस्या का मूल कारण कलियुग को स्वीकार किया।" (वही, पृष्ठ ९-१०)

भक्तिन की पुत्री का व्यक्तित्व भी अपनी माँ से किसी कद्र कम न था, किन्तु उस आक्रोशमयी युवती के जीवन की अन्तिम परिणति बड़ी करुणापूर्ण है, क्योंकि उस तीतर-बाज को युवती पुत्री के गले मढ़ दिया गया था, जिस पर 'अपमानित बालिका ने ओठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काटकर लहू निकाल लिया और माँ ने आग्नेय नेत्रों से गलेपड़ू दामाद को देखा।' (वही, पृष्ठ १०) इस वाक्य में ओठ काटकर लहू निकाल लेने का मूक विद्रोह और भक्तिन के आग्नेय नेत्र गलेपड़ू दामाद को भस्मासुर की तरह जला न सके, यही क्या कम है! इस दामाद ने किस प्रकार भक्तिन की समृद्धि में आग लगा दी, और किस प्रकार जमींदार ने उसे कड़ी धूप में खड़ा कर अपमानित किया, इसी यातना के परिणामस्वरूप ही, वह कमाई के विचार से शहर आ जाती है। ऐसी स्थिति में उसका जो शब्द-चित्र लेखिका ने अंकित किया है, वह अनेक दृष्टियों से एक सफल रेखाचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है: "घुटी हुई चाँद को मोटी मैली धोती से ढाँके और मानों सब प्रकार की आहट सुनने के लिये एक कान कपड़े से बाहर निकाले हुए भक्तिन जब मेरे यहाँ सेवक-धर्म में दीक्षित हुई, तब उसके जीवन के चौथे और सम्भवतः अन्तिम परिच्छेद का जो अर्थ हुआ, उसकी इति अभी दूर है। भक्तिन की वेश-भूषा में गृहस्थ और वैरागी का सम्मिश्रण देखकर मैंने शंका से प्रश्न किया—'क्या तुम खाना बनाना जानती हो?' 'उत्तर में उसने ऊपर के ओठ को सिकोड़ और नीचे के अधर को कुछ और बढ़ाकर आश्वासन की मुद्रा के साथ कहा—'कउन बड़ी बात आय! रोटी बनाय जानित है, दाल रांध लेइत है, साग-भाजी छउंक सकित है, अउर बाकी का रहा!' (वही, पृष्ठ १०)

प्रस्तुत पंक्तियों में भक्तिन के व्यक्तित्व की रेखाओं और उसकी उपाधियों का विज्ञापन बड़ा मार्मिक बन पड़ा है। उसका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही पूर्णतः प्रकट हुए हैं। उसके प्रगाढ़ स्नेह और मैत्री की भावना इतनी प्रबल है कि लेखिका चाहने पर भी उसे अपनी सेवा से मुक्त नहीं कर सकती। उसकी रूढ़प्रियता, छुआछूत और उसकी प्रबल स्वामि-भक्ति उसके व्यक्तित्व को एक निराली धजा में प्रकट करते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति के सम्बन्ध में लेखिका की टिप्पणी इस प्रकार है: 'किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय, कहीं भी जाने के लिये प्रस्तुत होते ही मैं भक्तिन को छाया के समान साथ पाती हूँ।" (वही, पृष्ठ १६) पर यही भक्तिन युद्ध के प्रति बड़ी डरपोक है, इसीलिए वह लेखिका के साथ गाँव जाने का प्रस्ताव करती है। इस अवस्था में उसका स्नेह, अपनी स्वामिनी की आवश्यकता के प्रति सजगता और आत्मीयता का बड़ा ही मार्मिक चित्र निम्नलिखित अनुच्छेद में प्राप्त होता है। प्रत्येक शब्द से उसका स्नेह छलका पड़ रहा है: "जब गत वर्ष युद्ध के भूत ने वीरता के स्थान में पलायन-वृत्ति जगा दी थी, तब भक्तिन पहली ही बार सेवक की विनीत मुद्रा के साथ मुझसे गाँव चलने का अनुरोध करने आई। वह लकड़ी रखने के मचान पर अपनी नई धोती बिछाकर मेरे सोने का प्रबन्ध करेगी। मेरे रंग, स्याही आदि को नई हँडियों में संजोकर रख देगी और कागज-पत्रों को छीकों में यथाविधि एकत्र कर देगी।" (वही, पृष्ठ १६)

'सम्भवतः ऐसी भक्ति-भावना राम के प्रति हनुमान की भी न रही होगी, क्योंकि कौड़ी-कौड़ी करके इकट्ठा किया हुआ जो पाँच बीसी और पाँच रुपया उसके पास गड़ा रखा है, उसको वह लेखिका पर न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत है। इतना सब होने पर भी लेखिका उसे सेवक-स्वामी सम्बन्धों के बीच नहीं लेना चाहतीं। उनकी दृष्टि में 'भक्तिन को नौकर कहना उतना ही असंगत है, जितना अपने घर में बारी-बारी से आने-जाने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे-उजाले और आँगन में फूलने वाले गुलाब और आम को सेवक मानना। वे जिस प्रकार एक अस्तित्व रखते हैं, जिसे सार्थकता देने के लिये ही हमें सुख-दुख देते हैं, उसी प्रकार का भक्तिन का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने विकास के परिचय के लिये ही मेरे जीवन को घेरे हुए है।' इस उद्धरण से हम महादेवी जी और भक्तिन के सम्बन्धों को स्पष्टतः समझ सकते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति का एक दिव्य उदाहरण तब मिलता है, जब किसी 'साहित्यिक-बन्धु के आने पर भक्तिन के सम्मान की मात्रा, मेरे प्रति उनके सम्मान की मात्रा पर निर्भर है और सद्भाव उनके प्रति मेरे सद्भाव से निश्चित होता है। इस सम्बन्ध में भक्तिन की सहज बुद्धि विस्मित कर देने वाली है।' जिन दिनों भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये राजनीतिक आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों किसी भी साहित्यिक का कृष्ण-मन्दिर में जाना उतना ही सम्भावित था, जितना कि बसन्त में गुलाब की कलियों का चटकना और उनके सौरभ का उन्मुक्त विस्तार! इस संदर्भ में लेखिका की जेल जाने की बात सुनकर भक्तिन पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि उसके 'संस्कार' ऐसे हैं कि वह कारागार से वैसे ही डरती है, जैसे यमलोक से—उसकी यह कमजोरी इतनी प्रसिद्धि पा चुकी है कि लोग मेरे जाने की सम्भावना बता-बताकर उसे चिढ़ाते रहते हैं। 'किन्तु लेखिका के साथ वह कारागार की यमपुरी में भी जाने को तैयार है और इसके लिये उसकी जिज्ञासा बड़ी सजगतामयी है। वह किसी भी रूप में अपनी स्वामिनी से अलग नहीं होना चाहती। यदि स्वामिनी को जेल में ठूँस दिया गया और भक्तिन को उनके साथ न रहने दिया गया, तो वह बड़े लाट तक लड़ने का इरादा रखती है। प्रस्तुत संस्मरण का अन्त बड़ा मार्मिक है और लेखिका का जो भक्तिन के प्रति ममत्व है, उसका दर्शनीकरण (फिलॉस्फाईजंग) संस्मरण के अन्त में बड़े स्पष्टरूप में देखा जा सकता है : "मैं प्रायः सोचती हूँ कि जब ऐसा बुलावा आ पहुंचेगा, जिसमें न धोती साफ करने का अवकाश रहेगा, न सामान बाँधने का, न भक्तिन को रुकने का अधिकार होगा, न मुझे रोकने का, तब चिरविदा के अन्तिम क्षणों यह देहातिन वृद्धा क्या करेगी और मैं क्या कहूँगी?" (वही, पृष्ठ १९)

प्रस्तुत संस्मरण का इतने विस्तार में विश्लेषण इसीलिये किया है कि हम महादेवी जी की कला को समग्र रूप में समझ सकें। यही विशेषताएँ कुछ रूपान्तर के साथ अन्य संस्मरणों में भी प्रकट हुई हैं। 'शाश्वत चीनी' दुःख और यातनाओं से भरे हुए एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो चीन, बर्मा और भारत में अपनी जीविका के लिये खाक छानता फिरा और जिसने अपनी खोई हुई बहिन को लेखिका में पाया। माँ, बाप और फिर बाद में दुःखिता एवं छीजती हुई बहिन किस प्रकार उसे यातनाओं की भट्ठी में जलते हुए छोड़ गये और किस प्रकार उसने गिरहकटों के चंगुल से अपने-आपको बचाकर 'सिल्क विक्रेता फेरी वाला चीनी' का रूप लिया, इसी की करुणा के आँसुओं में डूबी हुई यह कहानी है। एक उदाहरण लीजिये : "पर, एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सजी हुई मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।'' (वही, पृष्ठ १५) इन पंक्तियों में संकेतात्मकता अपनी नयी करुणा, व्यंग्यपूर्ण अर्थवत्ता को कैसे मूक, पर सटीक शब्दों में व्यक्त करती है। आज के नये संदर्भ में हम चीन की भुखमरी और राजनीतिक विकृतियों को 'शाश्वत चीनी' के माध्यम से भलीभाँति समझ सकते हैं। सारा वर्णन कितना सजीव और चित्रात्मक है।

'स्मृति की रेखाओं' की तीसरी रेखा दो भाइयों—दो पर्वत-पुत्रों से हमें परिचित करवाती है। इनकी स्वाभाविक मानवीयता इतनी सजल और संवेदनशील है कि हृदय में करुणा और वात्सल्य के स्रोते फूट पड़ते हैं। वस्तुतः महादेवी जी की स्मृति करुणा का अक्षय आगार है, जिसमें पलकर रामा, घीसा, अलोपी, लछमा, चीनी दो भाई जैसे दर्जनों पात्र और पात्रियाँ एक विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व प्राप्त कर सके हैं। घनिया का संकोच में लिपटा चेहरा और जंगिया का कर्तव्य-सजग मुखड़ा क्या कभी भुलाये जा सकते हैं: 'सवेरे झरने से हाथ-मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड में जंगबहादुर को दो नये कुलियों के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिंह को कपड़े की पट्टी से सिर कसकर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गये ?' सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूँदें पोंछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुकसान होगा।'' (वही, पृष्ठ ४१, ४२)

इस संस्मरण के अन्त में उन पर्वत-पुत्रों की लेखिका को विदाई 'शकुन्तला की विदा' से कम महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे क्षणों में मानवीय स्नेह अनन्त अश्रु-कणों में किस प्रकार छलक-छलक पड़ता है, इसका एक मार्मिक चित्र देखिये: ''जंगवीर ने आँसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा—'माँ जी जीता रहना फिर आना, जंगिया के नाम चिट्ठी भेजना।' 'घनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाये, बीच-बीच में टपकते आँसुओं की भाषा में विदा दे रहा था। आज वे दोनों पर्वत-पुत्र कहाँ होंगे सो तो मैं बता नहीं सकती, पर उनको माँजी होकर मुझे जो सम्मान मिला, वह भी बताना सहज नहीं।' (वही, पृष्ठ ४६) भावनाओं की शब्दावलि कितनी संक्षिप्त, तार-शैली के समान अर्थपूर्ण और हृदयवेधी होती है, इसकी स्पष्ट झाँकी हमें उपर्युक्त उद्धरण में मिलेगी।

चौथी रेखा का सम्बन्ध अटल की 'मुन्नू की माई' से है। यहाँ भी कर्कशा और मधुर आतिथ्यशील का विभेद-चित्रण इस मानवीय विचित्रालय का एक हृदय-स्पर्शी उदाहरण है। लोग कहते हैं कि सुन्दरता आँख को पकड़ लेती है, पर यहाँ तो दरिद्रता, कुरूपता इतनी आकर्षक बन गई हैं कि हम शब्द-शिल्पी लेखिका की नवीन उपलब्धि के सम्मुख श्रद्धानत हो जाते हैं: ''बेवाइयों से भरे छोटे पैरों में काँसे के कड़े घिसते-घिसते चपटे और तंग हो गये हैं, अतः बचपन से अब तक बदले न जाने की घोषणा करते हैं। कडी उँगलियों वाले हाथों की चपटी कलाई को घेरने वाली मैलभरी घिसी चूड़ियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानों हाथ के साथ ही उत्पन्न हुई हैं।'' (वही, पृष्ठ ४६) इसे स्वभावोक्ति अलंकार का नया संस्करण कहें या जन-साहित्य का एक दिव्य चित्र, कुछ समझ में नहीं आता। लेखिका की कला मैक्सिम गोर्की के चित्रण से होड़ करती है। तथाकथित 'प्रगतिशीलों' ने ऐसे कितने चित्र अंकित किये हैं, यह उनके लिए एक ज्वलन्त चुनौती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम रेखा 'ठकुरी बाबा' के व्यक्तित्व को सँवारती है। वे वास्तव में लोककवि अथवा जन्मजात निसर्ग-कवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन-वृत्त किसी काव्य से कम वैविध्यपूर्ण नहीं है। उनकी चेष्टाओं एवं प्रवृत्तियों में कविता-कामिनी छूम-छनन···नन नृत्य करती है और तब लेखिका उन्हें अत्यन्त ही गौरवमयी श्रद्धांजलि अर्पित करती है : "अथर्व के जो गायक अपने-आपको धरती का पुत्र कहते थे, ठकुरी बाबा उन्हीं के सजातीय कहे जा सकते हैं। इनके लिए जीवन धरती का वरदान, काव्य उसके सौंदर्य की अनुभूति, प्रेम उसके आकर्षण की गति और शक्ति उसकी प्रेरणा का नाम है। ऐसे व्यक्ति मुक्ति की ऊँची-से-ऊँची कल्पना को दूब में खिले नीचे-से-नीचे फूल पर न्यौछावर कर दें, तो आश्चर्य नहीं।" (वही, पृष्ठ ९९) प्रकृति-चित्रण के अत्यन्त सुललित वैशिष्ट्यपूर्ण, रुद्र एवं सौम्य रूप हमें इस संस्मरण में मिले, जिन्हें निबन्ध की कलेवर-वृद्धि के कारण हम नहीं दे पायेंगे। थूहर, भटकटैया से लगाकर मक्का के भुट्टों तक का यहाँ सजीव वर्णन है और इसके साथ-ही-साथ ठकुरी बाबा के विचित्र परिवार की झलक कितनी मनोरम है : "बेला ने बचपन के साथी को छोड़ना नहीं चाहा और इस प्रकार ठकुरी बाबा वचन-भंग के पातक से बच गये।" (वही, पृष्ठ ८५)

छठी रेखा 'बिबिया' की पृष्ठभूमि में पहले बाँकी अदावाले दमड़ीलाल का चित्र उपस्थित करती है, जो कि भक्तिन के हाथ की बनी चाय को सागर-मन्थन में निकले अमृत से कम नहीं समझता और 'नाश्ते' के लिए भी आग्रह करता है। इसे अपनी माँ के साथ देखकर लेखिका को 'बिबिया' धोबिन की याद आ गई, जिसकी कहानी निम्न जातियों में नारी के यातनामय जीवन का एक रोमांचकारी वृत्त है। सुन्दरी, परिश्रमी, और बुद्धिमती, पर अभिमानिनी बिबिया को जीवन में कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े, यह संस्मरण उसी की करुणाभरी कहानी है। कभी न बुझने वाला बिबिया का व्यक्तित्व किस प्रकार समाज की रूढ़ियों और भ्रान्त धारणाओं के कारण तार-तार हो गया, यह सब पढ़कर पाठक के आँसू जम जाते हैं और उसका विद्रोह-भाव वाचाल हो उठता है। उसके परिश्रमी जीवन की एक झलक : "सवेरा होने पर कर्तव्य की पुरानी पुस्तक का नया पृष्ठ खुला ही रहता था।" (पृष्ठ १११) झनकू के मुक्त जीवन और वैवाहिक सम्बन्धों पर निम्न वाक्य में कितना तीव्र व्यंग्य है : "इस प्रकार अपने मन को मुक्त रखकर भी झनकू बिबिया को दाम्पत्य-बन्धन में बाँध लाया।" (पृष्ठ १११) पुरुष द्वारा नारी पर किये गए अत्याचार का एक चित्र : "बिबिया के शरीर पर घूँसों के भारीपन के स्मारक गुम्मड़ उभर आए थे, लकड़ी के आघातों की संख्या बताने वाली नीली रेखाएँ खिंच गई थीं और लातों की सीमा नापने वाली पीड़ा जोड़ों में फैल रही थी।"(पृष्ठ ११६) यह संस्मरण धोबी-मनोविज्ञान और उनकी दुष्ट प्रवृत्तियों पर एक संस्मरणात्मक प्रबन्ध कहा जा सकता है।

सप्तम रेखा में 'गुंगिया' की मूक व्यथा की भूमिका के रूप में पत्र-लेखन और अपढ़ लोगों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विशद चित्र है। 'गुंगिया' का स्नेह-तरल वात्सल्य और हुलासी की अवज्ञा मानवीय चरित्र के अद्भुत अध्याय हैं। हुलासी को खोकर गुंगिया उसके खिलौने में ही रम गई और उसकी अन्तिम श्वास उन्हीं के बीच टूटी :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वह हुलासी के खिलौनों की खुली पिटारी और कपड़ों से भरे बक्स के बीच में मरी पाई गई। रुपये उसके तकिये के नीचे ज्यों-के-त्यों धरे मिले।" (पृष्ठ १४६) हम लेखिका के इस मन्तव्य से अक्षरशः सहमत हैं : "जीवन में मैंने जितने विचित्र व्यक्ति और जैसे रहस्यमय इतिवृत्त देखे-सुने हैं, उनके सामने कल्पना के सभी निर्माण फीके पड़ सकते हैं, पर गुंगिया मेरे हृदय में जो करुणा विस्मय जगा सकी थी, वह फिर नहीं जागा।"

इन दोनों पुस्तकों के विश्लेषण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महादेवी जी की स्मृति एक ऐसा अनाथालय है, जिसमें मानवता के इन उपेक्षित अंशों के प्रति अथाह करुणा है, इसी कारण इन्हें अनाथालय न कहकर ममतालय कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनकी दृष्टि में चित्रकार की सर्वग्राहिता, कवि की मार्मिकता और नारीत्व की संवेदनशीलता है। निजी जीवन के इतने रोचक और प्रभावपूर्ण संस्मरण और किसी ने नहीं लिखे।

महादेवी जी की तीसरी संस्मरण-पुस्तक 'पथ के साथी' अपनी दो अग्रजाओं ('अतीत के चलचित्र' 'और स्मृति की रेखायें') से भिन्न है, यद्यपि इन संस्मरणों का भी मूल उत्स लेखिका का भावना-तरल हृदय ही है। **ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कविता की भावुकता गद्य में पारा बनकर पिघल गई है और इसे उनके कवि का ही रूपांतर कहा जा सकता है।** एक बात में भिन्नता अवश्य है और वह है उनके व्यंग्य-विनोद का बौद्धिक धरातल। ऐसे मार्मिक एवं कलात्मक व्यंग्य, हिन्दी-साहित्य की एक अनहोनी घटना है। स्व० गुलाबराय के हास्य-विनोद से इनका पृथक् स्वाद है—जहाँ गुलाबराय स्वयं अपनी सीमाओं और त्रुटियों का कार्टून बनाते हैं, वहीं महादेवी कोई तेज फुलझड़ी छोड़कर पाठक के मन को बिद्ध कर देती हैं। तुलना के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। गुलाबराय के 'नर से नारायण' का व्यंग्य-चित्रण देखिये : क्रॉस-वैन्टीलेशन की शान ही बवाले-जान बन गई। सौंदर्य-प्रिय होते हुए भी तहखानों के झरनों के पुष्टमांसल सौंदर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता, तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखने वालों को कम प्रकाश की तो ज़रूरत नहीं होती।"

उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना में **गुप्त जी की काव्य-साधना** का प्रारम्भिक रूप महादेवी जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "पत्थर के चबूतरे पर कविता लिखने के लिए रक्खी हुई दो-तीन स्लेटें और एक छोटा डैस्क देखकर गाँव की प्राथमिक पाठशाला की भ्रांति हो जाना स्वाभाविक है। उनकी काव्य-साधना के लिए वह कच्चा घर उपयुक्त ही है, पर स्लेट, पेंसिल देखकर भ्रम होता है कि वे असमय स्कूल छोड़ने का स्मरण कर रहे हैं। जिसका सफेद फर्श सबकी धूल ग्रहण कर साम्य की उपासना करता है, वह बैठक-खाना और जिसकी गोबर से लिपी धरती सब के चिन्ह मिटाकर एकता की बात कहती है, वह आँगन-कचहरी भी है और जन्तुशाला भी। वहाँ शिखाधारी पंडित जी भी विराजमान होंगे और दाढ़ी वाले मियाँ जी भी। (पथ के साथी : पृष्ठ ३३७) इन दोनों उद्धरणों के अन्तर पर ग़ौर दीजिए। एक ओर तो गुलाबराय जी ने अपनी मूर्खता का इज़हार करके हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है, वहाँ महादेवी जी ने गुप्त जी के व्यक्तित्व की विचित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बानगी अपनी समग्रता में अंकित की है। गुलाबराय जी में कुछ अतिरंजना रहती है, जब कि महादेवी जी यथातथ्य चित्रण में विश्वास करती हैं। उनका व्यंग्य गुलाबराय की तुलना में अधिक नुकीला रहता है। साहित्यिक-हास्य के ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल हैं। 'पथ के साथी' के प्रारम्भ में लेखिका ने **गुरुदेव रवीन्द्र** को श्रद्धांजलि अर्पित की है, चूँकि लेखिका का गुरुदेव से वैयक्तिक घनिष्ट सम्पर्क न था, इसलिए उसमें अमूर्त्त भावनाओं की प्रधानता है। कहीं-कहीं रवीन्द्र का व्यक्तित्व उद्‌भाषित अवश्य हुआ है, पर वह भी श्रुत-ज्ञान पर आधारित है। अतः उसमें वह मार्मिकता सम्भव नहीं है जो कि घनिष्ट सम्पर्कों के परिणामस्वरूप हुआ करती है। अनेक स्थानों पर लेखिका ने आधुनिक कवि-कुल गुरु का अत्यन्त ही वायवी विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं तो यह विवरण इतना क्लिष्ट एवं तर्क-संकुल हो जाता है कि पाठक का मन ऊबने-सा लगता है। फिर भी गुरुदेव के प्रति जो उन्होंने 'प्रणाम' निवेदित किया है, उसमें लेखिका के व्यक्तित्व के संस्पर्श के कारण एक प्रकार की आर्द्रता आ गई है : "तो क्या वह उसी वीणा का भस्मशेष है, जिसके तारों पर दीपक राग लहरता था ?" (वही पृष्ठ १३) यह ठीक है कि 'प्रणाम' में लेखिका के भाव निष्ठा के साथ उमड़े-घुमड़े हैं, पर फिर भी उसके सूक्ष्म विवरणों में पाठक का उत्साह दम तोड़ने लगता है। गुरुदेव के विराट जीवन की अनेक झाँकियाँ प्रस्तुत करने के बाद लेखिका इस संस्मरण का अन्त बड़े ही मार्मिक रूप में उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करती है : "दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंपकर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जाने वाले को प्रणाम है।" (वही पृष्ठ १३)

उपर्युक्त उद्धरण की पहली पंक्ति में साहित्यकार-अग्रज ने अनजान में ही हमारे छोर में अपने उत्तराधिकार की जो गाँठ बाँधी है, वह कितनी मार्मिक एवं स्वाभाविक है। सूर्य के द्वारा दीपक को अपना उत्तराधिकारी बनाना, यद्यपि एक परम्परागत सत्य है, पर इस बात की ओर कितनों का ध्यान जाता है। प्रकारांतर से लेखिका के द्वारा आलोक-पुंज रवीन्द्र और दीपक के समान टिमटिमाने वाले समसामयिक साहित्यकारों की घनिष्टता एवं उत्तराधिकार-दान की अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

'पथ के साथी' की प्रथम रेखा में गुप्त जी का तपोधनी एवं कर्मठ व्यक्तित्व उजागर हो उठा है। लेखिका का उनके साथ जो सम्बन्ध है, वह साहित्यिक परिवार के नेता दद्दा के प्रति एक गौरवपूर्ण श्रद्धांजलि है। दद्दा के साथ-साथ लेखिका का व्यक्तित्व भी प्रकीर्ण रूप से अंकित हुआ है, जिससे उनके मधुर सम्बन्धों की एक दिव्य झलक सहज ही उपलब्ध हो जाती है। गुप्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का बड़ा ही सुघर परिचय इस संस्मरण-रेखाचित्र में अत्यन्त ही कलापूर्ण शब्दावलि में मुखर हो उठा है : "अपने रूप और वेष दोनों में वे इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते !—उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है। सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुञ्चन नहीं है, ऊँची नाक पर दम्भ का उतार-नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएँ उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी।" (वही पृष्ठ २०-२१) यहाँ पर गुप्त जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के व्यक्तित्व का न केवल नकारात्मक विधान ही है, बल्कि उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रधान मुखर विशेषता को लेखिका ने रेखांकित कर दिया है। इस परिचय में हमारे राष्ट्र-कवि का कितना सहज एवं प्रभावकारी रूप शब्द-चित्र में उभर आया है।

राष्ट्र-कवि के व्यक्तित्व का अन्तरंग विवरण देते हुए लेखिका ने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं : "कभी-कभी तो उनका देखना और हँसना इस तरह साथ चलता है कि दृष्टि हँसती-सी लगती है और हंसी से दृष्टि का आलोक बरसता जान पड़ता है। वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थविवेक का स्थायी संगम है, जिस पर सबकी दृष्टि नहीं जाती। केवल विनोदी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती कि जीवन के बाह्य आवरणों को भेद कर तथ्य तक पहुँच सके और कवि के लिए यह पैनापन अनिवार्य है।" (वही, पृष्ठ २१) "बिजलीके पाजिटिव और नेगेटिव तारों के समान दो कोमल कठोर तार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साथ-साथ फैले हुए हैं। उनके जीवन और साहित्य में उन तारों के ही संयोग का उजाला है।"(वही पृष्ठ २३) "साधारणत: परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिमा नहीं गढ़ी जाती, उल्टे उसके चूर-चूर हो जाने की सम्भावना रहती है। गुप्त जी उस हथौड़े के नीचे से निकल न भागे होते, तो हिन्दी को तिलक-कण्ठीधारी राष्ट्र-कवि न प्राप्त होता। (वही पृष्ठ २४)।

अब उनके **कृतित्व की रेखाएँ** पढ़िये : "साहित्य में उन्हें ऐसी कथाएँ चाहिएँ, जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हों, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है। वे रामायण को नहीं भूलते, पर रामायणकार जिन्हें भूल गया, उन चरित्रों को अपने ढँग से स्मरण करते हैं। वे महाभारत के स्थान में कोई अन्य कथा नहीं खोजेंगे, पर महाभारत के भीतर खोये किसी साधारण पात्र को खोज लेंगे। ये कथाएँ अनेक युगों की लम्बी यात्राओं का आँधी-पानी, धूप-छाया सहते-सहते धूमिल हो गई हैं, पर जिन्हें ये वहन करके लाई हैं, वे पात्र गुप्त जी के आँसुओं में घुल-धुलकर नये रंगों में उद्भाषित आज के प्राणी बन चुके हैं। उनके साहित्य में जो नया है, उसका मेरुदण्ड पुराना है और जो पुराना है, उस पर रँग नया है। (पृष्ठ २६)—पुरातन संस्कारों का घेरा उन्हें वंश-परम्परा से मिला है, पर उसमें नये आलोक को लाने वाले झरोंखों का निर्माण उनका अपना है।" (पृष्ठ २६) गुप्त जी के कृतित्व के नवनीत को लेखिका ने इतने सहज भाव से वाणी दी है कि ऐसा करना उनके निकटस्थ अन्तरंग सहयात्री या सहयात्रिणी द्वारा ही सम्भव था। समकालीन साहित्यिक बन्धुओं का ऐसा दिव्य आकलन हिन्दी साहित्य में और किसी ने नहीं किया और मुझे विश्वास है कि विश्व-साहित्य में भी ऐसे उदाहरण कम ही होंगे। लेखिका ने अपनी आत्मानुभूतियों को ही पिघला-पिघला कर संयम एवं विवेक की तूलिका द्वारा कुछ ऐसे मार्मिक चित्रों का निर्माण किया है कि हिन्दी साहित्य उन पर गर्व कर सकता है। इन संस्मरणों में राशि-राशि सूक्तियाँ एवं सुविचारित तथ्य बिखरे पड़े हैं। समीक्षक दुविधा में पड़ जाता है कि किसे उद्धृत करे और किसे छोड़ दे।

महादेवी जी ने **गुप्त जी और निराला जी की स्नेह-मैत्री** का विवरण इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है : "थोड़ी देर बात करने वाले भी जिनका रुख देखते रहते हैं, उन्हीं निराला से गुप्त जी आधी रात तक सुख-दुख की कथा कहते-सुनते रहे और उन्हें समझाते-बुझाते रहे।" (पृष्ठ ३५) तात्पर्य यह कि गुप्त जी के जीवन का कोई भी पक्ष लेखिका के द्वारा अछूता नहीं रहा है। उनके अर्थ-कवच का सूक्ष्म विवरण देते हुए देवी जी कहती हैं : "अपने पितृव्य अग्रज की व्यवस्था के कारण ही गुप्त जी अर्थ-संकट के उस बवंडर में स्थिर रह सके हैं, जिसने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई में गिराकर और कभी पर्वतों पर पटककर चूर कर दिया है।" (पृष्ठ ३०) इसी प्रसंग में महादेवी जी ने 'रंग में भंग' कृति के सन्दर्भ में लेखक और प्रकाशक के संबंध पर भी आँखें खोल देने वाला विवरण प्रस्तुत किया है। विस्तार-भय से अब मैं **सुभद्रा जी के सखी-सुलभ संस्मरण** पर आता हूँ। हिन्दी साहित्य की इन दोनों कवयित्रियों के बीच कितना स्नेह-सौहार्द्र था, किस प्रकार वे बचपन और किशोरावस्था के आँगन में अठखेलियाँ करती थीं और किस प्रकार प्रौढ़ावस्था तक यह स्नेह-सम्बन्ध अभिन्न-अन्तरंग बना रहा, इसका अत्यन्त ही सूक्ष्म विवरण हमें प्रस्तुत संस्मरण में मिलता है। बचपन के सम्बन्धों में कैसे-कैसे मनोरम प्रसंग रहते हैं, इसकी एक दिव्य झलक लीजिए : "नित्य व्यवहार में आने वाली गणित की कापी को छिपाना सम्भव नहीं था, अतः उसके साथ अंकों के बीच में अनधिकार सिकुड़कर बैठी हुई तुकबन्दियाँ अनायास पकड़ में आ गई। इतना दण्ड ही पर्याप्त था। पर इससे संतुष्ट न होकर अपराध की अन्वेषिका ने (सुभद्रा) एक हाथ में वह चित्र-विचित्र कॉपी थामी और दूसरे में अभियुक्ता की उँगलियाँ कसकर पकड़ीं और वह हर कमरे में जा-जाकर इस अपराध की सार्वजनिक घोषणा करने लगी।" (पृष्ठ ३८)ये झगड़ने वाली बालिकायें और कोई नहीं स्वयं लेखिका और सुभद्रा जी हैं। महान् लेखिका, कवयित्री, प्रिंसिपल और संपादिका का यह रूप कितना प्रेरणाकारी एवं सजीव है। देवी जी ने सुभद्रा जी के मोहक व्यक्तित्व, बाल-सुलभ चेष्टाओं और बाद में उनके दाम्पत्य जीवन की भी बड़ी अन्तरंग झलक दी है : "पत्नी की, अनुगामिनी, अर्धांगिनी आदि विशेषताओं को अस्वीकार कर उन्होंने भाई लक्ष्मणसिंह जी को पत्नी के रूप में ऐसा अभिन्न मित्र दिया, जिसकी बुद्धि और शक्ति पर निर्भर रहकर, जिसका अनुगमन किया जा सके।" (पृष्ठ ४५) सुभद्रा जी के पारिवारिक और कारागार-जीवन की अत्यन्त मोहमयी झाँकियाँ लेखिका ने प्रस्तुत की हैं।

'पथ के साथी' में तृतीय स्थान पर **निराला जी** विद्यमान हैं। उनका और लेखिका का मधुर सम्बन्ध तो हिन्दी साहित्य की एक जानी-मानी बात है। आरम्भ में ही लेखिका ने घोषणा की है : "एक युग बीत जाने पर भी मेरी स्मृति से एक घटाभरी अश्रुमुखी सावनी पूर्णिमा की रेखाएँ नहीं मिट सकी हैं। उन रेखाओं के उजले रंग न जाने किस व्यथा से गीले हैं कि अब तक सूख भी नहीं पाये, उड़ना तो दूर की बात है। (पृष्ठ ५१) रक्षा-बन्धन में बँधा इन साहित्यिक भाई-बहिन का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की एक रोचक एवं अत्यन्त मानवीय घटना है। "मेरा प्रयास किसी जीवन्त बवन्डर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम के तटों में सीमित करने के समान, यह सोचने-विचारने का तब अवकाश नहीं था। पर आनेवाले वर्ष निरालाजी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष के ही नहीं, मेरी परीक्षा के भी रहे हैं।"(पृष्ठ ५१) हिन्दी साहित्य का समसामयिक इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार लेखिका ने निराला के संकट के क्षणों में एक बहिन का स्वाभाविक स्नेह प्रदान किया और किस प्रकार वे यहाँ भी "विद्रोही भाई" प्रमाणित हुए।

निराला के अन्तरंग जीवन की एक झलक : "आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता, तो वह निश्चय ही हमें, मिट्टी के तेल की दूकान पर लगी भीड़ में सबसे पीछे खड़े, पर सबसे बालिश्त भर ऊँचे गृहस्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीक्षा की कहानी सुना सकता। रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।" (पृष्ठ ५४) अन्तिम निष्कर्ष देखिये : "साहित्य के नवीन युगपथ पर निराला जी की अंक संसृति गहरी और स्पष्ट उज्ज्वल और लक्ष्य-निष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण का चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।" (पृष्ठ ६५) ऐसे शत-शत उदाहरण इन संस्मरणों में बिखरे पड़े हैं और अपनी निरुपम आभा से साहित्य के सहृदय पाठक के मन को मोह लेते हैं।

'पथ के साथी' की चौथी रेखा **प्रसाद,** पाँचवीं **पन्त** और छठी **सियारामशरण गुप्त** पर है। इन सभी संस्मरणों में हम लेखिका की अनुभूति और अभिव्यक्ति को अपने उच्च धरातल पर पाते हैं। अपने मन की मधुरिमा से और तत्वदर्शिनी बुद्धि से लेखिका ने ऐसे शब्द-चित्रों का निर्माण किया है कि इनकी आभा कभी धूमिल नहीं पड़ सकती, अपितु इसके उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतम ही होने की संभावना है। दोनों साहित्यकारों के प्रथम और अन्तिम मिलन की एक झलक : "मेरी हँसी देखकर या मुझे मेरे भारी-भरकम नाम के विपरीत देखकर प्रसाद जी ने निश्छल हँसी के साथ कहा—आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़तीं। मैंने वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया—आप ही कहाँ कवि प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध-भिक्षु जैसे हैं।" (पृष्ठ ७०)

पन्त जी के निकट सम्पर्क में आने का लेखिका को पुनः-पुनः अवसर मिला है। इसीलिए उसके विवरण में एक आत्म-विश्वास एवं दृढ़ता मुखरित होती है : "सुमित्रा-नन्दन जी का स्वभाव आज भी कोमल है और शरीर आज भी सुकुमार है, अनुभवों ने इस कोमलता और सुकुमारता पर एक आर्द्रता का पानी ही फेरा है—जिस प्रकार आकाश की ऊँचाई से गिरनेवाला जल किशलयों और फूलों पर स्वच्छता के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं छोड़ता, उसी प्रकार संघर्षों ने उनके जीवन पर अपनी रूक्षता और कठोरता का इतिहास नहीं लिखा है।" (पृष्ठ ८५) इसी प्रकार व्यंग्य-विनोद की एक साहित्यिक झलक : "परिग्रह की दृष्टि से वे चिरकुमार सभा के आजीवन अध्यक्ष हो सकते हैं। आरम्भ में उनकी गृहस्थी के लिए परिस्थितियाँ बाधक रहीं और जब परिस्थितियों ने अनुकूलता दिखाई, तब उनकी मानसिक सन्ततियों की अनन्तता ने उनका मार्ग रोक दिया।" (पृष्ठ ८७-८८) साहित्यिक व्यंग्य का ऐसा निरुपम उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करुणा के कवि सियारामशरण का सम्पूर्ण जीवन रोगों के प्रति अनन्त संघर्ष का एक यातनामय इतिहास है : "फर्श पर एक ओर पुस्तकों की पंक्तिबद्ध सेना और दूसरी ओर चीन की दीवार की तरह शीशियों और डिब्बों के प्राचीर के बीच में कभी बैठे, कभी लेटे हुए भाई सियारामशरण जी का चित्र देना सहज नहीं है। उस चार फुट चौड़े और ६ फुट लम्बे आयतन में, जीवन और व्याधि के कितने ही संघर्ष होते हैं, कितने ही हर्ष-विषाद के क्षण आते-जाते हैं, कितने ही एकान्त और कोलाहल बनते-मिटते हैं और कितने ही तर्क और विश्वास के संगम होते रहते हैं।" (पृष्ठ ९४) उनके कृतित्व का सार-गर्भित परिचय एक पंक्ति में देखिये : "उनका साहित्य पंक का कमल न होकर उनके दुग्धोज्ज्वल चरित्र का स्वच्छ परिचय है।" और यही बात हम महादेवी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में कह सकते हैं। 'पथ के साथी' के मार्मिक तूलिका-चित्र भी इन शब्द-चित्रों से कम महत्व के नहीं हैं। ऐसी कला-स्नात एवं विमल संस्मरण-सृष्टि, हिन्दी साहित्य के एक गौरवपूर्ण अध्याय की आधारशिला रखेगी, इसमें मुझे किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसिक बिहारी

रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी : एक विवेचन

प्रत्येक साहित्यकार का अपना एक जीवन-दर्शन होता है। जगत और जीवन के सम्बन्ध में उसकी अनुभूति और धारणा धीरे-धीरे उसके मन में इस दर्शन को गढ़ती है। फिर साहित्यकार का अपना एक दृष्टिकोण बनता है। अपनी सृष्टि में वह इसी जीवन-दर्शन के आधार पर सब-कुछ का मूल्यांकन करता है। रवीन्द्रनाथ में यह बात हम विशेष रूप से पाते हैं। और रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन की जितनी सुन्दर अभिव्यंजना उनकी कहानियों के नारी-चरित्रों में हुई है इतनी उनकी किसी अन्य साहित्यिक विधा में नहीं हुई है। इस दृष्टि से उनकी तुलना कुछ हद तक डी० एच० लॉरेन्स से की जा सकती है। लॉरेन्स के जीवन-दर्शन की अभिव्यंजना भी उनके नारी-चरित्रों में ही विशेषरूप से हुई है।

रवीन्द्रनाथ ने अपने परिणत जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के द्विविध रूप का प्रत्यक्षीकरण किया है। इनमें एक वर्ग प्रधानतः माँ का है, और दूसरा प्रिया का :

'एक जनो उर्वशी, सुन्दरी,
विश्वेर कामना राज्ये रानी,
स्वर्गेर अप्सरी,
अन्यजना लक्ष्मी से कल्याणी,
विश्वेर जननी तारे जानि,
स्वर्गेर ईश्वरी।'

—'दूई नारी' (बलाका)

सामान्यतः सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य इन दो प्रकार की नारी-सत्ताओं की कल्पना से ओत-प्रोत है। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी मुख्यतया इन्हीं दो रूपों में अपनी सारी भलाई और बुराई को लेकर हमारे सामने उपस्थित होती हैं। वे कभी हँसती-रोती हैं, कभी प्यार-डाह करती हैं, या नीचता-स्वार्थपरता और महानता-उदारता के भावों का प्रदर्शन करती हैं। उन्हें हम दो परस्पर विरोधी लहरों पर उतरते-डूबते देखते हैं। उनके हृदय-समुद्र में चलते हुए तूफान को भी हम देखते हैं।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में विशेष रूप से नारी की यही द्वैतसत्ता प्रकट हुई है, तो भी उनकी कहानियों का अगर विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो नारी के चार रूप हमारे सामने आते हैं। वे हैं :

(क) संसार, समाज और व्यक्तिविशेष की वेदी पर आत्म-विसर्जिता नारी का रूप—नारी विरोधी शक्ति के सामने नत-मस्तक होकर अधीनता, हार और अवमानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार कर लेती है। यदि उसने प्रतिवाद किया है तो वह मुखर नहीं नीरव होता है। उसकी मृत्यु ही जैसे यह प्रतिवाद होता है।

(ख) मर्यादा में सुप्रतिष्ठित और उग्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य से प्रकाशित नारी का रूप—नारी कुसंस्कार और पराधीनता के खिलाफ बगावत करती है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री-स्वतन्त्रता की जो लहर संसार के उन्नत देशों में प्रवाहित हुई थी नारी का यह रूप उससे प्रभावित प्रतीत होता है।

(ग) नारी का माधुर्यमय कल्याणी रूप, और

(घ) नारी का स्वार्थ-संकुल और कामना-कुटिल दानवी रूप।

पहले प्रकार के नारी-चरित्र की मिसाल हैं 'देना-पावना', 'कंकाल', 'महामाया', 'हैमन्ती', 'शास्ति' और 'प्रगति-संहार' आदि कहानियों की नायिकायें। इन कहानियों की नायिकाओं का जीवन 'ट्रेजेडी' से भरपूर है। किसी भी स्त्री का कोई कसूर नहीं है। लेकिन फिर भी वे अपने जीवन की सार्थकता का रसास्वादन करने से पहले ही समाज के निष्ठुर आघात और अत्याचार द्वारा असमय ही कुचल दी जाती हैं। वे सब चुपचाप तरह-तरह के अवांछित अत्याचार सहती हैं। अन्त में मृत्यु को भी। थोड़ा भी प्रतिवाद नहीं करतीं। यह नीरवता ही जैसे उनका प्रतिवाद है। तभी हम 'देना-पावना' में निरुपमा की बेबस खामोशी के साथ ससुराल के लोगों के बेहिसाब ताने और दुर्व्यवहार को सहते हुए पाते हैं। हालाँकि उसका कोई कसूर नहीं है। शादी के समय निरुपमा के पिता कन्या-धन की पूरी रकम अदा नहीं कर पाये थे। अन्त में जब वे सब तरह से तबाह होकर अपने मकान को बेचकर बाकी रुपया अदा करने आये तब निरुपमा ने वह रुपया नहीं देने दिया। ससुराल वालों ने जब यह बात सुनी तो उस पर जुल्म की मिकदार और बढ़ गई। अनेक आघात और अपमान का बोझा ढोते हुए चुपचाप आतमनिग्रह के पथ का अनुसरण करके वह मृत्यु की शीतल और शान्तिमयी गोद का आश्रय ढूंढ़ने लगी। निरुपमा मर गई।

दूसरी कहानी 'कंकाल' की नायिका रूपवती और 'सेल्फ-काम्प्लेसेन्ट' आतम-प्रेम-मुग्धा है। बहुत कम उमर में विधवा हो गई है। यौवन में उसने अपने बड़े भाई के मित्र शशिशेखर से प्यार किया। शशिशेखर भी उसे चाहता है। लेकिन उनके मिलन में सामाजिक विधि-निषेध ने एक दुर्लंघ्य बाधा की सृष्टि की। वह विधवा थी। इस विधि-निषेध के दायरे से निकलकर वह एक बार भी शशिशेखर को अपने मन की बात नहीं कह सकी। सामाजिक संस्कार के सामने उसने अपना सिर झुका दिया। अन्त में उसने कायरों की तरह चोरी से शशिशेखर को ज़हर दिया, और खुद भी ज़हर खाकर मर गई।

इस कोटि की तीसरी कहानी में महामाया अपने प्रेमास्पद राजीव से यह वायदा करके कि वह उसके पास आएगी, अपने स्वाभाविक स्वरूप में उसके पास नहीं आती। एक अवगुंठन के अन्तराल में अपने प्रकृत रूप को छिपाकर एक रहस्यात्मक ढंग से राजीव के पास आती है। इस महामाया को राजीव नहीं जानता। उसके इस रूप की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। महामाया की यह दुर्दशा हुई है सामाजिक अंधविश्वास को बिना प्रतिवाद किये मान लेने के कारण। राजीव के पास आने से पहले ही सामाजिक कुप्रथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के खड्ग-घात से उसकी आत्मा की मृत्यु हो जाती है। केवल एक चलता-फिरता शव ही राजीव के पास आता है।

"हेमन्ती" की नायिका हेम की स्थिति भी बहुत कुछ 'देना-पावना' की निरुपमा की तरह है। वह सब समझती है, सब जानती है। सत्य के सहारे ही जीना वह चाहती है। पर समाज उसे वह मौका नहीं देता। ससुराल के जुल्म के खिलाफ सिर उठाकर अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का चारित्रिक बल उसमें नहीं है। यह भीरुता ही अन्त में उसका काल बनती है। मृत्यु में ही उसके जीवन का स्वाभाविक पर्यवसान होता है।

पाँचवीं कहानी की नायिका चन्दरा पूरी तरह निरपराध होने पर भी समाज के अन्धे न्याय से खूनी साबित होती है। वह एक बार भी इसके विरोध में सवाक् प्रतिवाद बिना किए फाँसी की रस्सी अपने गले में पहन लेती है। उसका प्रतिवाद नीरव घृणा के माध्यम से हुआ है। चन्दरा की यह घृणा है अपने पति के प्रति, समाज के प्रति। लेकिन यह घृणा बाहर नहीं प्रकट होती। अन्त में पूरा समाज ही जहर की तरह कड़वा हो जाता है उसके लिए। फिर भी समाज को त्याग कर जीने की कल्पना नहीं कर सकती वह। यही चन्दरा के चरित्र की दुर्बलता है। इसीलिए वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करती है और बिना किसी हिचक के अपने ऊपर आरोपित झूठे इल्ज़ाम को मान लेती है।

इस पर्याय की आखिरी कहानी, 'प्रगति-संहार' (जो रवीन्द्रनाथ की अन्तिम कहानी है) की नायिका सुरीति अपने प्रेमी नीहार पर सब-कुछ निछावर कर देती है। पर नीहार की सर्वग्रासी लोलुपता में उसके आत्म-विलयन का कोई भी तर्कसंगत कारण हम नहीं ढूँढ़ पाते।

दूसरी तरह के नारी रूप का स्पष्ट चित्रण हुआ है, 'दीदी' 'मानभंजन', 'स्त्रीर-पत्र', 'पयला नम्बर', 'बदनाम' आदि कहानियों में। इन कहानियों के नारी-चरित्र पहली कोटि के नारी-चरित्रों के मुकाबले में बहुत ज्यादा स्वतंत्र और प्रबल हैं। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए, प्राप्य वस्तु की उपलब्धि के लिए ये स्त्रियाँ अन्याय, झूठ और अन्ध-विश्वास के विरोध में सवाक् प्रतिवाद करती हैं। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए ये संसार, समाज, अपने-पराये—किसी की परवाह नहीं करतीं। सब-कुछ तहस-नहस कर देने को हमेशा तैयार रहती हैं। ये नारी-पात्र अपने व्यक्तित्व को सर्वोच्च आसन पर स्थापित करना चाहती हैं। उसकी अप्रतिष्ठा उन्हें किसी भी हालत में मान्य नहीं है। इस व्यक्तित्व-स्थापना की आकांक्षा के सामने सब-कुछ तुच्छ है—मृत्यु भी।

'दीदी' कहानी की नायिका शशिकला के चरित्र में हमें भाई के प्यार के सन्दर्भ में उसके सुस्थिर व्यक्तित्व और सत्यनिष्ठा का परिचय मिलता है। इसलिए वह भारतीय नारी की तथाकथित पति-भक्ति का परिहार करके मजिस्ट्रेट के पास पति के विरुद्ध अभियोग लेकर उपस्थित होती है और भाई की रक्षा की आतुर कंठ से प्रार्थना करती है। पति के क्रोध और प्रतिहिंसा से तनिक भी नहीं डरती। अन्त में उसकी मृत्यु हो जाने पर भी उसका नारीत्व और व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है।

दूसरी कहानी में गिरिबाला पति द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होकर सचेतन हो उठती है। अपना मूल्य समझकर अपने व्यक्ति की प्रतिष्ठा में सचेष्ट हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिबाला की सार्थकता के मूल में है उसका दृढ़ चरित्र—तेजस्वी व्यक्तित्व। पति उसका निरादर करता है, उसे नहीं चाहता, इसलिए वह अभिमानवश चन्दरा—'शास्ति' की नायिका की तरह मरना नहीं चाहती। बल्कि ज़िद करके, आत्मविश्वास का सहारा लेकर सीधे खड़े होने की कोशिश करती है; और आखिर में कामयाब भी होती है।

'स्त्रीर पत्र' में मृणाल अपने एकरस गार्हस्थ्य जीवन के पिंजरे से आजिज़ आकर अपने वधुत्व को ही केवल अस्वीकार नहीं करती, मुक्ति की घोषणा करती है। नारी के लौह-कठोर व्यक्तित्व का स्फुरण हुआ है इस चरित्र में। मृणाल किसी भी तरह चुपचाप ज़ुल्म सहने के लिए राजी नहीं। स्त्री-जाति पर समाज द्वारा आरोपित पाषाण-भार को अपने तीव्र व्यक्तित्व के प्रबल आघात से फेंककर चकनाचूर कर देना चाहती है। मुक्ति के आलोक-स्वप्न ने मृणाल के मन-प्राण को चंचल बना दिया है।

'पयला नम्बर' की अनिला अपने नारीत्व की मर्यादा को बनाये रखने के लिए समाज और पति—दोनों को त्याग देती है। अनिला के गृह-त्याग का कारण उसकी प्रबल मुक्ति-कामना है। वह मुक्ति चाहती है संकीर्णता से, हीनता से।

'बदनाम' शीर्षक कहानी में सौदामिनी ने नारी के सम्बन्ध में प्रचलित सतीत्व की धारणा के मूल में कुठाराघात किया है। एक तरफ तो वह पति की सेवा करती है जी जान से, दूसरी तरफ उसे धोखा भी देती है। वह व्यक्तिगत भावनाओं से अधिक महत्त्व मुल्क की आज़ादी को देती है। हुब्बेवतनी का जज़्बा ही उसके व्यक्तित्व में एक निखार ला देता है। इस श्रेणी के स्त्री-पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी चरित्रगत बलिष्ठता। ये ही गौरव के साथ कह सकती हैं—

आमी नारी, आमी महीयसी,
आमार सुरे सुर बँधे ज्योत्सना-वीणाय निद्राविहीन शशि।
आमी नइले मिथ्या हतो सन्ध्या तारा उठा,
मिथ्या हतो कानने फूल फोटा।'

—'मुक्ति'—'पलातका'।

नारी के माधुर्यमण्डित कोमल और कल्याणी-रूप के प्रसंग में 'मेघ ओ रौद्र' की गिरिबाला, 'समाप्ति' की मृण्मयी, 'ताराप्रसन्नेर कीर्ति' की दाक्षायणी और 'रविवार' की विभा की याद आती है। ये सब की सब नम्र, मधुरभाषिणी, धीर, शान्त और संयत हैं। गिरिबाला अपने हृदय की समस्त माधुरी का अर्घ्य सजाकर जेल से लौटे शशिभूषण का स्वागत करती है। मृण्मयी भी अपने नवोन्मेषित मधुर प्रेम से अपूर्व को निवेदन करती है। तीसरी कहानी में यद्यपि दाक्षायणी मर जाती है, तो भी पति के प्रति उसके अकृत्रिम अनुराग का सलज्ज-मधुर-कल्याणमय चित्र हमेशा के लिए हमारे मन में घर कर जाता है। और 'रविवार' की नायिका विभा की शान्त, संयत, प्रेममयी मूर्ति ही अमीक को आत्म-प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा देती है।

चौथी श्रेणी के नारी रूप के दृष्टान्त स्वरूप मणिमाला ('मणिहारा'), किरणलेखा (हालदार गोष्ठी), कलिका (संस्कार) अमिया (नामंज़ूर कहानी) आदि नाम उल्लेखनीय हैं। नारी-चरित्र के तमसावृत अंश का दिग्दर्शन कराया गया है इनके माध्यम से। इनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से हर एक अपने हीन-कुटिल स्वार्थ की पूर्ति में ही रमी हुई है। यह स्वार्थसिद्धि ही उनके जीवन की एक मात्र काम्य वस्तु है। मणिमाला पति के प्रेम को नहीं समझती, सिर्फ गहना समझती है। गहनों का स्पर्श उसे अच्छा लगता है। अपनी पेटी में बड़े करीने से सजाकर के रखती है उन्हें। उसके लिए प्रेम अर्थहीन है, आभूषण ही सब कुछ है।

किरणलेखा में किसी महत्व की बात को समझने की लियाकत नहीं है। अपने संकीर्ण मन के कारण कुलीनता का झूठा चेहरा पहने बैठा रहना पसन्द करती है। दूसरों की तकलीफ में हमदर्दी जाहिर करना वह नहीं जानती। इसीलिए अपने पति के नेक काम में किसी तरह की दिलचस्पी तो उसे है ही नहीं, उलटे उसमें अड़ंगा लगाया करती है। बड़ी 'टिपिकल' औरत है। कलिका बड़ी-बड़ी बातें करने वाली है। देश सेवा, समाजसुधार और अछूतोद्धार सम्बन्धी सभा सोसाइटियों में जाती है। पर उसका मन उदात्त भावों से बिल्कुल अछूता है। अन्त्यजों से वह घृणा करती है। असल में उसका संकुचित मन ही आफत की जड़ है जो किसी भी प्रगतिशील विचार को ग्रहण नहीं कर सकता। और अमिया भी बहुत कुछ ऐसीः ही है। अपने स्वार्थ के लिए देश-प्रेम की बात करती है। पर उसके मुँह की बात मन की बात नहीं होती।

उल्लिखित चरित्र-विश्लेषण में रवीन्द्रनाथ की कहानियों में चित्रित चार प्रकार के नारी-चरित्रों का परिचय मिलता है। लेकिन इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें कुछ विचित्र प्रकार के नारी-चरित्रों की भी मिसाल मिलती है। जैसे 'लेबोरेटरी' नामक कहानी की सोहिनी। डॉक्टर श्रीकुमार बन्दोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा' में सोहिनी के विषय में लिखा है—'सोहिनी भविष्य की नारी का एक अस्पष्ट रेखा-चित्र है, जिसमें उसका चेहरा साफ-साफ नहीं उभर पाया है।'

लेकिन सोहिनी किसी 'टाइप' का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह पूर्णतया एक विच्छिन्न और स्वतन्त्र चरित्र है। वह एक वृन्तहीन पुष्प की तरह है जो अपने आप विकसित हो उठा है। न वह जाया है न जननी। प्रचलित अर्थ में उसे एक सती-साध्वी नारी भी नहीं कहा जा सकता। सोहिनी एक बेजोड़ मिसाल है। रवीन्द्रनाथ के किसी अन्य नारी-चरित्र से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उसके व्यक्तित्व में जो चमक है वह उसे दूसरे चरित्रों से बिल्कुल अलग कर देती है। सोहिनी बंगरमणी नहीं है। उसका अपना कोई भी समाज नहीं है। वह 'आइडियेलिस्टिक रियेलिस्ट' है। रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों में सोहिनी का चरित्र विच्छिन्नता 'एक्सक्लूसिवनैस' का एक उपयुक्त उदाहरण है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण तथा विचार किया है। दुनिया में न कुछ बिल्कुल अच्छा होता है न बिल्कुल बुरा। अच्छे-बुरे के मेल से ही दुनिया बनी है। रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र की सृष्टि किसी एक पूर्व-निश्चित धारणा के सहारे नहीं की है। अनुभूति-लब्ध जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के जिन विभिन्न रूपों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव था, उनको ही अपनाया है उन्होंने। और फिर वे प्रकट हुई हैं रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों और नाटकों में। उनकी कहानियों में नारी की सृष्टि उनकी वास्तव अनुभूति के आधार पर हुई है इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनकी अपनी उक्ति है: 'मैं कहूँगा, मेरी कहानियों में वास्तव का अभाव कभी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। (मैंने) जो कुछ लिखा है खुद देखा है, अन्तर में अनुभव किया है, वह मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति है।'[1] गल्पकार रवीन्द्रनाथ द्वारा सृजित सब प्रकार के नारी-चरित्रों में पारिवारिक सम्पर्क-निरपेक्ष नारी के रूपांकण और उसके वैयक्तिक चित्त के उद्बोधन में उनका कृतित्व सर्वाधिक है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें आदर्श नारी की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती फिर भी उसका इंगित जरूर मिलता है। विभा (रविवार) में और नवयौवना मृण्मयी (समाप्ति) में। उनकी दृष्टि में आदर्श नारी सम्भवतः वही है जिसमें प्रकाश-अन्धकार एक साथ सम्मिश्रित हुआ है—जिसमें तेजस्विता के साथ माधुर्य का भी सायुज्य है।[2]

ना० रामसुब्रमण्यन्

राष्ट्र-कवि सुब्रमण्य भारति

भारतीय राष्ट्र-कवियों में, मद्रास के श्री सुब्रमण्य भारति का ऊँचा स्थान है। यद्यपि, आज के राजनीतिज्ञ, एवं जनसाधारण भारतीय एकता के बारे में, धूम-धाम से रंगमंचों में आवेगपूर्ण शब्दों से चिल्लाते रहते हैं, आज से तैंतालिस वर्ष पहले, दक्षिण में एक साधारण धोती पहने हुए एक कवि के, ओज पूर्ण, स्नेहमय, भावपूर्ण शब्दों की धारावली की ओर यदि मुड़कर देखें, तो पता चलेगा कि अंग्रेज़ शासन के बीच में एक सिंह गरज रहा था। भक्ति से लेकर राष्ट्रीयता विषयों तक वह घनघोर बादल अंग्रेज़ी साम्राज को चेतावनी देते हुए, कविता की वर्षा कर रहा था। ये कविताएँ न तो अटपटी भाषा में थीं, न पुराने साहित्य से नकल की गई थीं। ये कविताएँ आत्मा को भाव-विभोर करते हुए सारे मनुष्यों के शरीर में कम्पन पैदा करती थीं। आनन्द, धैर्य, वीरता, एवं माधुर्य की भावनाओं को जगाने में ऐसी शक्ति शायद ही अन्यत्र थी। यह कविता प्रवाह केवल बीस-पच्चीस साल के एक युवक के वागिन्द्रियों से उत्पन्न होता था। वह था श्री सुब्रमण्य भारति।

सन् अठारह सौ बयासी में मद्रास के एट्टयपुरम् नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पिता श्री चिन्नस्वामी अय्यर थे। माता थीं, श्रीमति लक्ष्मी अम्माल्। भारति

---

१. रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १४ (ग्रन्थ परिचय, पश्चिम बंग सरकार द्वारा प्रकाशित संस्करण)
२. संदर्भ-ग्रन्थों की सूची (मूल बंगला में)
   १. रवीन्द्रनाथ : गल्प गुच्छ (४ खण्ड)
   २. प्रमथनाथ बिशी : रवीन्द्रनाथेर छोट गल्प
   ३. श्रीकुमार बन्दोपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा
   ४. पुलिनविहारी सेन (सम्पादित) : रवीन्द्रायन (२ खण्ड)
   ५. रवीन्द्रनाथ : संचयिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरुनेलवेली के हिन्दू कालेज में पाँचवीं कक्षा तक पढ़ा था। ग्यारहवें साल में एट्टयपुरम् के समस्थान विद्वानों ने इनको 'भारति' की उपाधि दे दी।

सन् १८९७ में कुमारि चेल्लाम्माल से इनकी शादी हुई। १८९८ में पिताजी स्वर्गवास हुए। उसी साल इन्होंने काशी पहुँचकर, चार साल तक संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं को सीख लिया। उसके बाद मदुराई की 'विवेक भानु' नामक पत्रिका में इन की पहली कविता छपी थी। मदुराई में सेदुपति हाईस्कूल में कुछ समय तामिल पढ़ाते थे।

सन् १९०८ में जब वे 'इण्डिया' दैनिक में काम करते थे, तब राज्य की ओर से उन्हें कैद करने की आज्ञा हुई। वे मद्रास छोड़कर, पुतुच्चेरी (आज का पाण्डिचेरी) पहुँच गये जो फ्रेंच शासन के अधीन था। उसके बाद कई जगह घूमते रहे। आखिर मद्रास में १९२१ में इन का देहावसान हो गया।

तामिल साहित्य में भारति ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। समाज की विभिन्न स्थितियों को गौर से देखकर जनसाधारण के लिए ही इन्होंने कविताएँ लिखीं। ये कविताएँ इतनी सरल एवं प्रवाहमयी थीं कि हर एक बच्चा आसानी से दुहरा सकता था। इनकी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं :—

१. राष्ट्र सम्बन्धी—५३ कविताओं में इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को देख सकते हैं। भारत के जन समाज की दयनीय स्थिति, भारत माँ को स्वतन्त्र रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, राष्ट्रीय झंडा, भारत समाज, स्वतन्त्रता की महिमा, इत्यादि। शिवाजी, गोखले, तिलक, लाजपत राय, दादाभाई नौरोजी, चितम्बरनाथ, गुरु गोविन्द, आदि कई राष्ट्रीय पुरुषों के बारे में सरल सुबोध एवं ओजपूर्ण, लेकिन जनरंजक गीत गाए। "भारत का समाज एक है, तीस करोड़ आतमाओं का संघ है, वह महान है, इनमें किसी एक को रोटी न मिली तो, सारे जगत को जला देंगे।" इन शब्दों में कितनी महान योजनाओं की भावनाएँ तरंगित होती हैं। "एक ही समाज" की कल्पना, उन्होंने पहले ही कर डाली। आज उसकी प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। इन सारी कविताओं में वह शक्ति है, जो फ्रांस में, रूसो, वालटेर के शब्दों में थी। इतना ही नहीं भविष्यवाणी के रूप में भी एक कविता रची है। वह है 'आडुओं मे पल्लु पाडुओ मे' इसमें कहते हैं," आनन्द स्वतन्त्रता मिल गई, इसलिए, नाचेंगे, गाएँगे। खेतीबाड़ी और उद्योगों की वन्दना करेंगे। इस भूमि में हम किसी के दास नहीं हैं, आदि। सन् १९४७ में हमें जो स्वतन्त्रता मिली, इस की कल्पना, सन् १९२१ में ही हो गई थी। इसके साथ ही, "नया रूस" नामक कविता में 'ज़ार' कैसे मारा गया, 'वहाँ' विद्रोह कैसे हुआ आदि का वर्णन है। अतः ज़ार के अत्याचारों का सांगोपांग वर्णन है। इसके द्वारा अंग्रेज़ों को चेतावनी देते हैं। इस प्रकार सारी कविताएँ वास्तविकता का एक जीता जागता चित्र हैं। अतः निश्चय ही राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने की इनमें अवर्णनीय शक्ति थी। "स्वर्ण-राशि-भारत, हमारा राज है," इत्यादि इसका उदाहरण हैं।

२. भक्ति सम्बन्धी कविताएँ—एक नये युग के कवि होने पर भी सुब्रमण्यम भारति भारतीय परम्परा की भक्ति को खुले दिल से प्रोत्साहन देना चाहते हैं। अतः विनायक, कार्तिकेय, शिव-शक्ति, महाशक्ति, महाकाली, श्री कृष्ण, आदि कई देवताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की महिमा का यशोगान करते हैं। कृष्ण के साथ उनका अपार प्रेम था। नन्दलाल का जन्म, उनकी मुरली, उनके पैर का सौन्दर्य आदि के बारे में भक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राधा का प्यार, प्रेमी-प्रेमिका की रीतियों पर प्रकाश डालता है। ईसा, अल्ला, सूरज, चाँद और न जाने कितने ही देवताओं का उन्होंने आत्मीयता के साथ समान रूप से वर्णन किया है।

उनका विशाल हृदय सबकी ओर आकृष्ट हुआ है। भक्ति सम्बन्धी गीतों में, प्रार्थना, प्रेम आदि के साथ-साथ, राष्ट्र-भावना का भी संयोग हुआ है।

३. वेदान्त सम्बन्धी कविताएँ—आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में भारति की भावनाएँ पक्की थीं। वे यमराज को भी धमकी देते हैं। सिर पर आसमान टूटकर गिरने पर भी डर नहीं है। माया को फटकारते हैं, बुद्धि को ईश्वर मानते हैं। मन को वश में रखना, दूसरों को प्यार करना, विरोधियों को भी करुणा से देखना आदि भावनाओं को कई अमूल्य कविताओं में भर लिया है। उनका विचार है, कि भगवान मनुष्य में बुद्धि बन कर रहते हैं। अतः बुद्धि की अवहेलना, परमात्मा की अवहेलना है।

४. स्त्री सम्बन्धी कविताएँ—वे भारतीय नारियों को रसोई घर में मरते हुए नहीं देख सकते थे। भारतीय महिलाएँ ताली बजाते हुए गाती हैं कि पुस्तकों को स्त्रियों द्वारा छूना, पाप समझने वाले, मर गए। घर में स्त्रियों को बन्द रखने वाले विचित्र मनुष्य आज सिर नीचा करते हुए जा रहे हैं। हम तालियाँ बजाकर गाएँगी। इन्होंने नारियों का पुनरुद्धार, उनकी शिक्षा, उनकी उन्नति के बारे में कई कविताएँ रची हैं।

बच्चों को भी इन्होंने नहीं छोड़ा। "हे बच्चो, दौड़कर खेलो। शान्ति से मत बैठो। सबसे मिलकर खेलो। किसी भी बच्चे को दुःख मत दो। मुर्गी, कौआ, गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी आदि सब तुम्हारे ही मित्र हैं। उनसे प्यार करो। सुबह पढ़ो, फिर गीत गाओ। शाम को खेलो। यही तुम्हारी आदत होनी चाहिए। झूठ मत बोलो। ईश्वर हमारे साथी हैं। अतः कोई दुःख नहीं होगा।" ये उपदेश हैं, लेकिन साथ ही नन्हें-नन्हें मुन्नों को वशीभूत करने वाले गीत हैं। गेय पद हैं, फिर भी एक झनझनाहट है। पूरी-पूरी मिठाइयाँ हैं।

५. प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ—प्रकृति और भारति में एक अपूर्व सम्बन्ध था। सुबह, शाम, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वर्षा, अग्नि, धूमकेतु, अन्धेरा और रोशनी, शब्द कविता-नायिका, कविता-प्रेमिका, मधु आदि कई प्राकृतिक विषयों पर इन्होंने, कविता रची हैं। इनमें सरलता, एवं माधुर्य है। भाव पूर्ण हैं, और मनोरंजक भी हैं।

६. आत्म-कहानी—अपने बचपन, अंग्रेज़ी शिक्षा, शादी, पिता की गरीबी, पैसे की महिमा, आदि पर भी इनकी वाणी का स्पर्श है। साथ ही, मरण पर विजय, कोप की कहानी, शान्ति की महिमा, प्रेमिका की श्रेष्ठता, स्वतन्त्रता से प्रेम, सर्व धर्मों की समानता आदि पर भी रसीली कविताएँ रची हैं।

७. कृष्ण सम्बन्धी गीत—कृष्ण मेरा मित्र है, मेरी माँ है, मेरा पिता है, मेरा सेवक है, मेरा राजा है, मेरा शिष्य है, मेरा सतगुरु है, मेरा बच्चा है, मेरा प्रेमी है, कृष्ण की खोज, दूत भेजना, विमुक्त होने पर दुख प्रकट करना, कृष्ण मेरा कुलदेवता है, आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्‌भावों से कृष्ण के साथ अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हैं वे। यह ऐसा है, मानो सूरदास ही ने दक्षिण में जन्म लेकर और एक बार नन्दलाल को गीतों से सजाया है। देखिए : "कृष्ण खेलों का बच्चा है, गली की लड़कियों के लिए हमेशा का दर्द है, खाने के लिए फल लाएगा, हमारे खाते समय झपट कर छीन लेगा। मेरे नन्दलाल, हे दुलारे, मेरे नाथ, आदि कहने पर उस को झूठा करके, आधा काटकर, दे देगा, वेणी को पीछे से खींचेगा। पकड़ने के पहले ही गायब हो जाएगा। नई साड़ी पर धूल फेंक देगा। मुरली बजाएगा। अमृत की वर्षा करेगा।" भक्ति, प्रेम-युक्त गालियाँ, वेदान्त, जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी विचार आदि सब इनमें देखने को मिलते हैं।

८. पांचाली शपथ—"भारत" की कहानी एक अमूल्य अक्षय भंडार है। भारति ने भी इसका उपयोग किया है। पांचाली शपथ इसका उदाहरण है। यह ब्रह्म स्तुति से आरम्भ होता है। पांडवों का वैभव देखकर ईर्ष्या के वशीभूत दुर्योधन की जलन, शकुनी से सलाह लेना, जुआ खेलना आदि का वर्णन है। अन्त में, पांचाली की शपथ का वर्णन है। चार सर्गों में सरल शैली में प्रवाहमयी भाषा में इसकी रचना हुई है।

९. कोयल के गीत—एक कोयल, उसकी प्रेम कहानी, प्रेम ही प्रेम, कोयल और बन्दर, अँधेरा और प्रकाश, कोयल और बैल, चौथा दिवस, कोयल का पूर्व-जन्म आदि शीर्षकों में कोयल की कहानी की रचना हुई है।

इन कविताओं में प्रेम, प्रेम से वंचित होना, प्रेमी को ढूँढ़ कर दुनिया की सैर करना आदि विचारों के साथ-साथ, वेदान्त विचारों का परिपाक हुआ है। जैसा ही भारति ने स्वयं ही कहा है, कि हे, पंडितगण, शाम के नशे में मन में हुई कल्पना ही है, फिर भी यदि वेदान्त की दृष्टि से कुछ अर्थ निकाल सकते हैं, तो मुझे भी ज़रा बता दीजिए।

कविताओं के अलावा, लेख आदि भी लिखे हैं।

राष्ट्र-कवि और युग-प्रवर्तक—ऊपर जो लिखा जा चुका है, उनसे स्पष्ट है, कि आज के छायावाद, रहस्यवाद, आदि कई नवीन दृष्टिकोणों का परिपाक इनमें हुआ है। युग-प्रवर्तक के रूप में इन्होंने, हर गीत में युग का संदेश दिया है। इनसे सामाजिक उन्नति, जाति-पांति निषेध, उद्योगों की आवश्यकता स्त्रियों की स्थिति में सुधार, स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, आदि कई सन्देश हमें मिलते हैं। गांधीवाद की छाप स्पष्ट ही है। अतः सुब्रमण्य भारति को राष्ट्र-कवि कहने में भारत गौरव प्राप्त करता है।

सहायक ग्रन्थ सूची : १. भारतियार गीत—भारतीय प्रेस, मद्रास, १९६३।
२. तमिल इलक्किय यात्तिरै—लेखक, जे. पार्थ सारथी, मद्रास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रामनरेश मिश्र

मगही का नया साहित्य

मगही का नया साहित्य से मेरा अभिप्राय १५ अगस्त '४७ के बाद के मगही साहित्य से है।' ४७ ई० के पूर्व भी प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य मगही में पुष्कल मात्रा में विद्यमान है जिसकी अंशतः चर्चा हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास १६वें भाग एवं मगही संस्कार गीत प्रभृति पुस्तकों में हो चुकी है। फिर भी इतना सत्य है कि मगही-साहित्य भारतीय-स्वातन्त्र्य-सूर्य के दिव्य आलोक के साथ ही पुष्पित, पल्लवित एवं फलित तीव्र गति से हुआ है। तबसे अद्यावधि मगही का मनोहर मयंग अपनी पूर्व छटा के साथ शुभ्र-ज्योत्स्ना विकीर्ण करता हुआ बिहारकी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ समानान्तर गति से पदक्षेप में समर्थ हो रहा है। मगही के इसी नये साहित्य का परिचयात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

सर्व प्रथम मगही के पद्य-साहित्य को लें। इसे लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य में विभक्त किया जा सकता है। लोक-साहित्य गीतों में उपलब्ध है। लोक-साहित्य-सर्जकों में सर्वप्रथम श्रीधरप्रसाद मिश्र जी का नाम आता है। मिश्र जी संस्कृत-साहित्य के गम्भीर अध्येता एवं लोक जीवन के सच्चे पारखी हैं। अतः इनकी रचनाओं में दोनों का मणि-काञ्चनयोग है। इनकी बीसों पुस्तकें प्रकाशित हैं और विद्यापति के गीतों की भाँति जन-जन का कंठहार बनी हुई हैं। गिरिजा-गिरीश-चरित चरित-काव्यों में विशिष्ट स्थान रखता है। गांधी-बिरह-लहरी में महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धाभक्ति एवं राष्ट्रीयता से सराबोर भावुकता के दर्शन होते हैं। उमाशंकर विवाह संकीर्तन गीति-काव्य का अनुपम उदाहरण है। कवि ने संस्कृत-साहित्य का परिश्रमपूर्वक मंथन कर लोक-जीवन की कसौटी पर अपनी अनुभूति को शाणित कर काव्यों में उपस्थित किया है। 'तपहई कठिन तोरा तन सुकुमार गउरा कई से पयबड पार' आदि गीतों में कालिदास के कुमार-संभव के 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वयुः' की विस्तृत समाख्या है तो शिवपार्वती-संवाद में सामान्य पति-पत्नी के विवाद की मनोहर झलक भी। पार्वती ने शिव को कंगाल कह दिया तो शिव ने भी पार्वती को आड़े हाथों लिया। कहने लगे—

देख अयली गउरा तोहर नइहर के चाल, काहे कहह कंगाल।
कोदो के भात मिलल, फुरथी के दाल,
बथुआ के साग देखि, ठोकलूँ कपाल।
साग में न नून भेंटल, जियरा बेहाल,
तीन चार कवर खाके, थारी देली टाल।।

चन्द्रशेखर पाठक का 'पार्वती-विवाह' १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके गीत गीतिमयता के विचार से विभिन्न रागों एवं तालों में गेय हैं। पाठक जी लोकप्रियता के विचार से श्रीधर जी से बहुत ही पीछे हैं। पाठक जी की पार्वती केशों में क्रीम और सेन्ट लगाने वाली अप-टू-डेट किस्म की किशोरी है। तपस्या को जाती है तो अगरबत्ती, कपूर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीतल की थाली आदि लेकर ही। शिव जी यहाँ गेरुआ वस्त्रधारी ढोंगी साधू के रूप में ही पार्वती के परीक्षार्थ आते हैं, ब्रह्मचारी वेश में नहीं। बारात का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। अन्यत्र काल दोष एवं रसाभास के ही दर्शन होते हैं।

रामप्रसाद सिंह पुण्डरीक की कविताएँ संवत् २००७ में पुण्डरीक-रत्नमालिका के तृतीय खण्डों में प्रकाशित हुईं। इस खण्ड में मगही कविताएँ केवल १३ हैं। 'भारत-वसिया' में भारतवासियों को गांधीमार्गानुगमन के लिए प्रेरित किया गया है एवं ग्रामराज्य की स्थापना का सन्देश दिया गया है। 'स्त्री-कर्तव्य' और 'भारत-रमणी' कविताओं में नारी-जाति को सीता और अनसूया आदि के पवित्र पथ का अनुगमन कर देशोन्नति में हस्तान्तरण के लिए आह्वान है। गार्गी की ज्ञान-साधना का स्मरण कराकर कवि ने नारी की वर्तमान अशिक्षा पर अश्रुपात किया है। 'बारहमासा' में पं० नेहरू के त्याग, सेवा आदि की चर्चा है। 'छात्र-कर्त्तव्य' में छात्रों को अपने सद्गुण एवं अध्यवसाय पूर्ण जीवन द्वारा देशोद्धार के लिए आह्वान है। ये गीत विचार की दृष्टि से नवीन हैं पर श्रीधर जी का भावगांभीर्य यहाँ नहीं।

मगही के सिद्धहस्त कवि यागेशदत्त पाठक जी की ६ कविताएँ लोकगीत की श्रेणी में आती हैं। इनके गीतों में मगध-संस्कृति-दर्शन, मगह-माहात्म्य, मगह के प्राचीन इतिहास के मनोहर चित्र हैं। मगही की समुन्नति के लिए मगहवासियों को अग्रसर करने के लिए ललकार भी है। गांधी, बुद्ध आदि का मार्गानुसरण कर मानवता के त्राण हित पुकार भी है। 'भैया सुनलऽहमर एक गाना' में मगही की प्राचीन महिमा का संकेत है और मैथिली और भोजपुरी बन्धुओं की मगही के प्रति उपेक्षा को मिटाने का आग्रह भी है। 'भईया कविता कउन सुनाऊँ मगही बोली में' में मगही के साहित्यिक जागरण का सुन्दर चित्र है। 'मगहिया शब्द रहत का सिरिफ पान के ढोली में' जैसी पंक्तियों में हास्य और व्यंग्य भी है। 'भईया अपन गाँव के सब कोई सुलभ बनावई जा' में ग्रामराज्य की स्थापना का स्वर मुखरित है।

पं० अंशुमान शर्मा जी के १०-१२ गीत लोक गीतों की कोटि में हैं। भिखारी ठाकुर के बटोहिया के ढंग पर इन्होंने सजनियाँ लिखा है जो बटोहिया का सुन्दर जवाब तो है ही, पुरुष द्वारा पुरुषहृदय के प्रेम-विह्वल विविध चित्रों का सरस एवं मनोहर अंकन भी है। एक बानगी लें—

तू ही हमर कविता हें, तू ही हें फेहनिया से,
मन प्राण तू ही हें हमार गे सजनियाँ।
पतियाँ के छतिया में छने छने साटी साटी,
बिलखी तोहार सुधि साले गे सजनियाँ॥

मगही के नवोदित कवि रामनरेश प्र० वर्मा के पचीसों गीत लोकगीत की श्रेणी में हैं। इनकी कविता में देश की वर्त्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। कविता के मुख्य विषय हैं शृंगार और राष्ट्रीयता। सर्वत्र सहज भावुकता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय गीत चीनी आक्रमण, जापानी खेती, भ्रष्टाचार-उन्मूलनादि से सम्बन्धित हैं। शृंगारिक कविताओं में वसन्त, वर्षा एवं शरद्-ऋतु के सुन्दर सरस चित्र हैं। गीत अक्सर होली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैंता और कजरी लय में हैं। 'नेफा ललकारत हुई गोरी' में एक भारतीय का वीरत्व जाग पड़ा है और निम्नांकित पंक्तियों में धान रोपने वाली स्त्रियों का स्वाभाविक एवं सुन्दर चित्र है।

कादो तैयार गोरी घर से निकल चले, खेतवा रोपेला गुजरिया।
बरसे गगन होके मन में मगन, गोरी देवे किसनमा के गरिया।।

रामविलास 'रजकण' की 'वासन्ती' भी इसी १९६५ के वासन्तिक वातावरण में लोगों में नव वसन्त का नवोपहार लेकर उपस्थित हुई है। इसमें कुल ३५ गीत हैं। गीतों में शृंगारिक वातावरण के बीच भी राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित हुए हैं। जनमानस को उद्वेलित करने वाली राष्ट्रीय भावना कहीं तरंगित हुई है तो कहीं विद्यापति एवं जयदेव के गीतों के चित्रण एवं माधुर्य के भी दर्शन होते हैं। भाव गांभीर्य की दृष्टि से 'रजकण' जी स्वर्ण कण तथा मगही के प्रतिनिधि कवि सिद्ध हुए हैं।

'सुश्री अरुणमोहिनी मिश्र 'गिरिजा' के चैता गीत तथा हलधर कवि के मान्दर-गीत में भी वर्तमान महँगी, हरिजनों की दुरन्त समस्याओं एवं दुरवस्थाओं के कारुणिक चित्र विद्यमान हैं। कपिलदेव प्र० सिंह 'मुनि' की कविताओं में राष्ट्रीयता का नवल स्वर मुखरित हुआ है।

कुछ गीत ऐसे हैं जो अत्यन्त लोकप्रिय हैं पर कवि अज्ञात हैं। ये गीत खाद्य समस्या, अनावृष्टि तथा किसानों की वर्तमान दशा के चित्र उपस्थित करते हैं। बेटी का विवाह करने वाले किसान की असमर्थता की बानगी लें—

धनमा रोपि रोपि आशा हम कर हलिओ,
करेलागि कन्या के दान हो साजन, पानी बिना मरगेलई धान।।

कहीं-कहीं छायावादी चित्र भी—

बदरिया गावऽहई कजरिया झूम गगन के आँगना।
रात के समईया में, गगन के तलैया में,
खिलल फूल तरेगना के रंग बिरंगना।।

उच्चतर साहित्य से मेरा अभिप्राय उच्चकोटि के भावों से परिप्लावित रहस्य-वादी, प्रगतिवादी, राष्ट्रीयतावादी प्रगीत रचनाओं से है। मगही में प्रबन्ध काव्य का प्रायः अभाव है। १९६३ ई० में प्रकाशित पं० योगेशदत्त पाठक के खण्डकाव्य 'जरासंध' ने इस कलंक का परिमार्जन अवश्य किया है। पुराणों एवं महाभारत का गम्भीर मंथन कर कवि ने अपने काव्य में जरासंध को परम धार्मिक, अतिथि-सेवी, कर्त्तव्यपरायण वीर राजा के रूप में चित्रित किया है। जरासंध को विश्वविजेता एवं आदर्श महामानव सिद्ध किया है। मगध का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व 'पहिलका कि आरी' में द्रष्टव्य है तो अन्य किआरियों में मगध के राजनैतिक एवं धार्मिक गौरव का नये ढंग से निदर्शन है। सूक्तियों का यत्रतत्र सुन्दर संयोग है।

मगही की मुक्तक काव्य-परम्परा में श्रीकान्त शास्त्री, रुद्र, सदय, सरस, पं० अंशु-मान शर्मा, आचार्य हरगोविन्द शास्त्री, पं० योगेशदत्त पाठक, प्रो० रामप्रसाद सिंह, रामनरेश पाठक, रामनरेश प्र० वर्मा, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, हरिश्चन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियदर्शी, जयराम जी तथा रामवृक्ष वरिष्ठ के नाम आते हैं। श्रीकान्त शास्त्री जी की कविताओं में मानवीय तथा भौतिक प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं। इनकी कविता के विषय विभिन्न हैं। उनमें विविध रसों का परिपाक है पर श्रृंगार की प्रधानता है। 'एगोमस्त मगहिया' के छद्मनाम से इनके द्वारा किए गए अनुवाद भी अत्यन्त सरस तथा मूलभाव की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं। शास्त्री जी मगही के भारतेन्दु हैं। मगही की उन्नति एवं प्रसार में शास्त्री जी, प्रो० रामनन्दन एवं शिवनन्दन प्रसाद जी का अद्भुत अपूर्व योग रहा है। रुद्र जी के गीतों एवं अन्य कविताओं में देश की पीड़ित आत्मा की करुण पुकार है। सदय जी कवि हैं, गीतकार नहीं। इनकी कविता में सर्वत्र नवीन कल्पना के साथ देश की वर्तमान स्थिति की झलक प्राप्य है। 'आवऽकुछ तस्वीर देखईओ' कविताएँ देश के वर्तमान युवकों पर गहरा व्यंग्य है—

जे अप्पन बाजू के बल से, अचरज करदे छन में छल से।
दुनिया भर के नाच नचा दे, घिरल घटा में जोत जगा दे।
अईसन धरती कें पुत्तर के, कईसन हौ तकदीर देखईओ।।

सरस जी की कविता में रस का उद्दाम प्रवाह है। ग्राम्य प्रकृति एवं जनजीवन के विविध-चित्रों से इनकी कविता-कामिनी समलंकृत हुई है। हास्य एवं व्यंग्य से पूर्ण होने के कारण इनकी कविता जन-जन के कंठ का श्रृंगार बन चुकी है।

पं० अंशुमान शर्मा जी की कविताएँ विभिन्न विषयों की वीथि में चली हैं। 'हे शास्ता ! हे विश्वमान परल' 'हिन्द हम्मर हे' प्रभृति रचनाओं में राष्ट्रीयता पूर्ण भावुकता उमड़ पड़ी है। 'चमकत हे चाँद गगन देखऽ', 'तार लवली वीण के हम', 'मेघ गगन में जब घिर जाहे' आदि में रहस्यवादी भावुकता के दर्शन होते हैं। 'हिमहास घनो पीड़ा ई' में छायावाद का स्वर मुखरित है। 'जग में ई कईसन विषमताप', 'ले ली हम जग के नया पीर' आदि में कवि विश्व की पीड़ा से पीड़ित हो कराह उठा है। शर्मा जी मगही प्रगीत-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। 'हम्मरकाका', रबर छन्द का अन्यतम उदाहरण है जिसमें बूढ़े विवाहेच्छू विधुर पर करारा व्यंग्य है।

पं० यागेशदत्त पाठक के प्रगीतों में मगह, मगहिया से अतिशय प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना है। 'हम ही मगही मगहीन सदा' में विश्व को मगध की देन का अच्छा खुलासा है। 'मगहनिवासी' कविता में देश की अन्यक्षेत्रीय भाषाओं पर व्यंग्य तथा मगही की विशेषताओं का सुन्दर निदर्शन है। प्रो० रामप्रसाद सिंह की 'भोर' कविता में प्रातः का सरस चित्र है तो 'विरहिणी' में मानवीकरण की सुन्दर योजना। भाषा की स्वाभाविक सरसता, शुद्धता एवं भाव की सुबोधता में इनकी कविताएँ बेजोड़ हैं। रामनरेश प्र० वर्मा जी प्रकृति के सिद्धहस्त कवि हैं। 'आसीन के चन्द्रवा' में शरदऋतु एवं एक कृषक की भावुकता का मणिकाञ्चन योग है। रामनरेश पाठक, सू० ना० शर्मा आदि गीत के कवि हैं जिनमें कवित्व का प्रौढ़ रूप विद्यमान है। प्रियदर्शी की कविता में वियोग श्रृंगार के सुन्दर चित्र अंकित हैं। लोकप्रियता के विचार से जयराम जी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। किसी भी गोष्ठी का अनुरञ्जन एवं नियंत्रण कर सकने में इनकी सरस रचनाएँ पूर्ण समर्थ हैं। इनकी कविता के विषय कृषि, योजना, देहाती जीवन तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान सभ्यता है। श्रृंगार तथा हास्य का इनकी रचनाओं में विशेष परिपाक है। अपनी भी १०-१२ कविताएँ तथा ट्युशन पुराणम्, इलेक्शन पुराणम्, कार्डदूतम् नाम्नी लघु पुस्तिकाएँ हैं। नाम से ही विषयवस्तु स्पष्ट है। आलोचना तो सुधी पाठक ही करेंगे।

१९६२ में बि० रा० परिषद् ने 'मगही-संस्कार-गीत' प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के जन्म से मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारों के गीत संकलित हैं जो चिरकाल से लोकवाणी के श्रृंगार रहे हैं।

मगही में व्यंग्यगीत भी पुष्कल मात्रा में विद्यमान हैं। बकलोलदास 'गड़बड़िया', गदहरेंक जी, सोंसदास आदि की रचनाएँ बहुत उत्तम हुई हैं। अपने राम ने भी सोंटादास तथा व्यंग्यविनोदी मिश्र 'मगहिया' के छद्मनाम से कई पैरोडियाँ लिखी हैं।

मगही का पद्य-साहित्य जितना सम्पन्न है उतना गद्य-साहित्य नहीं। इधर ५-७ वर्षों से मगही लेखकों का ध्यान इस ओर गया है और व्यंग्य-स्केच, नाटक, एकांकी, टेलीफोनिक वार्ता, निबन्ध, शोधप्रबन्ध तथा उपन्यास धड़ाधड़ लिखे जा रहे हैं। गद्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में रचनाएँ एकदम नगण्य हैं। उपन्यास की मात्र ३ कृतियाँ प्रकाशित हैं। सू० ना० शर्मा का 'हलवाहा' किसानों की वर्त्तमान दशा का यथार्थ कारुणिक चित्र उपस्थित करता है। चक्रधर शर्मा का 'शाकल्य' और 'हायरे ऊ दिन' आ० द्विवेदी एवं डा० रा० राघव के औपन्यासिक कृतियों का स्मरण दिलाता है। 'शाकल्य' में महर्षि शाकल्य की जीवनी, उनका युग एवं उनकी देन की सुन्दर शोधपूर्ण चर्चा है। उनके दीप की संस्कृति का पर्याप्त मूल्यांकन है। 'हायरे ऊ दिन' में भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के गौरवमय चित्र एवं वैदिक-संस्कृति के क्रमिक पतन की कहानी है। शर्मा जी सांस्कृतिक उपन्यास के सिद्धहस्त कलाकार हैं।

नाटककारों में प्रो० रामनन्दन, डा० श्रीकान्त शास्त्री, प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह, श्री उदय, प्रो० शत्रुघ्न प्र० शर्मा, मुन्नी प्रसाद, श्री शम्भुनाथ जायसवाल प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्री जी के नाटकों में 'नया गाँव' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है। प्रो० रामनन्दन जी का 'कौमुदी महोत्सव' संस्कृत का अनुवाद है। 'खईनी' भी सफल अभिनेय रचना है। लेखक मगध की संस्कृति एवं समाजसुधार का बड़ा प्रेमी है। प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह जी का 'थारी परसाल हुई' वर्तमान दहेज-प्रथा पर सुन्दर व्यंग्य है और जायसवाल के 'चलनी दुसलक बढ़नी के' ध्वनि रुपक में 'परोपदेशे पाण्डित्यं' का सुन्दर चित्र है। श्री उदय की 'सेनुरादान', प्रो० शर्मा की 'गुरुदक्षिणा' श्री मुन्नी प्रसाद जी की 'कुबेर के भण्डार', और 'ओकील के परवाना तक' श्रेष्ठ अभिनेय रचनाएँ हैं। 'मगरू महतो' नाम से अपने भी कई प्रहसन हैं।

नवोदित कलाकारों में रामवृक्ष वरिष्ठ, सुग्रीव प्रसाद, गजानन मिश्र, निजामुद्दीन अंसारी, जितेन्द्र यादव, एवं वसन्तराम के नाम उल्लेख्य हैं। जिनकी क्रमशः 'नेफा के मोरचा', 'नकलोल-बकलोल-युद्ध', 'मुखदीपमिलन', 'बड़े मियाँ', 'कंचनवन के शेर' तथा 'चन्दामामा' सफल अभिनेय रचनाएँ हैं। वरिष्ठ के 'नेफा के मोरचा' को छोड़कर शेष एकांकी बालोपयोगी हैं। 'नेफा के मोरचा' में चीनी आक्रमण की भारतीय बालकों एवं युवकों पर प्रतिक्रिया एवं राष्ट्रीयता-संचार का सुन्दर चित्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानीकारों में राधाकृष्ण, तारकेश्वर भारती, जयेन्द्र, रामनरेश पाठक, पुष्पा आर्याणी, रवीन्द्र कुमार, सुरेश प्र० सिंह, शिवेश्वर प्र० आष्ठ एवं राम वृक्ष वरिष्ठ के नाम उल्लेख्य हैं। पाठक जी की 'ठार कनकन' तथा राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' मगही की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' तथा वरिष्ठ की 'भुकुर-भुकुर कई से' कहानियाँ लोकवृत्त पर आधृत हैं। अपनी भी 'भद्दा या भला', 'आत्मदीपोनव', 'उपसर्प मातरं भूमिम्', 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' चार कहानियाँ शिक्षा-विषयक हैं।

वैयक्तिक निबन्धकारों में डा० शिवनन्दन प्रसाद एवं प्रो० रामनन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यं० वि० मिश्र 'मगहिया' ने भी 'होली हो गेलई।' 'हम्मर परीक्षा हो गेलई।' आदि ४-५ व्यक्तित्व व्यंजक लेख लिखे हैं।

मगही में 'शोधकार्य' अत्यन्त प्रगतिशील है। श्री मुगेश्वर पाण्डेय का 'मगही भाषा और साहित्य,' श्री राजेन्द्र सिंह यौधेय का 'मगही वेआकरण' सुश्री सम्पत्ति आर्याणी का 'मगही व्याकरण कोश' एवं 'मगही भाषा और साहित्य, एक अध्ययन', सुश्री कल्याणेश्वरी वर्मा का 'मगही लोक गीतों का अध्ययन' श्री कान्त शास्त्री का 'पटना और गया की मगही' का स्वरूप: एक अध्ययन' इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। 'मगही का ध्वनि-विज्ञान' पर श्री सरयु प्रसाद, 'मगही कहावतों का अध्ययन' पर तथा 'मगही लोक कथाओं का अध्ययन' पर श्री कैलाश प्रसाद जी शोधकार्य कर रहे हैं। प्रो० अवधबिहारी पाठक जी ने 'मगही के विविध रूपों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' एवं प्रो० कृष्णनारायण जी ने 'परिनिष्ठित मगही का भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण' विषय शोध-कार्य के लिए चुने हैं। स्वतन्त्र रूप से 'मगही सूक्तियाँ : एक अनुशीलन' पर चक्रधर शर्मा जी शोध-प्रबंध लिख रहे हैं।

स्वतन्त्रता के बाद मगही में 'मगही', 'विद्वान', 'महान मगध' तथा 'मगही-सनेस' पत्रिकाएँ निकली हैं और मन्थर गति से गतिशील रही हैं। 'मगही' और 'महान मगध' बन्द हो चुकी हैं। शेष दो चल रही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मगही के नये साहित्य की गंगा अब प्रगति की विविध धाराओं और उपधाराओं में बहकर उन्नति के महासमुद्र की ओर उद्दामवेग से प्रवहमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-साहित्य

सुधा माहेश्वरी

ब्रेख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान् व्यक्तित्व

बर्तोल्त ब्रेख्त का जन्म १८९८ में ओगसबर्ग (Aughshburg) नामक नगर में हुआ था। वह अन्तर्जातिय विवाह की सन्तान था। उसके पिता रोमन कैथोलिक और माता प्रोटेस्टेन्ट थी। इसीलिए अपने बाद के जीवन में उसका ईसाईयत से विश्वास उठ गया। उसके पिता एक कागज मिल के प्रबन्धक थे और माँ एक राज्याधिकारी की पुत्री थी। उसने सन् १९०४ से १९०८ तक एक पब्लिक स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद १९१७ में उसने म्यूनिख विश्वविद्यालय में औषधिविज्ञान और प्राकृतविज्ञान का अध्ययन किया। ब्रेख्त ने कुछ समय तक सेना में भी सेवा की। सैनिक अस्पताल के भयानक वातावरण का प्रभाव उसकी रचनाओं पर भी पड़ा है। सैनिक सेवा से मुक्त होने पर वह जर्मनी लौटा। १९२८ में उसका 'थ्रीपेनी ऑपरा' नामक नाटक अभिनीत किया गया। अब तक उसके आधे दर्जन से ज्यादा नाटक निकल चुके थे, जिनमें तीव्र घृणा भाव था। थोड़े ही समय में वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसके नाटक के कुछ नारे जैसे 'खाओ पहले, आचरण बाद में' लोगों की जबान पर रहने लगे। यही इसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना थी। 'थ्रीपेनी ऑपरा' ने ब्रेख्त को कुछ समय के लिए जर्मनी के नाटककारों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया। सन् १९२७ में 'डोमेस्टिक ब्रेवीरी' (domastics brevirry) के प्रकाशन के साथ ब्रेख्त एक कवि के रूप में भी विख्यात हो गया।

ब्रेख्त का विचार था कि हिंसा की आवश्यकता होने पर हिंसा का प्रयोग भी करना चाहिए, इसीलिए शान्त भाव छोड़कर वह उन लोगों के साथ मिल गया जिनका सिद्धान्त था, शक्ति का सामना शक्ति से करो। इसी कारण जर्मनी के कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख उसने रूसी क्रान्ति को एक आदर्श के रूप में रखा। नाज़ियों के हाथ में शक्ति आ जाने पर उसके 'द महागोनी' (The Mahagony) नामक नाटक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद वह स्थाई रूप से डेन्मार्क में बस गया। १९३३ से १९३९ तक वह डेन्मार्क में रहा। और इसी बीच वह पेरिस और न्यूयार्क भी गया। इसके बाद वह मास्को से निकलने वाली रिफ्यूजी पत्रिका Daswart का सहायक सम्पादक बन गया।

युद्ध प्रारम्भ होते ही ब्रेख्त ने डेन्मार्क को छोड़ दिया और वह स्कॉटहोम में चला गया। इसके बाद १९४० में वह फिनलैण्ड गया, और वहाँ से उसने अमेरिका के लिए वीसा माँगा और वह उसे मिल भी गया। इसका प्रयोग उसने १९ जुलाई १९४१ को केलीफोर्नियाँ से अमेरिका जाते समय किया। १९४७ में उस पर अमेरिका विरोधी कार्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाहियों के लिए मुकदमा चलाया गया। १९४८ में वह पूर्व जर्मनी की साम्यवादी सरकार के आमन्त्रण पर स्वदेश लौट आया। १९५१ में उसे पूर्व जर्मनी सरकार का राष्ट्रीय पुरस्कार और १९५४ में स्तालिन शान्ति पुरस्कार दिया गया। १४ अगस्त १९५६ को बर्लिन में उसका देहान्त हो गया।

विश्व के नाटककारों में ब्रॅख्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रथम नाटक 'द मेजरस् टेकन' था। इसकी विषयवस्तु साम्यवादी है। सन् १९३७ से १९४१ तक उसने जो नाटक लिखे और जिनसे उसकी प्रसिद्धि विदेशों में हुई वे 'मदर करेज', 'द लाइफ ऑफ गेलीलिओ', 'द गुड वुमन ऑफ सेटज्अन्', 'हरपनटिला एण्ड हिज़ मनटनाटि' हैं।

नाटककार के रूप में ब्रॅख्त की सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'महाकाव्यात्मक रंगमंच' (Epic theater) है। ब्रॅख्त ने इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। उसके अनुसार 'एपिक थियेटर' किसी ऐसे अभिनेता को रंगमंग पर प्रस्तुत करता है जो उसके किसी पात्र की भूमिका निभाते हुए भी अपने व्यक्तित्व को बनाए रखता है। ब्रॅख्त के गैलीलियो नाटक को जब खेला गया, तब एक अभिनेता को एक वैज्ञानिक की भूमिका में दिखाया गया, लेकिन उस अभिनय में अभिनेता ने अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः विलीन नहीं कर दिया, उसका अपना व्यक्तित्व भी बना रहा। 'एपिक' की मूल विशेषता को ब्रॅख्त ने जर्मन शब्द Zeigen के द्वारा व्यक्त किया।

'एपिक थियेटर' में नाटक लेखन की पद्धति ही मुख्य तत्त्व है। यही ब्रॅख्त की रचनाओं में एक बेगानापन (एलियनेशन) ला देती है। इसमें गीत, संगीत, नृत्य और दृश्य-चित्र का एक ऐसे विशिष्ट रूप में प्रयोग किया जाता है, जो चलने वाली कथा को सहयोग देने की जगह उसके विपरीत जाता है। ब्रॅख्त के नाटक के ये ही तत्त्व, साधारण स्वाभाविक, प्राकृत, और विश्वसनीय घटनाओं को असाधारण, आश्चर्यजनक, अद्‌भुत् और अजीब बना देते हैं। शैली की यह विशेषता उसके पूरे नाटक पर प्रभाव डालती है। यह निश्चित रूप से घटित होने वाली घटनाओं को चुनौती देती चलती है। इससे नाटक अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित हो जाता है और उसकी बनावट में जोड़ स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। Ewin Piscatar नामक नाटक निर्माता ने एक बार ब्रॅख्त के एक नाटक के अभिनय को रोककर बीच में लेनिन की आवाज़ का एक रिकार्ड सुनाया था। यह भी एलियनेशन का प्रभाव डालने के लिए ही किया गया था। ब्रॅख्त अपने इस बेगानेपन के कारण चिर-स्मरणीय रहेगा।

ब्रॅख्त ने थियेटर की एपिक विशेषता को अतीत की धारणाओं से ही ग्रहण किया। कलात्मक भ्रम, जिसका प्रयोग साधारणतः सभी परम्परागत कलाएँ करतीं हैं ब्रॅख्त की दृष्टि में ठीक नहीं है। उल्टे वह तो कलात्मक भ्रम को तोड़कर अपनी कला को व्यक्त करता था। Martin Esslin के अनुसार ब्रॅख्त दर्शकों को यह अनुभूति देना चाहता है कि वे जो कुछ देख रहे हैं, वह वास्तविक घटना घटित नहीं हो रही, बल्कि वे किसी थियेटर में बैठे हैं और किसी ऐसी घटना का वर्णन सुन रहे हैं जो एक विशेष समय में विशेष स्थान पर अतीत में हो चुकी है।

उसके एपिक थियेटर में कलात्मक भ्रम का कोई स्थान नहीं है। उसमें दर्शक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सजग रहते हैं। कलात्मक भ्रम बुद्धिजीवी की विश्लेषणात्मक योग्यता को नष्ट करके उसे वायवी आलोचक बना देता है। लेकिन एपिक थियेटर (जिसकी टेकनीक पर मार्क्सवाद का प्रभाव है) मनुष्य को गम्भीर शान्तचित्त और विश्लेषणवादी बनाता है।

इस थियेटर का अनोखापन यह है कि घटित होने वाली घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को एक नए रूप में प्रकाशित किया जाता है। ये घटनाएँ यह बताती हैं कि संसार परिवर्तनशील है। यह प्रणाली राजनैतिक घटनाओं के प्रति भी दर्शक को सजग रखती है।

ब्रॅख्त निम्नस्तर की भावात्मकता को महत्त्व नहीं देता। जैसे-जैसे ब्रॅख्त कम्यूनिस्ट आन्दोलन के निकट आया उसके नाटक शिक्षण मंच (Educational theater) और 'एपिक ड्रामा' की ओर झुकते गए।

'एपिक थियेटर' की प्रथम विशेषता यह है कि उसे 'एपिक' होना चाहिए। 'एपिक थियेटर' घटनाओं का वर्णन कर देता है और दर्शक पर इस बात के लिए ज़ोर डालता है कि वह उन्हें समझे। जबकि परम्परागत रंगमंच में यह बात नहीं होती। परम्परागत रंगमंच दर्शक को कलात्मक भ्रम से आवृत कर भावना में बहाता है जबकि एपिक थियेटर में दर्शक पूरी तरह सजग बना रहता है। ब्रॅख्त के अनुसार थियेटर को दर्शक की बुद्धि का स्पर्श करना चाहिए। ब्रॅख्त यह अधिक पसन्द करता है कि विचारों और मूल्यों में द्वन्द्व दिखाया जाए, उनमें संघर्ष हो, तथा साथ ही संसार के पाखण्ड और विद्रूपताओं का स्पष्ट रूप से उद्घाटन हो। वह इस बात को बिल्कुल पसन्द नहीं करता कि देर तक भावनाओं में बहने के बाद कहीं दर्शक को पता चले कि क्या खराब है और क्या अच्छा।

परम्परागत रंगमंच में स्टेज पर तर्क वितर्क को अच्छा नहीं समझा जाता था। इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता था कि नायक का तर्क सही है या ग़लत, केवल उसका व्यक्तित्व आकर्षक और भाव में बहाने वाला होना चाहिए। परम्परागत थियेटर में तीव्र इच्छाओं का संघर्ष पात्रों के आधार पर चलता है न कि मूल्यों के संघर्ष के आधार पर।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए ब्रॅख्त ने एक सीमा-रेखा खींची, और एक चार्ट प्रकाशित कर बताया कि प्रत्येक थियेटर में कौन-सा स्थान सबसे अधिक आकर्षक है। परम्परागत नाटक वर्गों की प्रवृत्तियों को चित्रित करते हैं, लेकिन ब्रॅख्त चाहता है कि वर्ग-प्रवृत्तियों के संघर्ष को सामाजिक चेतना के रूप में परिवर्तित हो जाना चाहिए। जिससे पूरे संसार के लोग उसे जान सकें।

ब्रॅख्त ने स्वयं ही परम्परागत और एपिक रंगमंच का अन्तर इस रूपरेखात्मक सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है।

परम्परागत रंगमंच	महाकाव्यात्मक रंगमंच
क्रिया व्यापार	विवरण
दर्शक को रंगमंचीय कार्यों के साथ तादात्म्य देकर उसकी अपनी कर्मेच्छा को समाप्त कर देता है	दर्शक को केवल दर्शक रहने देता है और इस तरह उसमें कर्मेच्छा जागृत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शकों के रागात्मक पक्ष को छूना है	दर्शकों के विचारों और दृष्टिकोणों को प्रभावित करता है
सुझाव	तर्क
दर्शक में रागात्मक समानुभूति जगाता है।	दर्शक को सिखाया और पढ़ाया जाता है।
मनुष्य को एक ज्ञेय वस्तु की तरह चित्रित किया जाता है	मनुष्य को अनुसन्धान का विषय बनाया जाता है।
क्रिया व्यापार के परिणाम में दर्शकों को रुचि रहती है	क्रिया व्यापार में रुचि रहती है।
प्रत्येक दृश्य दूसरे दृश्य से सुसम्बद्ध रहता है	प्रत्येक दृश्य स्वतन्त्र है
अनुभूति	बुद्धि

ब्रॅख्त का वास्तविक और प्रथम एपिक ड्रामा 'माँ' है। यह नाटक प्रचार के लिए लिखा गया। क्रान्तिकारी संघर्ष में अपनाये गए तरीकों की यह एक प्रचारात्मक पुस्तक है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति को संघर्ष में कैसे काम में लाया जाता है, अनभिज्ञ लोगों के सामने से और पीछे से होने वाले आक्रमणों से कैसे वाकिफ किया जा सकता है, दुश्मनों को कैसे धोखा दिया जा सकता है, किस तरह विदेशी संस्कृति का प्रयोग किया जा सकता है, और कैसे अनुशासन को लागू किया जा सकता है।

ब्रॅख्त के अनुसार कला अध्यापन विद्या की ही एक शाखा है, जिसका उद्देश्य पढ़ाना है। पूँजीवाद शिक्षा को कुरूप और वीभत्स बना देता है। इससे लोग शिक्षा देने के ढंग से अपने को अपमानित अनुभव करते हैं। ब्रॅख्त एक बौद्धिक रंगमंच के पक्ष में है। उसका खयाल है कि विरोधी दृष्टिकोणों का संघर्ष भी दर्शकों का उतना ही ध्यान आकर्षित कर सकता है, जितना कि विरोधी संवेगों का संघर्ष। उसके मतानुसार दर्शक को विरेचित करके छोड़ना कला का वास्तविक उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य तो उसे बदलकर रखना है। या कम से कम उसमें परिवर्तन के बीज बो देना है, जो बाद में जाकर उसके जीवन में फलें। उदाहरण स्वरूप सेन्ट जोन में मरती हुई नायिका कहती है :

अपने जीवन का लक्ष्य
यह मत बनाओ
कि मरते समय तुम
बेहतर बनकर मरो
बल्कि यह बनाओ
कि मरने की घड़ी में
तुम एक बेहतर दुनिया छोड़ सको।

Domastic Brevirry के प्रकाशन के साथ ही ब्रॅख्त कवि के रूप में भी विख्यात हो गया। एक कवि के रूप में भी ब्रॅख्त का दायरा काफी विस्तृत है और उसमें पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं। उसने बहुत से लोकगीत (Ballad) गीत (Lyric) सहगान (chorus)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यंग कविताएँ लिखीं, जिनका विषय अधिकतर क्रान्तिकारी ही रहा है। ब्रॅख्त के बैलेड, लीरिक और व्यंगों के इस संग्रह को एक रोमन कैथोलिक आलोचक ने 'डेविल्स प्रेयर बुक' कहा था।

ब्रॅख्त की कविताओं में भी नाटकों की तरह ही व्यक्तिवादिता का कोई स्थान नहीं है। अल्पायु में ही उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह अपनी तुलना में समय और समाज के दुर्भाग्य को अधिक महत्त्व देगा, चाहे उसकी व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझ सकें या नहीं। जिस प्रकार ब्रॅख्त रंगमंच से अपने पात्रों को दूर रखता है उसी प्रकार वह अपनी कविता में व्यक्तिगत मन:स्थितियों को दूर रखता है। उसके बैलेड में घटना मुख्य होती है उसके नायक प्राकृतिक और मानव-निर्मित आपत्तियों को सहन करके महानता प्राप्त करते हैं। ये बैलेड मनुष्य के गुणों का, उनकी निर्भीकता का, उनके गर्व का, और उनकी अदम्य उत्सुकता का, ध्वन्सकारी और भयानक परिस्थितियों के बीच प्रदर्शन करते हैं। ब्रॅख्त ने बैलेड को गली कूचों का गीत बना दिया। वह उसमें प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों को, उसकी निस्सहायता और विवशता को सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्ति दे सका है।

ब्रॅख्त का परम्परा के प्रति दृष्टिकोण उसकी शास्त्रीय कविताओं और पैरोडियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए उसके कुछ समूहगान St. Joan of the 'Stockyards अथवा 'Liturgy of breath' और गेटे की पेरोडी 'Over all the preak's lies peace' आदि रचनाएँ ली जा सकती हैं। गेटे की कविता का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया कि शान्ति का एक अन्य अर्थ सब बीभत्सताओं को शान्त भाव से देखना भी है। जबकि एक बूढ़ी औरत भूखी मर रही हो, जंगल में सब पक्षी शान्त हैं। यहाँ शान्ति एक ऐसे मनुष्य के खून का प्रतीक है जो कभी शान्त और मौन नहीं रहा था। इन पैरोडीज़ में उसका परम्परा के प्रति आकर्षक स्पष्ट हो जाता है।

उसकी मूल कटुता संसार की उस विजय और पराजय के प्रति थी, जिसके इतिहास से पराजय के कारण को मानव स्मृति से निकाल दिया जाता है और विजेताओं का इतिहास लिखा जाता है। गरीबी, दमन और शोषण के कारण उसे इतना क्रोध नहीं आता जितना इस बात से कि गरीब, शोषित और दलित अपनी आवाज को ऊँचा उठाने में समर्थ नहीं हैं और इसके कारण उपेक्षित होकर दु:ख सहन करते हैं।

ब्रॅख्त बैलेड को सबसे अधिक पसन्द करता था, इसका कारण यह था कि परम्परा से ही बैलेड अलिखित रहकर भी उपेक्षित और भूले हुए इतिहास को याद करता है। यही एक काव्य-रूप है जिसमें कई पुराने महाकवियों ने अपनी कृतियों का निर्माण किया है और अमरता प्राप्त की है।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी ब्रॅख्त की कविता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह गीति की अपेक्षा नाटकीयता और वर्णनात्मकता का आश्रय लेती है उसका नाटककार भी एक कवि के रूप में ही सामने आता है, उसके काव्य में भी नाटकीयता ही प्रधान है। Volker Klotz के शब्दों में ब्रॅख्त की कविता की मुख्य विशेषता उसका 'ऑब्जेक्टिव फॉर्म' है।

ब्रॅख्त के समय तक वस्तुस्थिति यह थी कि साहित्यिक जर्मन ही नहीं बल्कि रंग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंचीय जर्मन भी निश्चित रूप से एक कृत्रिम और मृत भाषा थी। स्टैन्डर्ड जर्मन, स्टैन्डर्ड अँग्रेज़ी और फ्रैंच की तरह यह बोली नहीं जाती थी, वह तो केवल कागज पर या रंगमंच पर ही प्रयोग में लाई जाती थी। लेकिन Peter Demetze द्वारा सम्पादित 'Brecht : A Collection of Critical Essays नामक पुस्तक में ब्रॅख्त की भाषा के बारे में लिखा है कि उसने अपनी कविताओं और नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग किया, वह साहित्यिक या कृत्रिम न होकर उसकी अपनी स्वाभाविक भाषा थी। उसने अपने काव्य में एक ऐसी भाषा को महत्त्व दिया जो किसी भी निश्चित प्रान्त की भाषा नहीं है, पर जो एक वास्तविक भाषा लगती है। यद्यपि वास्तव में आज भी उसकी यह भाषा किसी के द्वारा नहीं बोली जाती, केवल ब्रॅख्त ही इसका प्रयोग करता है। वह एक कृत्रिम सम्वाद (Synthesis) है, ऐसी मौलिक और कृत्रिम रचना है जो विभिन्न परम्पराओं से बद्ध है। यही कारण है कि यह एक वास्तविक भाषा लगने लगती है।

ब्रॅख्त की भाषा का एक दृढ़ आधार आधुनिक जर्मन भाषा के मुख्य स्रोत भी है। एक बार एक पत्रकार ने ब्रॅख्त से प्रश्न पूछा कि उसके जीवन पर सबसे अधिक साहित्यिक प्रभाव किसका पड़ा तो उसने उत्तर दिया था : शायद आप हँसेंगे पर यह सच है कि मेरे साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव बाइबिल का पड़ा है। उसने अपनी रचनाओं में भी बाइबिल की वाक्य रचनाओं का मुख्य रूप से प्रयोग किया है। जैसे विरोधी अर्द्धवाक्यों का सामीप्य, समानान्तरता, पुनरुक्ति आदि।

गलियों में गाये जाने वाले बैलेड ने भी ब्रॅख्त के जीवन को बहुत प्रभावित किया। खास तौर से The Morality नामक बैलेड ने जो उसके नगर के मेले में बैलेड गायकों द्वारा गाया जाता था।

Peter Demetze के अनुसार ब्रॅख्त पद्य लिखने में सरलता का अनुभव करता था। उसने कोमल और लययुक्त गीतों से दूर जाने का प्रयत्न किया। 'मुझे एक उच्च-स्तरीय भाषा की आवश्यकता थी लेकिन परम्परागत 'आरंभिक पेन्टामीटर' की कोमलता के कारण मैंने उसके प्रति विकर्षण अनुभव किया।' "On Unrhymed Verse with Irregular Rhythms" नामक निबन्ध में वह एक ऐसी शैली का वर्णन करता है जो लयहीन होने पर भी काव्यात्मक बना रहे, और समाज की विषमताओं और विद्रूपताओं को वाणी दे सके।

ब्रॅख्त ने सांकेतिक भाषा का प्रयोग भी किया है। कहीं कहीं उसने बाइबिल से उद्धृत सूक्तियों का प्रयोग भी किया है। वह एक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो उसमें वर्णित क्रिया को मूर्तित कर सके। राजनीतिक प्रयाण-गीतों और नाटकों में आये हुए उसके गीतों के अतिरिक्त ब्रॅख्त का अधिकांश काव्य मुक्त छन्द में लिखा गया है।

ब्रॅख्त की कविता उसके अपने जीवन और उसके समय के जीवन की विषमताओं, विद्रूपताओं और संघर्षों का दर्पण है। ब्रॅख्त की विशेषता यह है कि एक ओर तो वह इलियट, पाउण्ड, रिल्के आदि की परम्परा का आधुनिक भाव-बोध का साहित्यकार है पर दूसरी ओर वह मायकोवस्की, अरागाँ, नाज़िम हिकमत और पाब्लो नेरूदा की क्रान्तिकारी परम्परा का कवि भी है। वह उन तथाकथित आधुनिकतावादियों की तरह निराशा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ अपने युग की विद्रूपताओं को अभिव्यक्त करके ही चुप नहीं रह जाता। उसका साहित्य इन विद्रूपताओं के विरुद्ध जूझ रही जीवन शक्तियों का भी प्रतिबिम्ब है। अपने युग के त्रास को उसने इन शब्दों में व्यक्त किया है।

सचमुच मैं अँधेरे युग में रहता हूँ
झूठ से रहित शब्द जहाँ अनर्गल कल्पना हैं
शान्त मस्तिष्क उसी का हो सकता है, जिसका दिल पत्थर हो
जिसके चेहरे पर मुस्कान है : वह अभी खौफ़नाक खबरों से परिचित
नहीं हुआ
आह, कैसा अजीब युग है !
जब पेड़ पौधों तक की बात करना लगभग अपराध है
क्योंकि सर्वव्यापी है अन्याय के प्रति एक चुप्पी।

अपने युग की अराजकता और उसके ख़िलाफ चलने वाले संघर्ष को इस तरह याद किया।

मैं शहरों में आया अराजकता के दिनों में
जब भूख का साम्राज्य था
मैंने लोगों को देखा विप्लव के जमाने में
और उनके साथ विद्रोह किया…
मैंने क़त्लेआम के बीच अपनी रोटियाँ तोड़ीं
हत्याओं की छाया मेरी गोद में लेटीं…
मेरे युग में हर सड़क रेतीले दलदल में से गुजरती है
और हर शब्द बधिक के दरवाज़े पर ले जाता है

लेकिन ब्रॅख्त ने जितनी अपने युग की विद्रूपताओं और उनके विरुद्ध संघर्ष को वाणी दी है उतनी ही उस के दर्द को भी। काल के लम्बे सन्दर्भ में यह दर्द मानवीय हो उठता है :

तुम जो इस जल-प्रलय में बच रहोगे
जिसमें हम डूब रहे हैं
जब हमारी कमज़ोरियों पर सोचो
तो इस अन्धकार भरे युग पर भी सोचना
जिसने इन कमज़ोरियों को जन्म दिया
क्योंकि जितने हम जूते बदलते हैं
उससे ज्यादा देश इस वर्ग-युद्ध में बदलते गए हैं
जिसमें केवल अन्याय था और प्रतिरोध नहीं।
ध्यान रखना
कि कूड़े करकट के प्रति घृणा भी
भृकुटि को कठोर बना देती है
अन्याय के प्रति क्रोध भी वाणी को कर्कश बना देता है
आह ! हम जो करुणा और कोमलता की नींव रखना चाहते थे
खुद करुण और कोमल नहीं हो सके !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटेलाल दीक्षित

तुलसीदास के सौंदर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्व

प्रगतिवाद यहाँ उस संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया गया है जिस अर्थ में यह तथाकथित आधुनिक युग के प्रगतिवादी साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। राजनैतिक मत के संकीर्ण प्रतिमानों को व्यक्त करने वाले अर्थ में प्रगतिवाद को लेकर, उसके आधार पर प्राचीन साहित्य का विश्लेषण करना भ्रामक और उस साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों से युक्त प्रगतिवाद के भीतर जीवन की समग्रता और वैविध्य को नहीं स्वीकारा जा सकता। प्रगति शब्द का अर्थ आगे बढ़ाने वाला या उच्चता प्रदान करने वाला है। प्रगतिशील साहित्य भी वही है जो जनहित का साधक और समाज को आगे बढ़ाने वाला है। प्रगतिशील साहित्य मनुष्य के विकास में सहायक होता है। वह मानवीय संवेदना और सच्चे कर्म की चेतना जगाता है और व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर नैतिक आदर्शों की प्रेरणा देता है तथा उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होता है। ऐसे साहित्य में व्यक्ति के सुख, दुःख और भावनाओं का जिनका मूल सामाजिक व्यवस्था में है, चित्रण होता है। प्रगतिशील साहित्य में उन सभी विचारधाराओं का विरोध किया जाता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे साहित्य में श्रद्धा और आस्था की अभिव्यक्ति होती है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्व हैं और मानव प्रगति की सूक्ष्मता-मूलक दिशाओं का निदर्शन करती हैं। प्रगतिशील साहित्य व्यक्ति के भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाता है जो मानव विकास को आगे ले जाकर जीवन के सार्थक तत्वों की प्रेरणा देता है। तुलसी के काव्य में प्रगतिशील साहित्य की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। उनके काव्य को सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कहा जा सकता है।

प्रगतिशील साहित्य को व्यापक अर्थ में न लेकर संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों के अर्थ में लेने वाले और तुलसी के काव्य को युग के परिप्रेक्ष्य में न देखने वाले व्यक्ति तुलसी पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाते हैं। उन्हें सामंती-संस्कृति के पोषक, ब्राह्मणवादी समाज को पीछे खींचने वाली, मनुष्य और मनुष्य में घृणा फैलाने वाली विचारधारा का समर्थक मानते हैं। डॉ० ताराचन्द ने अपने इतिहास ग्रन्थ में इसी भ्रामक दृष्टिकोण को सामने रखकर रामानन्द के शिष्यों को कन्ज़र्वेटिव और रेडिकल दो वर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने कन्ज़र्वेटिव (प्रतिक्रियावादी) के अन्तर्गत तुलसीदास और उनकी परम्परा के भक्तों को और रेडिकल (प्रगतिशील) के भीतर कबीर और उनकी परम्परा के भक्तों को लिया है। प्रश्न यह कि जो कवि स्वयं कहे :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना; सिर धुनि गिरा लागि पछताना

अथवा

मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरो कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को ।।

उसे सामंती संस्कृति का समर्थक अथवा ब्राह्मणवादी परम्परा का पोषक कैसे माना जाय। तुलसीदास सच्चे अर्थों के जनवादी कवि हैं। उनका सौंदर्य-बोध जागरूक प्रगतिशील चेतना का व्यापार है।

सौन्दर्यानुभूति हमारी सहज अन्तर्दृष्टि और सौन्दर्य-बोध हमारी प्रबुद्ध मनः-स्थिति का व्यापार है। सौन्दर्य वह है जो बिना किसी प्रयोजन के आनन्दित करता है। सौन्दर्य वस्तु में भी होता है और दृष्टि में भी। वह आत्म-निष्ठ भी है और वस्तु-निष्ठ भी। सौन्दर्य को पूर्णतः व्यक्ति-निष्ठ मानने वाले चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य व्यक्ति की भाव-नाओं में होता है वस्तु में नहीं। वस्तु तो केवल हमारे भीतर विद्यमान सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत करती है। यह कथन आंशिक सत्य है। क्योंकि यदि वस्तु में सौन्दर्यानुभूति जाग्रत करने की क्षमता न होगी तो सौन्दर्यानुभूति जाग्रत कैसे होगी। वस्तु की यही क्षमता उसका सौन्दर्य है। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में जैसे वीर कर्म से अलग वीरता कोई शब्द नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं है।

सौन्दर्य-बोध के प्रसंग में जब हम प्रगतिशील तत्वों की चर्चा करते हैं तब हमारा अभिप्राय सौन्दर्य के साथ शिव की अभिन्नता की ओर संकेत करना होता है। सौन्दर्य की स्थिति मात्र रूप में ही नहीं होती। सौन्दर्य भौतिक होने के साथ-साथ नैतिक और मानसिक भी होता है। भौतिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य पर आधारित होता है और मान-सिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य को रूप देता है। कलाकार के सौन्दर्य-बोध का विश्लेषण करते समय उसके द्वारा व्यक्त रूप सौन्दर्य को ही नहीं लिया जा सकता। रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व उसके भाव, विचार, कर्म और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का है। सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से रूप की पूर्णता कला की विशिष्टता नहीं है। कला का लक्ष्य भावना और रूप की अभिन्नता या भावना की पूर्ण अभिव्यंजना के रूप में सुन्दर के लिए प्रयास या उसकी उप-लब्धि है। निकोलाई ग्राविलोविच—चर्नोशेव्स्की के शब्दों में कलाकार के मस्तिष्क में एक मात्र रूप-सौन्दर्य की रचना करने की आकांक्षा से कलात्मक-सृष्टि के विचार का उदय नहीं होता। कलाकार यदि वह वास्तव में कलाकार है तो अपनी कृतियों के द्वारा मुख्य रूप से अपने विचारों. मतों और भावनाओं को हम तक पहुँचाना चाहता है। मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सौन्दर्य की भावना मनुष्य के अन्दर ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उसकी उत्पादन-क्रिया के विकास के दौरान और उसमें से उत्पन्न कला और संस्कृति के बीच पैदा होती है। विषयी-गत के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयी-गत अवस्था ही नहीं है बल्कि प्रकृति की वस्तुओं में और मनुष्य के सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषय-गत वस्तुओं के कारण होती है। भारतीय सौन्दर्य-भावना को धर्म और दर्शन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। हमारे यहाँ सौन्दर्य में आदर्श की प्रधानता रही है। सौन्दर्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिव्यंजन में व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक-पक्ष के महत्व को स्वीकारा गया है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पवित्र, धार्मिक कार्य माना गया है। उसमें उचित अनुचित, अच्छे बुरे, हितकर अहितकर की तीव्र चेतना अवश्य विद्यमान रही है। कलाकार रचना करते समय आत्माभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् अपने अनुभव को समाज के अनुभव में लीन कर देने का एक उपक्रम मात्र करता है अतः उसके द्वारा व्यंजित भाव सामान्य भूमि के होते हैं। काडवेल के शब्दों में कलाकार अपनी रचना में सौन्दर्य और सत्य की अभिव्यक्ति करता है। उस सौन्दर्य और सत्य के सच्चे स्वरूप का निर्णय सामाजिक चेतना से सम्पन्न मनुष्य ही करता है। कर्मशील मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में निहित रागात्मक सत्ता ही सौन्दर्य-भावना का उद्रेक करती है। अतएव सौंदर्य का स्वरूप लोक-स्वीकृत होना चाहिए। सौन्दर्य इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित नहीं है। उसकी सत्ता मनुष्य के भाव-जगत और उसके विचारों में है। व्यक्ति के भाव-जगत का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। दोनों कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। अतएव सौन्दर्य की चेतना सामाजिक चेतना से भिन्न नहीं हो सकती।

तुलसीदास के सौन्दर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्वों का विश्लेषण करते हुए, हमें तुलसी के काव्य में व्यक्त भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उन सभी पक्षों की ओर संकेत करना होगा जिनकी अभिव्यक्ति लोक-मंगल की कामना और समाज के भीतर न्याय-वृत्ति जाग्रत कर व्यक्ति के सांस्कृतिक और धार्मिक अभ्युत्थान के लक्ष्य को सामने रखकर की गई है। जिनके द्वारा व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध तेज और पैना होता है, जिससे जो असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। तुलसी के काव्य में व्यक्त रूप, भाव विचार, कर्म तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सर्वत्र प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। उनकी दृष्टि आराध्य-देव के रूप, नाम, लीला और धाम के दिव्य सौन्दर्य के चित्रण में निरन्तर लोक-मंगल की ओर रही है। वे जैसे कर्म से हीन ज्ञान के समर्थक नहीं हैं वैसे ही शिव या लोक-मंगल की भावना से रहित सौन्दर्य, जो निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु है, को भी नहीं स्वीकारते।

सौन्दर्य-विधान की प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं। सर्व प्रथम रचनाकार के मन में सुन्दर वस्तु के माध्यम से सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति (एस्थटिक इन्टूइशन) के होने या सौन्दर्य के संस्कारों के जाग्रत होने की प्रक्रिया है। द्वितीय स्तर में सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति की भीतरी व्याख्या या सौन्दर्य के प्रति रचनाकार का दृष्टिकोण बनना आता है। इसी को सौन्दर्य की सच्ची सर्जना कह सकते हैं। तृतीय स्तर में भाषा, रंग, रेखा आदि वाह्य चिह्नों के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जाता है। चतुर्थ स्तर का सम्बन्ध रचनाकार से न होकर पाठक, दर्शक, श्रोता या अभिभावक से होता है जिसके भीतर पुनः उसी सौन्दर्य की रचना होती है। रचना में व्यक्त सौन्दर्य का महत्व रचना-प्रक्रिया के इसी चतुर्थ स्तर से आँका जा सकता है। जिस कवि के काव्य में व्यक्त सौन्दर्य पाठक, श्रोता या अभिभावक के भीतर निष्क्रिय-सौन्दर्य की रचना न कर शिवत्व से युक्त सौन्दर्य की रचना करता है, उसी का सौन्दर्य-बोध प्रगतिशील माना जाएगा। तुलसीदास के काव्य में वर्णित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम का दिव्य रूप-सौन्दर्य दर्शक को आनन्दित करने के साथ ही उसे लोक के अमंगल कार्य से विरत होने की प्रेरणा देता है। मिल्टन ने 'ईव' की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उसे देखकर स्तब्ध-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरे का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उमा के सौन्दर्य के वर्णन के प्रसंग में पाप-वृत्ति न जाग्रत होने की बात कही है। 'रामचरित मानस, में भी खर-दूषन और अन्य राक्षस राम के दिव्य सौन्दर्य को देख कुछ देर के लिए अधार्मिक युद्ध में प्रवृत्त होना भूल जाते हैं।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृप बालक नर-भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम तेते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥

तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के सौन्दर्य में गत्यात्मक और परिवर्तनशील तत्वों की योजना की है। उनका काव्य आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य का नायक लोक-धर्म का संस्थापक होता है। ऐसे काव्य में सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर किया जाता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है। लोकनायक होने के कारण ही राम के सौन्दर्य में दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के साथ ही दृढ़ता से पराक्रम, साहस और सहिष्णुता जैसे गुणों की योजना भी की गई है। बिना इन तत्वों के राम के सौन्दर्य की कल्पना ही संभव नहीं है।

राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल, समन सकल भव त्रास॥

× × ×

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

× × ×

विष्णु कोटि सम पालन करता। रुद्र कोटि सत सम संहरता॥

हमारे यहाँ धीरोदात्त नायक के सौन्दर्य वर्णन में ऐसे ही विरोधी गुणों की चर्चा की गई है। क्योंकि धीरोदात्त नायक लोक-व्यवस्था का संस्थापक होता है। तुलसी ने राम के रूप-वर्णन में निष्क्रिय स्थिर सौन्दर्य की योजना नहीं की है जैसा कि सूरदास या रसिक सम्प्रदायों के भक्त कवियों के द्वारा वर्णित आराध्य के सौन्दर्य में किया गया है, जहाँ दीप्ति, कान्ति, माधुर्य और कोमलता की ही प्रधानता है।

सुन्दर चित्र या सुन्दर विचार का एक लक्ष्य होता है, लोक-मंगल की ओर सब का ध्यान दिलाना। परात्पर ब्रह्म राम का दिव्य मानवीय रूप अद्वितीय आनन्द प्रदान करते हुए, व्यक्ति को लोक-मंगल की ओर तो प्रेरित करती ही है, उनका नाम भी अमं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गल से पृथक कर आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देता है। अतएव रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व राम के सौन्दर्य का है।

आखर मधुर मनोहर नोऊ। बरन विलोचन जन जिय जोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

तुलसी के सौन्दर्य-बोध का मूल आधार उनकी लोक-जीवन के प्रति निष्ठा और जीवन के प्रति प्रेम है। उन्होंने जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह जीवन का है, जीवन से कटा हुआ या कल्पित नहीं है। तुलसी ने अपने इष्टदेव राम की लीला के सौन्दर्य के माध्यम से जिस जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह समाज को आगे बढ़ाता है। व्यक्ति की सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना को विकसित करता है। उनके इष्टदेव की लीला का सौन्दर्य प्रगतिशील है। क्योंकि उसमें गति है। उसका लक्ष्य असत् का विनाश कर सत् की प्रतिष्ठा करना है। उनकी लीला का सौन्दर्य हमारे भीतर सत्य और शिव के प्रति श्रद्धा और आस्था जाग्रत करता है जो वैयक्तिक और सामाजिक चेतना को समृद्ध करते हैं। तुलसीदास ने राम की लीला के साथ जिस कर्म-सौन्दर्य का चित्रण किया है वह भोग पक्ष का न होकर प्रयत्न पक्ष का है। उसका विकास विषमता और अव्यवस्था के बीच होता है जो अधर्म और अमंगल विनाश कर धर्म और लोक-व्यवस्था की स्थापना करता है।

तुलसीदास के काव्य में व्यक्त मनोभावों का सौन्दर्य हमारे भाव जगत का विकास करता है। हमारे भीतर जीवन के उन रूपों के प्रति निष्ठा जाग्रत करता है जो हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की प्रगति में सहायक हैं। राम का शील, भरत का अनन्य त्याग और प्रेम, लक्ष्मण की सेवापरायणता हमारे भीतरी भाव-जगत को विकसित करती है। राम हनुमान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं, मैं आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता, आप महाजन हैं ऋण पत्र लिखवा लीजिए। स्वामी का सेवक के प्रति यह कथन कृतज्ञता की उदात्त मनोवृत्ति का प्रतीक है और भारतीय संस्कृति की महान परम्पराओं के अनुकूल है।

देवो को न कछू रिनियाँ त। धनिक तु पत्र लिखाऊ।

राम को लौटाने भरत राम से मिलने गए। राम ने भरत पर ही सब कुछ छोड़ दिया। भरत का निर्णय ही अन्तिम होगा। पर, जो स्वामी को संकोच में डाल अपने हित का सम्पादन करता है वह बुद्धिहीन है, इस नैतिक आदर्श ने भरत को राम की इच्छा के विरुद्ध जाने ही नहीं दिया।

जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहै तासु मति पोची।

संकीर्ण राजनैतिक मत में आबद्ध व्यक्तियों को तुलसी की रचना के ऐसे प्रसंग सामन्ती-प्रथा के पोषक प्रतीत होंगे। परन्तु सच्चे अर्थों में ऐसा उदात्त नैतिक सौन्दर्य और भव्य-मनोवृत्तियाँ शाश्वत रूप से मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की पोषक रही हैं और रहेंगी। वह व्यवस्था चाहे पूँजीवाद पर आधारित हो या साम्यवाद पर अथवा प्रजातांत्रिक समाजवाद पर। तुलसी की कृतियों में कर्म, मनोवृत्ति और विचार-सौन्दर्य के ऐसे अनेक स्थल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढूंढे जा सकते हैं जो सामाजिक चेतना को सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देने वाले हैं।

तुलसी का सौन्दर्य-बोध लोक-मंगल विधायिनी जाग्रत मनःस्थिति का व्यापार है। वे निरन्तर औचित्य में सौन्दर्य को देखते हैं। कर्म, भाव, व्यवहार, विचार, वाणी और अभिव्यक्ति में जहाँ कहीं भी औचित्य है, मर्यादा है, वहीं उन्हें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। औचित्य का सौन्दर्य लोक-स्वीकृत होता है। सामाजिक चेतना-सम्पन्न मनुष्य ही औचित्य के सौन्दर्य के स्वरूप का निर्णायक होता है। औचित्य-सम्पन्न सौन्दर्य-भावना हमारे भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाती है। वाणी का औचित्य मृदुता और सार्थकता में है। वाणी की मृदुता का सौन्दर्य और भी द्विगुणित होता है यदि विरोधी के समक्ष भी उसमें अन्तर न आए। राम विरोधी परशुराम के समक्ष भी विनीत मधुर वचन ही बोलते हैं।

अति बिनीत मृदु सीतल बानी, बोले रामु जोरि जुग पानी।
सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना, बालक बचन् करिअ नहिं काना।

तुलसी के काव्य में, संवाद योजना में सर्वत्र मर्यादा, नैतिकता और औचित्य विद्यमान है। उन्होंने सम्वाद का सौन्दर्य वाक्-पटुता में नहीं देखा है जैसा कि केशव के काव्य में मिलता है। उनकी सम्वाद-योजना में मानव-हृदय की सम्पूर्ण उदात्त वृत्तियों का प्रतिबिम्ब अथवा भारतीय शिष्टता और सभ्यता के अमूल्य रत्नों को एक साथ देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए चित्रकूट में भरत, राम, जनक और वशिष्ट के बीच के सम्वाद को लीजिए। राम अपने निवेदन को लेकर वशिष्ट के पास जाते हैं। वशिष्ट राम का निवेदन जनक के समक्ष रखते हैं। जनक के मन में विचार आता है—

आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं।

जनक भरत के पास गए। भरत ने सब भार जनक के कन्धे पर छोड़ दिया। अन्त में पुनः राम से निवेदन किया गया। राम ने प्रत्युत्तर दिया—

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू।।

पुनः सभी भरत की ओर देखने लगते हैं। भरत शिष्टाचार के अनुकूल सभा को सम्बोधित करते हैं—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे।।
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहहुँ बदनु मृदु बचन कठोरा।।

यह समस्त सम्वाद भारतीय-मर्यादा के अनुकूल है।

तुलसी ने कथा-योजना या प्रबन्ध-विधान में उन्हीं प्रसंगों का विस्तार किया है जहाँ विषम संघर्षों के मध्य से मंगल की किरण फूटती है अथवा जिनके द्वारा मनुष्य का भाव-जगत व्यापक एवं उदात्त बनता है। सूरदास और केशव के प्रबन्ध-काव्यों में कथानक के प्रसंग विस्तार का जो लक्ष्य रहा है। उसके साथ तुलसी के प्रबन्ध-काव्य के प्रसंग-विस्तार के लक्ष्य को रखकर तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ सूरदास का लक्ष्य दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, प्रफुल्लता और केशव का चमत्कार की अभिव्यक्ति देना रहा है वहाँ तुलसी का लक्ष्य निरन्तर व्यक्ति के भाव-जगत को समृद्ध कर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सौन्दर्य-बोध को तेज और पैना बनाना रहा है। जिससे उसमें सुन्दर, असुन्दर, भद्र, अभद्र के विश्लेषण का सच्चा विवेक जाग्रत होता है। तुलसी ने निरन्तर समग्रता में सौन्दर्य को देखा है और अपनी रचनाओं में मनुष्य की इसी समग्रता को अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही तुलसी की इसी सौन्दर्य-दृष्टि ने अपने युग की जनता को, जो अन्याय, शोषण, अव्यवस्था, अमानवीयता से त्रस्त थी, अभूतपूर्व शक्ति दी जिससे वह अपनी सांस्कृतिक चेतना की रक्षा कर सकी।

तुलसी के इष्टदेव के धाम के सौन्दर्य-वर्णन में भी प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। कृष्ण-भक्त या रसिक सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने आराध्य के धाम का जैसा वर्णन किया है तुलसी का उससे भिन्न है। कृष्ण-भक्तों ने आराध्य-धाम के वर्णन में दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, वर्ण-वैचित्र्य, शीतल छाया, कलकंठ स्वर, सुगन्धित पवन, चपल भ्रूविलास, हास-परिहास, संगीत-सज्जा के साथ निरन्तर आनन्द की वर्षा होने का चित्रण किया है। तुलसी के इष्टदेव का धाम अयोध्या है। जहाँ राम-राज्य है। राम-राज्य का सौन्दर्य उनके इष्टदेव के धाम का सौन्दर्य है, जहाँ आनन्द की प्रतिष्ठा बाह्य-उपादानों से नहीं, समाज की आन्तरिक व्यवस्था और लोक-मंगल के माध्यम से कराई गई है। धाम का सौन्दर्य कल्पना से नहीं, जीवन के बीच से लिया गया है जिसमें मनुष्यता के समस्त श्रेष्ठ आदर्श एक साथ संयुक्त दिखाए गए हैं।

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ॥

× × ×

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहि स्व धर्म निरत श्रुति नीती ॥

× × ×

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुधन लच्छन हीना ॥

× × ×

सब गुनाय पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ॥

इष्टदेव के धाम का प्राकृतिक-सौन्दर्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही निरन्तर लोक-हित में लगा दिखाई देता है—

फूलहि फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन ॥
लता विटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं ॥

× × ×

सरिता सकल बहहि बर वारी। सीतल अमल स्वाद सुख कारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटहिं नर लहहीं ॥

× × ×

विधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनेहि काज।
मागे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज ॥

तुलसी की रचना में अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में भी प्रगतिशीलता है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में प्रगतिशीलता का समर्थन उनके ही द्वारा व्यक्त लोक मंगल में भनिति के सौन्दर्य को देखने का आदर्श प्रस्तुत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

पुस्तक ... NOT TO BE ISSUED

उन्होंने रचना की सरलता में सौन्दर्य देखा है, काठिन्य में नहीं, क्योंकि सरलता के अभिभावक सम्पूर्ण जन होते हैं विशेष वर्ग नहीं।

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान ।।

तुलसी की भाषा का सौन्दर्य उसकी सरलता और सीधेपन (डाइरेक्टनेस) में है, दुरूहता या आलंकारिकता में नहीं । उन्होंने अपनी भाषा में जिन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है वे निम्नवर्गीय ग्रामीण जनता के बीच से ली गई हैं—

आजु कि कालि परों कि नरों,
जड़ जाहिंगे चाटि दिवारि को दीयो ।

× × ×

फल फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल पल,
खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है ।

× × ×

तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तो
धोबी कैसो कूकरु न घर को न घाट को ।

तुलसीदास ने सौन्दर्य-विधान के लिए जिन उपमानों और बिम्बों का प्रयोग किया है वे नागरिक या ग्रामीण जीवन के परिवेश से लिए गए हैं, शुद्ध काल्पनिक नहीं हैं । उनको छन्द, लय और संगीत में भी वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा है जहाँ वह सामान्य जन के अनुकूल पड़ा है । उन्होंने विशिष्टता में नहीं, सामान्यता में सौन्दर्य देखा है । उनके काव्य में प्रयुक्त विविध छन्द और संगीत की राग-रागिनी इसका प्रतीक है ।

तुलसी की भक्ति-भावना मानव मात्र की साम्य-भावना की प्रतिपादक है। उन्होंने भक्ति-भावना को उस उच्च भूमि पर ले जाकर प्रतिष्ठित किया है जहाँ उसने अक्षय सौन्दर्य और मंगल की मूर्ति ग्रहण कर ली है । वस्तुतः तुलसी सच्चे अर्थों में जनवादी कवि हैं । उनका सौन्दर्य-बोध एकान्तिक मनःस्थिति का व्यापार न होकर, सत्, असत्, मंगल, अमंगल का सच्चा ज्ञान रखने वाली, उदात्त सामाजिक न्याय-वृत्ति से युक्त, विवेकवादी सामाजिक नैतिकता से परिपूर्ण जागरूक चेतना का व्यापार है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुबोध चन्द्र

राहुल की उपन्यास कला—एक मूल्यांकन

राहुल जी के उपन्यास उनके युग की देन हैं; उस युग की, जो मार्क्स के दर्शन से प्रेरित, अनुप्राणित एवं प्रभावित रहा है। राहुल जी की प्रतिभा भी उनके युग की ही उपज थी; वह प्रतिभा, जो अपने युग के आर्थिक-सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध रही थी और जो अपने युग की महान क्रान्तियों—सत्याग्रह-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, स्वतन्त्रता-संग्राम, वर्ग-संघर्ष और भौतिक एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकार के उन्नयन आदि से परिचालित थी। अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से उन्होंने युगीन मनोधाराओं को आत्मसात् कर उन्हें एक साधारणीकृत अभिव्यक्ति दी। यह अभिव्यक्ति साहित्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, नाटक इत्यादि के माध्यम से हुई है। राहुल जी की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को इतिहास की सुदृढ़ भित्ति प्रदान की। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास ('सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न'), प्रमुख ऐतिहासिक कहानियाँ ('वोल्गा से गंगा') और दोनों सामाजिक उपन्यास ('बाईसवीं सदी' और 'जीने के लिए') इस तथ्य के परिचायक हैं। इतिहास के कालखण्डों से अपनी मनोधारा की अभिव्यक्ति के अनुरूप ऐतिहासिक प्रसंग खोज कर उनका समुचित कलात्मक अथवा रचनात्मक उपयोग कर पाना भी कोई साधारण बात नहीं, इसके लिए रचनात्मक प्रतिभा के अतिरिक्त काल-भेदिनी सुविस्तीर्ण ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता है; राहुल जी के पास वही पारदर्शिनी दृष्टि थी, जिसके सामने अतीत के ऐतिहासिक काल-खण्ड अपने समस्त गुण-दोषों सहित भली-भाँति प्रत्यक्ष हो गए थे। और उन्होंने अपने प्रतिपाद्य की सामग्री लेकर अपनी विचारधारा को अभिव्यक्ति दी।

राहुल जी की कला सोद्देश्य कला है। वे 'कला के लिए कला' (आर्ट फार आर्ट्स सेक) वाले शुद्ध कलावादी सिद्धात के समर्थक नहीं हैं, वरन् कला के उपयोगितावादी सिद्धान्त को ही वे महत्व देते हैं। उनकी कला, इसीलिए, अपनी विशिष्ट सीमाओं में 'शिवं' तत्व पर अधिक बल देती है, 'सत्यं' और 'सुन्दरम्' उसके बाद की वस्तुएँ हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राहुलजी 'सत्यं' और सुन्दरम्' के साथ 'शिवं' का सम्यक् समन्वय नहीं कर सके हैं, और उनकी कृतियों में कलात्मकता को क्षति पहुँची है; फिर भी रचनाकाल की दृष्टि से उनके ऐतिहासिक उपन्यास कई दृष्टियों से मौलिकता लेकर हिन्दी साहित्य-जगत के सामने आए थे। यह मौलिकता प्रतिपाद्य एव प्रतिपादन शैली दोनों में ही निहित थी। राहुल जी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि उपन्यास-क्षेत्र के न होते हुए भी उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में नए क्षितिजों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिनसे प्रेरित हो रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार आगे आए और आचार्य चतुरसेन शास्त्री तक जिनसे प्रभावित हुए। शैली में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राहुल जी का रास्ता अपनाया। ऐसी स्थिति तब है, जब कि राहुल जी अपने उपन्यासों को ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास न कहकर 'औपन्यासिक इतिहास' कहा करते थे।[1]

राहुल का यह कथन है कि उनके उपन्यास 'औपन्यासिक इतिहास' थे, उनकी उपन्यास कला के वैशिष्ट्य की ओर सम्यक् संकेत करता है। वास्तव में उनके उपन्यासों में इतिहास अधिक है (राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक) और कला कम। इसीलिए यदि राहुल जी के उपन्यासों में कला की न्यूनता हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

राहुल जी का कथा-शिल्प अविकसित एवं अप्रौढ़ है; इनमें कथा कहने का वह अन्दाज नहीं है, जो पाठक को अभिभूत कर, उसे चमत्कृत कर अपने साथ बहाए लिए चलता है, वह उपन्यास को अधूरा छोड़ना चाहे, तो नहीं छूटता, उत्सुकता और कौतूहल उसे वाध्य करते हैं, कि वह आगे बढ़े, आगे पढ़े, सम्भवतः अब रहस्योद्‌घाटन हो, शायद अब सच्चाई सामने आए, और इस तरह वह भ्रमित-सा कथा-प्रवाह के साथ अन्त तक बहा चला जाता है, खाना-पानी-नींद सब कुछ हराम हो जाता है। राहुल जी के कथा-शिल्प पर उनकी सोद्देश्यता बहुधा हावी हो जाती है; वे कथा कहना छोड़कर बीच-बीच में स्वयं या पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से अपनी विचारधारा एवं दृष्टिकोण को पाठकों के ऊपर बरबस आरोपित करने लगते है, जिससे कथा की गति अल्पकाल के लिए रुद्ध हो जाती है और उसके साथ ही पाठक को भी कथा के साथ चलते हुए अपने मन को भी रोकना पड़ता है और अपनी प्रज्ञा को सचेष्ट कर उस विचार-सरणि को आत्मसात् करने का बलपूर्वक प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाओं में गति का अभाव है और रहस्य एवं कौतूहल की कमी। लेखक ने अपने सभी उपन्यासों में प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक विषयानुसार दे दिया है। इससे भी हानि पहुँची है, पाठक की उत्सुकता को वह पहले ही खत्म कर देता है।

अपने उपन्यासों में उसने संघर्ष के तत्व को अवश्य रक्खा है, पर उसमें भी सर्वत्र अपेक्षित क्रमबद्धता या एक क्रमिक विकास नहीं दृष्टिगोचर होता। कथाओं में कौतूहल की सृष्टि करने वाले मनोवैज्ञानिक क्षणों की न्यूनता है। जो कुछ उसे कहना है, वह अत्यन्त स्पष्ट ढँग से कह देता है, गोपनीय ढंग से धीरे-धीरे रहस्य का पर्दा नहीं हटाता है, दृश्य पर धीरे-धीरे प्रकाश नहीं डालता, बल्कि एकदम सर्च-लाइट के प्रकाश में सत्य को हमारे सामने उजागर कर देता है। लेखक के सुस्पष्ट-सीधे व्यक्तित्व की छाप है, उसके सीधे-सादे कथा-शिल्प पर।

इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाएँ सीधी-सादी हैं, उनमें कथात्मक मोड़ों, घटना-प्रवाहों, उतार-चढ़ावों का प्रायः अभाव है; मनोवैज्ञानिक क्षणों और भाव-पूर्ण या संवेदनात्मक प्रसंगों की भी कमी है; फिर भी उनमें एक सुस्पष्ट एवं सशक्त जीवन-दर्शन है और मानव जीवन का सजीव चित्रण भी। ये तत्व ऐसे हैं, जो हमें कुछ प्रेरणाएँ दे सकते हैं। एक स्थल पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने लिखा है—"राहुल जी के दिल में भारत की नंगी-भूखी जनता के लिए जो असीम वेदना है, उसी ने राहुल जी की लेखनी की नोंक को कुछ इतना तीखा बना दिया है कि वह कुछ लोगों को इस बुरी तरह चुभती

१. राहुल जी की पत्नी डा० श्रीमती कमला सांकृत्यायन के कथनानुसार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वह सोते रह ही नहीं सकते ।"[1]

साहित्य की अन्य विधाओं के समान राहुल जी ने अपने उपन्यासों में भी उसी नंगी-भूखी मानवता को जीवन देने का प्रयास किया है। उसे अपने स्वार्थों की रक्षा करने की चुनौती दी है। 'जीने के लिए' में जनता ने उसकी वह चुनौती स्वीकार की है और 'बाईसवीं सदी' में उन्होंने इसके परिणाम के विस्तृत लाभ को चित्रित किया है। ऐतिहासिक उपन्यासों मूलतः 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' के माध्यम से भी उन्होंने 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है। ऐसी मानवता, जिसकी आवश्यकता प्रजातन्त्र को है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को विकास की पूरी संभावनाएं रहती हैं। प्राचीन भारतीय गणतन्त्रों को हमारे सामने प्रकाशित कर लेखक हमें दिशादृष्टि देता है कि रक्त-शुद्धता सम्बन्धी जिस अनुदारता के कारण वे कूपमंडूक होकर नष्ट हुए, हम अब उसी की पुनरावृत्ति न करें। हम संघबद्ध होकर कार्य करें अवश्य पर हमारा दृष्टिकोण उदार हो और हम किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति को आत्मसात् कर सकें। 'विस्मृत यात्री' में उन्होंने भारतीय युवकों को कुशल पर्यटक बनने की प्रेरणा दी है, जिससे हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की अन्य उन्नतिशील जातियों से पिछड़े न रहें।

अपनी कथाओं में मानवीय तत्व की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त अन्य साधनों में उन्होंने सम्भवतः फ्रायड के यौनवाद से प्रभावित हो 'सेक्स' का उपयोग एक सीमा तक आधिक्य से किया है। 'सिंह सेनापति' में यह अपने अतिरेक पर है, 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', 'विस्मृत यात्री' और 'जीने के लिए' में वह प्रायः संयमित रहा है और 'बाईसवीं सदी' तथा 'दिवोदास' में इसका प्रायः अभाव है। इस सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय का मत द्रष्टव्य है—"राहुल जी ने ऐतिहासिक उपन्यासों में 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति' तथा मधुर स्वप्न' में जिस मुक्त और स्वच्छन्द विलास का महोत्सव मनाया है, वह इतिहास की रक्षा मात्र ही नहीं है, उसमें इस युग का भी प्रभाव है। इसको द्विवेदी युग की उपदेशात्मक लज्जाशीलता के वाह्य और झूठे आडम्बर के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र कह कर ही संतोष नहीं किया जा सकता। यह निश्चित रूप से फ्रायड के लिबिडो वाले सिद्धांत का परिणाम है, जो यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य के अवचेतन की सारी प्रवृत्तियाँ काममूलक होती हैं, हमारे सारे आन्तरिक संघर्ष के मूल में काम भावना है।"[2]

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये उपन्यास बहुत सफल नहीं कहे जाएँगे, फिर भी उसने हमारे सामने कुछ सशक्त चरित्रों को उभारा है, जिनमें देवराज (जीने के लिए), जय (जय यौधेय), तथा मज्दक (मधुर स्वप्न) मुख्य हैं। हेनरी जेम्स ने लिखा है कि चरित्र-निर्माण का वृहत् स्रोत लेखक स्वयं है, किसी न किसी रूप में काल्पनिक चरित्र में उसके व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है।[3] राहुल जी के चरित्र-निर्माण का उद्गम भी

१. जो लिखना पड़ा; पृ० १०५।
२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६), पृ० ३४५.
३. The great source of character creation is of course the novelist's own self. Some form of self-projection must always take place, of reincarnation, in the fictional character.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका निजी व्यक्तित्व है। देवराज के व्यक्तित्व में तो वे पूर्णतः उतरे हैं; जीवन-परिस्थितियों, विचारों एवं प्रकृति में ही नहीं, वरन् कार्यों में भी। क्योंकि देवराज भी बीसवीं सदी का है, उन्हीं भावों-विचारों से अनुप्राणित-परिचालित, जिनसे लेखक ने स्वयं जीवन-दिशा ग्रहण की। गेटे का एक उपन्यास है 'विल्हेम मीस्टर्स अप्रेन्टिसशिप' (जर्मन शीर्षक—Wilhelm Meisters Lehrjahre), जिसका नायक है विल्हेम मीस्टर। उसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है कि उसमें गेटे के अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, और उसके विकास में उसके स्रष्टा के जीवन के अनेक प्रसंग आए हैं।[1] यही बात देवराज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, बल्कि इससे आगे भी अनेक बातों में देवराज और राहुल के काल्पनिक एवं वास्तविक जीवन में सादृश्य है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में जय लेखक के विचारों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, और 'विस्मृत यात्री' में बुद्धिल तथा 'सिंह सेनापति' में सिंह उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि लेखक सशक्त नारी पात्रों की सृष्टि नहीं कर सका है, क्योंकि उसके सामने उसकी इच्छा के अनुकूल कोई आदर्श नहीं था। केवल 'जीने के लिए' की जेनी में ही एक सशक्त चरित्र प्रस्तुत हुआ है। वह भी इसीलिए कि वह लेखक के विचारों एवं दृष्टिकोण का वहन करती है। बाकी सब नारी पात्र—रोहिणी, भामा, सुनन्दा, नन्दा, वसुनन्दा, वासन्ती, भद्रा, सम्बिक्, वर्दक आदि प्रायः एक से लगते हैं। वे केवल प्रेमिकाएँ, पत्नियाँ या भाभियाँ हैं; माएँ कोई नहीं। इस प्रकार नारीत्व का जो चित्रण राहुल जी ने किया है, उसमें केवल प्रेयसीत्व ही प्रमुख है, मातृत्व गौण। उनकी नायिकाएँ युद्ध का संचालन भले ही कर लें, माँ के कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्वाह करने में वे अक्षम हैं और इसलिए उनका चित्रण अधूरा है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र की उक्ति उल्लेख्य है—"नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा, 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकन सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो आता है।"[2] नारी जीवन की गुत्थियों एवं पहेलियों का भी उनमें अभाव है। गृहस्थ-जीवन की समस्याओं का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं उठता; उनके सामने मूल समस्या रहती है मनोरंजन की। नारियों के इस प्रकार चित्रण असंयत, अपूर्ण एवं अस्वाभाविक हैं। नारी पात्रों में केवल 'जेनी' और 'राधा' का ही चित्रण सफल है। ये दोनों ही 'जीने के लिए' की पात्रियाँ हैं। प्रश्न उठता है, 'जीने के लिए' के बाद के सभी उपन्यासों में लेखक का नारी-चित्रण के प्रति ऐसा एकांगी भाव क्यों है? उनके सामने केवल बाह्य संसार ही क्यों है? घर में उनका कोई महत्व नहीं रहता? सम्भवतः राहुल जी उन्हें घर की लक्ष्मी न बनाकर रूस की स्वतन्त्र नारी के रूप में चित्रित करना चाहते हैं; पर स्वतन्त्र नारी के तो समाज के प्रति और भी

---

१. George Lukacs; "As such a figure Wilhelm Meister bears many personal traits of Goethe himself and his development contains innumerable episodes from the life of his creator." (The Historical Novel, 1962, P. 303

२. विचार और विवेचन, पृ० १२८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्त्तव्य बढ़ जाते हैं, अपने प्रति भी बढ़ जाते हैं, फिर ऐसी उच्छृंखलता किस प्रकार शोभनीय हो सकती है ?

पुरुष पात्रों के चरित्र-चित्रण में सबसे सफल चित्रण देवराज का हुआ है। उनके चित्रण में लेखक ने उनके नामों का भी उपयोग किया है, जैसे देवराज नाम से उसके सशक्त व्यक्तित्व का पता चलता है। सिंह और जय नामों से भी पात्रों की वीरता, साहस, निडरता आदि गुणों का प्रकाशन होता है, बुद्धिल से उसके बुद्धिवादी होने का पता चलता है, शान्तिल से शान्त प्रकृति का ज्ञान होता है। इस प्रकार अनेक पात्रों के नामकरण के द्वारा उनके चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। पर यह बात केवल कल्पित पात्रों के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है। स्त्री पात्रों का सामान्यत: स्वाभाविक नामकरण हुआ है, केवल एक-आध को छोड़कर, जैसे वर्दक (गुलाब) से उसकी सुन्दरता, कमनीयता आदि का बोध होता है। पर जहाँ नामकरण पात्र के स्थान, वर्ग, शिक्षा आदि के अनुसार हुआ है, वहाँ वह अधिक स्वाभाविक रहा है, जैसे लौटूसिंह, मंगरू, मैकूसिंह, लक्ष्मी, मुंगिया आदि निम्न अशिक्षित या अल्पशिक्षित वर्ग के बड़े सहज नाम हैं। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुओं के लिए बुद्धिल, संघिल आदि नाम अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

कहीं-कहीं अध्यायों के शीर्षकों द्वारा भी नायक के चरित्र पर प्रकाश पड़ा है, जैसे, शिकार और उपकार, प्रेम और आदर्श, स्वयंसेवक को सजा, सत्याग्रही (जीने के लिए), बुद्ध का अनुयायी (सिंह सेनापति), प्रेम या त्याग (जय यौधेय), संकल्प (मधुर स्वप्न), महाचीन की ओर, व्यस्त जीवन (विस्मृत यात्री), अतिथि ग्रह (दिवोदास) आदि।

पर चरित्र-चित्रण अधिकतर घटनाओं, पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं या उनके कथोपकथन के द्वारा किया गया है; विश्लेषणात्मक पद्धति का आत्मकथात्मक शैली वाले उपन्यासों में तो उपयोग भी नहीं हो सकता था, पर 'जीने के लिए', 'मधुर स्वप्न' और 'दिवोदास' में भी कहीं-कहीं ही चरित्रों पर लेखक की टीका-टिप्पणी मिलती है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र पात्रों के अनुभाव-चित्रण के द्वारा भी उनके चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है। एक-आध स्थल पर पत्रों के माध्यम से भी चरित्र-चित्रण किया गया है, जैसे 'जीने के लिए' में जेनी का अपूर्ण पत्र एनी ब्लंट पूरा करती है, और जेनी और एनी दोनों के अंशों से जेनी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। अज्ञेय के पात्रों की 'उद्धरण शैली'[1] का राहुलजी में अभाव है, पर 'दिवोदास' में पुरूरवा-उर्वशी के गीत की टीका-टिप्पणी से पौरवी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न है, लेखक ने इसका उपयोग यदा-कदा ही किया है। अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियों के अधिक समावेश न होने का कारण यह है कि राहुलजी के पात्र भी उन्हीं के अनुरूप सशक्त एवं सक्रिय चरित्र वाले तथा जीवन और जगत् के सम्बन्ध में सुस्पष्ट भाव या विचार रखने वाले हैं, इसलिए उनके मन में द्वन्द्व की स्थिति नहीं आती; जो कुछ वे करना चाहते हैं, वही वे करते हैं, और जो वे करते हैं, वही उन्हें

---

१. अज्ञेय के औपन्यासिक पात्र स्थान-स्थान पर विभिन्न कवियों-लेखकों के उद्धरण देते हैं, जिनसे उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। चरित्र-चित्रण की इस शैली को डा० रणवीर रांग्रा ने 'उद्धरण शैली' नाम दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके जीवन-दर्शन के अनुसार करना भी चाहिए।" अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं पात्रों के भीतर छिड़ा करता है, जिनके निकट जीवन और जगत् के मूल्य सुस्पष्ट नहीं होते, जो यह निश्चय नहीं कर पाते कि किसको किस पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए।···जिन पात्रों की आत्मा में बल होता है और जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है तथा जिनके निकट सामाजिक मूल्य सुस्पष्ट होते हैं, उनमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं उठ पाता। वे भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते और धैर्य से अपने पथ पर बढ़ जाते हैं।"[1]

इस प्रकार चरित्र-चित्रण में राहुलजी का ध्यान अधिकतर चरित्र के वाह्य रूप पर ही केन्द्रित रहा है। यदि डा० रांग्रा की उपमा ग्रहण करें, तो हिमनग (आइसबर्ग) के जल के ऊपर के भाग के समान वे चरित्रों के वाह्य, दृष्ट रूप को पकड़ने तक ही सीमित रहे हैं, हिमनग के जल के नीचे छिपे अधिकांश अदृष्ट अंश के समान चरित्र के अदृश्य, अप्रकाशित अन्तर्मन के चेतन एवं अवचेतन पक्षों को पकड़ने की उन्होंने कोशिश नहीं की है। अन्तर्मन के चेतन भाग को कभी-कभी छूने की चेष्टा उन्होंने अवश्य की है, पर अत्यधिक कम। यों ऐतिहासिक चरित्रों का निर्माण करने में लेखक के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह रहती है, कि उसके सामने कोई आदर्श नहीं होता। सुदूर अतीत के ऐतिहासिक चरित्र कभी हमारी आँखों के सामने न तो आते ही हैं और न विकसित होते हैं जब भी वे जन-साधारण के बीच से (अथवा अभिजात्य से) समय की आवश्यकतानुसार इतिहास में भी प्रकट होते हैं, तो अपने विकसित रूप में। इसलिए उनके चरित्र का विकास किस प्रकार हुआ, यह जानना कठिन है।[2] लेखक उनके पूर्व जीवन या चरित्र विकास के सम्बन्ध में केवल अनुमान लगा सकता है। अतः सिंह सेनापति, जय यौधेय, चन्द्रगुप्त, मज्दक, कवात्, नरेन्द्रयश, दिवोदास, राम्बर आदि के चरित्र चित्रित करते समय भी लेखक के सामने इसी प्रकार की इतिहास सम्मतता सम्बन्धी कठिनाइयाँ रही होंगी। उनकी (पात्रों की) ऐतिहा-

१. रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, पृ० ७५।

२. George Luckacs—"With the classics and their conception the historical figures practically never develop before our eyes. The genesis and development of the 'world historical individual' take place among the people. The great figures appear, as Balzac showed in the case of Scott, only at such points where the objective necessity of the popular movements imperatively requires their appearance. And then they appear as complete characters, as concentrations, as supreme forms of expression of this development. They are great because they possess this concentrating power, because they are able to answer the problems most deeply affecting the life oft he people at this moment. Like the Homeric heroes physically, they are intellectually taller than the people by a head. But their historical greatness lies in the fact that they are taller only by a head and that they give the socially-historically possible and necessary concrete answer to the concrete questions of the people." (The Historical Novel, p. 312.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिक महत्ता तो इस बात से सिद्ध होती ही है, कि अपने समय की समस्याओं का उन्होंने अपने ढंग से हल करने का प्रयास किया। अस्तु, हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा राहुलजी के सामाजिक उपन्यास 'जीने के लिए' में उनकी चरित्र-चित्रण की कला अधिक विकसित हुई, परिमाण एवं सूक्ष्मता दोनों ही दृष्टियों से। ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे सुन्दर चरित्र-चित्रण 'मधुर स्वप्न' में हुआ है और उसके बाद 'जय यौधेय' में।

जहाँ तक ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण के सृजन का प्रश्न है, लेखक ने उसके लिए पर्याप्त उद्योग किया है और इसमें उसे सफलता भी मिली है। वातावरण-निर्माण के साधनों में उसने कल्पित कथा, ऐतिहासिक शब्दावली, ऐतिहासिक वस्तु-वर्णन आदि साधनों का साहाय्य लिया है।

जहाँ तक राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशील तत्वों का प्रश्न है, उनके उपन्यासों में प्रगतिशील एवं प्रगति विरोधी—दोनों कोटियों के तत्व विद्यमान हैं। प्रगतिशीलता एवं प्रगतिशील साहित्यकारों के सम्बन्ध में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"प्रगतिशीलता जीवन के हर एक अंग—ज्ञान और कर्म दोनों—से सम्बन्ध रखती है और जरूरी है कि उनके प्रति प्रगतिशील साहित्यिक अपने दृष्टिकोण को साफ-साफ समझें।···प्रगतिशीलता कभी अपने को अपनी पूर्वगामी संस्कृति-धारा की विरासत से महरूम नहीं कर सकती···प्रगतिशील लेखकों के बारे में कभी-कभी आक्षेप सुना जाता है कि वह नग्नता, अश्लीलता और यौन दुराचार को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। दरअसल यदि कोई प्रगतिशील लेखक ऐसा करता है, तो वह भारी गैर-जिम्मेवारी दिखलाता है और प्रगतिशील कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं हो सकता।"[1] परन्तु, स्वयं राहुलजी अपने उपन्यासों में इन दोषों से बच नहीं सके हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर पूर्वगामी भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकार को झुठलाते हुए वाल्मीकि, वेदव्यास और कालिदास को चाटुकार घोषित कर (जय यौधेय) भारतीय जनता की श्रद्धा-भावना को ठेस पहुँचाई है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर उन्होंने नग्न, अश्लील एवं अशोभन चित्रण कर (सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न, जय यौधेय), पाठकों की वासना को उभाड़कर, उनकी वृत्तियों को अधोमुखी करने की चेष्टा कर एक बड़े अनुत्तरदायित्व का कार्य किया है। वे भूल जाते हैं कि प्रगतिशील साहित्य में नारी का चित्रण उसके सम्मान एवं उसकी स्वाधीनता का पक्षपाती है, न कि उसकी नग्नता का।

इन कमियों के बावजूद राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशीलता के जिन तत्वों की संगति पाई जाती है, उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

१. जन-शक्ति के स्रोत का आह्वान और उपयोग—'जीने के लिए', 'बाईसवीं सदी', 'सिंह सेनापति' 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

२. प्राचीन भारतीय परम्परा से दिशा-निर्देश—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' से गणतांत्रिक प्रणाली के गुण-दोषों का दिग्दर्शन।

३. प्राचीन भारत के पर्यटकों का दृष्टांत देकर हमें संसार देखने की प्रेरणा देना—'विस्मृत यात्री' से।

१. आज की समस्याएँ (लेख—प्रगतिशीलता का प्रश्न), पृ० ४४-४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. सामन्तवाद के दोष दिखाकर जनतन्त्रवाद में हमारी आस्था बढ़ाना—'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

५. अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना—'जीने के लिए' और 'मधुर स्वप्न' में।

६. अपने आदर्शों के लिए बलिदान हो जाना—देवराज, जेनी, जय यौधेय और मज्दक।

७. नारी को दायित्वपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देना—जेनी और रोहिणी।

इस प्रकार इन उपन्यासों से हमें सामंती शोषण-चक्र हटाकर जन-जागरण, जन-स्वातंत्र्य, नारी स्वातंत्र्य एवं आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक रूढ़ियों से मुक्त होने और 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा मिलती है और अतीत की सुन्दर-श्रेय परम्पराओं से सम्बन्ध स्थापन करने की भी।

अन्त में, यदि हम राहुलजी की उपन्यास-कला के विकासात्मक अध्ययन का प्रयास करें, तो हमें निराश होना पड़ता है, क्योंकि उनकी उपन्यास-कला का विकास वक्र-गति से हुआ है, अर्थात् उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'बाईसवीं सदी' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण—दोनों दृष्टियों से एक असफल रचना है, 'जीने के लिए' हर दृष्टि से एक सफल सामाजिक उपन्यास है, तीसरी कृति 'सिंह सेनापति' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सामान्य है, उसके बाद 'जय यौधेय' में इन दोनों ही दृष्टियों से एवं कलात्मक नियंत्रण की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है, 'मधुर स्वप्न' में कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की कला पुनः विकसित हुई है, पर भाषा सम्बन्धी कृत्रिमता आ गई है, 'विस्मृत यात्री' फिर उपन्यास के रूप में खपती नहीं, 'दिवोदास' पुनः सामान्यतः एक सफल लघु उपन्यास है। ऐतिहासिक वातावरण-चित्रण की दृष्टि से 'सिंह सेनापति' एवं 'मधुर स्वप्न' के प्रयास प्रशंसनीय हैं। ऐतिहासिक आधार की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सर्वाधिक प्रौढ़ कृतियाँ हैं। समष्टिगत रूप से 'जय यौधेय' राहुलजी का सर्व-श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है और 'सिंह सेनापति', 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सामान्यतः सफल ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'सिंह सेनापति' के साथ ही हिन्दी के ऐति-हासिक उपन्यासों की एक नई परम्परा का और 'जीने के लिए' के साथ सामाजिक उपन्यासों की समाजवादी धारा का प्रवर्तन हुआ, यह कहने में तो कोई अत्युक्ति ही नहीं। निस्संदेह सभी उपन्यास सामाजिक सोद्देश्यता से अनुप्राणित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रकांत बांदिवडेकर

चित्रलेखा : एक पुनर्मूल्यांकन

चित्रलेखा एक बहुचर्चित उपन्यास है और हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा में इस महत्व-पूर्ण बिन्दु की उपेक्षा प्रायः नहीं की जा सकती। हिन्दी आलोचना की एक कमी यह है कि आलोचना जितनी कलाकृति की समस्या एवं सामाजिक, आर्थिक परिवेश को लेकर की जाती है, उतनी कलात्मक मूल्यों को लेकर नहीं की जाती। फलतः किसी उपन्यास को उसके कलाबाह्य मूल्यों के कारण अत्यधिक महत्व दिया जाता है अथवा किसी सुन्दर उपन्यास की उपेक्षा भी हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही मन्तव्य है कि 'चित्रलेखा' का मूल्यांकन उसकी समस्यामूलकता को लेकर किया गया है, परिणामतः उसकी कला-त्मकता की उपेक्षा भी हुई है। समस्या के विवेचन में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। किसी ने, पाप-पुण्य की समस्या वस्तु के अन्तरंग से प्राणवत् जुड़ गई है और आरोपित नहीं की गई है, इसलिए लेखक की सराहना की है।[1] तो किसी ने समस्या की एकांगिता के लिए लेखक को दोष भी दिया है।[2] कोई आलोचक प्रवर इसलिए भी खीझे हुए हैं कि वर्माजी ने भारतीय साधना एवं संस्कृति का मज़ाक उड़ाने का प्रयत्न किया है। इन सब चर्चाओं के बीच चित्रलेखा के कलात्मक मूल्यों की प्रायः उपेक्षा ही हुई है।

चित्रलेखा का आलोचक इस बात को स्वीकार करता है कि यह कुल मिलाकर एक सफल कलाकृति है परन्तु उसके विचारों से असहमति प्रकट करने को विवश-सा हो जाता है। वैसे श्रेष्ठ रचना की आवश्यक शर्त इसमें अवश्य पूर्ण होती है—शर्त यह है कि पाठक उसके विचारों से भले ही असहमत हो, उसके प्रभाव से अपने को अस्पृष्ट नहीं रख सकता। प्रश्न यह है कि क्या 'चित्रलेखा' में यह असंगति इतनी प्रकट है या इसका कोई दूसरा समाधान उपलब्ध हो सकता है? जहाँ तक 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' की बात है, चित्रलेखा पाप-पुण्य की समस्या से सम्बन्धित उपन्यास है, यह लेखक ने स्वयं ज़ोर देकर कहा है और बीच-बीच में उपन्यास के अन्तर्गत उसके लिए छुटपुट वाक्यों में प्रमाण भी मिलते हैं। परन्तु कभी यह भी होता है कि लेखक का अपना मन्तव्य कुछ और होता है और उपन्यास की वस्तु कुछ और बात का संकेत करती है। सम्भवतः ऐसे प्रसंग में यह किसी उपन्यासकार ने कहा है कि पात्र उपन्यासकार की उंगली पकड़कर उसको अपने साथ घसीट ले जाते हैं। 'चित्रलेखा' में कुछ ऐसा ही हुआ है। चित्रलेखा की 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' को छोड़कर इस उपन्यास को पढ़ा जाय तो सम्भवतः पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव और उसकी समस्या-विषयक धारणा के बीच की असंगति बहुत दूर हो सकती है।

पर्सी ल्यूबक का उपन्यास के रूप में संबंध में एक मन्तव्य बहुत रोचक है : "A subject, one and whole and irreducible—a novel cannot begin to take

१. देखिए : डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास' पृ० ३६८।
२. देखिए : शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास', पृ० २२९—३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

shape till it has this for its support. It seems obvious; yet there is nothing more familiar to a novel-reader of to-day than the difficulty of discovering what the novel in his hand is about, what was novelist's intention, in a phrase. If it cannot be put into a phrase it is no subject for a novel; and the size or the complexity of a subject is in no way limited by the assertion. It may be the simplest anecdote or the most elaborate concatenation of events, it may be a solitary figure or the widest network of relationships; it is anyhow expressible in ten words that reveal its unity. The form of the book depends upon it, and until it is known there is nothing to be said of the form."

'चित्रलेखा' उपन्यास का रूप 'पाप और पुण्य की समस्या' को मूलाधार मानकर मूर्त किया जा सकता है ? सम्भवतः नहीं। तो फिर चित्रलेखा का सुन्दर रूप किस बिन्दु से व्याख्यायित किया जा सकता है ? 'चित्रलेखा' कुमारगिरि या बीजगुप्त की कथा नहीं है, वह मुख्यतः 'चित्रलेखा' की कथा है और जीवन के भौतिक धरातल पर वासना के माध्यम से प्रेम की उदात्त भावभूमि पर आरोहण करने का चित्रलेखा का प्रयत्न इस उपन्यास का मुख्य विषय है। इसी को पर्सी ल्यूबक के शब्दों में 'मास्टर मोटिव' कहा जा सकता है। चित्रलेखा की कथा, उसके चरित्र तथा रसात्मक प्रसंगों की पृथक विवेचना सुविधाजनक हो सकती है परन्तु उपन्यास के रूप की अथवा शिल्प की प्रतीति उससे नहीं आ सकती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उपन्यास के विविध अंगों की स्वतन्त्र चर्चा न करते हुए उपन्यास के मुख्य विषय को दृष्टिगत रखते हुए विश्लेषण किया जाय।

उपन्यास के पहले परिच्छेद में जीवन का सुख 'मस्ती' में और यौवन का सार 'उल्लास विलास' में देखने वाली चित्रलेखा को 'वर्तमान' में जीने का प्रयत्न करने वाली 'मादकता' के साकार प्रतिरूप में हम देखते हैं। उसका अतीत ही ऐसा है कि जिसको याद करते रहने से टीस और निराशा के सिवाय कुछ हाथ आने वाला नहीं था। विधवा का संयम उसने किया था, कृष्णादित्य के द्वारा उस तपस्या का भंग भी हुआ था और उसकी मृत्यु के बाद फिर उसने संयम का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया, परन्तु बीजगुप्त के रूप में नियति ने उसे यह करने नहीं दिया। जिस संयम के रास्ते में दो बार उसको डिग जाना पड़ा, उस पर फिर से चलने का प्रयास बुद्धिमती और स्वाभिमानी चित्रलेखा के लिए अपमानजनक और अतार्किक था। कोई आश्चर्य नहीं, अप्रतिरुद्ध जीवन शक्ति से भरी-पूरी चित्रलेखा भूत और भविष्य का विचार न करते हुए वासना-प्यास-तृप्ति के मार्ग पर बेतहाशा दौड़े और वर्तमान के क्षण में जितना सुख सिमटकर आ जाये, उतना कसकर पकड़ने का प्रयत्न करे। पाप का पता लगाने के लिए ऐसे स्थान पर कोई आ जाय तो वासना को पाप का पर्याय समझने वाले भारतीय मन को उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

वासना और यौवन की मस्ती की इस पार्श्वभूमि पर दूसरे परिच्छेद में वासना को दमित ही नहीं, उसको उत्पन्न न होने देने का प्रयास करता हुआ, शान्ति और संयम की साधना करने वाला शून्यसाधक कुमारगिरि हमारे सामने उपस्थित होता है। लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी चतुराई से संकेत करता है कि संयम, दमन और समाधि के बावजूद इस व्यक्ति का 'अहम्' अभी जीवित ही नहीं, मजबूती से खड़ा है। इसीलिए उसके मत में निश्चितता भी है और असहिष्णुता भी। चित्रलेखा और बीजगुप्त के ठीक विपरीत वह अत्यन्त निस्संदिग्ध शब्दों में कहता है—"वासना पाप है, जीवन को कलुषित बनाने का एकमात्र साधन है।" इसीलिए विशालदेव का यहाँ सहज स्वागत नहीं है जो श्वेतांक को बीजगुप्त के यहाँ मिला।

ब्रह्मचारी, अनुभवहीन, तरुण श्वेतांक चित्रलेखा के मस्ती से भरे कथनों का शिकार हो जाता है। उसके द्वारा अपमानित किया जाता है और अनजान में एक अबोध बालक को चित्रलेखा अपने यौवन की मादकता का शिकार भी बनाती है। जीवन का सच्चा स्वरूप दिखाने के बहाने चित्रलेखा उसे अपने हाथों शराब भी पिलाती है जिसको इन्कार करना श्वेतांक के लिए असम्भव है, क्योंकि चित्रलेखा के मादक व्यक्तित्व का नशा उस पर पहले से ही चढ़ा हुआ है। यहीं पर बीजगुप्त के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति का भाव पैदा होता है। चित्रलेखा के प्रति अपने अनधिकार प्यार की स्वीकृति ही श्वेतांक नहीं देता, बल्कि यह भी बता देता है कि अगर चित्रलेखा समर्पण करती तो सम्भवतः वह अपने विश्वासघात की सूचना भी बीजगुप्त को न देता। बीजगुप्त अपने सहज औदार्य के कारण श्वेतांक को क्षमा ही नहीं करता, बल्कि जीवन की जटिलता और उनका जानकार बीजगुप्त उसको आत्म-परीक्षा के लिए सदैव उद्यत रहने का उपदेश भी देता है।

कुमारगिरि और बीजगुप्त—जीवन के प्रति परस्पर विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाली इन दो समानान्तर रेखाओं का अकस्मात् मिलन भी संयोगवशात् हो जाता है जो चौथे परिच्छेद का प्रारम्भ है। नर्तकी चित्रलेखा का मोहक स्वर-संगीत और सौन्दर्य, कवित्व और वासना की मस्ती के अहंकार से परिपूर्ण व्यक्तित्व में अद्भुत विचार-शक्ति और प्रतिभा भी थी। वासना और विरक्ति का यह सामना न केवल तर्क या विचार-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि मनोविज्ञान का भी एक अध्याय है। प्रायः विचार या दर्शन-चर्चा से परिपूर्ण वार्तालाप कथा की कला को नुकसान पहुँचाते हैं परन्तु यहाँ ये तर्क-प्रतितर्क कुमारगिरि और चित्रलेखा के व्यक्तित्वों को उभार देने और विशिष्टता देने में सहायक हो जाते हैं, फिर लेखक की चिन्तनशील मुद्रा के अनुसार इन चिन्तनशील पात्रों का संयोजन कथा की अनिवार्यता भी है। बौद्धिक घात-प्रतिघात, व्यंग्य, वाग्बाण एवं उपहास से जीवन्त इन सम्वादों द्वारा दोनों के दृष्टिकोण ही नहीं प्रकट होते, बल्कि दोनों के विरोध की तीव्रता के नीचे आकर्षण का अजस्र प्रवाह भी बहने लगता है। "योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य। एक विचित्र बात थी। दोनों एक-दूसरे से सन्तुष्ट न थे; पर प्रभावित अवश्य थे। दोनों ने एक-दूसरे में आकर्षण देखा, योगी ने ज्ञान का और नर्तकी ने सौन्दर्य का···" चित्रलेखा की तीव्र वासना अब एक नये आलम्बन को चाह रही है और सम्भवतः उसकी अप्राप्यता की सम्भावना ने उसके अभिमान को तीव्र ठोकर देकर उसे योगी की ओर अधिक उन्मुख किया है। प्रौढ़ वयस्क के इस आकर्षण ने चित्रलेखा को अधिक चतुर भी बनाया है—वह एक ओर बीजगुप्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गले लगकर अपने प्रणय की दुहाई भी दे सकती है और उसी समय मन-ही-मन यह भी कहती है—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है'। उपन्यास की कथा का यह बीज है या संघर्ष का मूलारम्भ है।

कुमारगिरि के दर्शन की कसौटी तर्क नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव है और जड़वादी चाणक्य के साथ तार्किक वाग्युद्ध में पराजित कुमारगिरि को ईश्वर के दर्शन कराने के सिवाय विजय का कोई दूसरा रास्ता नहीं रहा। अपमानित चित्रलेखा को योगी पर विजय प्राप्त करने का खासा अवसर भी मिला और उसने योगी के माया-जाल का भण्डाफोड़ कर विजय का मुकुट स्वयं प्राप्त किया। योगी के अपमान पर नमक छिड़कने के बहाने द्रव्य के रूप में मुकुट योगी के सिर पर रखकर नर्तकी ने नृत्य आरम्भ किया, परन्तु सहृदय से छिपा नहीं रहता कि यह भी उस वासना से तड़पती हुई नारी की विलास-लीला का ही एक बड़ा ही विचित्र एवं गहन-गूढ़ मनोवैज्ञानिक अस्त्र था। नृत्य की परिसमाप्ति के तुरन्त उपरान्त चित्रलेखा अपमानित और क्रुद्ध योगी के पीछे दौड़कर यह स्वीकार करती है—"मैं तुमसे पराजित हुई।" यह पराजय की झूठी स्वीकृति भी योगी के निकट पहुँचने का एक नारी जनोचित साधन-मात्र था। क्योंकि चित्रलेखा का अपने हाथों मुकुट पहनाना कुमारगिरि को नहीं खलता। रात के उस उद्दीप्त वातावरण में चित्रलेखा की वासना ने एक विचित्र रूप धारण किया—उसने कहा, "मैं आई हूँ, अपने ऊपर विजय पाने वाले से दीक्षित होने के लिए।" इसका परिणाम यह हुआ—"आज तक कुमारगिरि ने सौन्दर्य की ओर ध्यान न दिया, प्रेम और वासना का क्षेत्र उसके लिए नया था। उस सौन्दर्य से योगी के हृदय में एक हल्का-सा कम्पन हुआ। प्रथम बार योगी ने इस कम्पन से युक्त सांसारिक सुख का अनुभव किया।" कुमारगिरि अपनी दुर्बलता को पहली बार अनुभव करता है परन्तु उसका 'अहम्' इतना प्रबल है कि वह इसकी स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं है। पर विचार करने के लिए समय देकर लौटने वाली नर्तकी को कुमारगिरि देखता है—"वह उस अतृप्त शराबी की भाँति चित्रलेखा को देख रहा था, जिसको संज्ञाहीन हो जाने का भय हो और जिसके सामने सुगन्धित मदिरा बह-बहकर धूलमें मिली जा रही हो।" फिर उसने चित्रलेखा का शृंगार देखा और शृंगार-भार से पुलकित सौन्दर्य देखा; उसने मदिरा देखी और मादकता देखी। उसने इच्छा का अनुभव किया, और इच्छा की मनोहरता का भी अनुभव किया। एकाएक उसके हृदय में यह प्रश्न उठा—"स्त्री क्या है, और सौन्दर्य क्या है ? भगवान् ने इन चीजों की रचना क्यों की है ? प्रश्न अनुचित था, वर्षों की चिर-संचित विचारधारा ने कहा—क्या मैं अपने मार्ग से विचलित हो रहा हूँ ? आखिर योगी को हारकर अपनी दुर्बलता की स्वीकृति ही देनी पड़ी। योगी के दीक्षा देने से इन्कार करने पर चित्रलेखा की निराशा में उसकी वासना ने एक ही रूप लिया—निराशा, वेदना, याचना, विवशता, विनम्रता तथा शालीनता अनेक भावों के अद्भुत रसायन से अपने भाषण को भरापूरा बनाकर अन्तिम शस्त्र—शारीरिक स्पर्श से वह योगी को अपनी ओर खींचना चाहती है—कुमारगिरि चौंक उठा। वह इस प्रकार से चित्रलेखा के पास से हट गया, जिस प्रकार वह मनुष्य चौंक कर हटा हो, जो सर्पिणी के पास तक उसे बिना देखे हुए पहुँच जाता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी समय जब सर्पिणी उसे डसना चाहती है, कोई दूर खड़ा हुआ व्यक्ति उसे सचेत कर देता है !"—'हाय रे भाग्य' कहती हुई चित्रलेखा ने कुमारगिरि को पूर्णतः विचलित कर दिया था और अब उसके स्वर में वह दीनता और याचना नहीं, बल्कि 'मृदुल गम्भीर स्वर में आज्ञा देने वाली स्वामिनी का गुरुत्व था"—वह गुरुदेव से कहती है—"तुमको मुझे दीक्षा देनी ही होगी !"—उसके चले जाने पर संयम और मानसिक शान्ति का साधक कुमारगिरि विशालदेव का हाथ जोर से पकड़कर कहता है—'तुम मूर्ख हो।' चित्रलेखा की कुमारगिरि को पाने की लालसा या वासना की ये विभिन्न अभिव्यक्तियाँ फ्रायड की 'नियति' की शक्ति का बोध करा देने में समर्थ हैं।

कुमारगिरि और चित्रलेखा के परस्पर तीव्र वासनात्मक आकर्षण के विभिन्न रूपों को कंपित करने के उपरान्त लेखक पाठक को बीजगुप्त के पास ले जाता है जिसने पहचाना है कि चित्रलेखा और कुमारगिरि दोनों ही अहंभाव से भरे हुए ममत्व के दासों का यह मिलन दोनों के नाश का बीज है। वह एक अजीब-सा अकेलापन महसूस करता है और अपनी व्यथा का भार श्वेतांक के सामने हल्का करना चाहता है। परन्तु उसका सहज आभिजात्य उसे अधिक मुखर होने से रोकता है। चित्रलेखा के पास आए हुए श्वेतांक को वह भोजन खिलाती है, मदिरा पिलाती है और अपने स्नेह का आभास देकर उससे प्रतिज्ञा भी करवाती है कि वह कुमारगिरि से सम्बन्धित उसका राज छिपाकर रखे। वह उससे कहती है—'मेरा और कुमारगिरि का युग-युगान्तर का सम्बन्ध है।' कुछ ही दिन पहले उसने बीजगुप्त के सम्बन्ध में भी इसी दृढ़ता से बात कही थी। अपनी शक्ति से भलीभाँति परिचित वह नारी आत्म-विश्वासपूर्वक श्वेतांक का हाथ पकड़कर उसे आज्ञा देती है कि वह इस रहस्य को अभी गुप्त रखे। उन्माद, मस्ती, वासना को जीवन का सार-सर्वस्व समझनेवाली यह प्रमदा बीजगुप्त को तब तक छोड़ना नहीं चाहती, जब तक कुमारगिरि की ओर से आश्वस्त नहीं हो जाती—यह व्यावहारिक चतुराई है। इस दुःख को बीजगुप्त झेलता है—मदिरा के पात्र के आधार पर और उससे भी अधिक अपने जीवन विषयक दृष्टिकोण के बल पर—परिस्थितियों का चक्र और पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान। वासना के रास्ते पर सरपट दौड़नेवाले कुमारगिरि और चित्रलेखा के बीच बीजगुप्त का यह गंभीर व्यक्तित्व अधिक निखर उठता है।

चित्रलेखा की दोलायमान अवस्था में उसकी बीजगुप्त के प्रति उदासीनता या किंचित तनाव स्वाभाविक था और फलतः दोनों के व्यवहारों में कुछ औपचारिकता, कुछ रूखापन और कुछ अविश्वास पैदा हो गया है (आठवाँ परिच्छेद)। एक-दूसरे के अधिकार की, स्वामित्व की बड़े व्यंग्यात्मक रूप में पूछताछ हो रही है। कहीं अपने सन्देह को सैद्धान्तिक रूप देकर व्यक्त किया जा रहा है तो कहीं सिद्धान्तों की आड़ में अपने मन की गुत्थियों एवं वास्तविकता को छिपाकर रखने का प्रयास है। बीजगुप्त अपने प्रेम की व्याकुलता को सैद्धान्तिक आवाज में बाँधकर व्यक्त करने को विवश है। यहाँ पर बीजगुप्त एक नये रूप में हमारे सामने आता है वह एक बहुत बड़ा सत्य जान गया है और वह यह कि चित्रलेखा केवल उसकी वासना तृप्ति का सुन्दर, मादक साधन-मात्र नहीं है, वह उसको प्यार करता है। अब वासना और प्रेम में वह स्पष्ट अन्तर कर सकता है—प्रेम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सम्बन्ध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं। जिस वस्तु का सम्बन्ध प्रकृति से है, वह वासना है, क्योंकि वासना का सम्बन्ध वाह्य से है। वासना का लक्ष्य वह शरीर है जिस पर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है। प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, आत्मा का नहीं। आत्मा का सम्बन्ध अमर है।" बीजगुप्त की इन मान्यताओं से मतभेद निस्सन्देह हो सकता है, परन्तु यह इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि वासना, उन्माद, मादकता इत्यादि के परे ऊपर उठकर कुछ स्थायी, कुछ उदात्त, कुछ आत्मिक (चाहे वह शरीर का ही सूक्ष्मतम रूप हो) सम्बन्धों की अनुभूति वह अपने हृदय में कर रहा है। वासना के धरातल से प्रेम के धरातल पर उसका यह आरोहण सम्भवतः चित्रलेखा के योगी की ओर आकर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली पीड़ा का परिणाम है। परन्तु चित्रलेखा अभी भी बीजगुप्त के गले में हाथ डालकर उन्माद की पूर्ति करना चाहती है।

बीजगुप्त को अपने प्रेम की कड़ी परीक्षा देनी है और चित्रलेखा को भी बीजगुप्त को त्याग के आवाज में छोड़कर कुमारगिरि के निकट आना है—यशोधरा का उपन्यास में प्रवेश इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करता है। बीजगुप्त अपनी परीक्षा में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होता है, क्योंकि समाज के सामने अपने और चित्रलेखा के सम्बन्ध को विवाह से कम महत्व नहीं देता। उससे उत्पन्न सन्तान औरस नहीं होगी और उसकी सम्पति की अधिकारी नहीं होगी, इस तथ्य को जान लेने पर भी वह अपने निश्चय से विचलित नहीं होता। यशोधरा के विवाह के प्रश्न को लेकर लेखक ने बीजगुप्त, चित्रलेखा और कुमार-गिरि के आन्तरिक गहन-गूढ़ भावों को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है। कुमारगिरि चित्रलेखा को याद दिलाकर कि वह विराग के जीवन को अपनाने का निश्चय कर चुकी थी, उसे बीजगुप्त से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रहा है और कुमारगिरि की ओर आकृष्ट चित्रलेखा बीजगुप्त को यशोधरा से विवाह करने का आग्रह करती है—बीजगुप्त के चले जाने पर वह मृत्युंजय को विश्वास भी दिलाती है। यह प्रेम नहीं है, वह त्याग भी नहीं है, पर केवल कुमारगिरि की ओर ठेलनेवाली वासना ने एक नया रूप लिया है। कुमारगिरि इस मर्म को भलीभाँति जानता है......"बहुत सम्भव है चित्रलेखा स्वयं ही बीजगुप्त को छोड़ देने पर प्रस्तुत हो..."

लेखक ने चित्रलेखा के प्रेम (१) के विविध स्थित्यंतरों को दिखाया है (ग्यारहवाँ परिच्छेद) जिसमें विधवा जीवन का ताप और संयम, प्राकृतिक प्रेम, पिपासा, उग्र इच्छा, आत्म-विस्मरण, मादकता, अधिकाधिक तीव्र सम्वेदनाओं के लिएउ त्तेजक मदिरा, एक प्रेमी के होते हुए दूसरे के प्रति तीव्र आकर्षण इत्यादि अवस्थाएँ क्रमशः आ गयीं। इसका एक ही अर्थ है—वासना कभी तृप्त नहीं होती, वह अधिकाधिक आहुति चाहती है। चित्रलेखा की सारी जीवन यात्रा वासना की तृप्ति को मिटाने की सामग्री जुटाने का प्रयत्न है। वह केसरिया वस्त्र पहनकर कुमारगिरि की कुटी में चली जाती है और उससे स्पष्ट शब्दों में कहती भी है—"योगी! अपनी विजय और पराजय की अवहेलना करके एक बार तुम मुझसे सच बोले थे, मैं भी तुमसे सच ही कहूँगी—मैं तुमसे प्रेम करने आई हूँ।" फिर यह प्रेम (?) सेवा, भक्ति इत्यादि का भी स्वांग भरने लगता है कि योगी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्ध प्रेम (?)—वासनारहित प्रेम की सम्भावना मानकर और ईश्वर की इच्छा समझकर चित्रलेखा को दीक्षा देना स्वीकार करता है। "भगवान् की इच्छा है कि मैं संसार-स्थित वासनाओं से युद्ध करूँ—तो फिर ऐसा ही हो।" स्पष्ट है कि यह योगी की वासना ही है जो भगवान की इच्छा के रूप में अपना समर्थन करती है। योगी की इस कमजोरी पर विशालदेव की मुस्कराहट योगी के अभिमान को उभाड़कर उसे क्रुद्ध करती है और वह निश्चय कर लेता है कि चित्रलेखा उसी की कुटी में रहेगी।

मुख्य कथा से यशोधरा की उपकथा इस तरह जुड़ी हुई है कि इसे उपकथा भी कहना ठीक नहीं जान पड़ता। यशोधरा को लेकर श्वेतांक के जीवन में भी एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। बीजगुप्त भी चित्रलेखा की उदासीनता के कारण यशोधरा की ओर किंचित उन्मुख है। वह देखता है कि उसका सेवक श्वेतांक भी यशोधरा को देखकर मादक क्षणों का अनुभव कर रहा है। परन्तु उदारचेता बीजगुप्त इस बात को सहज हास्य के बल पर सह लेता है—"यही जीवन है।" बीजगुप्त मन-ही-मन चित्रलेखा और यशोधरा की तुलना भी करने लगा, परन्तु चित्रलेखा से प्रेम करता था; चित्रलेखा को छोड़ देना उसके लिए असम्भव था। चित्रलेखा का छोटा-सा पत्र जो 'मनोविज्ञान का एक सम्पूर्ण ग्रन्थ था' पाकर बीजगुप्त की प्रतिक्रिया देखिए······"पढ़ते-पढ़ते उसके हाथ काँपने लगे। उसका मुख पीला पड़ गया। उसका हृदय धड़कने लगा। उसने पत्र श्वेतांक को दिया और अपना मुख ढाँपकर वह अपने शयनगृह में चला गया।" उस गहरी आत्मिक पीड़ा से वह अनुभव करता है कि—"वह केवल एक स्त्री से प्रेम करता था—वह चित्रलेखा थी।" वह चित्रलेखा को योगी की कुटी से ले आने का अन्तिम प्रयत्न करता है। उसमें किसी प्रकार की भावुकता नहीं, यद्यपि प्रेम का अनुरोध अवश्य है। वह चित्रलेखा के बीजगुप्त को सुखी करने के सतही उद्देश्य का पर्दा भी खोल देता है और एक गंभीर व्यक्ति की भाँति चित्रलेखा को सूचना देकर लौट आता है—"जो कुछ कहना था, कह चुका, मानना और न मानना तुम पर निर्भर है। जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही सही; पर थोड़े दिनों के बाद ही तुमको स्पष्ट हो जाएगा कि तुम ग़लती कर रही हो।"---जाते समय चित्रलेखा राजमार्ग पर बीजगुप्त का चुम्बन लेती है। कुमारगिरि के प्रति आकर्षित यह नारी बीजगुप्त के प्रति क्षमा-निवेदन भी करती है—"बीजगुप्त ! संभवतः मैं अनुचित कर रही हूँ—उसके लिए क्षमा करना।" फिर उसी सांस में कुमारगिरि से यह भी कहती है कि मैं आपको धोखा नहीं दे रही हूँ—इतना विश्वास रखिए गुरुदेव ! बहुत सम्भव है कि मैं बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ या अपने ही को।" फिर साधना या तपस्या के नाम पर एक बड़ा झूठ पनपने लगता है।

चित्रलेखा का अभाव भूलने के लिए बीजगुप्त काशी यात्रा पर जा रहा है परन्तु उसकी अनिच्छा के बावजूद उसे यशोधरा को साथ ले जाना पड़ता है। लेखक सम्भवतः यशोधरा के साथ बीजगुप्त को रखकर उसे अपने प्रेम की परीक्षा करने के लिए बाध्य-सा बना देता है। यशोधरा को भी जीवन में न आने देना एक प्रकार से पलायन है जोकि बीजगुप्त के विचारों से (जैसा कि लेखक ने उसको रखा है) प्रतिकूल है। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी होते हैं और फलस्वरूप उधर श्वेतांक का मन अपने स्वामी के प्रति ईर्ष्या,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रोध, मत्सर, खीझ इत्यादि भावों से भरकर बीच-बीच में विस्फोटित भी होता है।

इधर कुमारगिरि के साथ चित्रलेखा को रखकर चित्रलेखा के असली व्यक्तित्व की परीक्षा भी लेखक कर रहा है। वह वासना से प्रताड़ित होकर कुमारगिरि के समीप अवश्य आयी है परन्तु उसकी वासना के मूल में कुछ अन्य भाव भी रहते हैं। चित्रलेखा के व्यक्तित्व में दूसरे को आकर्षित कर दबा देने की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी (सोलहवाँ परिच्छेद) जिसका उपयोग वह अनजाने करती रहती थी। कुमारगिरि अब न समाधि में मन लगा सकते हैं, न समाधि लगाना ही चाहते हैं। वे जीवन के बीच भँवर में पड़कर जान गये हैं कि "विराग मनुष्य के लिए असम्भव है, क्योंकि विराग नकारात्मक है।" कुमारगिरि को अपने प्रति आकर्षित ही नहीं, उत्तेजित और आक्रामक रूप में देखकर चित्रलेखा के मन में परिवर्तन आने लगा। उसने अपनी प्रवृत्तियों का अधिक बारीकी से निरीक्षण किया। कुमारगिरि से वह प्रेम करने आई थी परन्तु उनसे वह प्रेम नहीं कर सकती थी, न उनसे कुछ सीख सकती थी। कुमारगिरि के साथ रहकर वह उसको साधना से च्युत कर रही थी। जिस कुमारगिरि को जीतने की, उसके विरक्ति-मार्ग का मजाक उड़ाने की और कुमारगिरि द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने की तीव्र इच्छा उसके अन्तःकरण में सम्भवतः प्रारम्भ से गहरे घुस गयी थी, वह साध पूरी हो गयी—अब अपने अहं को तुष्ट करने के लिए उसे कुमारगिरि की आवश्यकता नहीं थी, अतः उसके प्रति वासना भी क्षीण होने लगी। उसके मन में बीजगुप्त के पास जाने की इच्छा उत्पन्न हो गयी। लेखक को चाहिए था कि इस समय चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त के प्रति छिपे हुए प्रेम को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराये। यह भी आवश्यक था कि कुमारगिरि के प्रति उसकी वासना के क्रमशः लुप्त होने का अधिक विश्लेषण सम्वेदनाओं के धरातल पर वह करता। यहाँ लेखक ने कभी संकेत से या वर्णन से काम लिया है। फलतः एक ऐसा प्रभाव पाठक पर पड़ने लगता है कि जैसे लेखक कहानी के सूत्रों को शीघ्रातिशीघ्र समेटने का प्रयास कर रहा है। चित्रलेखा कुमारगिरि से स्पष्ट शब्दों में कहती है : "मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो; पर मैं तो तुमसे प्रेम नहीं करती! एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया।··· यहाँ मैं स्वामिनी हूँ, तुम दास हो। मैंने तुम पर आधिपत्य जमा लिया है, तुमने आत्म-समर्पण कर दिया है।"···कुमारगिरि को अपनी कमजोरी, दुर्बलता एवं पराजय का भान होता है और उसका अहं फूटकर चित्रलेखा पर विजय प्राप्त करना चाहता है और इस आत्मिक विजय में चित्रलेखा का योग चाहता है। एक अद्भुत रसायन योगी के मन में पैदा होता है : वह चित्रलेखा पर किसी प्रकार जबर्दस्त प्रहार करना चाहता है और आत्मा और साधना के आवरण में उसके लिए शक्ति संचित कर रहा है। विरक्ति मार्ग की यह परिणति कहाँ तक होगी, इसके लिए पाठक के मन में अतीव जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है।

उधर बीजगुप्त, यशोधरा और श्वेतांक का भी एक प्रेम-त्रिकोण उत्पन्न हो रहा है। श्वेतांक के मन में बीजगुप्त के प्रति क्रोध और ईर्ष्या तीव्र रूप ले रही है और वह असहनशील एवं उद्दण्ड बनता जा रहा है। बीजगुप्त भी यशोधरा के प्रभाव में आ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की माँग उससे विवाह करने के लिए प्रेरणा दे रही है परन्तु चित्रलेखा के प्रति प्रेम उसको यह करने नहीं देता। पशोपेश में पड़ा हुआ बीजगुप्त काशी से पाटिलीपुत्र लौट आता है।

इधर कुमारगिरि के मन में बीजगुप्त के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न होती है क्योंकि वह जानता है कि चित्रलेखा उसी के कारण कुमारगिरि से कुछ खिंची हुई है। तपस्या और विरक्ति मार्ग का साधक यह योगी चित्रलेखा से झूठ कहता है कि बीजगुप्त और यशोधरा का ब्याह हो चुका है। कुमारगिरि के निम्नांकित वाक्य चित्रलेखा की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं जो इस लेख की भूमिका के रूप में स्वीकृत हैं :"···तुमने वासना के आवेश में आकर पवित्र प्रेम को ठुकरा दिया था—तुमने मुझमें कुछ देखा और तुम मेरी ओर आर्कषित हो गयीं। उस समय तुममें पशुता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी थी—तुमने मनुष्यता को तिलांजलि दे दी थी ! तुम बिना बीजगुप्त की इच्छा के बीजगुप्त का जीवन भार बना कर मेरे पास चली आयी···।" इन वाक्यों की सत्यता से चित्रलेखा इन्कार नहीं कर सकी जो उसके आवेश से प्रकट है : "चित्रलेखा चिल्ला उठी—बस करो ! बस करो !" चित्रलेखा कुमारगिरि के वाक्यों में अपनी मनोदशा का पर्दाफाश देखकर सचमुच बौखला उठी। वह जान गयी कि बीजगुप्त को वह भी कितना प्यार करती थी, परन्तु उसकी वासना ने उसके बीजगुप्त को छीन लिया। बीजगुप्त के खोने का दुःख वह सहन नहीं कर सकी और इस दुःख और निराशा के तीव्र दंशन में उसने कुमारगिरि को शरीर समर्पण कर दिया। सब कुछ लुट जाने के बाद वह अपने पतन को सच्चे अर्थों में अनुभव कर सकी। विशालदेव से यह ज्ञात होने पर कि कुमारगिरि ने उसे बड़ा धोखा दिया था, वह चोट खाई हुई नागिन की तरह कुमारगिरि को डसना चाहती है। इस समय की चित्रलेखा का मन्तव्य सम्भवतः विरक्ति मार्ग और प्रेम के सम्बन्धों पर सबसे यथार्थ टिप्पणी है : "वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो ? प्रेम बलिदान है, आत्मत्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिए गृहस्थ आश्रम की बाधाओं से, कायरतापूर्वक संन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो—और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो ?"

कुमारगिरि और चित्रलेखा को पतन की चरमसीमा तक ले जाकर और जीवन के सत्य से परिचित कराकर लेखक बीजगुप्त की ओर आ जाता है। चित्रलेखा कुमारगिरि की वासना तृप्ति की पार्श्वभूमि पर बीजगुप्त का यशोधरा की ओर आकर्षण और उस पर नियंत्रण का प्रयास अधिक स्वस्थ एवं संयत जान पड़ता है। बीजगुप्त यशोधरा से विवाह करने का अपना प्रस्ताव लेकर मृत्युंजय के यहाँ चला तो जाता है परन्तु चित्रलेखा के प्रति सच्चा प्रेम अनुभव करने वाले उसके अन्तर्मन ने उसके द्वारा यह प्रस्ताव नहीं रखने दिया। प्रत्युत्तर अपनी सम्पत्ति एवं सम्मानित पद श्वेतांक को देकर वह यशोधरा से उसके पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखकर चला आता है। मृत्युंजय के शब्दों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठक भी बीजगुप्त के बारे में यही कहता है—"आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।" देवता बनने की कामना करने वाला कुमारगिरि विरक्ति मार्ग से चलकर मनुष्य भी नहीं रह पाता, पशु बन जाता है और भोग के मार्ग से चलने वाला बीजगुप्त मनुष्य से ऊपर उठकर देवता बन जाता है।

वियोग के बाद चित्रलेखा भी अनुभव करती है कि बीजगुप्त के प्रति उसके मन में कितना गहरा प्रेम था। बीजगुप्त के सर्वसम्पत्ति का त्याग कर भिखारी की भाँति पैदल चल पड़ने के समय चित्रलेखा भी उसके साथ चल पड़ती है। बीजगुप्त उसके प्रेम में उसके कुमारगिरि के प्रति आत्मसमर्पण की बात भूल जाता है—सहज क्षमा कर देता है। कहता है : "प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध ही नहीं होता ! फिर क्षमा कैसी ! प्रेम स्वयं एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है।"···अन्त में "प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो ! मेरे देवता ! मैं अपनी सम्पत्ति आज ही दान किए देती हूँ—रात में हम दोनों ही अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठकर चलें।" अन्त में बीजगुप्त ने चित्रलेखा का चुम्बन ले लिया —"हम दोनों कितने सुखी हैं।"

पहले परिच्छेद में चित्रलेखा और बीजगुप्त का चुम्बन, परिरम्भण, आलिंगन, मदिरा, प्यास, यौवन की मस्ती, मादकता और वर्तमानकाल की सर्वसत्यता के साथ उपन्यास के अन्त में यह पवित्र चुम्बन कितना अनोखा, कितना आत्मिक और कितना तन्मयतापूर्ण है ! वासना और प्रेम के बीच हचखोले खाती हुई चित्रलेखा अन्त में सच्चे प्रेम के स्वरूप को जान पाई—'चित्रलेखा' इस प्रेम-यात्रा की सुगठित और प्रभावपूर्ण कहानी है।

'चित्रलेखा' को पाप-पुण्य का विश्लेषण एवं समाधान करने वाली कथा मानकर आलोचना करने पर किसी का मन सिहर उठा है क्योंकि इसमें पाप और पुण्य की कल्पनाओं को झुठला दिया गया है या मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनाकर या नियति का शिकार बनाकर उसके कर्म के प्रति प्रत्येक स्थिति में सहानुभूति से देखा गया है। आलोचक प्रवर नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसी प्रकार का अपना मत प्रकट किया है—"चित्रलेखा मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है।—चित्रलेखा दो पुरुष पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञनिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यों कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हल्की कलम से सम्भाल पाना सम्भव नहीं। कदाचित् इसलिए चित्रलेखा एक प्रश्न बनकर रह गई है।"

साहित्य का और सामाजिक नीति का सीधा सम्बन्ध मानकर चलने से इस प्रकार की मान्यताओं का स्थापित किया जाना स्वाभाविक है। इससे भी अधिक उपन्यास को सतही दृष्टि में पढ़कर अथवा लेखक के कथा-बाह्य मन्तव्य को कुछ अधिक महत्त्व देते हुए चलने पर इस उपन्यास का मूल्यांकन कुछ दूषित-सा हो गया है।

चित्रलेखा की कथा पर लेखक की कलात्मकता या कुशलता का उद्घाटन करते हुए जो आलोक डाला गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी मनुष्य की अस्वस्थ प्रवृत्तियों पर प्रहार कर रहे हैं। बीजगुप्त को इस उपन्यास में प्रारंभ से जो एक सहानुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से देखा गया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है। चित्रलेखा और बीजगुप्त का क्रमशः मस्ती और मादकता के जीवन से त्याग और प्रेम की ओर प्रस्थान अन्धकार से प्रकाश की ओर संचरण है। कुमारगिरि के विरक्ति मार्ग की असफलता का संकेत कर लेखक यही कहना चाहता है कि जीवन की स्वस्थ-प्रवृत्तियों की उपलब्धि इस पलायन के मार्ग से सम्भव नहीं। जीवन के भौतिक धरातल पर जीवन का उन्नयन करना हो तो गृहस्थाश्रम का संयत भोग आवश्यक शर्त है। यशोधरा और श्वेतांक का गृहस्थाश्रम में प्रवेश और बीजगुप्त का उसके लिए आशीर्वाद इस बात का द्योतन करता है। कुमारगिरि का विरक्ति मार्ग प्रकारान्तर से पलायन का मार्ग है जिसका केन्द्र ममत्व की भावना है। इस मार्ग के केन्द्र में 'अहम्' की पुष्टि है। प्रेम-मार्ग में अहं का विलयन हो जाता है। कबीर का दोहा कुमारगिरि के चरित्र का आधार है--

माया तजी ता का भया, जब मान तजा नहिं जाई।
मान सबै मुनिवर ठगै, मान सबन को खाई॥

चित्रलेखा उपन्यास की कथा की घटनाएँ और पात्रों की स्वभाव-विशेषताएँ इतनी घुल-मिल गई हैं कि ऐसी घटना या प्रसंग अलग नहीं किया जा सकता, जो कथा के विकास एवं मोड़ की दृष्टि से अनावश्यक हो। ऐसा एक प्रसंग नहीं है जो पात्रों के स्वभाव वैशिष्ट्य से मेल न खाता हो। प्रसंग और पात्र-वैशिष्ट्य की यह एकात्मकता उपन्यास के रूप को सौष्ठव और सौन्दर्य प्रदान करने में समर्थ हुई है। वस्तुतः चित्रलेखा और कुमारगिरि के आकर्षण में और उसके क्रमशः घनीभूत होने वाले रूप के चित्रण में लेखक ने संयम से काम लिया है, यह संयम नैतिक दृष्टि से लक्षणीय नहीं है—कभी-कभी भोग के प्रत्यक्ष चित्रण में भी कलाकार का संयम दृष्टिगोचर होता है। वह संयम कला की आवश्यकता है। कथा की विस्तृत चर्चा के प्रकाश में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा या विश्लेषण करने के लिए उपन्यास के पात्र या प्रसंग समर्पित नहीं हैं, प्रत्युत् जीवन में मनोविज्ञान की गुत्थियों का जितना अस्तित्व लक्षित होता है और जितना उनका महत्त्व है, उतना ही संकेत इसमें मिलता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों एवं कुंठाओं को जीवंत पात्रों और सरस प्रसंगों के माध्यम से पाठक के समक्ष रखते हुए लेखक ने पाठक को जीवन-रस से परिचित कराया है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की दुर्बलता की पृष्ठभूमि पर 'चित्रलेखा' का मनोवैज्ञानिक स्पर्श-पुनर्मूल्यांकन करते समय अधिक आकृष्ट करता है।

उपन्यास की एक विशेषता उसकी नाट्यात्मकता भी है। नाट्यात्मकता का प्राण विरोध या संघर्ष है। भोगी चित्रगुप्त और योगी कुमारगिरि के बीच झूलती हुई 'चित्रलेखा' नाट्यात्मकता का केन्द्र है। क्षत्रिय श्वेतांक और ब्राह्मण विशालदेव का विरोधी परिस्थितियों में पड़कर विषम दृष्टियों को उपलब्ध करना भी इस नाट्यात्मकता अंग है। मूलतः विरक्ति और आसक्ति के बीच झोंके खाता हुआ यह पेंडुलम प्रेम के मध्यबिंदु पर स्थिर हो जाता है। बीच की विरोधात्मक स्थितियों में कितने ही नाटकीय प्रसंगों की निर्मिति लेखक कर सका है। मस्ती और मादकता में डूबे हुए चित्रलेखा और बीजगुप्त के पास मध्यरात्रि में रत्नाम्बर प्रभु और ब्रह्मचारी श्वेतांक का पाप का पता लगाने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आना, कुमारगिरि की कुटिया में चित्रलेखा का प्रकाश को अन्धकार का प्रणाम करना, मौर्य की भरी सभा में योगी और नर्तकी का बौद्धिक वाग्युद्ध, अहं से तने हुए कुमारगिरि के सामने स्वाभिमानी चित्रलेखा की अनुनयपूर्ण दीक्षा-याचना, नर्तकी और योगी का साधना के क्षेत्र में एकान्तवास, विशालदेव का नाट्यपूर्ण प्रवेश, मृत्युंजय के घर में कुलीन घराने की स्त्रियों के बीच चित्रलेखा का आगमन, मादकता और क्रान्ति की प्रतिरूप चित्रलेखा और शान्ति और संयम की प्रतिरूप यशोधरा, बीजगुप्त का क्रमशः देवत्व की ओर उर्ध्वगमन और कुमारगिरि का अधोगमन—ऐसे कितने ही नाट्यपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत किया जा सकता है। कभी नाट्यपूर्ण पात्रों और प्रसंगों की रचना का मोह लेखक को इतना आविष्ट करता है कि कृति में यांत्रिकता और अविश्वसनीयता उत्पन्न होती है—परन्तु 'चित्रलेखा' के उपन्यासकार ने प्रायः सफलता से इस परीक्षा में अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। एकाध स्थान पर अवश्य यह मोह दुर्निवार हो गया है। मृत्युंजय के द्वारा चित्रलेखा को निमंत्रण (बीजगुप्त द्वारा समर्थन किए जाने पर भी) अस्वाभाविक लगता है और नाट्यपूर्णता के मोह में पकड़कर इस अवसर पर लेखक कुमारगिरि को भी ले आया है !! संयम, विरक्ति और एकान्त कुटिया में रहने वाले इस योगी का गृहस्थ के घर में आकर विवाह जैसी बातों में रस लेना कथा की नाट्यात्मकता को भले ही बढ़ाए परन्तु सुधी पाठक की दृष्टि में आरोपित-सा लगता है।

उपन्यास में एक-दो ऐसी घटनाएँ भी हैं जिनको टाला जाता तो उपन्यास की कला में कुछ अधिक निर्दोषता आ जाती। कुमारगिरि और चाणक्य के बीच जो ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व को लेकर बौद्धिकवाद चल रहा है, उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उपन्यास के पात्रों के जीवनविषयक दृष्टिकोण एवं उनकी दार्शनिक मुद्रा के अनुकूल भी वह है। चर्चा एक ऐसे बिन्दु पर आ जाती है जबकि ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की माँग की जाती है। यह पूर्णतः तर्कयुक्त है। यहाँ आकर कुमारगिरि का यौगिक शक्ति के बल पर धोखा देना और चित्रलेखा का उसको पराजित करना उतना कलात्मक नहीं प्रतीत होता। एक तरह से कुमारगिरि को कुछ नीचे गिराया गया है—लगता है वह कोई जादूगर हो। कुमारगिरि को ही परास्त करवाना था तो लेखक चाणक्य के अन्तिम तर्कों को उसके मुख से प्रकाशित कर सकता था या किसी अन्य मार्ग से यह कार्य सम्पन्न हो सकता था। फिर उपन्यास के अन्त में कुमारगिरि की ओर से चित्रलेखा का विकर्षण दिखाते समय भी कुछ जल्दबाजी हुई है। बीजगुप्त के प्रति उसके अन्तर्मन की गहरी प्रेम-भावना को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराया जाता और कुमारगिरि की वासना का अधिक उग्र चित्रण किया जाता तो सम्भवतः उपन्यास में अधिक कलात्मकता आ जाती। विशालदेव जो कि कुमारगिरि के निकट महत्त्वपूर्ण समय पर आ पहुँचता है—(उसका आगमन अत्यन्त नाटकीय है—आवश्यकता से अधिक) वह एक ऐसा लगाम है जो वासना के मार्ग पर फिसलने वाले घोड़े को खींचता रहता है। वह परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित है—उसका समय-समय पर मुस्कराना लम्बे विवादों या तर्कजाल से भी अधिक प्रभावपूर्ण और व्यंग्यपूर्ण लगता है। वह चित्रलेखा से प्रार्थना भी करता है कि उसके कारण कुटी का संयत और शान्तिपूर्ण जीवन नष्ट हो रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, इसलिए वह कुटी छोड़कर चली जाए। विशालदेव का श्वेतांक की तुलना में कम मुखर व्यक्तित्व अधिक मर्मज्ञ का रूप लेकर उपस्थित होता है। इस सबकी पृष्ठभूमि पर उसका अपने गुरु के प्रति अन्तिम आदर कुछ विचित्र अवश्य लगता है—सौभाग्य इतना है कि यह 'उपसंहार' में होने के कारण विशेष खटकता नहीं है। बल्कि उपन्यास को 'उपसंहार' की पूँछ अनावश्यक है, इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है।

'चित्रलेखा' विद्रोही विचारों के लिए, अपनी व्यक्तिवादी दृष्टि के लिए और मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण कृति समझी गई है। वस्तुतः 'चित्रलेखा' में किसी विशिष्ट आग्रह को लेकर लेखक नहीं आता। जीवन के भौतिक धरातल के बीच उसने विरक्ति और आसक्ति या वासना की परीक्षा कर दोनों को आत्यन्तिक ठहरा कर स्वस्थ जीवन के लिए दोनों के बीच की स्थिति—गार्हस्थ्य प्रेम और उसके माध्यम से आत्मसंहार को उपादेय समझा। ये विचार चित्रलेखा के प्रकाशन-काल तक (१९३४) विचारकों के मन में प्रायः स्थापित थे। लेखक की विशेषता यह है कि इन मान्यताओं को उसने सुन्दर कलात्मक रूप प्रदान कर हिन्दी पाठकों के समक्ष रखा। प्रेमचन्द की समाजोन्मुख कृतियों में नैतिक मान्यताओं को प्रश्नांकित दृष्टि से नहीं देखा गया था। परन्तु 'परख' और 'सुनीता' के माध्यम से जैनेन्द्र ने कुछ प्रस्थापित मान्यताओं की परीक्षा करने का साहस जरूर किया था। 'चित्रलेखा' में अपेक्षाकृत अधिक साहस एवं स्पष्टता से हमारी पूर्व स्वीकृत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है। वैवाहिक जीवन की पवित्रता के लिए सामाजिक विधि-विधान की आवश्यकता बीजगुप्त ने नहीं समझी। विवाह और प्रेम के बीच व्यवधान उत्पन्न होने पर प्रेमचन्द विवाह के सामाजिक विधान को महत्त्व देने के पक्ष में थे जबकि 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त विवाह और प्रेम के बीच सरल सम्बन्ध आवश्यक मानता है। विवाह और प्रेम में यौन-पवित्रता को प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे, अपवादात्मक स्थितियों में भी प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में अधिक सहिष्णु या उदार नहीं हो सकते थे। जैनेन्द्र में इस सम्बन्ध में बड़ी झिझक, अस्पष्टता और बचाव की प्रवृत्ति थी। 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त ने चित्रलेखा के पूर्व-जीवन को महत्त्व देता है, न कुमारगिरि के प्रति उसके शारीरिक समर्पण को। यौन सम्बन्धों की आकस्मिकता और परिस्थितिवशता ज्ञात होने के कारण वर्माजी इस सम्बन्ध में अधिक उदार हैं—स्पष्ट शब्दों में वे सच्चे प्रेम और यौन विषयक पवित्रता का अभेद्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करते। यह निस्सन्देह प्रगतिशील दृष्टिकोण था। विरक्ति के मार्ग की अधिक विस्तार से परीक्षा कर वैयक्तिक अथवा सामाजिक दोनों दृष्टियों से उसकी हानिकारकता सिद्ध की गई है। वासना को पाप अथवा घृणित वस्तु न समझकर उसका स्वस्थ जीवन के विकास की दृष्टि से आवश्यक उपयोग भी स्वीकार किया गया है—मनुष्य-जीवन की संस्कृति वह न हो, खाद अवश्य है। इस दिशा में समाज को सोचने के लिए विवश किया गया है। यह कृति अनातोले फ्रांस की 'थाया' से कितनी प्रभावित है, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु पाश्चात्य विचारों का प्रभाव लेखक ने आत्मसात् अवश्य किया है। यह दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है: श्वेतांक और यशोधरा का सहभोजन, हाथ पकड़कर बोलना, नाव पर घूमने जाना, काशी यात्रा से लौटने के पूर्व बाजार जाकर चीज़ों को खरीदना, वाटिका में यशोधरा के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीजगुप्त का भ्रमण, पर्यटन, जलपान की प्रतीक्षा, यशोधरा से बीजगुप्त की बौद्धिक चर्चा इत्यादि बातों को पढ़ते समय यह अवश्य लगता है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य का समय नहीं होगा। कहीं लेखक अति सामयिक वस्तु को पौराणिक रूप तो नहीं दे रहा है ? परन्तु यह उपन्यास न पूर्णतः ऐतिहासिक है, न सामयिक। उपन्यास की वस्तु कुछ अधिक चिरन्तन है, अतः यह काल-विपर्यय या समाज-विपर्यय विशेष नहीं खटकता। दूसरे, भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर्बाह्य विरोध की परिकल्पना कर एक को आध्यात्मिक और दूसरी को भौतिक बताने वाले विद्वानों के सामने दोनों के स्वस्थ समन्वय की सम्भावना बताकर उपन्यास को दो संस्कृतियों के मिलन-बिन्दु पर खड़ा किया है। 'चित्रलेखा' के लेखक की प्रशंसा इसलिए भी की जानी चाहिए कि उसने किसी पूर्व-स्वीकृत धारणा को लेकर पात्रों और प्रसंगों की दृष्टान्त के आधार पर रचना नहीं की, बल्कि प्रचलित मान्यताओं की जीवन की गर्मी और ऊष्मा के बीच अनाग्रहपूर्वक जाँचकर कुछ प्रश्न-चिह्न लगा दिए हैं। लेखक कोई समाधान नहीं दे जाता, इसीलिए सम्भवतः इस कृति का सौन्दर्य-मूल्य अधिक बढ़ गया है। प्रेमचन्द के युग में इसको लिखकर भी लेखक ने वस्तु की गठन, कसाव, संक्षेप, पात्रों और प्रसंगों की एकात्मता, कलात्मक संयम इत्यादि को एक जागरूक कलाकार के रूप में महत्त्व दिया है। प्रायः लेखक समस्या को लेकर सामने आता है तब उपन्यास या तो दृष्टान्त रूप बन जाता है अथवा पात्र प्रतीक बनकर जीवन्तता खो देता है। वर्माजी समस्या लेकर आए जरूर हैं परन्तु उनके कलाकार ने उन्हें पात्रों को प्रतीक-मात्र बना देने से और उपन्यास को दृष्टान्त बना देने से बचाया। पाप-पुण्य के विरोध को लेकर निर्मित किये गए पात्रों में प्रतीकात्मकता के साथ एकांतिक विरोध के आने की भी सम्भावना थी। परन्तु ऐसा यहाँ नहीं हो पाया है : बीजगुप्त के विरोध में कुमारगिरि के प्रति अन्याय नहीं किया गया है, न बीजगुप्त को अतिरिक्त सहानुभूति दी गई है। उपन्यास में यांत्रिकता आने का भी खतरा प्रायः विरोधी पात्रों की योजना से रहता है, सौभाग्य की बात है कि यह यांत्रिकता इसमें नहीं आ पाई, क्योंकि लेखक समस्या को लेकर अन्त तक नहीं बैठा है—वह उपन्यासकार या कलाकार पर दार्शनिक को हावी नहीं होने देता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिभा अग्रवाल

बंगला का रंगमंच : एक आरोप एवं निराकरण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की तरह भारतीय नाट्य जगत में भी एक नव-जीवन एवं स्फूर्ति का दर्शन होता है। आत्माभिव्यक्ति के इस माध्यम ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के स्तर पर ही नहीं, नाट्यालोचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त हलचल दृष्टिगत होती है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आनेवाली इस विधा की आलोचना आमतौर पर साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही पाठ्य मान कर ही की जाती रही है। पिछले दिनों इसकी महत्वपूर्ण विशेषता "अभिनेता" को नाटक का अनिवार्य अंग मानते हुए नए मानदण्ड स्थिर किए गए तथा किसी नाटक की आलोचना उसके साहित्यिक लेखन तक ही सीमित न रहकर उसके प्रस्तुतीकरण की नाना सम्भावनाओं तक विस्तृत हुई। साथ ही रंग आलोचक भी सामने आया जो किसी भी प्रस्तुत कृति के प्रस्तुतीकरण तथा अभिनेयता की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचना एवं आलोचना करने लगा। इस महत्वपूर्ण कार्य ने नाना क्षेत्रों में होने वाली नाट्य-गतिविधियों से दूसरों को परिचित कराया तथा उसके गुण-दोषों एवं उपलब्धियों की ओर इंगित किया। आज यह आलोचना केवल-मात्र किसी शहर, प्रान्त या भाषा-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती वरन् सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच या कम-से-कम उत्तर-भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि में की जाती है। बंगाल नाट्य-गतिविधियों में दीर्घकाल से संलग्न रहा है। अतः इन चर्चाओं में बंगला रंगमंच का उल्लेख बराबर ही होता रहता है। किन्तु अनेक बार ऐसा लगता है कि बंगाल के रंगमंच के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। एक बहुत बड़ा आरोप जो बंगला रंगमंच पर लगाया जाता है वह है उसकी भावुकतापूर्ण अतिनाटकीयता एवं चमत्कारप्रियता। किसी भी रंगमंच, रंगकर्मी या नाट्य-प्रेमी की दृष्टि में यह आरोप पर्याप्त गुरु हैं और स्वाभाविक है कि असंतोष उत्पन्न करें। बंगला रंगमंच की ये दुर्बलताएँ उस तक ही सीमित नहीं मानी जातीं वरन् उनका प्रक्षेपण बंगाल में प्रस्तुत अन्य भाषा-भाषी प्रस्तुतियों तक भी होता है, ऐसा भी माना जाता है। नवीन प्रयोगों के क्षेत्र में बंगला मंच अधिक पुराणपंथी और आत्म-सीमित है, ऐसी ध्वनि भी इन चर्चाओं और लेखों से आती है। मुझे ऐसा लगता है कि केवल इतना कहकर बंगला मंच की आलोचना करना उचित नहीं। अतिनाटकीयता एवं आलोक-प्रभाव द्वारा चमत्कार सृष्टि ही बंगला रंगमंच का सब कुछ नहीं। कुछेक प्रदर्शनों में अवश्य ही इन प्रवृत्तियों को महत्व मिला है किन्तु उनसे कहीं बड़ी संख्या उन प्रदर्शनों की है जिनमें न तो भावुकतापूर्ण अति-नाटकीयता है न किसी भी प्रकार का चमत्कार। दीर्घकाल से मैं कलकत्ता में रह रही हूँ (और कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा बंगाल के रंगमंच में अन्तर करने का कोई विशेष कारण नहीं क्योंकि लोक-नाट्य-परम्परा को छोड़कर नाट्य-जगत में जो कुछ होता है वह अधिकतर कलकत्ता तक ही सीमित है) और नाट्य-जगत से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ के अधिकांश प्रदर्शनों को देखने का अवसर मिलता रहता है अत: इस सम्बन्ध में अपने अनुभवों के आधार पर कुछ कहना संगत ही नहीं आवश्यक भी प्रतीत होता है। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के अन्य पक्षों को छोड़कर प्रस्तुत चर्चा में मैं अपने को केवल उन प्रदर्शनों तक सीमित रखूँगी जो या तो अति-नाटकीयता एवं चमत्कारप्रियता की दृष्टि से बहु-चर्चित रहे हैं अथवा इसके प्रतिकूल मनोवृत्ति को लेकर चले हैं तथा बंगला रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रहे हैं। यों इसी प्रसंग में कलकत्ते में अबंगलाभाषी प्रदर्शनों की चर्चा भी उचित होगी क्योंकि विभिन्न भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी में यहाँ बराबर नाटक खेले जाते रहते हैं। उनमें से कई एक प्रदर्शन रंगमंच के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना रहे हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बंगला नाटकों की तरह यह चर्चा भी उन आरोपों की सीमाओं का परिचय देने तक ही सीमित रहेगी।

बंगला के रंगमंच पर नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत करने वाले दलों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे जो व्यावसायिक हैं एवं नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन या चार या उससे भी अधिक प्रदर्शन करते हैं। दूसरे वे अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से या समय-असमय बराबर नाटक प्रस्तुत करते हैं। रंगमंच के विकास और योगदान में इन दोनों ही प्रकार के नाट्य-दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम प्रकार के प्रदर्शन लोकप्रियता को दृष्टि में रखकर चलाने के लिए काफी दूर तक बाध्य होते हैं और अधिक से अधिक दिन तक बड़ी संख्या में दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के इच्छुक होते हैं। स्वाभाविक है कि इनके लिए नित नए प्रयोग करना या ऊँचे स्तर की चीज को उठाना, नई विचारधारा और प्रस्तुतीकरण के सर्वथा नए मानदण्डों को लेकर चलना सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनके सभी प्रदर्शन सस्ते और असंगतियों से भरे हों। कलकत्ते में विश्वरूपा, मिनर्वा, रंगमहल, स्टार, मूनलाइट, मुखांश, थियेटर सेन्टर के तत्वावधान में नियमित रूप से नाटक खेले जाते रहे हैं। इनमें से मूनलाइट को छोड़कर सभी बंगला में व्यावसायिक स्तर पर नाटक प्रस्तुत करते हैं। गिरीशचन्द्र घोष तथा अमृतलाल बसु का सम्बन्ध इन्हीं रंगमंचों से रहा। अभी पिछले दिनों तक शिशिर भादुड़ी एवं अहीन्द्र चौधरी जैसे कलाकार भी इन्हीं रंगमंचों पर काम करते रहे हैं एवं अपनी कला के श्रेष्ठ प्रदर्शन द्वारा दर्शकों को मुग्ध करते रहे हैं। इनमें से विश्वरूपा, स्टार, रंगमहल व मिनर्वा थियेटर पर्याप्त पुराने हैं एवं बरसों से नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत कर रहे हैं। बंगला के श्रेष्ठ नाटकों का प्रस्तुतीकरण इन रंगमंचों पर हुआ है। कुछेक दिनों के लिए कलकत्ते में बाहर से आनेवाले नाट्यप्रेमी आमतौर पर इन थियेटरों में खेले जाने वाले नाटकों को ही देख पाते हैं। इनमें प्रस्तुत होने वाले नाटकों में से कुछ में दृश्य-विधान या आलोक-प्रभाव के विशेष चमत्कार द्वारा जनता को चमत्कृत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही है। इस दृष्टि से श्री उत्पल दत्त के निर्देशन में "लिटल थियेटर ग्रुप" द्वारा मिनर्वा थियेटर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत होने वाले नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। "अंगार" में कोयले की खान के ऊपरी भाग एवं उसके भीतरी भाग, जिसमें पानी भर आने के दृश्य को दिखलाया गया है, की बहुत चर्चा हुई है और इसमें श्री तापस सेन के आलोक-प्रभाव ने अवश्य ही दर्शकों को चमत्कृत किया है। इसी ग्रुप के दूसरे नाटक "फ़रारी फ़ौज" में जहाज का डूबना और कल्लोल में जहाज के डेक के ऊपर नाटक के अधिकांश का प्रस्तुत किया जाना, दृश्य-विधान एवं आलोक-प्रभाव का चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से "विश्वरूपा" में प्रस्तुत "सेतु" नाटक ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। मंच के ऊपर बिछी हुई रेल की लाइन, उस पर दूर से रेल का आना और रेल की पटरी पर खड़ी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत महिला को बचाने के प्रयत्न में ड्राइवर का लाइन बदलकर गाड़ी को दूसरी लाइन पर ले जाने का सारा दृश्य केवल मात्र आलोक के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतना यथार्थ एवं सजीव हो उठा था कि देखकर आश्चर्य हुआ था। पिछले १५-२० वर्षों में कलकत्ते के व्यावसायिक रंगमंच पर प्रस्तुत नाटकों में चमत्कार के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का परिचय इन चार-पाँच नाटकों को छोड़कर अन्यत्र नहीं-सा है। केवल इन कतिपय नाटकों के आधार पर यह मानना कि बंगला का रंगमंच चमत्कार-प्रिय है और प्रदर्शन की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चलता है, बंगला रंगमंच के साथ अन्याय होगा। इन्हीं रंगमंचों पर सैकड़ों ऐसे नाटक प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें चमत्कार या प्रदर्शन का कोई आग्रह नहीं रहा है। बंगला के श्रेष्ठतम नाट्यकारों की कृतियाँ, उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर एवं विदेशी नाटकों के अनुवाद या भारतीय रूपान्तर विभिन्न शैलियों में बराबर प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें से किसी को भी चमत्कार और प्रदर्शन को प्रमुखता देने वाला नहीं कहा जा सकता। लिटल थियेटर ग्रुप के ही दूसरे नाटकों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। मैक्सिम गोर्की के "लोअर डेप्थ" का रूपान्तर "नीचेर महल" और "तिताश नदीर नाम" (लेखक का नाम स्मरण नहीं) अत्यन्त सशक्त नाटक थे जिन्हें सीधे-सादे यथार्थ वातावरण में अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया। ये नाटक विश्व की किसी भी भाषा में प्रस्तुत होने वाले श्रेष्ठ नाटकों की तुलना में रखे जा सकते हैं। बंगला के रंगमंच के सम्बन्ध में आमतौर पर लोगों का—विशेषकर बंगाल के बाहर वाले आलोचकों का—जो यह मत देखने में आता है कि बंगला रंगमंच प्रदर्शन और चमत्कार की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चल रहा है, उसका एक और, सम्भवतः एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि बाहर से आने वाले व्यक्ति जब दो-चार दिनों के लिए कलकत्ता पधारते हैं तो वे एकाव नाटक देख पाते हैं जो उन दिनों किसी थियेटर में चल रहे होते हैं। चूंकि सेतु और अंगार की बहुत चर्चा हुई थी अतः आने वाला हर व्यक्ति इन्हें अवश्य देखता था। समय और अवकाश सीमित होने के कारण बाहर से आने वाले के लिए प्रवासकाल में चलने वाले कई एक नाटकों को देखना सम्भव नहीं हो पाता अतः उसकी धारणा का आधार वही दो-एक नाटक हो पाते हैं जो वह उस समय में देख पाता है अतः उसके मत की कितनी सीमाएँ हैं, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यों बंगला के रंगमंच की चर्चा करते हुए केवल इन व्यावसायिक रंगमंचों की उपलब्धि के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि इस दिशा में व्यावसायिक दलों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतर काम करने वाले दलों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा। पिछले कई वर्षों से "मुखांश" और अब "थियेटर सेंटर" के तत्वावधान में नाटककार-निर्देशक-अभिनेता श्री तरुणराय बराबर नाट्य-साधना में रत रहे हैं एवं अपने अनेक नाटकों को सफलतापूर्वक मंचस्थ करते रहे हैं।

व्यावसायिक स्तर पर मूनलाइट थियेटर कलकत्ते का एकमात्र थियेटर है जहाँ सप्ताह में छः दिन हिन्दी नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं। पारसी शैली में प्रस्तुत होने वाले मूनलाइट थियेटर के नाटक अवश्य आज के पढ़े-लिखे एवं नवीनता प्रेमी दर्शकों के लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते किन्तु सामान्य जनता के बीच इनकी लोकप्रियता का प्रमाण इन नाटकों का नियमित रूप से खेला जाना एवं इसके अभिनेताओं को अच्छा पारिश्रमिक मिलना है। अवश्य ही ऐसे थियेटरों से नवीन प्रयोग या उच्च स्तर के नाटकों के प्रदर्शन की आशा करना व्यर्थ है। यों एक बात मैं कह दूं कि सन् १९६४ में अनामिका द्वारा आयोजित नाट्य-महोत्सव में मूनलाइट थियेटर द्वारा प्रस्तुत "सीता-बनवास" नाटक ने जहाँ धर्मनिष्ठ महिलाओं को हर तीसरे मिनिट भगवान् राम् और सीता को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया वहीं पढ़े-लिखे अनेक नवीनता प्रेमी व्यक्तियों को भी अपने बचपन की मधुर स्मृतियों में डुबा दिया जब वे अपने शहर या गांव में सारी रात बैठकर, भूख-प्यास भूलकर ऐसे प्रदर्शन देखा करते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बंगला रंगमंच के विकास में व्यावसायिक दलों के अतिरिक्त अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया नाटचदलों का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है जो नियमित रूप से भी समय-असमय अनेक नवीन प्रयोग करते रहते हैं एवं श्रेष्ठ नाटक प्रस्तुत करते रहते हैं। इनमें अग्रणी हैं श्री शंभुमित्र का "बहुरूपी" नाटच-दल। इस दल को अर्द्ध-व्यावसायिक कहना ही उचित है क्योंकि अन्य व्यावसायिक दलों की भाँति "बहुरूपी" सप्ताह में तीन दिन अपने नाटकों का प्रदर्शन नहीं करता किन्तु इसके अधिकांश कलाकारों, विशेषकर मित्रा दम्पति की जीविका का आधार नाटच प्रदर्शन ही है। शंभुमित्र नियमित रूप से किसी भी थियेटर में अपने नाटक नहीं प्रस्तुत करते किन्तु कलकत्ते एवं उसके आसपास तथा अन्य शहरों में बराबर अपना नाटच-दल लेकर जाते हैं और साल-भर में अपने विभिन्न नाटकों के ४०-५० प्रदर्शन प्रस्तुत करते हैं। बहुरूपी के नाटकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "रक्तकरवी", "विसर्जन", "राजा" और "चार अध्याय" (इस नाम के उपन्यास का नाटच रूपान्तर), इब्सन के "एन एनेमी ऑफ दी पीपुल" तथा "डॉल्स हाउस" के भारतीय रूपान्तर क्रमशः "दशचक्र" एवं "पुतुल खैला" तथा सोफोक्लीज़ का "राजा इडिपस" विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में विषय-वस्तु के अनुरूप मंचसज्जा या आलोक का विधान अवश्य ही किया गया है किन्तु चमत्कार या प्रदर्शन के लिए कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रही है। ये सभी नाटक अपनी विषय-वस्तु, प्रस्तुतीकरण-कौशल एवं अभिनय की दृष्टि से श्रेष्ठ रहे हैं। अभी पिछले वर्ष अपनी अमरीका एवं योरोप की यात्रा के दौरान मुझे अनेक नाटकों के देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ और मैं यह निस्संकोच कह सकती हूँ कि बहुरूपी के प्रदर्शन और शंभु बाबू की व्यक्तिगत उपलब्धि एवं कला विश्व के श्रेष्ठतम प्रदर्शनों तथा अभिनेताओं की तुलना में उन्नीस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं पड़ेगी। तकनीकी सुविधाओं की बात हम जाने दें क्योंकि उस क्षेत्र में विदेशी रंगमंच अधिक समृद्ध है और उस दृष्टि से बहुरूपी ही नहीं भारतवर्ष के किसी भी नाटच-दल की बड़ी सीमाएँ हैं किन्तु यह भी सत्य है कि किसी भी अच्छे नाट्य-प्रदर्शन के लिए तकनीकी-कौशल अनिवार्य नहीं हैं और आज विदेशों में भी तकनीकी-कौशल के आधार पर सफलता प्राप्त करना हेठी समझा जाता है। मैंने जिन नाटकों को देखा उनमें से अधिकांश दृश्य-विधान एवं तड़क-भड़क को कम-से-कम महत्त्व देकर चले थे। अधिकतर नाटक ऐसे थे जिनमें अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों द्वारा प्रतीकात्मक प्रभाव उत्पन्न किया गया था।

इसी प्रकार के दलों में "शौभनिक" का उल्लेख भी उचित है। अपने स्वरूप में अधिक शौकिया होते हुए भी शौभनिक अपने नाटकों का प्रदर्शन अधिक व्यावसायिक रूप में करता है। पिछले आठ-दस वर्षों में इस नाट्य-दल ने बंगला रंगमंच को कई श्रेष्ठ नाटक दिए हैं एवं नवीन प्रयोग किए हैं। नीले आकाश के नीचे खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने का प्रयोग शौभनिक ने किया। मैक्सिम गोर्की के "माँ" उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर एवं इब्सन के "घोस्ट" का अनुवाद (इसी के साथ एक और बंगला नाटक भी प्रस्तुत किया था, जो मैं नहीं देख पाई थी) खुले में प्रस्तुत किया। इसमें तीनों ओर दर्शक बैठे थे एवं बीच के खुले मंच पर अभिनेता अभिनय कर रहे थे। "घोस्ट" का तो घटना-स्थल एक ही है, किन्तु "माँ" में विभिन्न स्थलों का आभास अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों के द्वारा दिया गया था। "माँ" के घर की खिड़की का चौखटा और बैठने की मेज़-कुर्सियों को हटाकर दो स्टूल एवं दरवाज़े के पास एक गट्ठा रखकर मिल के फाटक का आभास दे दिया गया था। सादगी एवं बिना तड़क-भड़क के प्रस्तुत ये दोनों ही नाटक सफल रहे। कालांतर में शौभनिक को खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने के प्रयोग को स्थगित करना पड़ा क्योंकि कलकत्ते में मौसम की अनिश्चितता नियमित रूप से ऐसे प्रयोगों को दीर्घकाल तक नहीं चलने दे सकती। अतः इन्होंने एक प्रकार का समझौता कर लिया है और अब एक मैदान में स्थायी रूप से बनाए अस्थायी रंगमंच एवं त्रिपाल तने प्रेक्षागृह में दर्शकों को बैठाकर नाटक दिखाते हैं। इन्होंने पिछले कई वर्षों में अच्छे प्रयोग किए हैं और इनका पिछला नाटक "एवम् इन्द्रजीत" विशेष सराहनीय प्रयोग है। श्री बादल सरकार द्वारा लिखित यह नाटक अनाटकीय नाटक का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। नाट्य-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण दोनों में ही नवीन प्रयोग किये गए हैं। प्रस्तुतकर्त्ताओं को प्रारंभ में इस बात की बड़ी शंका थी कि यह नाटक आम जनता ग्रहण कर पायेगी या नहीं किन्तु आश्चर्य हुआ दर्शकों द्वारा इसके स्वीकार को देखकर। अभी तक वे साठ से अधिक बार इस नाटक को खेल चुके हैं और बिना किसी प्रचार के भी जिस प्रकार दर्शक उमड़े पड़ रहे हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अभी बहुत रातों तक यह नाटक खेलना पड़ेगा। जीवन की बे-सिलसिलेवार अनेक घटनाओं एवं अनुभूतियों के खंडों में भी मिलने वाले सिलसिले एवं अखंडता को नाट्यकार ने जिस कुशलता के साथ एकसूत्र में पिरोया है, यथार्थता एवं सार्थकता प्रदान की है, उसे इसके प्रस्तुतकर्त्ता एवं मुख्य भूमिका में अभिनय करने वाले श्री गोविन्द गंगोपाध्याय एवं उनके साथी अभिनेताओं ने उतनी ही कुशलता के साथ मूर्तिमान किया है, सप्राण बनाया है। अभिनेताओं ने न केवल अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीत पात्रों के तीस वर्ष के जीवनकाल को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है वरन् एक साथ विभिन्न भूमिकाओं का भी निर्वाह किया है। कालेज के एक अठारह-उन्नीस वर्षीय युवक-छात्र के रूप में प्रस्थान करने के एकाध-मिनिट के अन्दर ही आगे की ओर लटकाकर बाल काढ़े, कन्धे पर चादर रखे, आँखों पर चश्मा चढ़ाए, प्राध्यापक के रूप में प्रवेश करके अभिनेताओं ने न केवल आश्चर्य-चकित किया वरन् अभिनय की सजीवता तथा व्यक्तित्व के सर्वथा रूपान्तर को मूर्त्त भी किया। अंग-संचालन एवं विभिन्न भाव-भंगिमाओं द्वारा कथोपकथन के अभाव में भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इतना सजीव अभिनय किया—पैंटोमाइम का इतना मार्मिक एवं विश्वसनीय रूप दिखलाया—कि अभिनेता के अभिनय-कौशल एवं निर्देशक की कल्पना की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा गया। रंगमंच, दृश्य-विधान तथा आलोक प्रभाव इत्यादि की अत्यन्त सामान्य व्यवस्था होते हुए भी यह प्रदर्शन नाना दृष्टियों से श्रेष्ठ एवं सफल प्रदर्शन का गौरव पाने का अधिकारी है। "मुक्तांगन" (शौभनिक द्वारा अपने इस प्रेक्षागृह को दिया गया नाम) में ही तीन-चार वर्षों पूर्व एक नाटक देखा था "वैपिकी विदाय"। सन् ३० के आस-पास का लिखा यह सुखांत नाटक—चाहें तो प्रहसन कह सकते हैं—अपनी सहजता एवं जीवन की मार्मिकता के स्वाभाविक चित्रण के कारण ही मर्म को स्पर्श कर पाया था। उस युग में लिखे गए सुखांत नाटकों की समस्त दुर्बलताओं या सबलताओं और अति-नाटकीयता के बावजूद कोई भी नाट्य-प्रेमी इसको सफल नाटक मानेगा। इसकी सफलता का बड़ा श्रेय श्री सवितावृत दत्त को है जिन्होंने एक ऐसे पात्र की भूमिका का निर्वाह किया था जो बात-बात में गाना गाता चलता है। ठुमरी, टप्पा, दादरा, आधुनिक बंगला गान, भजन, इन सबकी एक-एक दो-दो कड़ी सवितावृत बाबू सारे नाटक में गाते गए हैं और बिना किसी वाद्ययंत्र की सहायता के सरस एवं सुमधुर कंठ से वे सारे वातावरण को रस-स्निग्ध करते रहे हैं। ऐसा अनुभव तथा रस प्राप्ति कभी-ही-कभी हो पाती है।

बंगला के रंगमंच की चर्चा के साथ ही इस प्रसंग में उन नाट्य-दलों का उल्लेख भी आवश्यक है जो इतर भाषाओं में बराबर नाटक खेलते रहते हैं तथा इस प्रकार अ-बंगाली भाषाभाषी व्यक्तियों के नाट्यानुराग का परिचय देते हैं। कलकत्ते में हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले विभिन्न शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन-चार प्रदर्शन तो नहीं करते किन्तु हर साल कम-से-कम दो-एक नाटक खेलते रहते हैं। इनकी अपनी दृष्टि एवं अपनी विशेषताएँ रही हैं। इस प्रसंग में हिन्दी एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले नाट्य-दलों की चर्चा महत्वपूर्ण है क्योंकि इन भाषाओं में नाटक करने वाले कई नाट्य-दल हैं जिन्होंने रंगमंच की गतिविधियों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी नाट्य-दलों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण "अनामिका" है। अपने दस वर्षों के जीवनकाल में अनामिका ने २५-३० नाटक एवं एकांकी प्रस्तुत किए हैं। सन् १९५९ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित अखिल भारतीय नाट्य-प्रस्तुतीकरण प्रतियोगिता में अनामिका द्वारा प्रस्तुत "नये हाथ" को प्रथम पुरस्कार मिला था। अनामिका द्वारा प्रस्तुत नाटकों में "नये हाथ", "जनता का शत्रु", "आषाढ़ का एक दिन", "घर-बाहर", "छपते-छपते" और "सुहाग के नूपुर"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी-न-किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग रहे हैं। इनमें से 'जनता का शत्रु', 'आषाढ़ का एक दिन', 'सुहाग के नूपुर' एवं 'घर-बाहर' श्रेष्ठ नाट्य-कृति या रूपान्तर ही नहीं रहे हैं वरन् साहसपूर्ण प्रयोग भी। प्रयोगों की दृष्टि से एरीना थियेटर में प्रस्तुत मिहेल सिबेशियन के "स्टाप प्रेस" का भारतीय रूपान्तर "छपते-छपते" कलकत्ता, बंगाल या हिन्दी रंगमंच ही नहीं वरन् भारतीय रंगमंच का एक महत्वपूर्ण प्रयोग रहा है। इसकी सफलता भारतीय रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है और इसका श्रेय इसके निर्देशक श्री श्यामानन्द जालान को है। चारों ओर बैठे हुए दर्शकों ने अपने बीच अभिनय करते कलाकारों को पाकर अद्भुत सामीप्य का अनुभव किया था। दिसम्बर १९६४ में आयोजित नाट्य-महोत्सव के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष से आए नाट्यविदों एवं कलाकारों द्वारा प्राप्त प्रशंसा ने "छपते-छपते" एवं एरीना थियेटर की सफलता पर एक और मुहर लगाई। अनामिका के इन सभी प्रदर्शनों में विषय एवं वातावरण के अनुकूल प्रभाव-सृष्टि ही परिचालक का मुख्य उद्देश्य था। दर्शकों ने यदि अनामिका के नाटकों को पसन्द किया तो उनके अन्तर्निहित ठोस गुणों के कारण, चमत्कार या प्रदर्शन के कारण नहीं। अनामिका द्वारा प्रस्तावित रिपर्टरी थियेटर की योजना हिन्दी रंगमंच के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना होगी जबकि अच्छे स्तर के सुरुचि सम्पन्न नाटक नियमित रूप से प्रस्तुत किए जा सकेंगे। अभिनय-पाठ को भी अनामिका ने पर्याप्त लोक-प्रिय बनाया है और पिछले वर्षों में कई नाटकों का अभिनय-पाठ किया है।

गत चार वर्षों से संगीत-कला मंदिर साल में कम-से-कम एक नाटक प्रस्तुत कर रहा है। शीघ्र ही सम्पूर्ण होने वाला इसका निजी प्रेक्षागृह संगीत-कला मंदिर की नाट्य-गतिविधि को और विकसित करेगा, ऐसा विश्वास है। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे दल हैं जो शौकिया स्तर पर बराबर नाटक खेलते रहते हैं। सम्भव है नवीन प्रयोगों की दृष्टि से इन विभिन्न नाट्य-दलों की उपलब्धियाँ विशेष महत्वपूर्ण न हों किन्तु नाटक के प्रति जनरुचि बनाने का बहुत बड़ा काम इन्होंने किया है, इसमें सन्देह नहीं।

कलकत्ते में कई ऐसे नाट्य-दल भी हैं जो अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करते हैं। इनमें "ड्रैमेटिक क्लब ऑफ कैलकटा", "प्लेयर्स", "ऐमेचर्स" विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशी एवं भारतीय कलाकार सम्मिलित रूप से इन नाटकों में भाग लेते हैं और साल में दो-तीन नाटक बराबर प्रस्तुत करते हैं। अवश्य ही इनका स्तर काफी अच्छा होता है और रंगमंच की गतिविवियों में इनका भी योगदान है। ड्रैमेटिक क्लब का पिछले दिनों खेला गया नाटक "स्ट्रीटकार नेम्ड डिज़ायर" बहुत ही सफल प्रदर्शन रहा। कई एक वर्षों पूर्व "प्लेयर्स" द्वारा प्रस्तुत पिरांडेलो का नाटक "सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च ऑफ एन ऑथर" अंग्रेजी रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

इस प्रकार कलकत्ता में होने वाली विभिन्न नाट्य-गतिविधियों पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नाना क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से यहाँ बराबर प्रयोग एवं प्रयत्न होते रहते हैं। इन प्रयोगों एवं प्रयत्नों के मूल में नाट्य के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण करने एवं उपलब्ध करने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रणवीर रांग्रा

विकासशील मानव-चेतना का महाकाव्य : लोकायतन

आज मानव अपनी प्रगति पर फूला नहीं समाता। जल-थल पर तो उसका आधिपत्य था ही, आकाश को भी उसने मथ डाला है। अणु से लेकर अनन्त तक सब-कुछ अब उसकी पहुँच के भीतर लग रहा है। भूलोक को जीतकर अब वह चन्द्रलोक की ओर बढ़ रहा है। पर इन सब उपलब्धियों के बावजूद जितना दुखी और विषन्न वह आज है, उतना शायद पहले कभी नहीं था। कारण, बहिर्जगत में पूरी तरह खोकर वह अपने अन्तर्जगत को भूल गया है। उसके बाहर और भीतर के संसार का सन्तुलन बिगड़ चुका है; उसकी बहिर्चेतना और अन्तश्चेतना का सामंजस्य नष्ट हो गया है। जब तक इन दोनों में फिर से सामंजस्य स्थापित नहीं होता, मानव की भटकन अनन्त रहेगी।

'पल्लव' से लेकर 'लोकायतन' तक महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-साधना इसी सामंजस्य की शोध में लीन रही है। बीच में, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे मार्क्स-वाद की ओर झुककर कुछ देर के लिए अवश्य बहिर्मुख हो गए थे, पर शीघ्र ही वे 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' में अपनी मूल जिज्ञासा पर लौट आए और उन्हें निश्चय हो गया कि "आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख", क्योंकि—"बहिर्चेतना जागृत जग में, अन्तर्मानव निद्रित; बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत।" पर एकान्त अन्तर्मुखी साधना की विकृतियों से भी पन्तजी अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए, दोनों के सन्तुलन पर बल देते हुए वे मानव-जीवन के सत्य की ओर बढ़े—

"वही सत्य मानव-जीवन का कर सकता परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरन्तन।"

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पन्तजी की यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अर्थ में धार्मिक नहीं, पर सूक्ष्मचेतना के धरातल पर मनोवैज्ञानिक अवश्य है। यह वह आध्यात्मिकता है जो भौतिकता का तिरस्कार नहीं करती, उसका परिष्कार करती है; जो जीवन से वियुक्त नहीं, संयुक्त है; जिसमें जीवन, ईश्वर का पर्याय है। 'लोकायतन' में यह आध्यात्मिकता चरम विकास को प्राप्त हुई है—"तुम जीवन-ईश्वर को पूजो," क्योंकि—

"अब भू-मंगल ही जीवन व्रत, जीवन रचना ही तप साधन।
अर्पित मन का श्रम पूर्ण योग, भव शोभा मुख में प्रभु दर्शन॥"

'लोकायतन' व्यष्टि-साधना का काव्य नहीं, समष्टि-चेतना का, सामूहिक कर्म का काव्य है: "रचना मंगल श्रम से ही जन के, सम्भव जीवन-ईश्वर का अर्चन।" पर इस कृति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय अध्यात्मवाद इतना निखरकर आया है कि उसे पहचानने में कठिनाई हो सकती है। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसके अनुभूति पक्ष के अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल होने के कारण हिन्दी-जगत् में इसकी प्रतिक्रिया विविध रूपों में व्यक्त हुई। इसलिए, बड़ी इच्छा थी कि पन्त जी से मिलकर उनके इस महाकाव्य पर चर्चा की जाए। एक दिन सुअवसर भी मिल गया।

मैंने चर्चा पन्त जी के प्रबन्ध-काव्य की ओर झुकने को लेकर ही शुरू की और पूछा : " 'लोकायतन' से पहले आपके काव्य-विकास से लगभग निश्चय हो गया था कि आपके कवि की प्रकृति प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक के अधिक अनुकूल है और वह महाकाव्य की अपेक्षा महान् काव्य की रचना में अधिक प्रवृत्त है। पर 'लोकायतन' के प्रकाशन से लगा कि महाकाव्य रचने की दिशा में आप बहुत पहले से और गम्भीरतापूर्वक सोच रहे थे। 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' की अनेक कविताओं में इनकी झलक मिलती है :

> खुला अब ज्योति-द्वार,
> उठा नभ प्रीति-द्वार,
> सृजन शोभा अपार।
> कौन करताऽभिसार,
> धरा पर ज्योति भरण
> हँसी लो स्वर्ण-किरण।

"कृपया बताएँ, ऐसी कौन-सी बाहरी एवं भीतरी प्रेरणाएँ थीं जिन्होंने आपको महाकाव्य की दिशा में प्रवृत्त किया ?"

प्रश्न को पूरी गम्भीरता से लेते हुए पन्त जी बोले : "आपके प्रश्न को मैं यदि एक-दूसरी प्रकार रखूँ तो शायद अपनी बात और अच्छी तरह व्यक्त कर सकूँगा। जीवन के प्रति मेरा जो दृष्टिकोण रहा है उससे मुझे लगता है कि कवि या सर्जक जो कुछ भी लिखता है उसमें युग की परिस्थितियों तथा युग की चेतना का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इस दृष्टि से देखें तो आज के युग में ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ तथा मनोभावनाएँ कार्य कर रही हैं जो कि कहानियों अथवा मुक्तक कविताओं के रूप में अभिव्यक्ति पा रही हैं। लेकिन इन भावनाओं तथा शक्तियों का अतिक्रम कर इस युग में एक ऐसी व्यापक शक्ति अथवा चेतना कार्य कर रही है जो इस युग की बहुमुखी प्रवृत्तियों में एक सर्वांगीण संयोजन भरने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह तो आप स्वयं भी देखते होंगे कि इस युग में जहाँ एक ओर ह्रास और विघटन की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं वहाँ विश्वजीवन के पुनर्निर्माण की एक गम्भीर आवश्यकता भी विश्व-मन में उदित हो रही है।

" 'पल्लव' के बाद, एक प्रकार से, मेरा काव्य विश्व-जीवन की गतिविधियों से युक्त रहा है और मैंने समय-समय पर उन प्रवृत्तियों को अपने काव्य-संकलनों में संजोने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनमें एक विविधता वर्तमान रही है। किन्तु भीतर-ही-भीतर अपने मन में मैं भी विश्व-जीवन की इन गतिविधियों को एक व्यापक पट पर संजोने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ, जिससे इन विभिन्न लगने वाली गतिविधियों को एक समग्र दृष्टि से देखा जा सके। तो एक प्रकार से युग-जीवन ने ही मुझे बाध्य किया है कि मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के विश्व-मानस को एक प्रबन्ध-काव्य में बाँध सकूँ, जैसा कि मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है—

छन्द ग्रथित कर खण्ड धरा-मानस को
जीवन रचना करो, तन्त्र में नूतन ।

'लोकायतन' अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा के लिए—और उस परम्परा के पाठकों के लिए भी—बहुत बड़ी चुनौती है। इस बात को उठाते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' न किसी महान् व्यक्ति के जीवन-चरित् को लेकर चलता है न अतीत के किसी स्वर्णयुग का गौरव-गान करता है और न ही पतितों-शोषितों के उद्धार का बीड़ा उठाता है। इसकी कथावस्तु नगण्य-सी है और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इसका ध्येय नहीं। विचार के धरातल पर भी इस कृति में क्रान्ति के दर्शन होते हैं। भारतीय अध्यात्म-वाद के विरुद्ध यह कृति बड़े ज़ोर की आवाज़ उठाती है : योगियों की काम्य अवस्था समरसता या समत्वयोग को आत्मबोध की निष्क्रिय स्थिति मानकर उसे व्यर्थ सिद्ध करती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से मुक्त होकर स्वतन्त्र मनन-चिन्तन की जो प्रवृत्ति 'लोकायतन' में मिलती है वह निश्चय ही स्वस्थ, अतः अभिनन्दनीय है। पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, मृत्यु से साक्षात्कार हुए विना प्राचीन संस्कारों से मुक्ति पाना असम्भव है। लगता है, आपको भी मृत्यु से जूझना पड़ा है या अनेक बार मरण की यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ी हैं जो आपको यह दृष्टि मिल सकी। कृपया बताएँ, मेरा ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है ?"

मेरी बात को बड़े धैर्य से सुनने के बाद पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में किसी महान् व्यक्ति, चरित्र या व्यक्तित्व की स्थापना इसलिए नहीं मिलती है कि यह एक सर्वांगीण चेतना का काव्य है। महान् से महान् व्यक्ति इस चेतना-सिन्धु के एक विशिष्ट ज्वार या तरंग के रूप में कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य चरित्र-प्रधान या नायक-प्रधान इसलिए हैं कि वे परम्परा पर आधारित मूल्यों के उपासक हैं और 'लोकायतन' एक समग्र उन्मुक्त विकासशील मानव-चेतना का काव्य है. जैसा कि मैंने इसकी भूमिका में भी कहा है : 'इसमें जो भी व्यक्ति या चरित्र आए हैं वे केवल मानव-चेतना को आगे बढ़ाने वाले पालकी-वाहक हैं।'

" 'लोकायतन' में विचारों के धरातल से भी अधिक चेतनामूलक क्रान्ति मिलेगी। यह भारतीय अध्यात्म के विरुद्ध न होकर मध्ययुगीन अध्यात्म के विरुद्ध है जिसमें ईश्वर को जगत् से विच्छिन्न कर दिया गया है और ईश्वर का स्पर्श जगत् और जीवन के भीतर से न पाकर, उसके लिए एकांगी और ऊर्ध्वमुखी, निवृत्तिमूलक पारलौकिक पथ पर जोर दिया गया है। योगियों अथवा द्रष्टाओं ने जिस समरस स्थिति के दर्शन केवल आत्म के स्तर पर प्राप्त करके सन्तोष ग्रहण कर लिया है, मैंने उसे जगत् और जीवन की ओर प्रेरित करने पर बल दिया है। और इस प्रकार उस निष्क्रिय आत्मबोध की स्थिति को सक्रियता प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

" 'लोकायतन' को मैं दूसरी दृष्टि से सिद्ध-काव्य मानता हूँ, क्योंकि उसके भीतर जो कुछ भी है, वह काल्पनिक नहीं, मेरा अनुभूत सत्य है, और वह किसी भी मनुष्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूत सत्य होने की क्षमता रखता है। मुझे इस बात का भी अनुभव हुआ है कि जिन पाठकों ने सहज दृष्टि से आस्थापूर्वक इसका बार-बार अध्ययन किया है, उन्हें भी उसी प्रकार सोचने की दृष्टि मिल सकी है, जैसा कि मुझे अनेक पाठकों के पत्रों से ज्ञात हुआ है। यह एक धार्मिक काव्य न होकर सांस्कृतिक काव्य है। इसलिए, इसके लिए धार्मिक आस्था नहीं, प्रत्युत् मानवमूल्य पर आधारित आस्था अपेक्षित है।

"मेरे भीतर 'लोकायतन' की चेतना का संघर्ष सन् १६२६ से ही प्रारम्भ हो गया था और उसके बाद मैंने जो कुछ भी लिखा है वह किसी-न-किसी रूप में उसी संघर्ष का द्योतक है। चेतनामूलक विभिन्न क्षेत्रों की अपनी जिन अनुभूतियों को मैं 'पल्लव' के बाद की रचनाओं में वाणी देता आया हूँ, उनका समग्र संयोजित रूप ही 'लोकायतन' में मिलता है। जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में भी लिखा है, जगत् तथा जीवन के प्रति मेरी विगत संस्कारगत दृष्टि की मृत्यु हो चुकी थी। नई दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मुझे अविराम घोर संघर्ष करना पड़ा जिसका विनम्र दिग्दर्शन मैंने 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' में भी किया है। अपनी साधना के विषय में विस्तार से कहना अशोभन लगता है। इसीलिए जब भी उसकी आवश्यकता पड़ती है, मैं उस विषय में संकेत मात्र करके छोड़ देता हूँ।"

'लोकायतन' में पन्तज़ी ने जिस आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है, उसका ज़िक्र करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' में भारतीय अध्यात्मवाद का बड़ी निर्ममता से खण्डन हुआ है, पर इस कृति में अन्ततः प्रतिष्ठित भी आध्यात्मिकता ही हुई है, यद्यपि यह आध्यात्मिकता ऐसी है जो दमन नहीं, उन्नयन को प्रश्रय देती है; [illegible] प्रेरणाओं को काटती नहीं, पालती है। कृपया बताएँ, इस आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि में आपको किस व्यक्ति या दर्शन से सर्वाधिक प्रेरणा मिली ?"

अध्यात्मवाद की अपनी संकल्पना को स्पष्ट करते हुए पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में मैंने मध्ययुगीन जीवन परम्पराओं तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का खण्डन किया है और भारतीय अध्यात्म से जो कुछ मुझे अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की कसौटी में प्राप्त हो सका है, उसी की स्थापना मैंने इस लोकजीवन-सम्बन्धी काव्य में करने की कोशिश की है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि वही सच्ची भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि है जो लोक-जीवन के कल्याण में, मानव-प्रवृत्तियों के परिष्कार में और सर्वमंगलमय सन्देश में विश्वास रखती है। वह दृष्टि भौतिकता को आध्यात्मिकता की पदपीठ मानती आई है, जैसा कि हमें "पदभ्यां पृथ्वी" जैसे आर्षवचन में मिलता है।

"यह आध्यात्मिक क्रान्त-दृष्टि मुझे अपने युग की समस्याओं से ही मिली है। शैव तथा वैष्णव साहित्य के अध्ययन से, उपनिषदों तथा पुराणों के मनन से, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द आदि द्रष्टाओं तथा चेतना के साधकों के व्यक्तित्वों से मुझे अपने अंतःसंघर्ष को समझने तथा सुलझाने में सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मिली है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, ये सब मनीषी तथा पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक चिन्तक भी केवल इस युग के विश्व-मन की देन हैं जिनका ठीक युगीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए जन्म हुआ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लोकायतन' पढ़ते समय मुझे लगा था कि माधव और वंशी मानव की दो परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों के परिचायक हैं—माधव निराला जी के निकट हैं तो वंशी स्वयं पन्त जी के। अपनी इस धारणा को व्यक्त करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' व्यष्टि का नहीं समष्टि का काव्य है, जिसमें वैयक्तिक मुक्ति को निरर्थक और सर्वमुक्ति को ही व्यक्ति-मुक्ति माना गया है। इसमें व्यष्टि का प्रतीक माधव बना है और समष्टि का वंशी। माधव में निराला जी की झाँकी मिल जाती है और वंशी में आपकी। मुझे लगता है, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; विलोम दीखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। माधव वंशी को बाँधता ही नहीं, खोलता भी है। स्वयं वंशी पर भी यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि—'वंशी के ही थे विलोम माधव, जान सका, जिनसे वह अपने को'। इसी प्रकार, मैं समझता हूँ, व्यक्ति-मुक्ति सर्वमुक्ति का विलोम दीखे भले ही, पर है नहीं। 'स्व' की सीमा लाँघ बिना कोई 'पर' की—और उससे भी आगे 'सर्व' की—सोच ही कैसे सकता है और 'सर्वमुक्ति' का कामी आत्मकेन्द्रित कैसे हो सकता है? इस गुत्थी को सुलझाने की कृपा करें।"

मेरे इस प्रश्न से चर्चा व्यक्तिगत स्तर पर आ सकती थी और मुझे डर था कि कहीं बात बिगड़ न जाए। पन्त जी शान्त और संयत स्वर में बोले : "इसमें सन्देह नहीं कि 'लोकायतन' समष्टि का काव्य है, लेकिन यह समष्टि व्यष्टि-विरोधी समष्टि नहीं, जैसा कि आज के ह्रास-युग का व्यक्ति सोचता है। निर्माण के युग में सदैव व्यष्टि और समष्टि एक-दूसरे के पूरक रहते हैं और ह्रास के युग में वे एक-दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। यह इसलिए कि समष्टितः तो मानव-चेतना या विश्व-जीवन आगे बढ़ने की चेष्टा करता है और अप्रबुद्ध व्यक्ति पिछड़े या विगत सांस्कारिक जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण समष्टि के पथ में विरोध उपस्थित करता है।

"मैं इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ कि माधव में निराला जी की झाँकी मिलती है और वंशी में मेरी। इसमें माधव या माधोगुरु विगत सांस्कृतिक मूल्य अथवा विगत मानव अर्हता के प्रतीक हैं और वंशी विकासशील चेतना तथा भावी मानवमूल्यों का प्रतीक है। और लोगों ने भी मुझसे कहा है कि माधो में निराला जी की और वंशी में मेरी झाँकी मिल जाती है। लेकिन कोई ध्यानपूर्वक पढ़े तो शान्ति आश्रम के संचालक माधव निराला जी से बिल्कुल ही भिन्न व्यक्ति हैं और बहुत सम्भव है कि निराला जी के व्यक्तित्व का कुछ अंश वंशी में और मेरे व्यक्तित्व का कुछ अंश माधव में मिल जाए। इस समष्टिगत विकास के संचरण तथा युग-परिवर्तन में इस प्रकार की बाहरी-भीतरी बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी मूल्य या वस्तु का एक क्षण में रूपान्तरण नहीं हो सकता, इसलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वंशी, एकदम विगत की पृष्ठभूमि से विच्छिन्न न हो सके और माधव आने वाली विकास-पीठिका की ओर चरण बढ़ाने में हिचके। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि माधव वृत्ति अतीतोन्मुखी है और वंशी की भविष्योन्मुखी। इस युग के संघर्ष को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष दिखाना 'लोकायतन' जैसे विश्व-भूमिका पर चलने वाले काव्य के लिए अनिवार्य था। माधो और वंशी एक-दूसरे के विलोम या पूरक इस अर्थ में हैं कि वे विश्व-विकास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक आवश्यक द्वन्द्व-परम्परा की पूर्ति करते हैं।''

अनुभूति-प्रधान काव्य होने के कारण 'लोकायतन' अपने पाठकों से विशेष आयास और पूर्ण मनोयोग की अपेक्षा करता है जो हर किसी से नहीं हो पाता। इसलिए अनेक स्थलों पर वह दुरूह लगने लगता है। पाठक की इस कठिनाई की चर्चा करते हुए मैंने कहा : ''प्रथम सर्ग'' 'पूर्वस्थिति' में आपने भारतीय लोकमानस के उपचेतन में व्याप्त जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का बड़े सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढंग से दिग्दर्शन कराया है तथा 'उत्क्रान्ति' में अन्तःशुद्धि द्वारा नए संस्कार डालने के उद्देश्य से मानवचेतना को अनेक ज्योति-चक्रों से गुज़ारते हुए कई स्वर्णिम सोपानों पर चढ़ाया है। ये दोनों सर्ग बड़े भव्य बने हैं, पर गूढ़ इतने हैं कि इनमें आए प्रतीक साधारण पाठक की पकड़ से बाहर होने के कारण वह मन की ध्यानभूमियों, चेतना के विविध स्तरों की बारीकियों को समझ नहीं पाता और उसे अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति दीखने लगती है। आप 'लोकायतन की प्रतीक-योजना पर थोड़ा प्रकाश डाल दें तो बड़ी कृपा होगी।''

पन्त जी बोले—''इस युग में फ्रायड आदि के मनोविज्ञान के कारण मनश्चैतन्य के निचलै उपचेतन, अचेतन स्तरों पर ही अधिक बल दिया जाता है, यहाँ तक कि कला, दर्शन और काव्य भी इन दृष्टिकोणों से अतिरंजित पाये जाते हैं। मैंने 'लोकायतन' में चेतनामूलक भारतीय दृष्टिकोण ही रखा है जो मुझे अधिक पूर्ण लगता है। हमारे यहाँ सप्त-सिन्धु आदि प्रतीकों द्वारा चेतना के सात स्तरों या लोकों की बात कही गई है और सात स्तर भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य हैं—जिनको आप आधुनिक मानव के लिए अन्न, प्राण, मन, महतत्व, सत्, चित्, और आनन्द (सच्चिदानन्द भी कह सकते हैं। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने केवल प्राणचेतना के ही विभिन्न स्तरों को महत्व दिया है। इसीलिए, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा है। और मानव जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जितने भी समाधान दिए हैं, वे भी सब एकांगी रहे हैं। जो मूलगत भारतीय दृष्टिकोण है, मैंने उसके अनुरूप ही मानव-चेतना को विश्व-जीवन में संजोने की चेष्टा की है, क्योंकि प्राणों का या मन का स्तर व्यक्ति में सीमित न होकर एक विश्वव्यापी स्तर है। इसलिए व्यक्तिगत चेतना का संस्कार एक सामाजिक या विश्व धरातल से शक्ति संचय करने का प्रयत्न करता है और इसलिए उसके सामाजिक रूप को अधिक महत्व दिया गया है। इन चेतना-भूमियों को ध्यान में रखने से 'लोकायतन' में आई हुई प्रतीक-योजना को समझने में सहायता मिलेगी।''

'लोकायतन' के बौद्धिक-पक्ष पर चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा—'' 'लोकायतन' की स्थापना है—'रागचेतना का विकास ही, निखिल प्रगति का सार, न संशय।' पर 'लोकायतन' स्वयं, काव्य के रूप में, रागात्मक कम और बौद्धिक अधिक हो गया है। क्या इसे आज के बुद्धिवादी युग का प्रभाव माना जाए ?''

प्रश्न एक प्रकार के आक्षेप के रूप में आया था, पर उसे शान्ति से झेलते हुए पन्त जी बोले—''आने वाले जीवन को समझने के लिए हमारी वर्तमान राग-भावना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस राग-भावना के मूल हमारे अतीत के जीवन में हैं। आने वाले युग को समझने के लिए जिस राग-भावना की आवश्यकता होगी, वह निश्चय ही बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आँच में जाकर सोने-सी निखरी भावना होगी। आज भी हमें intellectualised emotion या emotionalised intellect जैसी बुद्धि और भावना के लिए परिकल्पनाएँ देखने को मिलती हैं। 'लोकायतन' की चेतना को जो भावना व्यक्त कर सकती थी, उसमें निश्चय ही बुद्धि का एक अंश निहित है, इसलिए, 'लोकायतन' बाह्य दृष्टि से बौद्धिक काव्य दीखने पर भी अन्ततः उपयुक्त अर्थ में भावना-प्रधान या रस-प्रधान काव्य है। मेरे कई पाठकों के मन में भी ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई है। यह काव्य भावना मूलक इसलिए भी है कि यह मूलतः व्यापक से व्यापक अर्थ में मानव-प्रेम का काव्य है।''

फिर, चर्चा को समेटते हुए पन्त जी ने कहा—''अन्त में मैं आपसे यह भी कहना चाहूँगा कि 'लोकायतन' में मैंने किसी महत् स्वप्न की कल्पना नहीं की है। उसमें मैंने मानव-जीवन के महत् सत्य अथवा अन्तःसत्य को ही प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। वह ऊर्ध्व तथा समदिक् जीवन के असफल समन्वय का काव्य नहीं, मानव-चेतना के बहिरन्तर रूपान्तरण का काव्य है। ऊर्ध्व और समदिक् के समन्वय सम्बन्धी उसके कुछ समीक्षकों की कल्पना वैसी ही अर्थहीन तथा हास्यास्पद है जैसी कि हाईस्कूल तथा एम.ए. के पाठ्यक्रम के समन्वय की कल्पना हो सकती है। क्योंकि समदिक् संचरण मानव-जीवन-सत्य का एक निचला सोपान भर है, जिसे विकासक्रम में अपनी ऊर्ध्वा-स्थितियों की ओर प्रगति करना है। ऐसे भ्रामक समन्वय की कल्पना के कारण ही मन अपने को भूल-भुलैया में भटका हुआ पाता है और अन्तर्मूल्य सम्बन्धी ऐसे ही धुन्ध के कारण दृष्टि कला-शिल्प के भीतर भी प्रवेश नहीं कर सकती।

''दूसरी बात यह कि 'लोकायतन' के राग-चेतना उन्नयन से सम्बद्ध होने के कारण जैसा कि प्राचीन राम कृष्ण पर आधारित संस्कृतियाँ भी अपने स्तर पर रही हैं—उसमें रागभावना की साम्प्रत निम्न स्थितियों का चित्रण आवश्यक हो जाता है। वर्तमान जीवन-विकास की स्थिति में रामभावना के रथ को बादलों के ऊपर-ही-ऊपर ले जाना इस फ्रायड-युग में स्वाभाविक न होता। उसके चकों को युग-जीवन के कर्दम में धँसा हुआ दिखाना भी आवश्यक था। रूप सौन्दर्य के माध्यम से चेतना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनिवार्य होने के कारण—राधाकृष्ण के प्रतीक जिसके उदाहरण हैं--देह-शृंगार को मानव-मूल्य देना आवश्यक हो जाता है, उसका निपटारा केवल परदे की ओट में करना पर्याप्त नहीं। फिर भी इस प्रायः ७०० पृष्ठों के काव्य में स्थूल देह-शृंगार सम्बन्धी पद केवल एक-दो पृष्ठ तक सीमित हैं। यदि वे भी किसी को खटकें और काव्य में सर्वाधिक चर्चा-योग्य जान पड़ें तो इसका अवश्य ही कोई व्यक्तिगत मनो-वैज्ञानिक कारण हो सकता है। रीति-कालीन काव्य में यदि चैतन्य को देह-यष्टि में सीमित कर दिया गया था तो 'लोकायतन' में देह की सीमा को चैतन्य के धरातल पर उठा दिया गया है, जो वर्तमान सामूहिक जीवन की एक अनिवार्य स्थिति तथा आवश्यकता है। यह मध्य-युगीन संस्कारों तथा खोखले नैतिक दिखावों में पोषित व्यक्ति को भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर वह आज के जीवन-विकास की स्थिति में भी—जबकि स्त्री-पुरुष संयुक्त रूप से सामूहिक कार्य-कलापों की ओर अग्रसर हो रहे हैं—अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के बीच की राग-शृंखला को संकीर्ण देह-मूल्य में ही सीमित न रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर उसे व्यापक सामाजिक, रागमूल्य में उठना ही होगा। इसमें असम्भव क्या है, यह समझ में नहीं आता। वही तो उसकी स्वस्थ परिणति है। वैष्णवों ने प्रेम का विश्लेषण जिन स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव के स्तरों पर किया है उसमें राग को सात्विक वृत्ति माना गया है, जिसका सामाजिक वितरण 'लोकायतन' में मिलता है। मैंने निष्क्रिय भाव को लोक-जीवन के महत अन्तर्दर्शन (vision) में, और महाभाव को महत विश्व-सृजन कर्म में क्रियाशील तथा परिणत किया है, जो उसकी स्वाभाविक विकासगति होनी चाहिए।

"'लोकायतन' मध्य-युगीन, निर्गुण परक, निवृत्तिमूलक, ऊर्ध्वसाधना-पथ का काव्य न होकर आधुनिक युग के लिए उपयुक्त विश्वजीवन-मंगल की ओर उन्मुख काव्य है, जिसमें ब्रह्म तथा ईश्वर को जीवन से विच्छिन्न न मानकर वागर्थाविव सम्पृक्त माना गया है, जिसकी सूचना आरम्भ के मंगलाचरण से ही मिलने लगती है, और यही वास्तव में भारतीय आध्यात्मिक एवं औपनिषदिक दृष्टिकोण भी रहा है—"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां-जगत्"। आज के इस बहिर्भ्रान्त वैज्ञानिक युग के लिए एवं मध्ययुगीन अध्यात्मवाद के अन्तर्भ्रान्त जागरण के युग के लिए मैं 'लोकायतन' की दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता तथा उपयोगिता मानता हूँ।"

मधुरेश

यशपाल : दो नवीन कथा-कृतियाँ

जब पहले-पहल मुझे पता चला कि यशपाल 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को आधुनिक दृष्टिकोण से उपन्यास के रूप में लिख रहे हैं तो मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था और साथ ही कुछ शंकायें भी मन में उठी थीं। 'दिव्या' और 'अमिता' पढ़ने के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अतीत उनके लिये श्रद्धा और विश्वास की अपेक्षा चिंतन और विश्लेषण की चीज ही अधिक है। यशपाल के साथ ही कोई विशेष बात हो ऐसा नहीं है। इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण और दायित्व की माँग ही इसके मूल में है। आवश्यकता पड़ने पर साहित्यकार बहुधा ही अतीत की ओर मुड़ता है। हिन्दी में भी लगभग हर विधा में साहित्यकारों ने ऐसे प्रयोग किये हैं परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के चरम विकास की स्थिति में जहाँ साहित्यकार अपने अतीत को अतिशय महान और गौरवपूर्ण मानकर अधिकांश में भावुकता-जन्य श्रद्धा-भाव लेकर उधर देखता था, और प्रेरणा एवं स्फूर्ति के अवरुद्ध द्वारों को खोलने के लिए नयी संजीवनी प्राप्त करता था वहीं प्रगतिशील साहित्यकार या तो अपनी मान्यता के इतिहास-सम्मत समर्थन के लिए उधर मुड़ा या फिर वर्णाश्रम व्यवस्था और श्रेणी-विभाजन की स्थिति में दासी और स्त्रियों की करुण दशा एवं निर्दय शोषण के विरुद्ध चिंतन का एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का आग्रह लेकर आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राहुल सांकृत्यायन यदि पहली कोटि में आते हैं तो रांगेय राघव और यशपाल दूसरी में। 'दिव्या' में जहाँ एक ओर वर्णाश्रम-व्यवस्था वाले समाज का यथार्थ रूप उद्घाटित हो सका था वहीं दूसरी ओर पुरुष-शासित समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति भी उभर कर आई थी। 'अमिता' का आग्रह किंचित् भिन्न था लेकिन वर्णाश्रम-व्यवस्था के अभिशापों के स्पष्ट संकेतों का अभाव उसमें भी नहीं है। परन्तु शकुन्तला की कथा के पुनर्लेखन में ऐसा क्या उद्देश्य हो सकता था समझ में नहीं आया। और फिर 'दिव्या' तथा 'अमिता' में उनकी परिवेशगत ऐतिहासिकता के बावजूद ऐसा कोई भय नहीं था कि सम्पूर्ण कथा को किसी एक जगह से ले लिया गया हो। वहाँ लेखक की कल्पना और मौलिकता के लिए पूरी स्वतन्त्रता थी और उसने उसका उपयोग किया था। लेकिन क्या शकुन्तला की कथा को लेकर भी ऐसा सम्भव था ? या लेखक का उद्देश्य महज रूप-विधान में थोड़ा हेर-फेर करके मूल नाटक को ही कहानी की शक्ल दे देने का था ?

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कुछ ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उसके प्रयोजन को समझने में सहायता मिल सकती है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शकुन्तला की इस कथा की पुनर्रचना के मूल में, "कालिदास से कलात्मक स्पर्धा नहीं अपितु आधुनिक समाज पर कालिदास की महान कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के गहरे प्रभाव की स्वीकृति है।" (पृ० सं० १३०) आगे चलकर लेखक ने कालिदास-कालीन और अपने युग के भावक वर्ग के अन्तर की ओर संकेत किया है। कालिदास के समय की सामाजिक-साहित्यिक रूढ़ियों पर भी उसकी दृष्टि गई है। आज का साहित्यकार ऐसे किन्हीं बन्धनों को स्वीकार नहीं करता जो कालिदास के लिए किसी हद तक अनिवार्य थे। चाहकर भी कालिदास दुष्यन्त के प्रति अहृदय और कटु नहीं हो सकते थे, क्योंकि इसमें साहित्यिक रूढ़ियों और मान्यताओं से भी अधिक किसी राज दरबार से सम्बद्ध आश्रित कवि की स्वाभाविक सीमाओं का प्रश्न भी था। ऐसी किसी सीमा को स्वीकार न करके चलने के लिये आज का लेखक स्वतन्त्र है बल्कि उसके अस्वीकार की स्थिति में से ही उसके अपने समाज और काल के प्रति उसके दायित्व की चेतना उभर कर आने का अवसर पाती है। यशपाल की भूमिका के ही कुछ वाक्य और हैं : "आज का पाठक दुष्यन्त के समान व्यवहार करने वाले नायक को धीरोदात्त नहीं मानना चाहेगा। कालिदास की पतिव्रता शकुन्तला के प्रति चरम सहानुभूति उत्पन्न करके भी यह नहीं कहना चाहते थे कि उसके प्रति अन्याय हुआ। आज के लेखक का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। इस दृष्टि से 'अप्सरा का श्राप' के कथानक में दुष्यन्त के प्रति अन्याय नहीं केवल शकुन्तला के प्रति न्याय का प्रयत्न है। यह प्रयत्न दुष्यन्त को लांछित करने का नहीं अपनी परिणीता पत्नी की उपेक्षा करने वाले समर्थ सम्पन्न व्यक्ति के विचारों, भावनाओं तथा व्यवहार की ही कल्पना है।" (पृ० सं० १३१) अंतर और विरोध की इस स्वीकृति की स्थिति में ही लेखकीय प्रयास की सार्थकता और प्रयोजन अन्तर्निहित हैं। 'अप्सरा का श्राप' की कथा मूलरूप में कालिदास के नाटक की ही कथा है। लेकिन कदाचित इस स्वाभाविक सम्भावना के कारण कि लोग मौलिकता की ओर उँगली उठा सकते हैं अपने बचाव के लिए उसने यह बताना भी आवश्यक समझा है कि कहानी की वह तथाकथित मौलिकता तो कालिदास के यहाँ भी संदिग्ध है क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी कथा का मूल भारत की कथा में है। अपनी युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप कालिदास ने महाभारत की उस कथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हैं। 'अप्सरा का श्राप' में लेखक के आगे अपने युग की दशायें, समस्यायें और दृष्टिकोण रहे हैं। अपनी कहानी में यशपाल ने किसी अलौकिक तत्व आकाशवाणी या शाप आदि का सहरा नहीं लिया है। (यद्यपि सानुमती और मेनका की योजना को लेकर भी यही बात नहीं कही जा सकती क्योंकि कथा के जिस पौराणिक रूप को स्वीकार किया गया है वहाँ इसके अलावा और कोई रास्ता लेखक के आगे था ही नहीं। सम्भवतः इसीलिये पुस्तक का अन्त उसकी सारी चेतना के बावजूद अलौकिक होने से नहीं बचाया जा सका है) बल्कि सारी कथा को लौकिक धरातल पर कार्य-कारण परम्परा में ही विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया है। कण्व की अनुपस्थिति में हुए शकुन्तला और दुष्यन्त के गांधर्व विवाह के पश्चात् जब महाऋषि कण्व आश्रम में आते हैं तो सम्पूर्ण स्थिति की सूचना के लिये कालिदास ने आकाशवाणी के रूप में एक अलौकिक साधन का सहारा लिया है। यशपाल जानते हैं कि आज के पाठक के लिए ऐसी किसी अलौकिक एवं चमत्कारिक शक्ति में विश्वास नहीं रह गया है। अतः उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि अपने अनुभव के द्वारा ही महाऋषि कण्व ने सम्पूर्ण स्थिति का अनुमान लगा लिया। वह स्पष्ट देखते हैं कि शकुन्तला की आँखों में कौमार्य की लालसा और अतृप्ति नहीं, वैवाहिक जीवन के प्रारंभ की सूचना और तृप्ति उपस्थित है। इसी प्रकार दुर्वासा के क्रोधी स्वभाव को स्वीकारते हुए भी वे उनके शाप के अलौकिक तत्व को अस्वीकार कर देते हैं। लेकिन यह सारे परिवर्तन कथा की रोचकता या मौलिकता की दृष्टि से इतने नहीं हैं जितने लेखक के दृष्टिकोण और प्रयोजन की दृष्टि से। ऐसे परिवर्तनों में सबसे पहले हमारी दृष्टि दुष्यन्त के चरित्र की ओर जाती है। उसके चरित्र के संकेत लेखक ने भूमिका में दिये हैं और उस धरातल पर ही उसने अपनी रचना के प्रयोजन को ग्रहण करने की माँग की है। 'अप्सरा का श्राप' का दुष्यन्त धीरोदात्त आदर्श नायक नहीं है। प्रारम्भ में ही वह एक कामुक और विलासी राजा के रूप में सामने आता है। उसके व्यवहार में हर कहीं लम्पटता, क्षुद्रता और स्वार्थ की गंध है। सामान्य व्यक्ति की सहज शालीनता से भी उसे कुछ विशेष सरोकार नहीं है। निम्नलिखित कुछ उद्धरण उसके चरित्र को समझने में सहायक हो सकते हैं :

१. गौतमी के समीप खड़ी शकुन्तला के नेत्र झुके हुए थे परन्तु वह अपने शरीर पर अतिथि (दुष्यन्त) की दृष्टि का स्पर्श अनुभव कर रही थी। (पृ० सं० ३८)।

२. वृद्धा से वार्तालाप करते-करते उसकी (दुष्यन्त की) दृष्टि बार-बार कूप से जल के कलश ले जाकर वाटिका का सिंचन करती हुई शकुन्तला की ओर थी। (पृ० सं० ३०)।

३. बिना किसी विशेष परिचय और सम्बन्ध के ही एक स्थल पर वह शकुन्तला से कहता है, "यह भाग्यशाली शावक भद्रे के अंक में स्थान पाकर दूसरों के मन में ईर्ष्या जगाता है।" (पृ० सं० ४२)

४. कहावत है कि पुरुष का वास्तविक परिचय उसकी पत्नी को ही होता है। अतः उसकी पत्नी उसे क्या समझती है इसके संकेत भी एकाधिक स्थलों पर मिलते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानी लक्ष्णा कहती है, "स्वामी, तुम तो मधुप हो, सद्य-नव-पराग तथा नव मधुप के अभिलाषी। तुम्हें भुक्त पुरुषों से क्या अनुराग! तुम तो नित्य नवीन के कामी हो। तुम्हें तो वैचित्र्य से आकर्षण है। तुम्हारे विस्तृत राज्य में राजपुरुषों की भाँति तुम्हारी कृपा-पात्र उपपत्नियाँ भी फैली हुई हैं। सच बताओ प्रवास में नवीनताओं के रमण-विनोद से मन अघा गया कि नहीं। कितनी पार्वत्य तथा वन-हंसनियों का आखेट करके आये हो?" (पृ० सं० ८५)

इन बहुत से उद्धरणों के अतिरिक्त लेखक की कितनी ही टिप्पणियाँ हैं और उन सबको मिलाकर दुष्यन्त का जो रूप उभरता है उससे न सिर्फ यह कि वह कालिदास के दुष्यन्त से नितान्त भिन्न धरातल पर खड़ा है, वरन् पुरुष-शासित समाज और राजसत्ता की सारी बुराइयों को भी उसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। यही दुष्यन्त जब ऋषि कश्यप से शकुन्तला को पाने के लिये पत्नी पर पति के नीति-विहित अधिकार का दावा करता है तो पुरुष शासित-समाज में पुरुष के मिथ्या दम्भ का रूप-उद्घाटन ही नहीं होता कश्यप ऋषि के माध्यम से नारी-पुरुष के स्वस्थ जीवन-सम्बन्धों का वास्तविक और यथार्थ रूप भी सामने आता है, जिससे लेखक के दृष्टिकोण को भी किसी हद तक समझा जा सकता है, "···पति-पत्नी का सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी अधिकार स्वत्व से नहीं पारस्परिक प्रेम से तथा अनुराग-जन्य अनुमति से होते हैं। नर-नारी के प्रेम में प्राकृतिक न्याय यही है। पति अनुराग से रक्षा तथा आश्रय देकर अधिकार प्राप्त करता है, स्कत्व से नहीं। निर्दयता, निरादर तथा अहंकार प्रेम के नहीं विरोध के भाव हैं। ऐसे भाव और व्यवहार प्रेम-भावना तथा पति-पत्नी सम्बन्ध को समाप्त कर देते है। पुरुष पत्नी के प्रति निर्दयता से स्वत्व का व्यवहार करने पर प्रेमी और पति नहीं रहता, शत्रु और अपराधी बन जाता है।" (पृ० सं० १२६)

दुष्यन्त के चरित्र को कालिदास से भिन्न जिस धातु से यशपाल ने गढ़ा है शकुन्तला के चरित्र के लिये वैसे किसी परिवर्तन की कोई आवश्यकता उन्हें नहीं जान पड़ी। यहाँ 'अप्सरा का श्राप' के लेखक की स्थिति 'यशोधरा जीत गई' के लेखक से थोड़ा अलग थी। रांगेय राघव की यशोधरा अपनी युग-सीमाओं से नियन्त्रित होकर भी नारी की स्वतन्त्रता और समानाधिकार की बात कह सकती थी, उसने कही है। परन्तु अपनी मान्यताओं और विचारों के स्पष्टीकरण के लिये यशपाल ने शकुन्तला को माध्यम नहीं बनाया है। यह कार्य उन्होंने विशेष रूप से सानुमती और मेनका की अवतारणा करके सम्पन्न किया है। यही नहीं इस दृष्टि से उनकी शकुन्तला कालिदास की शकुन्तला से इस धरातल पर थोड़ी भिन्न है। कालिदास की शकुन्तला में अहं की चेतना और आत्म-सम्मान का तीव्र भाव है। यशपाल ने उसे पतिव्रता के एक मॉडेल के रूप में प्रस्तुत करके उसके अपने व्यक्तित्व को बहुत-कुछ पंगु कर दिया है और इसका स्पष्ट कारण उनके माध्यम के चुनाव में खोजा जा सकता है। जब कण्व ऋषि के आश्रम के तापस-तपसियों के साथ शकुन्तला दुष्यन्त के यहाँ पहुँचती है तो वह उसे पहचानने का कोई भाव नहीं दिखलाता है। कालिदास ने इसके लिये उत्तरदायी कारणों में दुर्वासा के शाप और उसी के परिणामस्वरूप अँगूठी के खो जाने के प्रसंग की अवतारणा की है। परन्तु यशपाल के यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे कारण पूर्णतया राजनैतिक हैं। एक तापस कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करके, उसके पुत्र को उत्तराधिकारी बनाकर, वह अपनी तीन अन्य रानियों के पितृकुलों—मद्र, गौड़ और विदर्भ-से अपने राजनैतिक सम्बन्धों को कैसे बिगाड़ ले? अतः माध्यम की सहायता से वह स्थिति का सामना करता है। शकुन्तला और उसके साथ आये अन्य व्यक्तियों को वह भला-बुरा कहता है। शकुन्तला को वह 'कपटी' और 'कुलटा' कहकर लांछित करता है। परन्तु इस असाधारण अपमान को सहकर भी शकुन्तला पतिव्रता का धर्म पूरा करती है "महाराज मुझ अभागी को आश्रय नहीं देना चाहते तो भी व्यंग से अपनी सती पत्नी पर असत्य और छल का आरोप कर अपना तथा उसका अपमान न करें। महाराज सती का अस्तित्व पति से पृथक नहीं होता, पति में ही समाहित रहता है। सती के अपमान से पति भी अपमानित होता है। मेरे सत्य के साक्षी अगोचर देवता हैं। मेरे गर्भ में स्थित स्वामी का अंश मेरे सत्य का साक्षी है। स्वामी द्वारा अंगीकार न की जाने पर भी मेरा पतिव्रत और सतीत्व अक्षुण्ण रहेगा।" (पृ० सं० १०३-१०४)

यहाँ स्थिति में अन्तर्निहित व्यंग अवश्य है जो लेखक के मन्तव्य को सार्थकता देता है। लेकिन कालिदास की शकुन्तला इतनी निर्जीव नहीं है कि अपमान से आहत न हो। लांछित होने पर जो रास्ता वह अपनाती है वह अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण ही नहीं, मनोविज्ञान सम्मत भी है। जब पिछली बातें याद दिलाने पर भी दुष्यन्त को कुछ याद नहीं आता तो वह कहती है, "अनार्य! तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान खोटा समझते हो। तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूँस से ढँके हुए कुँए के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके।"[१] यही शकुन्तला यहीं तक सीमित न रहकर यह भी कहती है कि ऊँचे कुल के धोखे में आकर वह ऐसे नीच व्यक्ति के हाथों जा पड़ी जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है।

बहुत से स्पष्ट और पूर्वचर्चित कारणों से कालिदास की पूर्ण सहानुभूति दुष्यन्त के साथ है। न केवल यह कि उसके बचाव का कोई भी सम्भव साधन वह हाथ से जाने देना नहीं चाहते हैं, वरन् विशेष रूप से उन्होंने उनकी अवतारणा की है। लेकिन फिर भी कालिदास का कलात्मक संस्कार उन्हें यह चेतना देता है कि आवश्यक नहीं कि एक को धक्का देकर ही दूसरे को दौड़ में जिताया जाए। दुष्यन्त के प्रति सदय होकर भी वह शकुन्तला के प्रति निर्दय नहीं हैं। यशपाल दुष्यन्त के प्रति निर्दय तो हैं ही परन्तु शकुन्तला के प्रति उनकी सम्पूर्ण सदाशयता के बावजूद वह न तो सजीव व्यक्तित्व ही पा सकी है और न ऐसा ही कुछ जो आधुनिक नारी के व्यक्तित्व निर्माण में कोई महत्वपूर्ण सहयोग दे सके। उनकी सम्पूर्ण उपलब्धि बहुत सीमित क्षेत्र की उपलब्धि बनकर रह गई है। पति के प्रति शकुन्तला की इस अनर्थकारी निष्ठा को वह न तो उचित ही समझते हैं न सामयिक ही। शकुन्तला के अपने चरित्र से ऐसा कोई संकेत ध्वनित हो सकता जैसा 'यशोधरा जीत गई' में यशोधरा के चरित्र से हुआ है तो उनकी उपलब्धि का धरातल अधिक सकारात्मक हो सका होता। लेकिन वैसा कुछ न करके कृति की उपलब्धि और सम्पूर्ण प्रयोजन को

१. शकुन्तला—(सरोषम्) अनार्यः आत्मनो हृदयानुमानेन किल सर्वं प्रेक्षसे। को नाम अन्योधर्मः यः कञ्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य नवानुकारी भविष्यति?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट करने का भार उन्होंने मेनका को सौंप दिया है। शकुन्तला की पति-भक्ति को वह हेय और घृणित समझती है। वैसा न करने के लिए वह केवल शकुन्तला को समझाती ही नहीं है, प्रताड़ित भी करती है। वह शकुन्तला के निजी व्यक्तित्व की गरिमा चाहती है। लेकिन 'अप्सरा का श्राप' के अन्त में शकुन्तला फिर एक अतिरंजित स्थापना करती है। निश्चय ही कालिदास की शकुन्तला से यहाँ उसका कोई साम्य नहीं है "···माता, पतिव्रता नारी, व्यक्ति तथा मानव नहीं पतिव्रता मात्र होती है। (पृ० सं० १२८) और तब ऐसा ही होने का शाप देकर मेनका चली जाती है।

मेनका और सानुमती की योजना लेखक ने एक विशेष प्रयोजन से की है। कथा के बीच-बीच में उनकी टिप्पणियाँ गहरा अर्थ रखती हैं। कभी तो वे कथा के विकास में सहायक होती है और बहुधा ही वे लेखक के दृष्टिकोण और मान्यताओं को रेखांकित करती हैं। कृति की दुर्बलता का एक बड़ा कारण यह भी है कि मेनका और सानुमती का नियोजन एक अपार्थिक धरातल पर हुआ है। वे हमेशा ही साधन बनकर आई है—लेखक की मान्यताओं के प्रक्षेपण के लिए महज़ एक पीठिका भर।

यह आत्म-स्वीकृति भी सम्भवतः अप्रासंगिक न समझी जाए कि प्रयोजन की दृष्टि से ही पुस्तक का यह शीर्षक मुझे अधिक सार्थक जान पड़ा था।

'खच्चर और आदमी' में यशपाल की नौ कहानियाँ संग्रहीत हैं। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में समय-समय पर जो चर्चाएँ होती रही हैं, वाद-विवाद का जैसा वातावरण रहा है, व्यक्तिगत रूप से किसी चर्चा में न फंसने पर भी उस सबकी पूरी चेतना और जानकारी यशपाल को रही है यद्यपि यह भी उतना ही ठीक है कि उस सबसे आक्रान्त वह नहीं दीखते। पुस्तक की भूमिका में इस जागरूकता का स्वागत तो वह करते हैं, लेकिन अपनी इन कहानियों का समर्पण वह 'सप्रयोजन कहानियों से रस पाने वाले पाठकों के लिए' ही करते हैं। अपनी कहानियों के लिए जैसा ढांचा और शिल्प यशपाल ने शुरू से ही निर्मित कर लिया है बिना किसी रद्दो-बदल के वह उसी से चिपके रहे हैं। कहानी में नयेपन के आग्रह का जहाँ तक सवाल है यशपाल की मान्यता रही है कि यदि वह मात्र बाहरी है तो उसका प्रभाव अधिक स्थायी और दूरगामी नहीं होगा। पिछले पच्चीस वर्षों से आज तक कहानी में कथ्यगत नवीनता पर ही उनका विशेष बल रहा है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का एक अलग रूप बन गया है और यदि कोई यशपाल की भाषा-शैली और विकारों से थोड़ा भी परिचय रखता है तो उसे उनकी कहानियों को पहचानने में दिक़्क़त नहीं होगी।

संग्रह की सारी कहानियों में यशपाल की सामाजिक जागरूकता और रूढ़ एवं विकृत के प्रति गहरा आक्रोश तथा विरोध-भाव देखा जा सकता है। संग्रह की कई कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर अपने समाज का वास्तविक परिचय पाने में सहायता मिल सकती है। जीवन में जो अस्वाभाविक और अस्वस्थ है, जो परिवर्तन की प्रक्रिया की प्रतीक्षा में है, लेखक मात्र निष्क्रिय रहकर उसका वर्णन नहीं करता है। वह पूरी गहराई और आवेश से उसका विरोध करता है जो वाकई बुरा और गलत है। अक्सर ऐसा मालूम पड़ सकता है कि कथ्य की दृष्टि से किसी कहानी में कोई विशेष बात नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे संग्रह की पहली कहानी विष्णवी में ऊपरी तौर पर पुनर्विवाह का समर्थन मालूम पड़ सकता है। लेकिन बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। यशपाल के यहाँ कथ्य की मौलिकता बहुधा ही अभिव्यक्ति के ढंग और उसे प्रस्तुत करने के कोण विशेष में निहित रहती है। 'वैष्णवी' में उनकी दृष्टि द्रौपदी के शारीरिक विकास एवं उसकी निजी आवश्यकताओं पर अधिक रहती है। उसका कथ्य बहुत-कुछ 'उत्तमी की माँ' के कथ्य जैसा है। उस कहानी में मात्र पुनर्विवाह का समर्थन नहीं है। बल्कि इस तथ्य की स्पष्ट ध्वनि भी उसमें है कि शारीरिक आवश्यकताओं और विकास की गति को जान-बूझकर झुठलाने के प्रयास कितने खतरनाक नतीजे छोड़ सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकारान्तर से उन सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं के प्रति भी आक्रोश पैदा होता है जो द्रौपदी को बिना किसी अपराध के वैसा करने के लिए विवश करते हैं।

संग्रह की नौ कहानियों में तीन कहानियाँ—'मक्खी या मकड़ी', 'जीव-दया' तथा 'खच्चर और आदमी'—ऐसी हैं जो एकदम बात-चीत की साधारण शैली में लिखी गई हैं। अपने दृष्टिकोण और मान्यताओं के समर्थन में लेखक ऐसी घटनाओं और अनुभवों को प्रस्तुत करता है जो उसके पक्ष की वकालत में उसकी सहायता कर सकते हैं। नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप यदि हम अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं करते तो वे अर्थहीन रूढ़ियाँ हमारी प्रगति में बाधा रहेंगी और हो सकता है कि एक दिन हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए। 'खच्चर और आदमी' में एक खच्चर और कर्म-काण्ड-निष्ठ वैष्णव ब्राह्मण को लेकर दो घटनाओं के रूप में यशपाल इसी सत्य का उद्घाटन बड़े कौशल से करते हैं। खच्चर जैसा जानवर भी अपनी नई आवश्यकताओं को समझ सकता है परन्तु वैष्णव ब्राह्मण समझकर भी परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाते। इसका जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ता है वह साधारण नहीं है। स्थितियों के चुनाव में किन्हीं विशेष स्थितियों के प्रति लेखक के अतिरिक्त मोह को लेकर भले ही शिकायत की जा सके, नियोजन में एक ऐसी सायासता भी हो सकती है जो चरित्रों की गति को कुण्ठित करती मालूम पड़ती है परन्तु अतिरंजित वहाँ कुछ नहीं है और यही कारण है कि प्रभाव की दृष्टि से ऐसी कहानियाँ बहुत सफल रहती है। 'मक्खी या मकड़ी' समाज में व्याप्त नैतिक स्खलन और भ्रष्टाचार को उभारती है और इस सत्य की ओर संकेत करती है कि इस विशाल आयोजन में तटस्थ रह पाना असम्भव-प्राय है। 'जीव-दया' का कथ्य 'खच्चर और आदमी' के कथ्य जैसा ही है। इसमें भी संस्कारवश मुर्गी के अण्डे से परहेज़ करने के कारण मास्टर साहब को अपने एकमात्र पुत्र को खो देना होता है। इन कहानियों में लेखक का आग्रह हमेशा ही कहानी में अन्तर्निहित प्रयोजन को विश्वसनीय ढंग से सम्प्रेषित कर सकने का है। ऊपरी तौर पर उनमें सपाटता और स्थूलता हो सकती है, ऐसा भी लग सकता है कि संकेतों से पैदा किए जाने वाले प्रभावों की ओर से लेखक उदासीन है परन्तु उसके उपलब्ध निष्कर्षों से असहमत होना हमेशा ही मुश्किल मालूम होता है। शेष कहानियों में 'सत्य का द्वन्द्व' और 'कलाकार की आत्म-हत्या' संग्रह की अच्छी और महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। जब अपनी कहानियों की रचना प्रक्रिया के सिलसिले में यशपाल कहानी के आधारभूत विचार के महत्व पर बल देते हैं तो इसके यह अर्थ नहीं कि वह चरित्र को पूर्णतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरगुज़र करते हैं। उक्त दोनों ही कहानियों में क्रमशः सन्तजी और भवेश के चरित्र बहुत महत्वपूर्ण हैं और संग्रह की दूसरी कहानियों के चरित्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से उभरे हैं। 'सत्य का द्वन्द्व' जब लिखी जा रही थी, संयोग से मैं यशपाल जी के साथ ही था। व्यक्ति का नाम बताना यदि आवश्यक न समझा जाए तो मैं कहना चाहूँगा कि वह एक वास्तविक व्यक्ति को आधार बनाकर लिखी गई कहानी है—एक ऐसे व्यक्ति को लेकर लिखी गई कहानी जो कांग्रेस-पार्टी, राजनीति और राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत दूर तक सम्बद्ध था। लेकिन फिर भी कहानी का आधार-भूत कथ्य चरित्र के नीचे दब नहीं गया है। ऐसा नहीं होता कि कहानी-कहानी न होकर रेखाचित्र हो गई हो। कहानी के अन्तिम प्रभाव के विश्लेषण के लिए यदि कथ्य और चरित्र को अलग-अलग करके देखा जाए तो महत्त्व की दृष्टि से उसके कथ्य की ओर संकेत करना ही अनिवार्य होगा। यही बात 'कलाकार की आत्महत्या' को लेकर भी सच है जब कि उसके पीछे किसी वास्तविक चरित्र के आधार का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। इन दोनों ही कहानियों में यशपाल का व्यंग कौशल खूब उभरकर सामने आता है। 'सत्य का द्वन्द्व' में एक अहिंसावादी कांग्रेसी नेता को लेकर व्यंग है और 'कलाकार की आत्महत्या' में एक ऐसे साहित्यकार को लेकर जो अपनी तथाकथित कला और कृतित्व के बल पर दूसरों का शोषण करता है। भवेश के प्रति कर्त्तार की जो प्रतिक्रिया है वह ऐसे साहित्यकार के प्रति किसी भी सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया हो सकती है। उसके मोह-भंग की स्थिति में एक बड़ी स्वाभाविक और पैनी कचोट है। 'चोरी और चोरी' यूँ एक साधारण कहानी है लेकिन जीवन की जिन विडम्बनापूर्ण स्थितियों को लेकर उसे गढ़ा गया है उनसे अन्तर्ध्वनित व्यंग उसे मात्र साधारण होने से बचा लेता है। 'अश्लील!' कहानी से अधिक 'दिव्या' के एक अंश-विशेष का ही किंचित परिवर्तन रूप है। इस संग्रह में उसको शामिल करने की कोई सार्थकता और स्पष्ट कारण नहीं मालूम पड़ता, भले ही कभी उसका सामयिक महत्त्व रहा हो।

कुल मिलाकर इन कहानियों में यशपाल ने अपनी निजी परम्परा की रक्षा का ही प्रयास किया है। उनकी इस बात से भी शायद सभी सहमत हों कि भले ही इन कहानियों को 'नई कहानी' के समकक्ष न रखा जा सके, लेकिन 'भाव तथा कथ्य की दृष्टि से इन्हें रूढ़िग्रस्त कोटि में नहीं गिना जायेगा'।···

---

१. अप्सरा का श्राप : उपन्यास : पृ० सं० १३२ (डिमाई आकार) मूल्य ४.००
२. खच्चर और आदमी : कहानी संग्रह : पृ० सं० १०६ (डिमाई आकार) मूल्य ३.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवतीशरण सिंह

चौरंगी—एक आधुनिक उपन्यास

पिछले महायुद्ध के बाद लोगों में परस्पर सहानुभूति और सेवा तथा मानवता की प्रगति के लिए सच्ची और दृढ़-निष्ठा का उदय तो हुआ पर मानव समता की स्थापना और आर्थिक विषमता और निराशाओं के निराकरण के उपाय फिर भी दूर रहे। स्वस्थ और सुखी जीवन की खोज तो प्रारम्भ हुई पर संस्कृति और सभ्यता के मूलाधार खो गए। जन साधारण का युग आया और साम्राज्यशाही भी नष्ट हुई। जन साधारण की सामाजिक स्थिति अच्छी हुई और उसमें आत्मसम्मान की भावना का भी उदय हुआ पर उसका बौद्धिक स्तर इसी के साथ-साथ न उठ सका। मानवता के कुछ बड़े पुराने और अनिवार्य तत्वों की पुनर्स्थापना की बात भी कही गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी हुई, शान्ति को स्थाई रखने की बात भी कही गई' शिक्षा, आर्थिक सुरक्षा और मनोरंजन के साधनों को सर्वसुलभ करने का आश्वासन भी मिला। किन्तु यह सब थोड़े ही दिनों में लोगों की भूख बढ़ा कर कम पड़ने लगा। इसलिए कि इसकी व्यवस्था सबके लिए उस नियोजित संस्कृति द्वारा नौकरशाही के माध्यम से राष्ट्र की प्रभूत सम्पत्ति लगा कर भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी जो कुछ हुआ उससे कुछ लोगों का जीवन स्तर भले ही ऊपर उठा हो पर साहित्य का स्तर फिर भी अछूता रहा। वह जिस वातावरण में सांस ले रहा था वह घुटन पैदा करने वाला था। उसमें उसको सुख नहीं था। इतना ही नहीं एक तनाव का वातावरण भी पैदा हुआ उनमें जो कि सबको समान सुविधा देना चाहते थे और उनमें जो एक नई स्वतंत्रता और नए जीवन प्रवाह की कल्पना करना चाहते थे और अव्यक्त को व्यक्त करना चाहते थे। बावजूद इसके कि लेखकों में एक प्रकार की वैयक्तिक सनक समा रही थी फिर भी वे सार्वभौम उद्देश्य को पहचान रहे थे। उनकी यह एकता मनुष्य के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रकट होने लगी थी। पर खेद है कि यह स्थिति भी बहुत आगे तक न गई और वह स्वयं अपने ही विश्लेषण और अपने को ही व्यक्त करने में जुट गए।

यह सब हो ही रहा था कि अंतरिक्ष युग की चादर खुली और वह सामने आया। साहित्य की विश्वजनीन प्रवृत्तियों ने एक नई करवट ली। कवि और लेखकों ने विज्ञान की उस नवीन उड़ान में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया जिसके लिए वह बड़ी आतुरता से अपने पर तौल रहा था। जिन लोगों ने ऐसा किया उन्होंने न केवल वाह्य पर्यावरण के प्रति अपनी कल्पना को प्रखर किया वरन् यह भी अनुभव किया कि उनका अभ्यन्तर भी नया अर्थवहन करने लगा है। ऐसा करने के लिए उन्होंने विज्ञान की पोथियों में परीक्षा देना प्रारम्भ नहीं किया। यह जरूरी भी नहीं था। पर यह जरूर हुआ कि उनके अब तक के अनुभवों को—या यों कहें कि आत्मानुभव को—एक ज़बरदस्त धक्का लगा। व्यक्तित्व के नए रंग दिखने लगे, व्यक्ति का समाज की आर्थिक व्यवस्था में क्या स्थान रह गया है इसका नया अनुभव होने लगा। नई संवेदनाएं, नए लगाव, नई संभावनाएं सब उनको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोरों से प्रभावित करने लगीं। शक्ति के नए द्वार खुले। आध्यात्मिक और शारीरिक सुखों की परिकल्पना बहुत विस्तृत हुई और इन सब परिवर्तनों ने कवि-कल्पना को झकझोर दिया। नया साहित्य, नए परिधान और नए पर्यावरण को लेकर उतरने लगा। साहित्य का सारा समारम्भ ही बदल गया।

पर आश्चर्य इस बात का होता है कि यह सब कुछ प्रत्यक्ष और तेज़ी से हिन्दी लेखकों के दाएं-बाएं अगल-बगल हो रहा था फिर भी वह अधिकांश में इन प्रवृत्तियों से अछूता बने रहने में ही लगा रहा। एक ही समय में जब अन्यत्र यह सब कुछ हो रहा था हिन्दी का लेखक और पाठक अब भी उपदेशात्मक कथाओं, पुराने किस्म के हास-परिहासों और विगत पीढ़ियों के चरित्रों के चित्रण में रुचि ले रहा था। यद्यपि इसी समय लेखकों की एक नवीनतम पीढ़ी भी तैयार हो रही थी जो अपनी अद्भुत् रचना शैली के प्रयोगों में जुटी थी। माना कि उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही थी, पर उनकी बेचैनी का पता अवश्य लग रहा था। लेकिन पुराने लोगों में अच्छे से अच्छे उपन्यासकार या तो अपने निजी अनुभवों को व्यक्त करने में लगे थे या कुछ सीमित प्रवृत्तियों का उद्घाटन अथवा पुरानी परम्पराओं का मज़ाक उड़ा रहे थे। बावजूद उन तमाम विघटनात्मक शक्तियों के जो समाज की नींव हिला रही थीं, पुरानी मान्यताओं को थोथा कर रही थीं, नया समाज और नई मान्यताएं बहुतों की पकड़ में नहीं आ रही थी। स्वानुभूति और आत्माभिव्यक्ति के महत्व को कम नहीं किया जा सकता पर आत्माभिव्यक्ति भी अधिक प्रकाशमयी हो जाती है अगर वह सम्पूर्ण मानवता का अंग बनकर आए, क्रृत और सत्य का उद्घाटन करे, और उसमें मनुष्य की शाश्वत और चिरंतन महिमा का उपाख्यान हो। लेकिन इन सबके स्थान पर हिंदी के बहुत से उपन्यासकार खोई हुई सभ्यता, बुझी हुई संस्कृति और हिली हुई रूढ़ियों के सहारे यांत्रिक और अमानवीय प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर रहे थे। उनका ध्यान मानव के पारस्परिक सम्बन्धों की नई स्थापनाओं के प्रति, और प्रत्येक व्यक्ति में जो एक अव्यक्त आध्यात्मिक आवश्यकता की नई प्रतीति हो रही थी उसके प्रति कम जा रहा था।

इस पृष्ठभूमि को देखने पर श्री मणिशंकर मुखर्जी का यह उपन्यास हिंदी में पिछले बीस वर्षों में लिखे गए उन इने-गिने उपन्यासों में स्थान रखता है जो साहित्य और समाज की बदलती हुई प्रवृत्तियों का सही चित्रण उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। इस उपन्यास के पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायी और महत्वशाली साहित्य के लिए सामग्री की कमी नहीं है। आवश्यकता है इन विशाल कल्पनाओं को कला में प्रतीकात्मक ढंग से उतारने की। इस उपन्यास में व्यक्ति और समष्टि दोनों की अभिव्यक्ति जिस संतुलित ढंग से हुई है, विभिन्न स्वरों के तार जिस पूर्णता के साथ मिलाए गए हैं, और व्यक्ति और समाज का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वह सब इसे आधुनिकतम उपन्यासों की कोटि में ला रखता है। इस उपन्यास की 'विचित्र अनुभूतियां,' 'आश्चर्यमय संसार', 'महानगरी का भयावनापन' और 'रात्रि का सुनसान' अंतरिक्ष युग की उन विशिष्टताओं से परिचय कराते हैं जो उसके प्रमुख अवयव हैं। सत्य सुन्दर और सुजाता मानव के शाश्वत महिमामय रूप के अतिरिक्त और क्या प्रकट करते हैं? इस उपन्यास के जितने पात्र हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें से कई पात्रों के जीवन में उस अव्यक्त अध्यात्म की आवश्यकता की नई प्रतीति का अनुभव हो रहा है जिसका ऊपर जिक्र कर चुका हूँ। उपदेशात्मक परिपाटी से बिल्कुल अलग हट कर जिस समाज का चित्रण हुआ है वह बलपूर्वक नई स्थापनाओं और मान्यताओं की आवश्यकता और योजना की ओर प्रेरित कर रहा है। समाज में साथ काम करने वालों का पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति ही मनुष्य को वास्तविक मनुष्य समाज के रूप में ग्रथित होने का मार्ग बता सकते हैं। आज वह समाज की आर्थिक समृद्धि से कहीं अधिक आवश्यक हो गए हैं। सत्य सुन्दर भी यही कहते हैं "आज अगर कोई मुझसे पूछे कि शाहजहाँ में सबसे अधिक ऐश्वर्य मुझे क्या मिला था, तो मैं किसी संकोच दुविधा के बिना उत्तर दूँगा—साथ काम करने वालों का स्नेह। एक साथ काम करने वालों में एक दूसरे के प्रति अनजाने में ही किस तरह स्नेह पैदा हो जाता है, कहना कठिन है। मगर अचानक एक दिन पता चलता है कि हम सभी एक ही धागे से बँधे हैं, और यह धागा तोड़ नहीं सकते।" यह सब में पिरोया एक धागा क्या है? अनेकता में एकता की यह प्रतीति बिना किसी प्रवचन के कैसे होती है? इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति सम्पूर्ण मानवता का अविच्छिन्न अंग बन कर ही हो सकती है, शंकर इसमें अत्यधिक सफल हुए हैं। समाज और जीवन यंत्रवत् चूल में चूल मिलाकर नहीं चलाया जा सकता। उसे इससे कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। मार्कोपोलो यही बताते हैं।

चौरंगो—विश्व-जनीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का नवीनतम रूप लेकर बंगला और हिन्दी साहित्य में एक उत्तम कलाकृति के रूप में तब तक माना जाएगा जब तक कि दूसरे उपन्यास इसे पीछे छोड़ने की सामर्थ्य लेकर नहीं आते। पर बात अधूरी रह जाएगी अगर इसके अनुवादक श्री राजकमल चौधरी का उपकार न माना जाय। अनुवाद का काम कितना कठिन होता है यह अनुवादक ही जानते हैं। अगर मैं यह कहूं कि यह मूल के अत्यधिक निकट है तो मैं अपनी पूरी बात कह चुका ऐसा श्री चौधरी और शंकर दोनों ही अनुभव करेंगे।

पुस्तकालय कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य ब्योरे के विषय में विज्ञप्ति

फ़ार्म ४

(नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नवीन प्रेस, ६ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	श्री शिवदानसिंह चौहान
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्यौरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नया वर्ष—नया रूप

आलोचना

सम्पादक : डॉ० नामवर सिंह

नये वर्ष से त्रैमासिक आलोचना अब डॉ० नामवर सिंह के सम्पादकत्व में नये रूप से निकलने जा रही है। साहित्य और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों में इस बीच जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए 'आलोचना' की रूप-रेखा में आवश्यक परिवर्तन वांछनीय है। इस दृष्टि से हम आलोचना को एकेडेमिक क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र के उपयुक्त एक जीवन्त त्रैमासिक का रूप देना चाहते हैं जिसमें जीवन, संस्कृति और साहित्य के नये-से-नये स्पन्दन का प्रतिफलन होगा। नयी आलोचना के मुख्य आकर्षण :

- ● प्रत्येक अंक का केन्द्रबिन्दु एक परिसंवाद होगा, जिसमें किसी ज्वलन्त समस्या पर कम-से-कम पाँच विचारोत्तेजक निबन्ध होंगे।
- ●● समसामयिक साहित्य के समुचित मूल्यांकन के लिए व्यवस्थित रूप में पुस्तक-समीक्षा दी जायेगी। यह कार्य एक सुगठित समीक्षक-मण्डल द्वारा सम्पन्न होगा।
- ●●● हिन्दी-जगत् को भारतीय साहित्य एवं विश्व-साहित्य की नवीनतम गतिविधियों के सतत सम्पर्क में रखने के निमित्त विभिन्न भाषाओं से 'संवाद-पत्र' प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है।
- ●●●● नये वर्ष १९६७ से प्रत्येक तिमाही—जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून, जुलाई-सितंबर तथा अक्टूबर-दिसंबर में २० × ३०/८ आकार में आलोचना का नया अंक नियमित रूप से समयानुसार आकर्षक आवरण तथा सुन्दर मुद्रण के साथ ग्राहकों को मिलेगा।

वार्षिक शुल्क : १२.०० रजिस्ट्री डाक से : १४.०० प्रति अंक : ३.००

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०, ८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषांक

भाग : ५

सम्पादक शिवदानसिंह चौहान

३६ आलोचना

R
८४
दि. ३७७अ
अं-३७

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...लोचना

नवांक ११ दिसम्बर १९६६

...र)
...अंक का ४)

सूची

प्रत्येक अंक रजिस्ट्री से पाने के लिए १४)

● *सम्पादकीय*
—आधुनिक समाज में 'अलगाव' (alienation) की समस्या
शिवदानसिंह चौहान १

● *स्वातंत्र्योत्तर सिद्धान्त-चर्चा*
—समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न
डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव ६

● *स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना*
—स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्याएँ
विजयशंकर त्रिवेदी १३

● *हिन्दी-साहित्य*
—सातवां दशक : कविता की दिशा
डॉ० माहेश्वरी ३०
—दिनकर के काव्य में नारी
डॉ० मधुरमालती सिंह ४१
—नया भाव-बोध और धर्मवीर भारती
बैजनाथ सिंहल ५९
—सन् १९४७ के बाद के उपन्यास साहित्य में नारी समस्याएँ
डॉ० श्रीमती दागयार अन्सारी ६८
—महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन
लक्ष्मीकान्त शर्मा ७५

● *भारतीय साहित्य*
—रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी : एक विवेचन
रसिक बिहारी ९४
—राष्ट्रकवि सुब्रमण्य भारति
ना० रामसुब्रमण्यन् ९९
—मगही का नया साहित्य
आचार्य रामनरेश मिश्र १०३

● *विश्व-साहित्य*
—ब्रॅख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान् व्यक्तित्व
सुधा माहेश्वरी १०९

● *पुनर्मूल्यांकन*
—तुलसीदास के सौन्दर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्व
डॉ० छोटेलाल दीक्षित ११६
—राहुल की उपन्यास कला—एक मूल्यांकन
डॉ० सुबोधचन्द्र १२४
—चित्रलेखा : एक पुनर्मूल्यांकन
चन्द्रकान्त बांदिवडेकर १३२

● *साहित्य और कला*
—बंगला का रंगमंच : एक आरोप एवं निराकरण १४६
प्रतिभा अग्रवाल

● *मूल्यांकन*
—विकासशील मानव-चेतना का महाकाव्य : लोकायतन
डॉ० रणवीर रांग्रा १५३
—यशपाल : दो नवीन कथा-कृतियाँ
मधुरेश १६०
—चौरंगी : एक आधुनिक उपन्यास १६८
भगवतीशरण सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

आधुनिक [illegible] 'अलगाव' (Alienation) की समस्या

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारतीय लेखक और चिन्तक भी 'अलगाव' (alienation) की समस्या के प्रति सचेत हो गए हैं। कीर्कगार्द और कामू की रचनाओं में यह पढ़कर कि ज़िन्दगी दरअसल एक बेमानी (absurd) चीज़ है, वे हर प्रकार की सोद्देश्य क्रियाशीलता को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे हैं। आज सामाजिक और राजनीतिक जीवन में जो अराजकता और स्वार्थान्धता छाई है और अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने जो कटुताएँ झेली हैं, उन सबके अनुभव ने उन्हें जैसे धकेलकर आत्म-सीमित कर दिया है। आमतौर पर संवेदनशील व्यक्ति आज अपने को समाज में बेगाना और अजनबी महसूस करता है। इस अजनबीपन और अलगाव का भाव-बोध—भीड़ में होकर भी उससे तटस्थ, भिन्न और विरक्त महसूस करना—उसके मन में एक टीस, एक कचोट, एक दर्द भर देता है, जिससे छुटकारा पाने का उपाय नज़र नहीं आता। योरोप और अमरीका में आत्मा में गहराते इस शून्य से मुक्ति पाने के लिए उन सभी विचारधाराओं को नकारा गया, जो न्याय और समानता के आधार पर समाज का पुनर्संगठन करने का आदर्श पेश करती हैं। फिर अपने बेमानी अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए सामाजिक दायित्वों और नैतिकता से विमुख होकर एकदम विलक्षण बनने की चेष्टाएँ शुरू हुईं। नये-नये फैशन चले। रचना में से विचार-वस्तु और अर्थ के छिलके एक-एक कर उतार फेंके गए और अन्त में उपन्यास, कहानी, कविता, चित्र, संगीत और नृत्य भी ज़िन्दगी की ही तरह बेमानी (absurd) बन गए, और नौजवानों की पीढ़ी अपनी उच्छृंखल हरकतों से अपने ही व्यक्तित्व की विशृंखलता में आनन्द लेने लगी। 'अजनबीपन' और 'अलगाव' की स्थिति के विरुद्ध हमारी नई पीढ़ी का यह अभियान, उससे मुक्ति न दिलाकर, उसकी सिद्धि का साधन बन गया। इसमें दोष नई पीढ़ी का नहीं है, बल्कि आधुनिक व्यवसायिक समाज का है, जो व्यक्ति को इस बात की न तो प्रेरणा देता है और न सुविधा ही जुटाता है कि वह अपनी ज़िन्दगी के वर्तमान 'बेमानीपन' पर 'सार्थकता' और 'सोद्देश्यता' का विधान लागू करने की ओर प्रवृत्त हो। सभी आदर्शों और सामाजिक लक्ष्यों का नकारना ही काफ़ी नहीं है, न कुछ आदर्शों का खोखलापन सिद्ध होते ही 'अस्तित्व-रक्षा' के बहाने त्याग और संघर्ष से विमुख होकर सारे मानव समाज को एक विशाल 'वेश्यालय' घोषित करके सन्तोष पा लेना ही काफ़ी है। नीग्रो लेखिका लोरेन हेन्सबरी ने कहा है कि अगर यह संसार एक वेश्यालय है तो किसी ने इसकी इमारत का निर्माण किया होगा और अगर निर्माण करने वाला हाथ मनुष्य का था तो निश्चय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मनुष्य का हाथ इसको गिराकर नई इमारत भी बना सकता है। मनुष्य जो भी बनाता है, सृजन करता है या कल्पना करता है, उसका नये सिरे से निर्माण, सृजन या कल्पना भी कर सकता है। लेकिन आज-कल ऐसी बात सोचनेवाले को निरा बुद्धू समझा जाता है।

इसका कारण है। नई पीढ़ी को आज सभी जगह लगता है कि उसे धोखा दिया गया है, उसके साथ विश्वासघात किया गया है और उसे झूठे नारों और झूठे वायदों से अँधेरे में रखा गया है। मेकार्थी, स्तालिन, माओ, जान्सन इन सब ने अपने कृत्यों से नई पीढ़ी में यह भाव पैदा करने में मदद की है। लेखक या कलाकार तीन दशक पहले जीवन के संभाव्य भावी रूप की मूर्ति तराशने में जो आनन्द प्राप्त करता था, वह जैसे उससे आज बरबस वंचित कर दिया गया है। नई पीढ़ी की स्थिति आज डॉन क्विग्ज़ोट जैसी है, जो हीरोइक जीवन की आकांक्षी तो है, लेकिन जिसे इस युग के कन्फ़्यूजन में यह ज्ञान नहीं रहा कि उसका दुश्मन कौन है और जो हर अच्छी और बुरी चीज़ को समान रूप से नकारती हुई हवाई दुश्मनों से लड़ती है। उसका विद्रोह लक्ष्यहीन है।

लेकिन 'अलगाव' की समस्या इतनी सतही नहीं है और न कुछ भ्रष्ट, क्रूर या कट्टरपन्थी नेताओं के दुर्व्यवहारों या कुछ सामाजिक आदर्शों की ख़ामियों की चेतना से उत्पन्न 'मोह-भंग' का ही परिणाम है। यह नई पीढ़ी का ही भाव-बोध है, ऐसा भी नहीं है। आदि-काल से मनुष्य अलगाव और अजनबीपन की समस्या से जूझता आया है, यद्यपि इस शब्द (alienation) का प्रयोग संभवतः पहली बार जर्मन दार्शनिक हीगल ने किया था और तब से लगातार दार्शनिकों के बीच यह विवाद का विषय बना हुआ है। 'अलगाव' की भावना क्या है और इसके पैदा होने का मूल कारण क्या है, इस पर अभी तक बहस जारी है। इस भावना से मनुष्य को मुक्ति कैसे मिल सकती है, या यह कि समाज में व्यक्ति का सामंजस्य कैसे संभव है, जिससे वह अपने कर्त्ता या विषयी होने के पूर्ण गौरव को प्राप्त कर सके और अपने को 'स्वतन्त्र' हस्ती समझ सके, यह बहस मानव-जीवन की इस मूलभूत विसंगति को दूर करने के निमित्त ही चल रही है, न कि इसे मानव-जीवन की दुर्निवार नियति मानकर 'पलायन' और 'समझौते' के मार्ग खोजने के लिए।

हीगल का कहना था कि मनुष्य का अपने 'तत्व' से विच्छेद हो गया है। इसका कारण वे दो स्थितियाँ हैं—'आवश्यकता' और 'अलगाव'—जिन्होंने उसे बंधनग्रस्त कर रखा है। 'आवश्यकता' का अर्थ है प्रकृति पर उसकी निर्भरता और उन भौतिक साधनों और शारीरिक क्षमता सम्बन्धी सीमाओं को स्वीकार करने के लिए उसकी विवशता जो प्रकृति मनुष्य पर आरोपित करती है। 'अलगाव' से हीगल का तात्पर्य था मनुष्य के 'स्व' का 'कर्त्ता' और 'वस्तु' इन दो रूपों में बँट जाना, यानी उसका एक 'कर्त्ता' भी होना, जो अपने भाग्य का निर्णायक बनने की चेष्टा करता है और साथ ही एक 'वस्तु' भी होना जिसे अन्य लोग मनमाने ढंग से इस्तेमाल करते हैं। इसलिए हीगल ने कहा कि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य 'स्वतन्त्रता' है, जिसमें उसे आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता हो और वह अपने 'तत्व' का स्वामी हो और उसे अपना 'स्व' पुनः प्राप्त हो जाए।

विज्ञान के विकास से यह अनुमान तो किया जा सकता है कि मनुष्य 'आवश्यकता' पर क़ाबू पा सकेगा और प्रकृति को बड़ी हद तक जीत सकेगा। लेकिन विषयी और विषय, कर्त्ता और वस्तु की भिन्नता तो ऐसी बुनियादी है कि उस पर क़ाबू पाना क्या सम्भव होगा? व्याकरण में भी यह अलगाव स्वीकार किया गया है और जीवन में भी यह एक हक़ीक़त है। यानी 'मैं' केवल कर्त्ता 'मैं' नहीं हूँ जो अपनी मर्जी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुताबिक संसार को जैसा चाहूँ रूप दे सकता हूँ। मैं 'मुझ' भी हूँ, एक कर्म, विषयमात्र जिसकी हस्ती उन बिम्बों से बनी है, जिस रूप में दूसरे मुझे देखते हैं। इसलिए पूर्ण 'स्वतन्त्रता' असम्भव है। विषय और विषयी का द्वैत अनिवार्य है। 'मैं—मुझ' के होते कोई आत्म-निर्णायक होने का लक्ष्य कैसे प्राप्त कर सकता है?

हीगल के प्रगतिचेता अनुयायियों ने इस प्रश्न पर विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया। ब्रूनो बॉयर ने, जो कार्ल मार्क्स के शिक्षक थे, कहा कि मानव-सम्बन्धों की हक़ीक़त का पर्दाफ़ाश करने वाले एक आलोचनात्मक दर्शन का विकास करना चाहिए। इससे उनका तात्पर्य यह था कि सामाजिक कार्यों के पीछे व्यक्तियों की असली मंशा क्या होती है, इसका विश्लेषण ज़रूरी है। इससे ही 'कथनी और करनी' का भेद पैदा होता है। अधिकांश लोग पैदा होकर संसार को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं। वे इस बात से बेख़बर रहते हैं कि उनकी नैतिक और धार्मिक आस्थाओं का मूल स्रोत क्या है, या उनकी बौद्धिक मान्यताओं या अबौद्धिक धारणाओं का आधार क्या है। संसार (या समाज) ही उनके लिए इन आस्थाओं, मान्यताओं और धारणाओं का निर्णय करता है। इसलिए आलोचना के नश्तर से इन सबकी हक़ीक़त को चीर-फाड़कर देखने से मनुष्यों में आत्म-चेतना जाग्रत होगी और उनका छिना हुआ विवेक उन्हें फिर मिल जाएगा। इससे वे अपने 'स्व' को प्राप्त कर सकेंगे। ब्रूनो बॉयर के अनुसार आत्म-चेतना के ज़रिये ही मनुष्य द्वैत की स्थिति पर क़ाबू पा सकता है।

इसके विपरीत दार्शनिक फ़्योरबाख ने कहा कि 'अलगाव' की स्थिति का मूल स्रोत धार्मिक अन्धविश्वासों और जड़-पूजन की प्रवृत्तियों में है। उनके अनुसार मनुष्य बंधनग्रस्त इसलिए है कि वह अपनी आकांक्षा, चेतना और संवेदना के सर्वोत्तम भाग को किसी बाह्य वस्तु या कल्पित परमात्मा में प्रक्षेपित करके उसे 'दैविक' होने की संज्ञा प्रदान करता है और अपने 'स्व' से विच्छेद कर लेता है। अलगाव की इस स्थिति पर क़ाबू तभी पाया जा सकता है जब उस 'दैविक' तत्व को, जो वास्तव में मनुष्य का अपना 'तत्व' है, पुनः मनुष्य में अधिष्ठित किया जाए, किसी ईश्वर-केन्द्रित धर्म के ज़रिये नहीं बल्कि मनुष्य-केन्द्रित धर्म के ज़रिये, ताकि आत्म-प्रेम के माध्यम से वह अपने को पुनः सम्पूर्ण बनाए। फ़्योरबाख का कहना था कि अलगाव की स्थिति या आत्म-विरक्ति का अस्त्र लेकर आलोचना को चाहिए कि वह ब्रह्मज्ञान (theology) की जगह मानव-ज्ञान (anthropology) और ईश्वर की जगह मनुष्य को प्रतिष्ठित करे ताकि दर्शन पारलौकिक की चिन्ता छोड़कर लौकिक जीवन की ओर उन्मुख हो, मनुष्य अमूर्त-अव्यक्त की प्रेतच्छाया से मुक्त हो और आधिदैविक के पंजों से छुटकारा पाए। तभी मनुष्यों के पारस्परिक-सम्बन्ध "मैं-तू" (I-Thou) के आधार पर स्थापित हो सकेंगे।

क्लासिक दर्शन-परम्परा में आदर्श पुरुष की कल्पना इससे भिन्न होती थी। उसके अनुसार चिन्तन और साधना से निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य था, दुखों और द्वैत से मुक्ति पाने का यह मार्ग ही सर्वोपरि माना जाता था। लेकिन हीगल ने मुक्ति या स्वतन्त्रता की चर्चा करते समय एक नये तत्व की अवधारणा की थी। यह नया तत्व 'कर्म का सिद्धान्त' था। उसने कहा कि द्वैत और अलगाव की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए, जो मनुष्य को बंधन में डाले रखती है, उसे कर्म करना पड़ेगा। चेष्टा या कर्म में ही मनुष्य अपने को पा सकता है। जीवन में वह जो भी चुनाव करता है, उससे उसका चरित्र या मूल स्वभाव प्रकाशित होता जाता है। लेकिन हीगल के लिए 'कर्म का सिद्धान्त' एक अमूर्त धारणा ही बनी रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फ़्योरबाख़ के विचारों में भी मूर्तता नहीं आ पाई, क्योंकि उसने जिस मनुष्य की चर्चा की वह जातिवाचक 'मनुष्य' था हालाँकि उसने पहली बार 'अलगाव' (alienation) की समस्या को निश्चित परिभाषा दी थी और धर्म में उसका स्रोत खोजा था। जो भी हो हीगल के वामपंथी अनुयायियों ने 'अलगाव' की समस्या को लेकर पहली बार तमाम पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं पर प्रहार किया और मनुष्य के चिन्तन में 'आधुनिकता' के युग का सूत्रपात किया। इससे पहले प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने 'फॉस्ट' के रूप में 'आधुनिक मनुष्य' का चरित्र-चित्रण किया था—निर्बन्ध महत्वाकांक्षा के मनुष्य का—लेकिन गेटे भी नैतिक आदर्श के लिए प्राचीन यूनान का मुँह जोहता था। हीगल के दक्षिणपंथी अनुयायियों ने, जिनमें कीर्कगार्द सबसे अधिक उल्लेखनीय है, हीगल की 'अलगाव' (alienation) सम्बन्धी धारणा को धार्मिक साँचे में ढालने की कोशिश की। उसने कहा कि चूँकि मनुष्य किसी भी बौद्धिक चेष्टा से कर्त्ता-कर्म या विषयी-विषय के द्वैत पर क़ाबू नहीं पा सकता, इसलिए यह संसार बेमानी (absurd) है और हमेशा बेमानी बना रहेगा। संसार में मनुष्य हमेशा ही बंधनग्रस्त बना रहेगा—यह उसकी नियति है। वह केवल अपने से परे किसी धार्मिक अर्थ की प्रतीति के रूप में आस्था की कुलाँच भरकर निरपेक्ष सत्ता से तादात्म्य स्थापित करने की आशा भर कर सकता है। किन्तु यह कोई नया विचार नहीं था, क्लासिक विज्ञानवादी दर्शन का ही नये शब्दों में पिष्टपेषण था।

हीगल के वामपंथी अनुयायियों में कार्ल मार्क्स ने पहली बार उसके 'कर्म के सिद्धान्त' की कार्य (श्रम, work) के रूप में पुनर्व्याख्या करके उसे एक निश्चितता और मूर्तता प्रदान की। २६ साल के तरुण मार्क्स ने अपनी पुस्तक Economic-Philosophical Manuscripts में, जो अब तक अप्रकाशित थीं, और जिसके कारण विचारक मार्क्स के आर्थिक-राजनीतिक सिद्धान्तों का ही अध्ययन-विवेचन करते रहे, उसने मनुष्य और उसकी स्थिति-प्रकृति का विश्लेषण किया है। मार्क्स के अनुसार कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य-मनुष्य बनता है और जीवित रहता है, कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह अपने अकेलेपन (अलगाव की स्थिति या alienation) से मुक्ति पाता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही मनुष्य सामाजिक प्राणी बनता है और इस प्रकार अपने 'स्व' का ज्ञान प्राप्त करता है और कार्य (श्रम) के माध्यम से ही वह प्रकृति को भी इच्छानुसार बदलता है। अलगाव (alienation) का स्रोत कार्य (श्रम) में अवस्थित करके मार्क्स ने एक क्रान्तिकारी क़दम उठाया और हीगल और उसके अनुयायियों की अमूर्त धारणाओं से मुक्त करके दर्शन को मानव-क्रियाशीलता की ठोस ज़मीन पर खड़ा कर दिया।

कार्य (श्रम) से विरक्ति या अलगाव की भावना के बारे में पहले तो मार्क्स ने भी आदर्शवादी द्वैत की परिकल्पना की। यानी यह कि कार्य (श्रम) करते समय मनुष्य बाह्य वस्तुओं (अपने श्रम से बनी वस्तुओं) में अपने-आपको परिवर्तित करता है। यह वस्तुएँ श्रम का ही रूप होती हैं, जो उस विरोधी और अजनबी विश्व का अंग बन जाती हैं, जो उसके ऊपर और उसके विरोध में खड़ा है। श्रम में मनुष्य को हाँका जाता है। श्रम में मनुष्य को दूसरे मनुष्य के बंधन, नियंत्रण और आदेश के मुताबिक चलना पड़ता है। इसके विपरीत 'स्वतन्त्रता' की स्थिति है, जहाँ मनुष्य प्रकृति को सचेत आत्मस्फूर्ति, सृजनात्मक कार्य (श्रम) से बदल सकेगा। लेकिन ऐसी 'स्वतन्त्रता' की प्राप्ति के मार्ग में बाधा कौन-सी है? बाधा है यह स्थिति कि कार्य (श्रम) की प्रक्रिया पर मनुष्य का अधिकार खो गया है, साथ ही अपने श्रम से उत्पादित वस्तुओं पर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी, जिससे कार्य (श्रम) के प्रति उसमें विरक्ति (alienation) पैदा हुई है। अतः मार्क्स के अनुसार अलगाव और विरक्ति का मूल स्रोत अन्ततः वर्तमान सम्पत्ति-विधान में है। धर्म तो केवल अफीम का का नशा है जो इस तथ्य पर पर्दा डालता है। इसलिए फ़्योरबाख़ के विश्लेषण का महत्व गौण है। समाज (पूँजीवादी) में कार्य का संगठन-विधान इस रूप में होता है कि श्रम क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है और मनुष्य दूसरों के उपयोग का विषय-बन गया है, जिससे उसे अपनी ही हस्ती से विरक्ति हो गई है और उसमें अपने 'स्व' का अहसास खो गया है। प्रचलित मनोवैज्ञानिक अर्थ में संसार से विरक्ति के भाव-बोध को 'अलगाव की भावना' (alienation) कहते हैं। जर्मन दर्शन में इस स्थिति को मानव-अस्तित्व की एक दुर्निवार स्थिति (ontological fact) के रूप में देखा जाता था। एक निरपेक्ष स्थिति होने के कारण मनुष्य के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं था कि वह 'अलगाव' (alienation) को अपने अस्तित्व की नियति मानकर स्वीकार कर ले। लेकिन मार्क्स ने, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, 'अलगाव की भावना' को सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखकर देखा। उसके अनुसार इतिहास-जनित मानव-सम्बन्धों में ही इस भावना का मूल है और समाज की वर्तमान व्यवस्था को बदल देने से अलगाव की भावना या स्थिति पर क़ाबू पाया जा सकता है। यह कैसे सम्भव होगा ? वर्तमान समाज (पूँजीवाद) में कुछ लोगों के पास सम्पत्ति है, कुछ सम्पत्तिहीन सर्वहारा हैं—इस वैषम्य का कारण क्या है ? मार्क्स ने इन प्रश्नों की तह तक पहुँचने के लिए दर्शन के अमली पहलू, अर्थशास्त्र का अध्ययन शुरू किया ताकि वह 'अलगाव की भावना या स्थिति' के भौतिक आधार को उद्घाटित कर सके। इस गम्भीर खोज के परिणाम-स्वरूप मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा कि पूँजीवाद (तथा अन्य वर्ग-समाजों) में शोषण की प्रक्रिया ही 'अलगाव की भावना' के लिए ज़िम्मेदार है। यदि पूँजी पर व्यक्ति का अधिकार न रहे और उसका समाजीकरण कर दिया जाए तो शोषण की प्रक्रिया ख़त्म हो जाएगी और मनुष्य अपने श्रम से जो अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है, वह सभी लोगों में बाँटा जा सकेगा, और श्रम के प्रति मनुष्य में आज जो विरक्ति का भाव है, वह नहीं रहेगा। इससे कुछ लोगों ने यह ग़लत निष्कर्ष निकाला कि पूँजीवाद ही मनुष्य में अलगाव की भावना का एकमात्र कारण है और पूँजीवाद और उसके साथ शोषण का अन्त होते ही मनुष्य में अलगाव की भावना का लोप हो जाएगा और मनुष्य अपने-आपको 'स्वतन्त्र' महसूस करने लगेगा, यद्यपि Manuscripts में मार्क्स ने स्पष्ट कहा था कि निजी सम्पत्ति को ख़त्म करते ही मनुष्य 'स्वतन्त्र' नहीं हो जाएगा, क्योंकि यह स्थिति 'सच्चे साम्यवाद' से भिन्न होगी—दरअसल वह 'कच्चे साम्यवाद' की स्थिति होगी, एक अनिवार्य पूर्व स्थिति जो 'सच्चे साम्यवाद' और 'विधेयात्मक मानववाद' की ओर आरोहण करने में सोपान का काम करेगी, जहाँ मनुष्य अपने रचे संसार में अपने स्वरूप को पहचान सकेगा। 'सच्चे साम्यवाद' में मनुष्य अपने को सच्चे अर्थ में स्वतन्त्र और बंधन-मुक्त महसूस करेगा, क्योंकि वह अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सब चीज़ें उपलब्ध होंगी।

मार्क्स ने इस तथ्य का भी विवेचन किया कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में यद्यपि व्यक्ति क़ानूनी तौर पर स्वतन्त्र है, फिर भी मालिक और मज़दूर का रिश्ता ऐसा है कि उसमें पड़ते ही मज़दूर अनजाने ही ग़ुलाम बन जाता है और कार्य (श्रम) से अलगाव भी महसूस करने लगता है। वह कौन-सा माध्यम है जो प्रत्यक्षतः स्वतन्त्र व्यक्ति को ग़ुलाम बना देता है ? मार्क्स ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका उत्तर दिया कि 'धन' या 'पैसा' ही ऐसा माध्यम है। धन सबसे निर्वैयक्तिक प्रकार का मूल्य है और देखने में निष्पक्ष भी। जो व्यक्ति पैसे के लिए अपना श्रम बेचता है, वह अपने को स्वतन्त्र तो महसूस करता है लेकिन दरअसल उसके श्रम से बनी वस्तु का आसानी से धन के रूप में अमूर्त्तीकरण किया जा सकता है। श्रम धन के रूप में परिवर्तित हो जाता है और व्यक्ति बिना यह जाने ही कि 'अतिरिक्त मूल्य' उससे निचोड़ लिया गया है, अपनी स्वतन्त्रता खो बैठता है। अलगाव की भावना का यही मूल कारण है। इसीलिए मार्क्स ने कल्पना की कि 'सच्चे साम्यवाद' की स्थिति में पहुँचकर विनिमय के लिए 'मुद्रा' के माध्यम की ज़रूरत नहीं रहेगी।

यहाँ प्रसंगवश इस बात का उल्लेख जरूरी है कि कार्य (श्रम) से मनुष्य में अलगाव की भावना पैदा होने की स्थिति की ओर मार्क्स से पहले भी जागरण-युग के अनेक विचारकों और लेखकों ने संकेत किया था। जिन क्रूर परिस्थितियों में मज़दूरों और किसानों को काम करना पड़ता था, उससे द्रवित होकर उन्होंने सोचा कि 'श्रम' ही अलगाव की भावना और विरक्ति का कारण है। लेकिन चूँकि श्रम से मुक्ति असंभव है, इसलिए उन्होंने एक ऐसे यूटोपियन समाज की कल्पना की जिसमें श्रम-विभाजन से उत्पन्न होनेवाली सभी विकृतियाँ मिट जायेंगी और श्रम और खेल का भेद भी मिट जायगा। खेल में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है और उसमें अनुरक्त मन से भाग लेता है। शिलर, मोज़ार्त और फॉरियर आदि का कुछ ऐसा ही विचार था। श्रम की वर्तमान क्रूर परिस्थितियाँ कैसे बदली जाएँ, उन्होंने इस समस्या पर गौर नहीं किया और न तात्विक दृष्टि से यही देखा कि श्रम और खेल दो प्रकार के कार्य हैं, जिनका भेद मिटाना सम्भव नहीं है। जैसा कि हंगेरी के विचारक मिक्सलोस अल्मासी ने लिखा है, 'श्रम' कभी खेल नहीं बन सकता, क्योंकि खेल बाह्य आवश्यकता की शृंखला से बाहर की वस्तु है। खेल के नियम मनुष्य के अपने बनाये नियम होते हैं, वह उन्हें बदल सकता है, खेल गड़बड़ हो जाय तो वह पुनः उसे खेल सकता है। खेल की स्वतन्त्रता एक विषयीगत स्वतन्त्रता है, जबकि कार्य (श्रम) प्रकृति के नियमों को समझकर उनका कुशलता से उपयोग करने पर आधारित होता है। कार्य (श्रम) में 'आवश्यकता' का जो बंधन है, उसे अलगाव (alienation) का पर्याय नहीं समझ लेना चाहिए। दरअसल अलगाव की भावना से मुक्ति श्रम की ऐसी परम्परा के विकास से ही संभव होगी, जिसमें हर मनुष्य अपनी अन्तरतम भावनाओं और रुचियों की तुष्टि कर सके। अर्थात् मनुष्य कार्य (श्रम) के माध्यम से इस बाह्य जगत में अपने को पा सके, अपने को पूर्णतः अभिव्यक्त कर सके और यह न महसूस करे कि उसे ऐसा कार्य करना पड़ रहा है, जो उसकी इच्छा के विपरीत है। तभी वह प्रकृति पर अपने लक्ष्यों को आरोपित कर सकता है और संसार को अपना बना सकता है और ऐसा करने के बीच स्वयं अपने को भी बदलकर उच्चतर मानव बन सकता है। इसीलिए मार्क्स ने कहा कि "वास्तविक स्वतन्त्रता, जिसकी क्रिया श्रम है, व्यक्ति की आत्म-प्राप्ति और आत्माभिव्यंजना है।"

हंगेरी के प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक-दार्शनिक जार्ज लूकाच के शिक्षक सिमेल ने यह मत प्रकट किया कि औद्योगिक समाज ही आधुनिक मनुष्य में अलगाव की भावना के विकास का मूल कारण है। औद्योगिक समाज में मनुष्य अपनी सामाजिक हस्ती खोकर एक गुमनाम इकाई बन गया है और उसका व्यक्ति अनेक भूमिकाओं में बँटकर बिखर गया है। बाद में उसने अपने विचार को व्यापक आधार देते हुए कहा कि अलगाव की भावना मनुष्य की सृजनशीलता और सामाजिक संस्थाओं के दबाव के बीच चलनेवाली अनवरत टकराहट का परिणाम है। फ्रॉयड ने भी 'सभ्यता और उससे उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असन्तोष' नाम की पुस्तक में इससे मिलती जुलती धारणा व्यक्त की थी कि मनुष्य की सहज वृत्तिमूलक आवश्यकताओं और सभ्यता द्वारा आरोपित वर्जनाओं में निरंतर तनाव की स्थिति बनी रहने के परिणाम स्वरूप ही मनुष्य का जीवन दुखमय है। लूकाच ने 'इतिहास और वर्ग चेतना' नामक पुस्तक में इस सारी बहस को नैतिक-स्तर पर उठाकर भौतिकवादी दृष्टि से मानव-अस्तित्व के भविष्य को देखने का प्रयत्न किया।

अलगाव की भावना की अन्य कारण-भूत सामाजिक स्थितियों पर परवर्ती चिन्तकों ने भी और कई दिशाओं से प्रकाश डाला है। सोवियत यूनियन में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित हुए पचास वर्ष हुए। पूर्वी योरोप के सात-आठ अन्य देशों में भी समाजवादी व्यवस्था को कायम हुए लगभग बीस साल हो चुके। चीन को हम इस प्रसंग में नहीं गिनेंगे, क्योंकि वहाँ समाजवादी व्यवस्था का विद्रूप ही नजर आता है। इस बीच का अनुभव यह बताता है कि अलगाव की भावना पैदा करनेवाली कुछ कारणभूत सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं, जो पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं में सामान्य रूप से पाई जाती हैं, और 'सच्चे साम्यवाद' में भी उनका बाह्यरूप शायद ही बदले, जैसे श्रम-विभाजन की स्थिति या तकनीकी विकास की स्थिति या व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के द्वैत की स्थिति। यह ठीक है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो जाने के कारण वहाँ मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण तो खत्म हो गया, लेकिन व्यक्तित्व को बाँटने और खंडित करनेवाले न तो सभी मनोवैज्ञानिक कारण ही मिट सके हैं और न अलगाव और द्वैत की स्थिति पैदा करनेवाली उपरोक्त सभी अनिवार्य तथा कारणभूत सामाजिक स्थितियों के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धों का नियमन इस ढंग से किया जा सका है कि उनके रहते हुए भी मनुष्य पूर्णतः सम्पृक्त हो सके और अलगाव न महसूस कर सामाजिक कार्य में एक कलाकार और सृष्टा जैसा उल्लास और अनुराग महसूस कर सके। संभवतः इसका कारण यह भी है कि समाजवादी व्यवस्थाएं अभी 'सच्चे साम्यवाद' की पूर्व-स्थितियाँ हैं। लेकिन इतना तो निश्चित है कि बीच में व्यक्ति-पूजा के अस्थाई किन्तु निरंकुश दौर से गुजरने के बावजूद समाजवादी देशों में व्यक्ति और समाज का वैषम्य और अन्तर्विरोध कम होता आया है और वहाँ के शोषण-मुक्त मानव को अलगाव की भावना से मुक्ति दिलाने की ओर भी सजग चेष्टा हो रही है। वहाँ कम-से-कम अलगाव की भावना से उत्पन्न मानसिक विश्रृंखलता की वह स्थिति तो नहीं है जो पाश्चात्य के पूँजीवादी देशों में आज पाई जाती है। मार्क्स की तरह अब तक यही सोचा जाता था कि आधुनिक समाज में कार्य (श्रम) का एक ही रूप बंधन-मुक्त है। केवल कलाकार और रचनाकार ही सृजन कार्य में अपने को मुक्त-हृदय और स्वतन्त्र महसूस करता है, और उन क्षणों में अलगाव की भावना पर काबू पा लेता है। लेकिन पूँजीवादी देशों में अब स्थिति ऐसी नज़र आती है कि कलाकार और कवि का व्यक्तित्व इस हद तक खंडित हो गया है कि वह सृजन के क्षणों में भी सम्पूर्ण नहीं हो पाता, विभाजित और बेगाना बना रहता है, जिसका मार्मिक वेदन उसकी रचना में ध्वनित होता है। आज कलाकार सृजन के स्फूर्तिदायी क्षणों में भी अगर अपने व्यक्तित्व को सीमित और विभाजित करनेवाली अलगाव की भावना से आक्रान्त करनेवाली स्थितियों से ऊपर उठकर मनुष्यमात्र से एकात्म महसूस नहीं कर सकता और पूरे समाज के भाग्य में रुचि लेकर विश्व-मानव होने की अखंडित अनुभूति नहीं कर सकता और सृष्टा के गौरव से वंचित होने की इस स्थिति को ही 'आधुनिक भाव-बोध' या 'भोगा हुआ सत्य' कह कर मन को सन्तोष देता है, तो कहना होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि पूँजीवाद में सृजनात्मक कार्य भी अब 'स्वान्तः सुखाय' नहीं रहा। टोटल अलगाव (alienation) की यह स्थिति चाहे तथ्य हो लेकिन सत्य और अनित्य और दुर्निवार भी है, यह समझना जीवन को बेमानी और फालतू मान लेना है और उन सामाजिक कारणों से आँख मीच लेना है, जिन्होंने यह स्थिति पैदा की है।

चूँकि अलगाव की समस्या के प्रति हमारे देश के बुद्धिजीवी भी अब सचेत हो गये हैं, आवश्यकता इस बात की है कि इस पर गम्भीरतापूर्वक हर पहलू से विचार किया जाय। जीवन को बेमानी समझनेवाले व्यक्तियों की भी आन्तरिक इच्छा यही है कि जीवन में सार्थकता नज़र आये, क्योंकि मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य आज भी स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। वह अपने से ही बेगाना नहीं होना चाहता, कर्त्ता का गौरव प्राप्त करना चाहता है और चाहता है कि सामाजिक जीवन इसके लिए उसे अनुकूल अवसर प्रदान करे।

आभार प्रदर्शन

'आलोचना' के सम्पादन-कार्य से आज मुक्त होते समय मैं हिन्दी और अन्य भाषाओं के उन सभी समालोचकों, विद्वानों और नई व पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिनका स्नेह-सौहार्द्र और सहयोग मुझे लगातार मिलता रहा है, जिसके कारण ही 'आलोचना' आज के कन्फ्यूजन में एक विधेयात्मक भूमिका अदा कर सकी। सन् १९५१ में 'आलोचना' का आरम्भ करते समय मेरे सामने यह उद्देश्य था कि वह साहित्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों का गम्भीर मूल्यांकन प्रस्तुत करे और यथासंभव उन्हें नया मार्ग-निर्देश दे। दोबारा मैंने जब इसका सम्पादन-भार संभाला तो उस समय भी मेरे सामने यही उद्देश्य था। अपनी अक्षमताओं से मैं बेखबर नहीं हूँ, फिर भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आलोचना के माध्यम से जो कुछ भी कर सका, उसका श्रेय वास्तव में साहित्य के उन मर्मज्ञ विद्वानों को है, जिन्होंने अपना मूल्यवान् सहयोग देने में कभी संकोच नहीं दिखाया। इस बीच अन्य कार्यों में, जिनका परोक्ष रूप में साहित्य से ही सम्बन्ध है, मेरी व्यस्तता इतनी बढ़ गई है कि 'आलोचना' के सम्पादन की ज़िम्मेदारी का निर्वाह करना कठिन हो गया है।

शिवदानसिंह चौहान

श्री शिवदान सिंह चौहान ने जिस योग्यता, दक्षता और तत्परता के साथ अब तक 'आलोचना' का संपादन किया है उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। चौहानजी 'आलोचना' के एक संपादक ही नहीं, बल्कि संस्थापक हैं; और इसके लिए राजकमल प्रकाशन उनका चिरऋणी है। इस पत्रिका के द्वारा साहित्य में समीक्षा की एक स्वस्थ मर्यादा स्थापित हुई है और राजकमल को भी गौरव प्राप्त हुआ है। चौहानजी 'आलोचना' और राजकमल-परिवार से जिस प्रकार घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं उससे हम आश्वस्त हैं कि वे आगे भी 'आलोचना' को अपना सहयोग और परामर्श देते रहेंगे। भविष्य में 'आलोचना' उनके द्वारा स्थापित स्वस्थ एवं प्रगतिशील परम्परा को आगे बढ़ाने का पूरा प्रयास करेगी।

शीला संधू
मैनेजिंग डाइरेक्टर,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमानन्द श्रीवास्तव

समकालीन लेखन में प्रतिबद्धता का प्रश्न

आकस्मिक नहीं है कि पिछले दिनों पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिबद्धता (कमिटमेन्ट) की सबसे अधिक चर्चा हुई है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में लेखन की समस्याओं में इसे सबसे अधिक प्रतिष्ठा भी मिली है। इसके पीछे सबसे महत्वपूर्ण कारण संभवतः यह है कि दायित्व-चेतना के विरोध में 'स्वतन्त्रता' का जो नारा दिया गया था वह देखते-देखते 'निषेध' एवं 'नकार' के स्वर में घुल-मिल गया। आवश्यक हो गया था कि लेखक संक्रमण और विघटन की स्थिति में भी स्वीकार का कोई रास्ता चुने। समय की चुनौती स्वीकार करने वाले लेखक ने तब प्रतिबद्धता को भी मूल्य के रूप में चुना। प्रतिबद्धता का प्रश्न नये सन्दर्भ में इतना महत्वपूर्ण हो उठा कि लेखकों ने वक्तव्यों एवं टिप्पणियों में इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया और एक-दो पत्रों ने इस प्रश्न पर अपने विशेष अंक भी निकाले। इस सिलसिले में अधिकतर लेखकों ने स्पष्ट किया कि उनकी प्रतिबद्धता आज की जटिल और निर्मम मानव-नियति के प्रति ही है। जिन्हें यह व्याख्या अविश्वसनीय लगती है वे प्रतिबद्धता को ग़ैर-साहित्यिक, दूसरे शब्दों में राजनीतिक प्रश्न मान रहे हैं और सफ़ाई के तौर पर कहते हैं कि साहित्यकार के रूप में वे अपने अतिरिक्त किसी के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रतिबद्धता अपना अर्थ-विस्तार भी कर सकती है या उसकी अर्थ-व्यंजना इतनी सीमित नहीं है जितनी वे समझते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि क्या प्रतिबद्धता राजनीतिक प्रश्न है? शायद है—शायद नहीं है! अमरीका अपने को वियतनाम में प्रतिबद्ध कहता है और साबित करता है कि इस शब्द की आड़ में राजनीतिक षड्यन्त्र भी चल सकता है नहीं तो यह कौन-सी प्रतिबद्धता है जो मानव जाति के बहुत बड़े हिस्से को बर्बरता से नष्ट करने के लिए तत्पर है। दूसरी ओर भारतीय लेखक जब अल्जीरिया की स्वाधीनता की मांग करता है या वियतनाम में अमरीकी रुख के प्रति अपना विरोध ज्ञापित करता है तो यह प्रमाण देता है कि प्रस्तुत प्रश्न उसके लिए राजनैतिक से पहले नैतिक प्रश्न है। लेखक के रचनात्मक मानस में भीतर से ही प्रतिबद्धता की यह नैतिक चेतना उत्पन्न होती है—बाहरी दबावों के कारण नहीं। जिस तरह राजनीति सही और ग़लत हो सकती है वैसे ही इस प्रश्न का उपयोग सही या ग़लत रूपों में संभव है। समकालीन लेखन में इसका साक्ष्य मौजूद है कि ईमानदार लेखक समकालीन मानव-नियति के प्रति अपने कठोर दायित्व के रूप में इसे स्वीकार करता है। किसी प्रश्न को राजनीतिक कह कर टाल देना भी एक प्रकार की राजनीति है— तमाम विराट और वायवी शब्द या सन्दर्भ उसे छिपाने में समर्थ नहीं हैं। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विडम्बना ही है कि अठारह वर्षों के भारतीय लोकतन्त्र में यह 'राजनीति' कई बार दुहराई गई है। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि राजनीति के स्वर में लिखा हुआ साहित्य भी मानव-नियति के बुनियादी प्रश्नों को उसी तरह टालता रहा है जिस तरह राजनीति की छाया से परहेज़ करने वाला व्यक्तिवादी अन्तर्मुखी लेखन।

प्रतिबद्धता अपने-आप में सम्पूर्ण नहीं है क्योंकि वह किसी न किसी के प्रति होती है। भक्तिकाल में प्रतिबद्धता धर्म या ईश्वर के प्रति थी, रीतिकाल में राज्याश्रय (दरबारी संस्कृति) के प्रति। यह प्रतिबद्धता समर्पण ही थी। आधुनिक काल में प्रतिबद्धता राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग के प्रति थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के वर्षों में कुछेक लेखकों के मस्तिष्क या लेखन में ही सही, वह भारतीय लोकतन्त्र के प्रति उन्मुख रही है। भारतीय राजनीति एवं सत्ता की विसंगतियों के कारण वह टूटती गयी है क्योंकि समकालीन परिस्थितियों के विघटन के बीच उसकी दिशा इतनी स्पष्ट नहीं रह गई है। देखते देखते दुनिया के तमाम देशों की समस्याएं एक दूसरे से इस तरह घुलमिल गई हैं कि सृजनकर्ता सबसे पहले अपने को व्यापक मानवीय नियति के प्रति ही प्रतिबद्ध अनुभव करता है। समकालीन सृजन-प्रक्रिया में यह प्रश्न जटिलतर हो गया है। स्थितियों की अनिश्चयता निर्मम चुनौती के रूप में समकालीन लेखक के सामने है जिसे बदलना आसान नहीं है। लेकिन सिर्फ इस लिए उसकी प्रतिबद्धता की चेतना घटती नहीं, पहले की तुलना में बढ़ ही जाती है। अब लेखक सहज प्रतिबद्ध नहीं है, प्रतिबद्ध होने के लिए अभिशप्त है, उस पूरी मानवीय नियति के प्रति, जिसने आज की कला और साहित्य में प्रतिबिम्बित होने वाले भयानक अमानवीकरण का ही अनुभव कराया है।

समकालीन लेखक की प्रतिबद्धता इस यथार्थ-स्थिति के स्वीकार के प्रति है जिसके सन्दर्भ में स्पष्ट है कि मानव-प्रेम, देश-प्रेम, राष्ट्रीय एकता, सह-अस्तित्व जैसे शब्दों के अर्थ छिलके की तरह उतर गये हैं। उसकी प्रतिबद्धता इस निर्मम स्थिति के स्वीकार के प्रति है। नये कवि केदारनाथ सिंह की कविता इस 'स्वीकार' से ही शुरू होती है :

उठो और दरवाज़ा खोल दो।
अखबार का समय हो गया है
और कुछ भी ठीक नहीं
सूरज और हाकर में किसकी दस्तक
पहले पड़ जाय !

और आगे वे अपने को स्पष्ट करते हैं:—

'प्रतीक्षा'—प्रेमिका की हो या अखबार की
एक ग़लत शब्द है
ग़लत और बेमानी।
आदमी को सिर्फ़ 'तैयार' रहना चाहिए।

यहीं समकालीन कविता छायावाद के रूमानी भाव-बोध से, जो घिसटकर आगे की नव-रोमानी कविता तक चलता रहा, अलग हो जाती है। केदारनाथ सिंह क्योंकि अपने ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबद्ध कवि हैं अतः वे आज की जटिल नियति को उसके निर्भ्रान्त रूप में स्वीकार करते हैं :

क्योंकि इस समय
कितना मुश्किल है अलग कर पाना
प्रेमिका को अखबार से
और अखबार को
सुर्ख़ आँखों वाले किसी जंगली जानवर से !

केदार इसी कविता में सचेत करते हैं कि आज के व्यक्ति को उन अस्पष्ट शब्दों से बचना चाहिए जो उसकी कठोर प्रतिबद्धता के मार्ग में अवरोध उपस्थित करते हैं और दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सावधान रहना चाहिए :

कुछ शब्द हैं,
जैसे 'भविष्य'—जिसके जादू से बचना चाहिए।
कुछ चीज़ें हैं,
जैसे साबुन का यह डिब्बा
जिसके बारे में तुम्हारी चुप्पी
सिर्फ़ उन ताक़तों को लाभ पहुँचाती है
जो तुम्हें
तुम्हारे तौलिए के विरुद्ध इस्तेमाल
करना चाहती हैं।

निर्मल और बाद के कहानी लेखकों, जैसे दूधनाथसिंह, महेन्द्र भल्ला या ज्ञानरंजन आदि की कहानियों में यथार्थ स्थिति के स्वीकार का स्वर तेज़ है—चाहे अस्वीकारात्मक स्थिति के ही स्वीकार का स्वर हो। यह केवल संयोग नहीं है न अभ्यास का परिणाम कि समकालीन लेखन की भाषा में अतिरंजना एकदम नहीं है— सतही आवेश भी नहीं जो झूठे आश्वासन का ही एक पहलू होता है।

आक्टोवियो पाज़ जब ब्रेख़्त पर विचार करते हैं तो कुशलता से कहते हैं– 'विद्रोह अपने अन्दर होता है, बाहर से उसे जुटाया नहीं जा सकता। मगर इससे भी बड़ा खतरा तब पैदा होता है जब कमिटमेन्ट या प्रतिबद्धता को साहित्य के मूल्यांकन के लिए एक मान-दण्ड मान लेने का आग्रह किया जाता है।' पॉज़ की आखिरी बात से सहमत होना कठिन नहीं है लेकिन ग़लत स्थितियों के प्रति विद्रोह का खतरा प्रतिबद्ध लेखक को उठाना ही पड़ता है (यों अपने ढंग से हर जागरूक व्यक्ति को, नागरिक को उठाना पड़ता है) ! आख़िर आधुनिक कवि एवं लेखक स्वर्गीय गजानन माधव मुक्तिबोध ने यह ख़तरा उठाया ही। मार्क्सवाद में उनकी आस्था न भी होती तब भी प्रतिबद्ध लेखक के रूप में वे यह खतरा उठाने के लिए अभिशप्त थे। वे यथार्थ स्थिति के प्रति अत्यन्त जागरूक थे—यथार्थ उनके लिए यथार्थ ही था, फैन्टेसी नहीं। उन्होंने यथार्थानुभव को प्रतीकों में समाप्त नहीं कर दिया, रूपकों में फैलाया। इसकी चिन्ता उन्हें नहीं हुई कि उनकी कविता के 'सौष्ठव' में कोई कमी आती है। फैलाव मुक्तिबोध की कविता का गुण है क्योंकि वह बुनियादी प्रश्नों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ऐतिहासिक भूमि पर व्याख्या करता है। प्रतिबद्ध कवि मुक्तिबोध की पहचान कितनी अचूक और तीखी थी यह बताने की आवश्यकता नहीं— जब वे लिखते हैं—

काले लिबास में ढंकी हुई गहरी छाँहें
हाथों में लालटैन मद्धिम
जेबों में धन
आज़ादी को खरीदने का ऊधम...
वे छाँहें तो दुनियाँ के आरपार जाती-सी
बाहें हैं
उसकी बाहें—
जो उस बँगले में अदृश्य बनकर बैठा है
वे गुप्त सीढ़ियाँ रूपक छिपे तरीकों के...

तो उनके ऐतिहासिक तर्क को समझना कठिन नहीं होता।

समकालीन सन्दर्भ में इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम अस्तित्ववादी दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र से सहमत हो सकते हैं जब वे आज की स्थिति में इसे आवश्यक प्रश्न मान कर उठाते हैं परन्तु कृतिकार के संस्थान में रूपान्तरित होकर रह जाने की नियति का विरोध भी करते हैं क्योंकि प्रतिबद्ध होना प्रतिबद्ध होना है, समर्पित होना नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजयशंकर त्रिवेदी

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी समीक्षा की समस्याएँ

युग-जीवन के प्रभाव साहित्य की गरिमा में संश्लिष्ट होते हैं। युग और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का सेतु बौद्धिक चेतना हुआ करती है, जो उसके अस्तित्व का बोध करवाती है। संवेदनाओं का प्रदेय उसके महत्व को स्थायित्व देता है, किन्तु उसके स्थायित्व का मूल्यांकन समीक्षकीय चेतना करती है। अपितु, यह कहना अधिक समीचीन होगा कि समीक्षा की चेतना ही उसके मूल रूप से प्रस्थापन में सहायक होती है। जिसे समय की आँच अपने में गला नहीं पाती बल्कि उसे तपाकर कुन्दन की तरह उसके महत्व को प्रकट करती है। समीक्षा का प्रदेय किसी भी साहित्य को ऊपर उठाता है, हिन्दी साहित्य को भी समीक्षा ने एक स्थैर्य दिया है जो कई कठिनाइयों के बाद प्रकट हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी समीक्षा के निकट विगत का सम्मोहन और आगत का आग्रह उपस्थित हुआ। यही नहीं, कई समस्याओं का उदय भी हुआ। इन समस्याओं के बीच समीक्षा अपनी अन्तर्दृष्टि के आधार पर ही अपने पथ का प्रस्थापन कर अपनी महत्ता को प्रकट कर सकती है।

सन् १९४७ से हमने स्वतन्त्रता का जीवन आरम्भ किया था। स्वतंत्र होते ही हमारे सामने कई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। और अधिकांश समस्याएँ वर्तमान की आवश्यकता बन गई। जन-जीवन के व्यवहार के लिए भाषा की समस्या भी प्रमुखता रखती थी। जो उस समय हल न होकर २६ जनवरी १९५० में जाकर हुई। हमारे संविधान में राष्ट्र-भाषा की महत्ता को स्वीकारा गया और हिन्दी को उसकी उपयुक्तता के अनुकूल पाया गया। कदाचित इसलिए कि हिन्दी इस महादेश की एक ऐसी भाषा थी जो लगभग एक सहस्र वर्ष से अपने साहित्य और व्यवहार के बूते पर राष्ट्रभाषा की अधिकारिणी हो सकती थी। राष्ट्र जीवन को बड़ी व्यापकता के साथ छूने वाली इस भाषा ने अपने महत्व को प्रतिपादित किया। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने उसकी महत्ता को प्रकट करते हुए कहा है, "जिस भाषा को जितने अधिक लोग बोलते हों उसका उतना ही राष्ट्रीय महत्व मानना होगा। हिन्दी का करीब एक हजार वर्षों का साहित्य है, जिसमें सूर, तुलसी, मीरा और भारतेन्दु से लेकर आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला आदि कवियों की बहुमूल्य निधियाँ मौजूद हैं। गद्य-लेखन का कार्य भी काफी हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी की अपनी परम्परा है जो राष्ट्र के जीवन के समस्त संघर्षों से जुड़ी हुई है। वह इतिहास की दृष्टि से भी केन्द्र की भाषा है।"[1] अस्तु राष्ट्र-भाषा की समस्या एक ढंग से

१. राष्ट्र-भाषा की कुछ समस्याएँ : प० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल हो चुकी थी किन्तु उसके निकट राजनैतिक स्वार्थों के उपस्थित हो जाने के कारण उसमें जो विपुल साहित्य 'वैज्ञानिक शब्दावली', पारिभाषिक कोश तेज़ी से निर्मित हो रहा था, वह उलझ गया। डा० नगेन्द्र ने कहा भी है कि 'हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी था कि संविधान सभा ने उसे राज-भाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतंत्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनैतिक वत्याचक्र में फँस गई।'[1] इसके बावजूद हिन्दी के प्रति जो दुर्भावनाएँ थीं वे धीरे-धीरे मिटती गईं। और स्वतंत्रता के बाद लगभग दो दशकों में हिन्दी और उसके साहित्य ने विपुल प्रगति की है।

हिन्दी की प्रगति के साथ उसके साहित्य की प्रगति निरन्तर होने लगी और विपुल मात्रा में हिन्दी का प्रकाशन होने लगा। इस प्रकाशन ने हिन्दी को बलवती बनाने में निश्चय बहुत बड़ा योग दिया है। बल्कि यह कहना उचित होगा कि हिन्दी के प्रकाशन की प्रगति ने जहाँ हिन्दी के लाखों पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया है, वहीं उसकी समृद्धि ने हिन्दी के गौरव को राष्ट्रभाषा की महत्तर शालीनता से अभिषिक्त भी किया है। कविता, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, अनुसन्धान आदि पर प्रकाशन ने प्रगति के द्वार खोल दिये हैं। प्रकाशन ने हिन्दी की चहुँमुखी प्रगति की। प्रकाशन सुविधा ने हिन्दी में एक ओर यदि व्यावसायिकता को ऊपर उठाया तो दूसरी ओर सद्-असद् के विवेक से उसे वंचित भी किया है। सद्-साहित्य की समृद्धि में अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन कम हुआ और व्यावसायिकता की पूर्ति के लिए धड़ल्ले के साथ घटिया किस्म का प्रकाशन बहुत हुआ। स्वतंत्रता के बाद हिन्दी में आचार्य द्विवेदी के युग के बाद फिर संक्रमण-काल आ उपस्थित हुआ है, जिसमें अच्छे और बुरे साहित्य की पहचान कम हो गई। मूल्यांकन की दृष्टि क्षीण हो गई।

एक ओर हम प्रगति करते जा रहे थे तो दूसरी ओर इस संक्रमण की पीड़ा से भीतर ही भीतर आक्रांत हो उठे। जीवन की विकटता का दृष्टिकोण व्यवसायिकता के परिवेश में काफी खोखला हो उठा। कदाचित् यही कारण है कि सद् और असद् के बीच की पहचान के लिए समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। जीवन के ह्रासोन्मुख रूप-तत्व साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा में सहायक नहीं हो पाये। युग जीवन के अन्तर्संघर्ष को इस व्यावसायिक साहित्य की आँखें नहीं देख पाईं। कदाचित् तभी नई चेतना की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और हम अपने साहित्य में स्वस्थ मूल्यों की स्थापना की दिशा में अग्रसर हो चले। हिन्दी के विकास में उत्पन्न यह संक्रमण एक नये संघर्ष की भूमिका लेकर आया, जिसमें सद्-साहित्य की दिशा में गतिरोध तो अवश्य था, किन्तु इसने आत्म-निरीक्षण का अवसर भी प्रदान किया। स्वस्थ समीक्षादर्शों की आवश्यकता ऐसे ही अवसरों में उत्पन्न होती है, ताकि वे उत्पन्न हुए गतिरोध को हटा सकें। काव्य-शास्त्र के अनुशीलन की महत् परम्परा हमारी भारतीय मनीषा में कालांतर से चली आ रही है। शास्त्रीय दृष्टिकोण समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को सदैव निर्मित करते रहे हैं।

---

१. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समीक्षा के विकास की जो सम्भावनाएँ दिखाई पड़ने लगीं, उसमें साहित्य की समृद्धि का भी योग है। अगर हम स्वतंत्र नहीं हुए होते तो न राजभाषा का प्रश्न आता और न हिन्दी के साहित्य का अपना इतना विकास ही हुआ होता। स्वतंत्रता ने साहित्य की समृद्धि को जो दिशा दी है, वह निःसन्देह उर्वर है। किन्तु इस उर्वरता का यह आशय नहीं कि कुछ भी उच्छिष्ट, गर्हित को उर्वरता का प्रदेय मान लिया जाय। प्रकाशन के सम्मुख आज यह सबसे बड़ा प्रश्न है कि सद्-साहित्य को सामने लाने में वह कहाँ तक व्यावसायिकता के सामने झुकता है। ऐसे अवसरों पर ही समीक्षकीय चेतना निर्णय के लिए बाध्य करती है। १५ वर्षों में राष्ट्र-भाषा बनाने का दिया गया समय यद्यपि राजनैतिक षड्यन्त्र ही था, किन्तु इन वर्षों में हिन्दी को अपने विकास और समृद्धि के जो अवसर मिले वे हितप्रद अधिक थे। इस सबसे साहित्य की समृद्धि ही हुई और हिन्दी गौरवान्वित भी हुई। समृद्धि के नाम पर शैवाल, प्रकाशन के आधार पर व्यावसायिकता; जीवन की रागात्मक अनुभूतियों के स्थान पर भौतिकता की अनास्था सभी कुछ समीक्षा के सद्-विवेक को उत्पन्न करते हैं। हम जीवन के मूल्यों को सदैव शाश्वत आधारों पर देखने के पक्षपाती रहे हैं। विकृति का संवेग अधिक समय तक स्थायी नहीं रखा जा सकता। नीर-क्षीर की दृष्टि विवेक के साथ वहाँ उत्पन्न हो ही जाती है। समीक्षा इन्हीं आधारों को स्थिर रखने की अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, जो सुकृति की नियामक होती हैं। समीक्षा की यही विधायकता है। साहित्य अपने समय के साथ बराबर चलता हुआ शाश्वत मूल्यों को स्थापित करता है। वह दैनन्दिन संघर्ष की समस्याओं को उसके सत्य और सत्व के आधार पर स्वीकार करता है। समस्याएँ और संघर्ष साहित्य का उन्मूलन नहीं कर पाते अपितु उसकी दृष्टि को स्थिर बनाने में सहायक होते हैं। कदाचित् इसलिए कि इनका अस्तित्व नई चेतना की भूमिका लिए आता है। जीवन की संवेद्य शक्ति को साहित्य, आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत बना देता है। उसके निकट उत्पन्न सद् और असद् के विवेक को स्थिर रखता है। सुश्री शचीरानीगुर्टू ने कहा भी है कि 'युगीन समस्याएँ नित्य बदलती हैं और इंसान उनसे जूझता है, खेलता है, उलझता है पर उसकी कोई थाह नहीं पाता। समय से टकरा कर साहित्य के शाश्वत उपादान जीर्ण होकर धूलिसात नहीं होते वरन् नित नये रूपमें उभरते हैं। आलोचक को इस द्वन्द्व, इस कशमकश में ही पथ खोजना पड़ता है।"[१] समीक्षक, विधायक तत्वों के लिए समग्र जीवन की ऊहापोह कर डालता है, ताकि उसके मूल्यांकन में किसी तरह की हीनता का लेश न रह जाय।

साहित्य समाज की चेतना है, और समीक्षा साहित्य की चेतना। अस्तु, समीक्षा की चेतना, चेतना की चेतना है। उसके निकट दुहरा दायित्व है, वह बड़ी गम्भीरता से अपने अस्तित्व को प्रकट करती है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि समीक्षा जीवन की समग्रता से अर्न्तदृष्टि प्राप्त करती है और विवेक के माध्यम से आस्फालित होती है। जीवन मूल्यों को साहित्य के माध्यम से कलाकार ऊपर उठाता है। सौंदर्य की दिशा को उन्मुक्त करने में समीक्षा की दृष्टि ही अधिक समीचीन हुआ करती है। श्री शिवदान सिंह

१. वैचारिकी : सुश्री शचीरानी गुर्टू, पृष्ठ २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौहान ने कहा भी है "आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों के पूरे सौंदर्य-मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्यकारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमांत खोल देती है। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियन्त्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा भी देती है।"[1] समीक्षा की विधायकता कृति के कालजयी मूल्यों की स्थापना करती है। वह संवेदना और विवेक के माध्यम से सत्य के उद्घाटन का अभिनव स्वरूप उपस्थित करती है। साहित्य अथवा कला के क्षेत्र में उत्पन्न व्यावसायिक अथवा घटिया, अमौलिक तत्वों के उन्मूलन का महत् भार वहन करती है। जिसके माध्यम से नई दिशा और नई आस्था को प्रकट करती है।

विश्लेषण और मूल्यांकन इस विधा के अन्तर्सत्य हैं। समीक्षा इन्हीं के आधार पर अपने उद्देश्य को पूरा करती है। ये आधार कृतित्व के प्रति दृष्टि-निर्माण में सहायक होते हैं। अन्तर और बाह्य के सूक्ष्म विश्लेषण से सत्य के उद्घाटन में सहायता मिलती है। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि मूल्यांकन के आयाम स्पष्ट हो जाते हैं। संवेदना और विवेक मूल्यांकन के सही रूप को स्थिर करते हैं, जिससे एकांगिता का दोष नहीं आ पाता। डा० देवराज ने कहा भी है, "जीवन की रागात्मक संवेदनाओं के उद्घाटन या चित्रण को साहित्य कहते हैं तथा विश्लेषण एवं मूल्यांकन को आलोचना।"[2] अस्तु समीक्षा के निकट जो अन्तर्दृष्टि है, वह उसी के माध्यम से कृति के प्रति उचित मूल्यांकन को प्रस्तुत करती है। समीक्षा जहाँ सद् और असद् के विवेक को उत्पन्न करती है, वहीं वह कलाकार के प्रति सृजन के द्वार खोलती जाती है। यही उसकी विधायकता की परिणति हुआ करती है। इसका अभाव एकांगिता को अधिक उभारता है। और समीक्षा के मूल उद्देश्य की भी पूर्ति नहीं हो पाती, जिसमें उसे सद् और स्थिर साहित्य का निर्माण करना होता है। सृजन के अनहित में समीक्षा का कोई मूल्य नहीं रह जाता। सही और सम्यक् अन्तर्बाह्य के आधार पर उसका मूल्यांकन करना समीक्षा का अभिप्रेय है। डॉ० भगवत्-स्वरूप मिश्र ने कहा भी है, "वस्तु को उसके सम्पूर्ण रूप में विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से देखना ही समीक्षा है।"[3] समीक्षा, शास्त्र और परीक्षण के आधार पर निरन्तर विकसित होती रही है। समीक्षादर्शों के निर्माण में काल का भी अपना प्रभाव रहा है।

हिन्दी समीक्षा को संस्कृत से साहित्य-शास्त्र की अमूल्य परम्परा प्राप्त हुई है। हिन्दी में शास्त्रीय समीक्षा के आधार संस्कृत के ग्रन्थ ही हैं। रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, औचित्य सम्प्रदाय ये छः सम्प्रदाय भारतीय साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत प्रचलित रहे हैं। नाट्य-शास्त्र, शृंगार प्रकाश, रस मंजरी, रसतरंगिणी आदि ग्रन्थ रीति-शास्त्र और काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, साहित्य दर्पण, चन्द्रालोक, कुवलयानन्द आदि अलंकार शास्त्र के क्षेत्र में उपयोगी रहे हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष ; श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ २०८
२. आधुनिक समीक्षा : डा० देवराज, १०६
३. हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास, डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र, पृष्ठ २१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रीय समीक्षा हिन्दी समीक्षा के लिए निश्चय ही विकासमान तत्व रही है। इसी समीक्षा का आगे चलकर जो स्वरूप स्थिर हुआ वह आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भागीरथ मिश्र, आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, डा० सूर्यकान्त, श्री सुधांशु की कृतियों में दिखाई पड़ता है। काव्यानुशीलन में सैद्धान्तिक पक्ष की प्रबलता में साहित्य शास्त्र का अपना योग है। श्रेष्ठ काव्य के मूल्यांकन में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण प्राचीन समीक्षादर्शों को भले ही उपस्थित करे, किन्तु उसकी फल-श्रुति में संतुलित, जीवन्त और स्थायी तत्वों का प्रदेय निहित रहता है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने कहा भी है कि "समीक्षा का सैद्धान्तिक पक्ष उसके व्यवहारिक रूप का आधार स्तम्भ है।"[1] वस्तुतः सैद्धान्तिक पक्ष समीक्षा को एक स्थायी आधार प्रदान करता है। शास्त्रीय समीक्षा का प्रचलन हिन्दी समीक्षा को अधिक गौरवान्वित करने में सफल रहा है। शुक्लोत्तर समीक्षा में भी शास्त्रीय समीक्षा का गहरा सम्पर्क दिखाई पड़ता है जो उसके महत्व का द्योतक है। वे तत्व काल के प्रभावों के बाद भी अशेष हैं।

शास्त्रीय-प्रणाली के अन्तर्गत सैद्धान्तिक समीक्षा मुख्य है, किन्तु परीक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत व्याख्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, निर्णयात्मक समीक्षाएँ विशेष प्रचलित हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा में कलाकार अथवा कवि की समग्र चेतना की अन्तर्बाह्य की पैठ के आधार पर ऊहापोह करते हुए उसके तत्त्वों का, आदर्शों का, उद्देश्यों का विवेचन करना ही समीक्षा का अभिप्रेय है। विश्लेषण इस विधा का मुख्य दृष्टिकोण है। रचना की व्याख्यातमकता को ध्यान में रखकर ही मौल्टन ने इसे साहित्य का अंग न समझकर विज्ञान का अंग समझने पर बल दिया है।

मनोवैज्ञानिक समीक्षा में भी कवि या कलाकार के अन्तर्मन की प्रक्रिया को रचना में खोजना आवश्यक हो जाता है। चेतन मन की अपेक्षा उपचेतन के संस्कारों के आधार पर मन की प्रक्रिया का विश्लेषण इस समीक्षा-प्रणाली में अधिक दिखाई पड़ता है। बाह्य-संस्कारों की अपेक्षा आन्तरिक संस्कारों को यह पद्धति अधिक सूक्ष्मता के साथ देखती है। फ्रायड और युंग की विचारधारा की सम्पृक्ति इस पद्धति के साथ स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कला, कला के लिए वाली बात सौन्दर्य-तत्त्व को लेकर अधिक दिखाई पड़ती है। डा० नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय और स्व० नलिन विलोचन शर्मा आदि इस पद्धति के अन्तर्गत स्वीकार किये जाते हैं।

बाह्य-जीवन के प्रभावों में राजनीतिक, धर्म, अर्थ [काम सभी का योग दिखाई पड़ता है। आज के जीवन में उत्पन्न गतिरोध, संकट, असमानता रचनाकार के निकट नये प्रश्न उपस्थित करते हैं। कदाचित, तभी समीक्षक, मार्क्सवादी विचारधारा के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और समाज की व्याख्या करता हुआ समीक्षा में प्रगतिशील तत्त्वों की स्थापना करता है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने कहा भी है कि "प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय-पद्धति को न अपनाकर हिन्दी आलोचना के सम्मुख साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाते हुए साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामा-

---

१. वही आलोचना : उद्भव और विकास, डा० भगवत्स्वरूप, पृष्ठ ५८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिक दायित्व का प्रश्न उठाया।"[१] प्रगतिशील विचारों के माध्यम से इस समीक्षा में संकीर्णता और विशिष्ट मतवादी आग्रहों का भले ही दोष दिखाई पड़े, किन्तु इस पद्धति ने समीक्षा को विकसित ही किया है। श्री शिवदानसिंह चौहान, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, नामवरसिंह, शमशेर बहादुरसिंह, स्व० मुक्तिबोध आदि विभिन्न समीक्षकों ने इस विधा को अधिक विकसित बनाया है।

तुलनात्मक समीक्षा एक ही विषय पर दो विभिन्न कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन करती है। उसके अंगों के विवेचन के अतिरिक्त दोनों कवियों की दृष्टि, पैठ और अभिव्यक्ति की तुलना करते हुए दोनों का मूल्यांकन इसके लिए आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी आलोचक की विशिष्ट अभिरुचि कवि विशेष के साथ पक्षपात के दोष से ग्रसित हो जाती है। 'साहित्य दर्शन' इस समीक्षा-पद्धति का एक अच्छा उदाहरण है।

निर्णयात्मक समीक्षा का समीक्षक लगभग शास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित रहता है। वह आलोच्य कृति को सिद्धान्तों के आधार पर परखता और देखता है। उसका दृष्टिकोण लगभग न्यायाधीश-सा हो जाता है। कभी-कभी कलाकार की रचना के अपने ऊपर पड़े प्रभावों के आधार पर भी समीक्षक निर्णय दे दिया करता है। कलाकार की प्रतिभा, मौलिकता और शक्ति को देखते हुए निर्णय देने का दृष्टिकोण निर्णयात्मक समीक्षा में अधिक होता है। कदाचित् इसीलिए यह विधा आज भी समीक्षकीय-प्रणालियों में अधिक प्रचलित दिखाई पड़ती है।

इन पद्धतियों का प्रचलन स्वतन्त्रता के पहले भी था और आज भी दिखाई पड़ रहा है। वस्तुतः ये पद्धतियाँ आज अधिक उत्कर्ष और व्याप्ति के साथ सामने आ रही हैं। साहित्य और शिक्षा के अनुशीलन और प्रसार से आज नई-नई सम्भावनाएँ समीक्षा के निकट दिखाई पड़ने लगी हैं। भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन से जहाँ एक ओर समीक्षा को गहराई मिली है, वहीं पाश्चात्य साहित्य के प्रभावों से उसे नई चेतना भी मिली है।

इन समीक्षा-पद्धतियों से समीक्षा का स्वरूप निश्चित हो चला था। बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि विकासमान रूप ही अधिक सामने आए हैं। जैसा कि कहा गया है कि स्वतन्त्रता के बाद हमारी राष्ट्रभाषा ने साहित्य की संवर्द्धना में अच्छा यत्न किया। इसी के साथ हमारे यहाँ कई नये विश्वविद्यालय स्थापित हुए। विश्वविद्यालयों में हिन्दी को लेकर जो कार्य हुआ करता था अब वह अपने नये सन्दर्भ में नये विकास लेकर आने लगा था। हिन्दी का क्षेत्र नई समृद्धि से आगे बढ़ा। उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल उसके स्तर के लिए पाठ्य-सामग्री के चयन का प्रश्न भी सामने आया। परिणामतः विश्वविद्यालयों की आवश्यकता के अनुरूप पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण और तेजी से आरम्भ हुआ। अस्तु, स्पष्ट है कि उच्च कक्षाओं के लिए लिखा जाने वाला साहित्य अपने नये रूप में नई गरिमा को लिए प्रकट हुआ। हिन्दी में गरिमा का आस्फालन दिखाई पड़ता है। बी० ए० और एम० ए० के पाठ्य-क्रम के अनुरूप पुस्तकों ने ज्ञान की दिशाओं में एक नई चेतना भर दी। कविताएँ, कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, एकांकी आदि विभिन्न प्रकार की पुस्तकें इन

१. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ्य-क्रमों में सम्मिलित की गई। इन्हीं के साथ शोध और अनुसन्धान की दिशा में भी कार्य आरम्भ हुआ।

शोध और अनुसन्धान के कार्यों की अपेक्षा बौद्धिक चेतना के उन्मेष में इन विश्वविद्यालयों के लिए लिखी जाने वाली समीक्षा ने एक नया स्वरूप पाया। इस समीक्षा ने पाठ्य-क्रम के मूल्यांकन की अपेक्षा समीक्षकीय स्तर को ऊपर उठाने में काफी योग दिया है। पाठ्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त समीक्षा के ग्रन्थों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में आरम्भ हुआ। यद्यपि यह सत्य है कि समीक्षा के विकास ने जहाँ एक ओर प्रशस्त कार्य किया वहीं आचार्यों की महिमा के अनुरूप समीक्षा में एक परिसीमन भी आ गया। हर विश्वविद्यालय और हर आचार्य की महिमा का प्रभाव समीक्षा के साथ संश्लिष्ट होने लगा। शास्त्रीय प्रभावों के अनुशीलन के अतिरिक्त व्यक्तिवादी मूल्यों का भी प्रचलन समीक्षा के साथ जुड़ गया। समीक्षा के साथ एक और जो कार्य इन विश्वविद्यालयों में आरम्भ हुआ वह शोध और अनुसन्धान का था, जिनमें पी० एच-डी० और डी-लिट के शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए जाने लगे। शोध की दिशा में जो कार्य आरम्भ हुआ उससे अनुपलब्ध साहित्य सामग्री के अतिरिक्त नई विचारधारा, नये तथ्य, नई स्थापनाएँ, नये मूल्य सामने आए। अनुसन्धान के साथ समीक्षा के तत्त्व किसी-न-किसी रूप में जुड़े हुए सामने आए।

अनुसन्धान की अपेक्षा स्वतन्त्र रूप से समीक्षा ग्रन्थों का प्रणयन भी हुआ। काव्य शास्त्र, सौन्दर्य शास्त्र, रस शास्त्र की दिशा में अच्छी कृतियाँ सामने आईं। सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' डा० नगेन्द्र का 'रस सिद्धान्त' और डा० राममूर्ति मिश्र का 'रस विमर्श'. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'वाङ्मय विमर्श' आदि कृतियाँ सामने आईं। रस शास्त्र की मीमांसा में जो नये प्रयत्न आरम्भ हुए वे निश्चय ही शुभ हैं। इससे समीक्षा में स्थायित्व के अतिरिक्त आत्म-प्रतिष्ठा की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। डा० भगीरथ मिश्र और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी आदि समीक्षक काव्य शास्त्रीय आधारों के अतिरिक्त रसवत्ता उद्भावनाओं की पैठ और मीमांसा में गहन चिन्तन रखते हैं। साहित्य की स्थायी अभिवृद्धि में समीक्षा की जीवंत चेतना ही अधिक उपादेय है। शुक्लोत्तर समीक्षा में रस-मीमांसा का दायित्व बढ़ा जिससे नये साहित्य और नये मूल्यों की अभिवृद्धि हुई। यही नहीं, साहित्य के निकट नई आधार शिलाएँ प्रस्तुत हुईं। कदाचित् यही कारण है कि रस शास्त्र की मीमांसा में जो उपलब्धियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनमें प्रबुद्धता है और नई ताज़गी है।

एक ओर जहाँ रस शास्त्र की दिशा में प्रगति दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर हिन्दी की उच्चतर कक्षाओं की परीक्षा के लिए परीक्षोपयोगी सामग्री में विकास दिखाई पड़ते हैं। परीक्षोपयोगी समीक्षाएँ विशेषतः टीकाओं पर ही आधारित रहती हैं। वैसे मराठी में टीका को समीक्षा का पर्याय मानकर उसका उपयोग किया जाता है किन्तु हिन्दी में टीका शब्द संस्कृत की तरह समझाए जाने वाले दृष्टिकोण के अधिक निकट है। टीका शब्द हिन्दी में कुँजियों अर्थात परीक्षोपयोगी साहित्य के लिए व्यवहृत होता है। संस्कृत साहित्य में 'जिस तरह कालिदास पर मल्लिनाथ की टीका', श्रीहर्ष के 'नैषध चरित' पर नारायण की टीका, भवभूति के 'उत्तररामचरित' पर वीर राघव की टीका और भवभूति के ही उत्तर रामचरित पर घनश्याम की टीका, शूद्रक के 'मृच्छकटिक' पर पृथ्वीधर की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टीकाएँ पाई जाती हैं, हिन्दी में इस तरह की अच्छी टीका डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'पदमावत संजीवन भाष्य' की पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कुँजी और गाईड सम्प्रदाय ने टीका के क्षेत्र में जो कार्य किया है उसमें अर्थ का दृष्टिकोण अधिक रहा है। अस्तु, जो इस ढंग का अर्थप्रधान दृष्टिकोण सम्प्रदायों की वृद्धि में भले ही सहायक रहा हो उसने सद्साहित्य का कोई हित नहीं किया। दुर्भाषा से मूर्च्छित कविता को नया चैतन्य देने में कोई विधायकता नहीं अपनाई। यद्यपि यह सत्य है कि व्याख्या के आधार पर [यदि वह सही हो] मूल्यांकन की विधा विषय को सरलता का परिवेश देती है। जो उसकी बोध-गम्यता को अधिक स्पष्ट करती है। अस्तु, काव्यानुशीलन के लिए सही दिशा की ओर तभी बढ़ा जा सकता है जब हम उसके अन्तर्बाह्य को गहराई के साथ समझ लें। अन्यथा परिचय ग्रन्थों की बाढ़ असम्बद्ध और असंगत परिणाम सामने रखेगी। जो सही दिशा का अनुवर्तन न कर भ्रमित अधिक करेगी। श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस विषय में सर्वथा उचित कहा है कि "पुस्तक बाजार में प्राचीन भारतीय काव्य-सिद्धान्तों का परिचय देने वाले अध्यापकों के लिए ग्रन्थों की इन दिनों बाढ़-सी आ गई है, लेकिन उनके अनुशीलन से पता चलता है कि कैसे इधर-उधर से संग्रह करके साहित्य और कला-सम्बन्धी विभिन्न मतों के असंख्य, असम्बद्ध उद्धरणों से परचून या स्टेशनरी की दुकान सजायी गई है। किसी वस्तुपरक अध्ययन और शोध का उनसे कहीं पता नहीं चलता।"[१] वस्तुतः यह कथन अपना औचित्य बनाए हुए है इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

भारतीय विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों में अनुसन्धान का कार्य बड़ी तेज़ी से हो रहा है। नई खोजों के लिए, नई मान्यताओं के लिए और अनुपलब्ध साहित्य के प्रकाशन के लिए। अनुसन्धान के साथ आलोचना के सम्बन्ध जुड़े हुए हैं। कदाचित् इसलिए कि तथ्यों के आकलन के अनन्तर विश्लेषण और विवेचन की समस्या आलोचना के माध्यम से ही हल होती है। अन्वेषण के उपरान्त अनुशीलन की आवश्यकता उसके मूल्यांकन को अनिवार्य कर देती है। यही नहीं तथ्यों की प्रामाणिकता में उसके पक्ष-विपक्ष के प्रतिपादन में आलोचना को ही व्यवहृत किया जाता है। अस्तु आलोचना के साथ अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। इसके बावजूद "आलोचना अनुसन्धान का पर्याय नहीं है।"[२] दोनों में एक अन्तर है, इसके अलावा दोनों की पद्धतियों में एक समानता है। डा० नगेन्द्र ने दोनों के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कहा भी है कि "अनुसन्धान में जो तथ्याख्यान है वही आलोचना में व्याख्या विश्लेषण है, दोनों में विवेचन कार्य-कारण सूत्र का अन्वेषण तथा अर्थव्यंजना आदि का उद्घाटन समान रूप से रहता है। इसी प्रकार पक्ष-विपक्ष के सन्तुलन आदि के आधार पर निष्कर्ष और निर्णय की पद्धति ग्रहण करना सर्वथा आवश्यक होता है। उसके बिना तथ्य विश्लेषण का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। अतः निष्कर्ष तथा निर्णय का महत्त्व अनुसन्धान और आलोचना दोनों के लिए समान रूप से मान्य है।"[३] अनुसन्धान और आलोचना अपने पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर नई

१. आलोचना के सिद्धान्त : श्री शिवदानसिंह चौहान, पृष्ठ : २१
२. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ९८
३. अनुसन्धान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : ९५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धि और नई मान्यताओं को प्रस्तुत करती हैं। अनुसन्धान के किसी भी क्षेत्र में उसकी उपादेयता है। वह उपलब्धि के मूल्यांकन का माध्यम बनती है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने कहा भी है कि "आधुनिक आलोचना पद्धति में अनुसन्धान का, चाहे वह शुद्ध वैज्ञानिक हो अथवा ऐतिहासिक मात्र ही क्यों न हो, एक बहुत बड़ा हाथ है। इसके द्वारा उसकी विविध प्रक्रियाओं में न केवल विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती है, अपितु आलोच्य-कृति के अधिक से अधिक स्पष्टीकरण का पूरा अवसर मिल जाता है।"[1] अस्तु स्पष्ट है कि आलोचना और अनुसन्धान के गहरे सम्बन्ध हैं। आलोचना के विकास के साथ अनुसन्धान के योग का विस्मरण नहीं किया जा सकता। हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद अनुसन्धान की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है।

एक ओर जहां अनुसंधान के रूप में आलोचना की प्रगति हो रही है, वहीं शोध-ग्रन्थों में विषयों की पुनरावृत्ति भी दिखाई पड़ती है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि ऐसे विषय हैं जिन पर किसी न किसी रूप में अनुसंधान कार्य किया गया है। और नये तथ्यों के स्थान पर पुराने तथ्यों के विस्तार का ही संवर्धन किया गया है। यही नहीं, विषयों के चयन में परिष्कृति और परिश्रम की संभावनाओं का ह्रास दिखाई पड़ती है। जिन विषयों को अनुसंधान के उपयुक्त नहीं समझा जाता, ऐसे विषयों पर भी शोध कार्य करवाया जाता है। जो प्रगति के स्थान पर वस्तुतः प्रगति के आगे विराम ही लगाता है। विषय-विस्तार की सीमा में धर्म, समाज और राजनीति भले ही प्रवेश पा गई हो किन्तु अकाव्य को प्रवेश देना निश्चय ही घातक है। ऐसे अवसरों पर अनुसंधान को आलोचना की परिष्कारिणी (रिफाइनरी)[2] से होकर जाना चाहिये। डाक्टर नगेन्द्र के विचार इस दिशा में उपयुक्त लगते हैं। अनुसंधान के नाम पर गर्हित विषयों पर शोध कार्य साहित्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं करता। पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, ऋतुवर्णन, जादू टोने, पकवान-पुराण आदि जैसे विषयों को चुन कर सिद्धों की बानियों में, कबीर की साखियों में अथवा लोक या वार्ता साहित्य में कार्य करने का आग्रह समीचीन नहीं दिखाई पड़ता, इससे शोध की मर्यादा का ह्रास होता है। पं० नन्द दुलारे वाजपेयी ने भी विषयों के प्रति आशंका प्रकट करते हुए कहा है कि—"हिन्दी के वर्तमान शोध-कार्य पर यदि थोड़ी-सी गंभीरता से विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इस प्रकार अधिकांश कार्य संग्रह-मूलक होता जा रहा है। जहां कहीं सैद्धांतिक स्तर का विवेचन होता भी है, वहाँ 'उस स्तर का आद्यन्त निर्वाह नहीं हो पाता। विषय ही ऐसे दिये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण एकात्मता नहीं होती और शोधकर्ता को वैचारिक और सैद्धान्तिक गहराइयों में जाकर आद्यन्त अपने विषय का ऊहापोह करने का अवसर नहीं मिलता[3]।" शोध और समीक्षा का स्तर तभी श्रेष्ठ और मूल्यवान हो सकता है, जब हम सद्-साहित्य और अनुपलब्ध साहित्य को सही तथ्यों के आधार पर, सही मूल्यांकन के आधार पर प्रस्तुत करें। अन्यथा विकास की संभावनाओं के नाम पर भ्रांति उत्पन्न होने की बड़ी आशंका है। शोध और समीक्षा जहां अपना संतुलन खो बैठती हैं, वहीं उसकी दृष्टि मृत और जीवित

१. आलोचना, अंक—१ वर्ष—५३ अक्टूबर—३, पृष्ठ : १५
२. अनुसंधान और आलोचना : डा० नगेन्द्र, पृष्ठ : १०४।
३. हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १५, अंक : ३-४ सन् ६२ पृष्ठ : २५।

पुस्तकालय
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों की सामान्य उपलब्धियों पर केन्द्रित हो जाती है। 'व्यक्ति और काव्य' के अनुशीलन में व्यक्तित्व का ही विस्तार दिखाई पड़ने लगता है। काव्यानुशीलन पूर्ववर्तियों की परम्परा में समानधर्मी विचारों के प्रतिपादन में ही बृहदाकार हो जाता है। इससे जुड़वा लेखन की नयी परम्परा का विकास हिन्दी शोध में सम्पृक्त होता दिखाई पड़ रहा है। यह जुड़वा लेखन शोध की दिशा में व्यापकता ग्रहण करता जा रहा है, जो नींव को खोखला करने की अपेक्षा कुछ नहीं कर पायेगा। इसका विकास कैंसर की भांति ही हिन्दी शोध को ले डूबेगा। बृहदाकार ग्रन्थों से ही श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति नहीं होती, छोटे और सादे, वजन में हलके ग्रन्थों से भी श्रेष्ठ कार्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। पुनरावृत्ति का पोषण जुड़वा लेखन को भले ही समृद्ध बनाये, शोध की श्रेष्ठ उपलब्धियों को वह सामने नहीं ला पायेगा। इस ढंग की परम्परा का उन्मूलन आवश्यक हो गया है।

शोध प्रबंधों में तात्विकता को प्राधान्य दिया जाता है, वही उसके सत्यान्वेषण की सिद्धि हुआ करती है। सत्यान्वेषण के लिए सामग्री की ऊहापोह कर जहां एक ओर मूल्यांकन किया जाता है, वहीं उसमें निहित तात्त्विकता को स्पष्ट कर दिया जाता है अथवा उसे प्रकट कर अपने निष्कर्षों को प्रमाणित किया जाता है। हिन्दी के शोध प्रबंधकों में तात्विकता की ओर, लगता है, उतना ध्यान नहीं दिया जाता। प्रबंध के बृहदाकार (वजनदार) संस्करण का मोह शोधकर्त्ता को अधिक रहता है। परिणामतः प्रबंध में उपलब्धि का अंश कम होता है और अन्य संग्रहित फुटकर सामग्री का विज्ञापन अधिक होता है, जो ग्रन्थ को बृहदाकार करने में सहायक होती है। स्व० नलिन विलोचन शर्मा को भी शोध प्रबन्धों में तात्विकता का अभाव अनुभव हुआ तभी उन्होंने 'गुंजाइश' वाली बात कही। उन्होंने कहा कि कुछ वर्षों से ही हिन्दी शोध कार्य परिणामतः इतना विकसित हुआ है कि अब हम विषय या लेखन के सूक्ष्म पक्षों पर ही कार्य करने की बाध्यता अनुभव करने लगे हैं, गोकि इस बाध्यता का परिणाम अच्छा ही होगा, किन्तु वास्तविकता यह भी है कि हिन्दी में अभी तात्विक शोध कार्य के लिए काफी गुंजाईश है, बल्कि यह कहना उचित है कि इसकी आवश्यकता बनी हुई है और हमारा ध्यान इधर कम गया है'[1]। वस्तुतः हम इस ओर नहीं बढ़ पाते। शोध प्रबन्धों की सफलता और उसकी श्रेष्ठता के लिए उसमें तात्विकता का अंकन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त फुटनोट की सीमा इतनी लम्बी कर दी जाती है कि प्रबन्ध का तात्विक रूप ढंक जाता है और फुटनोट ही हावी दिखाई पड़ने लगते हैं। छोटे-छोटे फुटनोटों की जगह ५-५ पृष्ठों के फुटनोट प्रबन्ध का गौरव बढ़ाने की जगह उसकी आकृति और वजन का अधिक संवर्धन करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त का शोध प्रबन्ध 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' इसका स्पष्ट उदाहरण है। यही नहीं, इस तरह के कई अन्यान्य प्रबन्ध भी यहां उदाहरण के लिए रखे जा सकते हैं। शोध और समीक्षा तात्विकता के प्रति मूल आकर्षण बनाये रखने के उपरांत ही अपने विकास की दिशाओं को उज्ज्वल बना सकती है। वज़न और आकृति का मोह तात्विकता के संवर्धन में सहायक नहीं हो सकते।

हिन्दी के शोध प्रबन्धों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है और यह प्रगति का शुभ

१. हिन्दी अनुशीलन अंक—३, सन् ६१ पृष्ठ : २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण भी है। इस ढंग की प्रगति को पीछे मुड़ कर देख लेना या अपने गिरहबान में झांक लेना अपने इस कार्य को अधिक श्रेष्ठ और जीवंत बनाना है। वस्तुतः शोध प्रबन्धों को शीघ्र प्रस्तुत करने के तीव्र मोह में शोधार्थी सद्-असद् का विवेक भूल जाता है। वह किसी न किसी रूप में अपने तथाकथित कार्य को विश्वविद्यालय के आधीन कर देना चाहता है। और उसके परीक्षक आपसी समझौते के अनुसार अपने मित्रों के छात्रों को डाक्टरेट प्रदान कर अपने समझौते की रक्षा किया करते हैं। परिणाम यह होता है कि घटिया स्तर के शोध प्रबन्ध इन समझौतों के अन्तर्गत निकल जाते हैं। इन निकल जाने वाले प्रबन्धों की बाढ़ स्तर के सामने प्रश्नचिह्न लगाती है। शोध को संख्या के नाम पर भले ही अभिवृद्धि का गौरव दे किन्तु गुणता के नाम पर अभाव ही दिखाई पड़ता है। कई ऐसे शोध प्रबन्ध हैं जिन्हें देखकर सहज ही में सशंकित हो जाना पड़ता है। श्री अगरचंद नाहटा ने भी इसी आशंका को उठाते हुए कहा है कि 'बहुत से शोध प्रबन्ध जिन पर डाक्टरेट मिल चुकी है, वे वास्तव में इसके योग्य थे, यह कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं कह सकेगा। उनका स्तर बहुत ही साधारण है, और कईयों में इतनी भूल भ्रांतियां हैं कि उनका संशोधन करना भी एक नया शोध कार्य हो जायेगा।'[२]

इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न यह भी आजकल उठ खड़ा हुआ है कि शोध प्रबन्धों में कहां तक अस्तेय वृत्ति की प्रमुखता है। शोध प्रबन्धों से जहां नई उपलब्धि, नई मान्यता की आशा की जाती है वहीं यदि उनमें अस्तेय वृत्ति के भी दर्शन हों तो उनके विषय में क्या सोचा जायेगा। शोध की दिशा में जो बाढ़ आई है, उसके कारण क्या हम अपने गिरहबान में भी न झांक कर देखें? देश के मान्य विश्वविद्यालयों में मान्य प्राध्यापकों और विद्वानों की देख-रेख में ऐसी अस्तेयवादी शोध प्रबन्ध तैयार हुए हैं, जिनकी ओर से बहुजन हिन्दी विद्वान समाज आँखें मूंदे बैठा है। वस्तुतः यह अस्तेय वृत्ति शोध के आगे प्रश्न-चिह्न लगाती है। सृजन के नाम पर हम कितनी सबलता से आगे बढ़े हैं? लगता है आपसी समझौते और आपसी मान प्रतिष्ठा के सम्बन्ध विद्वानों को इस ओर बढ़ने नहीं देते। आने-वाली पीढ़ी को ये अस्तेयवादी शोध-ग्रन्थ प्रामाणिकता के नाम पर कौन सी मनीषा का दिशा निर्देश कर सकेंगे? सद्-साहित्य की दिशा में जो कार्य होगा वही जीवंत, प्रतिष्ठित और उपादेय हो सकेगा।

शोध के माध्यम से, समीक्षा के स्वरूप में भी वही व्यक्तिवादी तथ्य जुड़ते चले गये हैं। जहाँ समीक्षा सद्-साहित्य की प्रवर्धना में अपनी सार्थकता रखती थी वहीं शोध भी नई उपलब्धि और तथ्यों से आस्था रखता था। अब वह भी व्यक्तिगत मूल्यों से प्रभावित होता जा रहा है। व्यक्ति विशेष के विचारों का पाद टिप्पणियों में अधिक से अधिक प्रयोग कर, उसके बाद विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा आचार्य को उसका समर्पण व्यक्तिनिष्ठा के अन्तर्गत ही हुआ करता है। यदि यह संभव न हुआ तो व्यक्ति विशेष के समूह के अन्तर्गत आने वाले विद्वान की अनुशंसा के अतिरिक्त परीक्षक भी देखा गया है कि वे भी समुदाय विशेष के होते हैं और आपसी अनुशंसा के लिए विद्यार्थियों से शोधप्रबन्धों के माध्यम एक दूसरे को प्रसन्न कर लिया करते हैं। इस तरह के शोध

२. हिन्दी अनुशीलन अंक—३-४ सन् ६२ पृष्ठ : ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध तथ्यों और उपलब्धियों के लिए नहीं लिखे जाते वरन् अनुशंसा, समर्पण और जीविका के लिए लिखे जाते हैं। नये ज्ञान की संभावनाओं को यही त्रिकोण ग्रस लेता है। हर विश्व-विद्यालय डाक्टरों के उत्पादन की संख्या को महत्त्व देता है, गुणता को महत्त्व देने वाले कितने आचार्य, विद्वान हिन्दी की कोख में शेष हैं ? सभी के निकट समुदाय की मर्यादा की प्रतिष्ठा के प्रश्न बने हुए हैं, घेरेबन्दी का आग्रह है। राजनीति का फरेब साहित्य में प्रतिष्ठित करवाया जा रहा है। उत्पादन की चिंता वाले आचार्य शोधप्रबन्ध को शीघ्राति-शीघ्र प्रस्तुत करने का आषिर्वचन बहुतायत से देते पाए और देखे जाते हैं। यही नहीं, इस उत्पादन प्रक्रिया में कई अनधिकृत [विषय] के आचार्य अपने अन्तर्गत विषय से अनभिज्ञ रहने पर भी निर्देशक और परीक्षक बनना स्वीकार कर लेते हैं। कदाचित् इसलिए कि उनके निकट स्पर्धा का मोह और समुदाय की प्रतिष्ठा का ही प्रश्न अधिक होता है। यही दशा रही तो कोई आश्चर्य नहीं होगा कि कुछ दिनों बाद डाक्टरेट प्राप्त करना होमयोपैथी की डिग्री प्राप्त करने की तरह आसान हो जाएगा। उत्पादन की अपेक्षा शोध के सही रूप को प्रतिष्ठित करना अधिक हितकर होगा। डा० हरदेव बाहरी ने कहा भी है कि "लोग पहले किसी एक विश्वविद्यालय में डाक्टर उत्पादन की भर्त्सना करते थे, आज वह.........फिर भी वे धन्य हैं कि जिस मार्ग पर वे कभी चले नहीं थे उसका दिग्दर्शन कराने लगे हैं। वे स्वयं तो डाक्टर नहीं थे, किन्तु उन्हें डाक्टरों के जनक बनने की धुन सवार हो गई। बाद में इस होड़ में दूसरे विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक आ मिले। आज उनके आवेदन पत्रों में बराबर रहता है, मैंने इतने डाक्टर पैदा किए'।[1] वस्तुतः इन डाक्टरों के उत्पादन की बीमारी में सागर, दिल्ली, इलाहाबाद, आगरा, बनारस-आदि विश्वविद्यालयों का विशेष योग रहा है और समर्पण अनुशंसा और जीविका के क्रम को शोध प्रबन्धों के माध्यम से पूरा किया जा रहा है। समुदाय के विद्वान व्यक्तियों की मान-प्रतिष्ठा के लिए इन प्रबन्धों का उपयोग किया जाता है। अस्तु, यह कहना अधिक उचित होगा कि शोध और समीक्षा के विकास में व्यक्तित्व की केन्द्रियता का आकर्षण कम नहीं है। नए ज्ञान की दिशाओं में अभी भी धुंधलका छिटका दिखाई पड़ता है जो प्रगति के क्षेत्र में गतिरोध बन गया है।

नई विचार धारा को लेकर लिखे गए काव्य को प्रारम्भ में प्रतिष्ठा नहीं मिलती रही है। उसे तो संघर्ष के सन्मुख चुनौतियों से जूझना पड़ा है। ये चुनौतियाँ अधिकांशतः विशिष्ट विचारधारा के कवियों के लिए हुआ करती थीं। उनके उपहास, निन्दा से सम्बन्धित समीक्षा उन्हें हतप्रभ करने के लिए सहायक हुआ करती थी। और अन्त में विचारधारा अपनी आन्तरिक दृष्टि और सांस्कृतिक आधार, सामाजिक आधार अथवा दर्शन के आधार पर जीवित रह जाती थी। निन्दा उपहास के दृष्टिकोण अपने आप झुठलाए जाते रहे हैं। विचारधारा में काव्य का सत्य और व्याप्ति का गुण हो तो जीवित रह जाती है। छायावाद को प्रारम्भ में इसी स्थिति का सामना करना पड़ा। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान समीक्षक उसे शैली से अधिक नहीं मान सके।[2] छायाभास [परिचय], छायानुकृति

१. हिन्दी अनुशीलन : अंक—३-४, सन् ६२।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ६६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे आरोप उसे सहने पड़े, किन्तु उस युग के कवियों ने उन आरोपों का सामना कर अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट किया और अपनी मान्यताओं को स्थापना की दिशा दी। कविवर निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि की कृतियों में इसी तथ्य को देखा जा सकता है। स्वतन्त्रता के पूर्व ही अपने वक्तव्य देकर अपनी बात को स्पष्ट करने का आग्रह दिखाई पड़ता है जो भूमिकाओं और स्पष्ट लेखों में पाया जाता है। यही परम्परा प्रगतिवाद के समय में भी आरम्भ हुई। प्रगतिवादी विचारधारा की कविताओं को मार्क्स और एंजल्स के प्रभावों में देखने की बात अक्सर सामने आई। नारे और प्रचार तथा संकीर्णता के अभियोग सहने पड़े।[1] किन्तु उसके विषय में जो बाद को नये तथ्य आए उनमें शोषण और शासन के सही रूप भी दिखाये गये। सामाजिकता को जीवन के सही यथार्थ में देखने की दृष्टि दी गई। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान, डा० नामवरसिंह आदि ने उसके विषय में सामग्री प्रस्तुत कर भ्रांतियों का निवारण किया। छायावाद, प्रगतिवाद के संघर्ष, स्थापन और स्वीकृति के अनन्तर प्रयोगवाद के चिह्न क्षितिज पर उभरने लगे थे जिन्हें परम्परागत रूप से आलोचकों, आचार्यों ने अपनी कुपित दृष्टि का लक्ष्य बनाया। हर नये विचार और दृष्टि के आगमन पर हो-हल्ला जैसे अवश्यम्भावी हुआ करता है। और हुआ भी वही। जो परम्परा स्वतंत्रता के पूर्व थी, वह बाद में भी दिखाई दी, उसका उन्मूलन नहीं हो सका, पूर्वाग्रह समाप्त नहीं हो पाये थे। यही कारण है कि प्रयोगवादी कविता का नई कविता तक आते-आते कई तरह से खंडन-मंडन होता रहा।

इस पंथ के अन्वेषक श्री अज्ञेय को इस विषय में स्पष्ट भी करना पड़ा, "तो प्रयोग अपने आपमें इष्ट नहीं है, वह साधन है। और दोहरा साधन। क्योंकि एक तो वह सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया और उसके साधनों को जानने का भी साधन है।"[2] प्रयोगवादी विचारधारा को शनैः-शनैः स्थायित्व मिलने लगा, भले ही उनके बौद्धिक आतंक के कारण या प्रतिभा के कारण रहा हो, यद्यपि उसमें खोटी प्रतिभाओं का अभाव नहीं है। इस विचारधारा की स्थापना में निकष, प्रतीक, संकेत जैसे पत्र ही नहीं अपितु कुछ समीक्षात्मक पुस्तकें भी आईं। श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की 'नयी कविता के प्रतिमान' उसके अन्तर-बाह्य के पक्षों को अच्छी तरह स्पष्ट करती है। श्री स्व० मुक्तिबोध की पुस्तक 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध' जैसी कृतियाँ उसके अन्तर्मन्थन को प्रकट करती हैं। नई कविताओं को लेकर निकलने वाले संकलन प्रथम तार-सप्तक से लगाकर संक्रांत तक सभी में लगभग भूमिकाएँ हैं जिसमें इस विचारधारा की प्रतिष्ठापना का आग्रह है। डा० धर्मवीर भारती, वीरेन्द्र कुमार जैन, डा० जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर दयाल, शमशेरबहादुर सिंह, डा० प्रभाकर माचवे आदि ने अपने लेखों और भूमिकाओं से नई कविता की विचारधारा को स्थापित करने में अच्छा योग दिया है। नई विचारधारा में नया शब्द-संस्कार उसके महत्व को बढ़ाता है। श्री अज्ञेय ने कहा भी है कि "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया संस्कार

१. हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष : श्री शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ : २१६-२१७।
२. दूसरा सप्तक : भूमिका—श्री अज्ञेय, पृष्ठ : ७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है।"[1] अस्तु, प्रयोगवादी कविता समीक्षा के वत्याचक्रों से कालांतर में स्थिरता की ओर उन्मुख हुई। इसे भी वह सब कुछ सहना पड़ा जो छायावाद अथवा प्रगतिवाद के पुरस्कर्ताओं और समर्थकों को सहना पड़ा था। नवीनता की चकाचौंध में अंधकारजीवी अचम्भित हो जाते हैं और उसी के प्रभाव में पूर्वग्रहों से ग्रस्त अपनी मान्यताओं को सामने लाने लगते हैं, जो कदाचित समीक्षा के स्वस्थ प्रतिमानों के लिए हितकर नहीं है।

प्रयोगवाद के साथ ही नकेनवाद भी प्रचलित हुआ, किन्तु नलिन विलोचन शर्मा, केसरीकुमार, नरेश द्वारा प्रवर्तित यह आन्दोलन अधिक विकसित नहीं हो सका। प्रपद्यवाद की भूमिका में 'पस्पशा' में इस काव्यांदोलन का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है। इनकी कविताओं में वयस्कता का आग्रह अधिक है। 'पस्पशा' में कहा भी गया है कि "हिन्दी कविता को अपने में वयस्क बुद्धि लानी होगी और तभी वह युग की मेधा को अपने प्रति खींच सकती है। उसे अपने पुराने हृद्रोग से मुक्त होना होगा।"[2] नकेनवाद वस्तुतः अपने में सीमित हो गया, बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि वह अकेला हो गया, उसकी अभिवृद्धि में उतनी भूमिकाएँ, लेख और पुस्तकीय समीक्षाएँ नहीं मिल सकीं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि समीक्षाओं ने स्वतन्त्रता के बाद भूमिकाओं में, स्फुट लेखों में और कतिपय पुस्तकों में भी विकास पाया है। यद्यपि काव्यालोचन के लिए जो कार्य हुआ उससे अनहित नहीं हुआ और परम्पराओं का विकास एक स्वस्थ रूप में होता रहा। अपने मतवादन और अपनी दृष्टियों के प्रवर्तन में विभिन्न वादों के मध्य से समीक्षा ने अपना पंथ बनाया। जो उसकी सशक्त उपलब्धि है। नयी धाराओं को पुष्ट करने में इस तरह की समीक्षा-पद्धति ने नयी प्रतिभाओं और नये प्रतिमानों को भी जन्मा है।

व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर समीक्षा में नयी पद्धति का प्रचलन हुआ है। इससे व्यक्तिगत महत्व के आधार पर उसके कृतित्व को आँका जाता है। कृतित्व के माध्यम से व्यक्तित्व को नहीं। कदाचित् इसलिए कि व्यक्तित्व के प्रभाव आज अधिक श्रेष्ठता रखते हैं। कृतित्व जैसे अधम हो गया है। देखा गया है कि आदमी देखकर उस पर लिखा जाता है। पद, पैसा और प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसका मूल्यांकन करना मित्रालोचन की सिद्धि है। कृतित्व की अधमता को व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा ढंक लेती है। और इस ढंकने की विधा में २६ वर्षी कवि-समीक्षकों से लगाकर ७० वर्षी वृद्ध राष्ट्रकवि तक ने भाग लिया है। अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि समीक्षा में व्यक्तिगत मूल्यों की प्रतिष्ठापना में जो लिखा जा रहा है वह सब पारस्परिक हितों की रक्षा के लिए है। जो कहीं न कहीं सम्बन्ध रखते हैं और उनका निर्वाह करने के लिए लिखना आवश्यक हो जाता है। 'कल्पना में उर्वशी पर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय की सशक्त समीक्षा प्रकाशित हुई, उसमें उर्वशी के दुर्बल पक्ष दर्शाए गए थे। इसके बाद पता नहीं किस आतंक से 'कल्पना' सम्पादक ने उसकी मान-रक्षा में 'उर्वशी' अंक निकाल दिया। जिसमें युवक कवि-समीक्षक से राष्ट्रकवि तक को भाग लेना पड़ा। यही नहीं 'संस्कृति के चार अध्याय' पर भी बहुत कुछ लिखा गया। 'उसमें कृतित्व का' स्थान गौण था और व्यक्तित्व का आतंक अधिक था।

---

१. तीसरा सप्तक : भूमिका : श्री अज्ञेय; पृष्ठ : १४
२. हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) पृष्ठ ५२१-५२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सावित्री सिन्हा की 'युग-चारण दिनकर' में भी कृतित्व गौण है।

इसी तरह परिचित कवि-समीक्षकों ने एक-दूसरे पर श्रेष्ठ कवियों की मान्यता के संदर्भ में सीरीज़ तक निकाल डाली। अभी 'रससिद्धान्त' पर चर्चा चालू है, किन्तु उसका सही मूल्यांकन पं० विद्यानिवास मिश्र के अतिरिक्त किसी ने नहीं किया। प्रकाशन समारोह में तो उसे बिना पढ़े ही आचार्यों ने प्रशस्तियों से विभूषित कर दिया। वस्तुतः ये प्रकाशन समारोह व्यक्तित्वों के प्रकाशन के आपसी मिलन-स्थल होते हैं। जहाँ एक-दूसरे की प्रशंसाओं के माध्यम से विद्वान कहलाने की भूख मिटाई जाती है। पुस्तक-परिचय के स्तम्भ में देखा गया है कि बिना पढ़े ही पुस्तकों की समीक्षाएँ कर दी जाती हैं क्योंकि उसमें लेखक के व्यक्तिगत प्रभावों का अधिक ध्यान रखा जाता है, पुस्तक के आलेखन से कुछ भी नहीं। साफ बात वही कह-लिख सकता है जो उसे पढ़ता है और अपनी अध्ययनशील प्रवृत्ति के आधार पर उसका संतुलन कर सकता है। व्यक्तिगत प्रभाव आज के समीक्षक की निर्भीकता को ग्रसे हुए है। स्वस्थ मूल्यांकन दब गया है। एक समय था जब कवियों को समीक्षक बनकर (छायावाद, प्रयोगवाद के कवि) दोहरा दायित्व सम्हालना पड़ता था। तब वे सही मूल्यांकन के लिए कृतित्व का अध्ययन किया करते थे और समीक्षा को स्तर प्रदान किया करते थे परन्तु आज समीक्षक व्यक्तित्व की रक्षा, प्रतिष्ठा और अभिवृद्धि के लिए लिखता है और अपने सम्बन्धों के सेतुओं को स्थिर बनाना चाहता है। उसके निकट समीक्षादर्श गौण हैं, व्यक्तित्व के आदर्श प्रमुखता रखते हैं। व्यक्तिगत प्रभावों को लेकर लिखी जाने वाली समीक्षाएँ अधिकतर दलबन्दी का शिकार होती हैं जो मित्रालोचन का अपना अंग हुआ करती हैं। पत्र-पत्रिकाओं में चर्चाओं के माध्यम से जो विज्ञापन करवाया जाता है, वह व्यक्तित्व के प्रसरण और प्रकाशक के हितवर्धन में ही अधिक उपयोगी होता है। समीक्षा की प्रतिष्ठा तब तक सही रूप में नहीं बढ़ती जब तक उसे व्यक्तित्व के प्रभावों से मुक्त न किया जाय। स्वतन्त्र, चिन्तनप्रद, मौलिक दृष्टिकोण ही उसके उत्कर्ष में सहायक हो सकेंगे।

समीक्षादर्शों की जगह व्यक्तित्वों के प्रश्न अधिक आधार बनते जा रहे हैं जिससे स्वस्थ समीक्षा का उत्कर्ष नहीं हो पा रहा। चाहे वह समीक्षा पुस्तक-परिचय के अन्तर्गत लिखी गई हो अथवा शोध-प्रबन्ध की उपलब्धि हो, उसमें स्तर और मर्यादा का ह्रास दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त नए ग्रन्थों के प्रणयन में एक ओर व्यावसायिकता का दबाव है, जिससे प्रकाशन का क्षेत्र व्यापक हुआ है किन्तु उसमें स्वस्थता का गुण परिणामतः न्यून है। इस न्यूनता का संदर्भ हमें और कहीं नहीं विश्वविद्यालयों की माँग और माँग की खपत के अन्तर्गत दिख जाता है। साहित्य और समीक्षा की अभिवृद्धि के लिए जहाँ एक-दूसरे के चिन्तन-मनन को स्वीकरण मिलना चाहिए था, वहाँ अब स्वीकरण की जगह द्वेष और घृणा मिल रही है। समीक्षा इस आधार पर कितनी स्वस्थता पा सकती है ? स्वतन्त्रता के पूर्व और पश्चात् हमारे दृष्टिकोणों और विश्वासों में एक अन्तर दिखाई पड़ता है। श्री शिवदान सिंह चौहान के शब्दों में यहाँ कहना अधिक उचित होगा। उन्होंने कहा है कि "साहित्य के स्वस्थ विकास के लिए पारस्परिक सम्पर्क, आदान-प्रदान और विचार-संघर्ष को आवश्यक समझते थे। यह किसी काल्पनिक 'स्वर्ण युग' की बात नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजादी के पहले की बात है। तब यह सामान्य स्थिति थी। यद्यपि उस ज़माने में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादा, यथार्थवादी और रूपवादी विचारधाराओं की टक्कर कटुता और तीक्ष्णता में किसी क़दर कम नहीं थी। गिरोहबन्दियाँ भी उन दिनों कम नहीं थीं, फिर भी इतनी असहिष्णुता नहीं थी कि वार्तालाप ही बन्द कर दिया जाय और मतभेदों की अभिव्यक्ति या तो मौन उपेक्षा द्वारा की जाय या दूर से केवल पत्र-पत्रिकाओं में अपने विरोधियों पर आवेश-भरे आरोपों और लांछनों की बौछार करके।"[1] अस्तु यह स्पष्ट है कि आजादी के बाद हिन्दी समीक्षा में गतिरोध, दलबन्दी, संकीर्णताएँ, प्रचारात्मकता आई, जिससे स्वस्थ समीक्षा की भूमि में काफी कटाव आ गया है। उर्वरता का अभियान पारस्परिक समझौतों के कारण दुर्बल हो गया। स्वस्थ समीक्षा का सामना करने का साहस हम में घट गया है। लेखक और समीक्षक के बीच काफी दूरी आ गई है। इस दूरी को चिन्तन और अनुभूति से भरने की जगह द्वेष, घृणा, उपेक्षा के विष से व्यक्तिगत आधारों पर भरा जाता है जो सद्-साहित्य की लक्ष्य पूर्ति न कर महज स्वार्थों की ही पूर्ति करता रहा है। वस्तुतः चाहिए यह था कि दोनों के बीच [लेखक और समीक्षक] पारस्परिक समझ हो, व्यक्ति की अपेक्षा कृति का अधिक मूल्य हो, तभी वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कथ्य सामने ला सकेगा। श्री शिवदान सिंह चौहान की बात यहाँ उपयुक्त लगती है। उन्होंने कहा है कि "आलोचक यह स्वीकार करके चले कि लेखकों को अपने अनुभव और Vision के अनुसार लिखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए और लेखक भी यह स्वीकार करके चले कि आलोचक को भी अपने चिंतन मनन, और अनुभव की रोशनी में उसकी कृति की आलोचना करने की पूरी स्वतन्त्रता है।"[2] चिंतन और मनन की जगह व्यक्तिगत स्वार्थों की उपेक्षा आवश्यक हो गई है। सही अर्थों में मूल्यांकन करने से ही समीक्षा की प्रतिष्ठा बढ़ेगी, नहीं तो सम्मान-रक्षा की भावना में गुटबन्दियाँ ही अधिक मजबूत होंगी और सही प्रतिभा का ह्रास होगा, जो समीक्षा के लिए अशुभ लक्षण है।

हम 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीय' को मानने के अधिक पक्षपाती थे। कदाचित् इसलिए कि इसमें व्यक्ति-चिंतन को प्राधान्य मिल जाया करता था, और हम उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाते थे। बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि हम अपनी मान्यताओं को रखने और प्रकट करने में दुविधा के शिकार हो जाया करते थे। परिणामतः समीक्षा की स्वस्थ परम्परा व्यक्तित्व के प्रभाव के आगे अपने को विकसित नहीं कर पाती थी, अहोम् ध्वनि···अहोम् रूपम्···का स्वर प्रबल हो उठता। हिन्दी की समीक्षा में इस गुण का अभाव नहीं है। पहले तो कवियों ने समीक्षा और काव्य का दुहरा दायित्व सम्हाला और आज उन्हीं शेष होते चिह्नों को कतिपय कहानीकारों ने भी अपना लिया है जिसके माध्यम से वे जीना चाहते हैं। समीक्षा में यह गुण अधिक दिखाई पड़ रहा है। स्व० नलिनविलोचन शर्मा ने कहा है कि "वास्तविकता यह है कि आज हिन्दी आलोचना में 'जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः' और 'जीवितकवेराशंसा कार्या' इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का पालन कुछ अपवादों को छोड़कर [ऐसे अपवादों में साम्यवादी आलोचकों को नहीं रखा जा सकता,

१. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ १।
२. 'आलोचना' : अंक २८, अक्टूबर सन् ६३, पृष्ठ-११४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माचवे, केसरी, नरेश, शिवचन्द्र उल्लेख्य हैं] किया जा रहा है और दोनों में अन्तर कुछ विशेष नहीं है।''[१] सामाजिकता के पार्श्व में भले ही मार्क्सवादी समीक्षा पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर व्यक्ति के रूपों को देखे और मूल्यांकन करे, वह उसके अन्तर्गत अभीष्ट है, किन्तु व्यक्ति की अहोम् ध्वनि वाली स्थिति में उसका अनुसरण और आकलन उपादेय नहीं है। डा० इन्द्रनाथ मदान ने व्यक्ति-चिंतन के साथ समाज के मंगल की भावना को स्वीकार करते हुए कहा और देखा है। उन्होंने कहा है कि ''इस समय हिन्दी आलोचना में व्यक्ति-चिंतन तथा समाज-मंगल के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। साहित्य के वस्तु-पक्ष तथा शिल्प-पक्ष में एक अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी उनका विवेचन और मूल्यांकन विभिन्न जीवन-दृष्टियों से हो रहा है।''[२]

हिन्दी समीक्षा में ऐसी बात नहीं कि साहस के साथ कह सकने की स्थिति नहीं आई हो, उसका भी प्रारम्भ हो गया है। 'उर्वशी' पर सशक्त समीक्षा हो चुकी है। उसी के साथ अन्यान्य विषयों पर भी काम हो रहा है। इस तरह का कार्य हिन्दी समीक्षा के गौरव को बढ़ा सकेगा। डा० रामकुमार वर्मा की 'साहित्य समालोचना' आज से कई वर्ष पहले संवत् १९८७ में प्रकाशित हुई थी जिस पर कार्य करके डा० इन्द्रकान्त शुक्ल ने सिद्ध करदिया है कि वह 'अनुवाद का अश्वमेध' है जो अँग्रेजी की पुस्तक 'रेडीमेंट्स ऑफ क्रिटिसिज़्म' का रूपान्तर मात्र है। इसी तरह मैथिलीशरण गुप्त पर निकली एक थीसिस को भी एक विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया है। ऐसा कृतित्व ही हिन्दी समीक्षा को सम्मानित करता रहा तो उसका भविष्य अन्धकारमय हो उठेगा। यह प्रवृत्ति छायाभास के अन्तर्गत स्वीकारी जा सकेगी अथवा जुडवालेखन के अन्तर्गत या शोध के लिए पुनर्लेखन के अन्तर्गत। इस दिशा में सत्य के उद्घाटन की नितान्त आवश्यकता है।

---

१. आलोचना, अंक १, अक्टूबर ५३।

२. आलोचना तथा काव्य : डा० इन्द्रनाथ मदान, पृष्ठ ६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० माहेश्वरी

सातवाँ दशक : कविता की दिशा

सातवें दशक पूर्वार्द्ध की हिन्दी कविता एक नई दिशा की ओर बढ़ चली है। 'तार-सप्तक' के प्रकाशन से आज तक लिखी जाने वाली कविता, जिसे प्रयोगवादी (अज्ञेय आदि के बार-बार अस्वीकारने के बावजूद) या नई कविता कहा जाता है, वस्तुत: केवल प्रयोगशील कविता है। 'वाद' शब्द स्वयं में किसी सिद्धान्त या मतवाद का द्योतक है, किन्तु स्पष्टत: इन कवियों के पास कोई सिद्धान्त, कोई वाद या कोई दर्शन नहीं है।

छायावादी कविता की रहस्य-रोमांच शैली वाली बुर्जुआ रोमांटिकता को तोड़ने की आवश्यकता के रूप में प्रयोगशील-कविता सामने आई। यों, कहा जाता है कि 'टेकनिक के जितने प्रयोग इन कवियों ने किए सब उनके पूर्व ही, निराला कर चुके थे (नामवर—आधुनिक आलोचना—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता)। यह बात सौ फ़ी सदी सही नहीं मानी जा सकती। निराला जी ने तुकों को भले तोड़ा, पर उनकी कविता में लय या संगीत बना रहा। प्रयोगशील कवियों ने फार्म को पूरी तरह तोड़ा और उससे भी आगे बढ़े। एक प्रकार से नई कविता कथ्य, फार्म, संगीत, ध्वनि तथा बिम्बों की भी अवहेलना के प्रयोग करती रही है। यह वर्जनात्मकता या रूप-निषेध यहाँ तक बढ़ जाता है कि कविता, ताजी-कविता और एब्सर्ड-कविता नाम से जो कई कवितायें लिखी जाने लगी हैं उनमें से कुछ शब्द, अर्थ, ध्वनि, बिम्ब, मूर्त-अमूर्त कुछ भी परिलक्षित नहीं होता। यह अमूर्तता तथा एब्सर्डिटी कृत्रिम तथा अस्वाभाविक है अतएव ये रचनायें पूर्णत: असंवेद्य हो उठती हैं। मुद्राराक्षस की एब्सर्ड कविता की कुछ पंक्तियाँ इस चरम अमूर्तता या रूप-रस-गंध-स्पर्शहीनता का परिचय देती हैं।

'विबोध'
प्रतीतात्म्य
अन्त्य
वीयायन
लोनक्र
क्र—— (उत्कर्ष नववर्षांक ६६)

इस या ऐसी कविताओं के विषय में उनका वक्तव्य भी मनोरंजक है——'लोग अब तक ऐसी कृतियों के आदी रहे हैं, जो, कहीं-न-कहीं उनके अनुभव या संकल्प में आये हुए तत्व-जगत् की-प्रतिकृति लगें। ऐसी कृतियाँ या संरचनायें क्यों नहीं हो सकतीं जो इनसे बाहर की हों ? और एक बात और। समझ में आने का मतलब किसी ने सोचा है ? समझ,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासमझी की एक मात्रा के अलावा कुछ नहीं ?' (वही)

मुद्राराक्षस की ये कवितायें, ये वक्तव्य स्वयं उनके अनुसार एब्सर्ड हैं। फिर कोई एब्सर्ड बात पर एतराज़ क्यों करे ? ठीक ही है, नयी कविता का एक बड़ा वर्ग जहाँ पहुँच गया है उसको ईमानदारी से अपने को एब्सर्ड---या बकवास करने वाला मान लेना चाहिए। धीरे-धीरे प्रयोगशील कविता प्रयोगमयता और फिर अमूर्तता की ओर बढ़ी है। अमूर्तता के आगे उसको एब्सर्ड अर्थात् बेहूदा, हास्यास्पद, ऊलजलूल (नालन्दा शब्दकोश के अनुसार) होना ही पड़ेगा।

प्रयोगशील कविता को जन्म देने वाली पृष्ठभूमि प्रगतिवादी विचारधारा से सम्पृक्त थी। प्रगतिवादी विचारधारा को जन्म देने वाली प्रवृत्ति '३६ के आस-पास हिन्दी कविता में आयी। रूस में मार्क्सवाद पर आधारित समाजवादी सरकार की स्थापना और प्रतिगामी शक्तियों पर उसकी जीत ने '३० और '३६ के बीच सारे विश्व के बुद्धिजीवी एवं श्रमजीवी वर्ग को अनुप्राणित किया। समाजवादी चेतना की यह लहर भारत में भी आई। भारत का बुद्धिजीवी उस समय गांधी-दर्शन के चमत्कार में फँसा हुआ था। देश का नेतृत्व सेठाश्रयी राजनीतिक दलों के हाथों में था और वे पूँजी के प्रति समाजवादी खतरे से वाकिफ़ थे। फिर भी लाहौर में कांग्रेस ने समाजवाद का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। आज भी (असली या नकली) कांग्रेस समाजवाद को ही अपना लक्ष्य मानती है।

इस प्रभाव को हिन्दी में प्रगतिवादी दौर कहते हैं। यह दौर बड़ा तूफ़ानी था। न जाने कितने छायावादी कवि रातों-रात लाल झंडे और मज़दूर-किसानों के पृष्ठपोषक तथा समर्थक बन गये। किन्तु इन सभी कवियों के संस्कार एकदम भिन्न थे, उनकी चेतना मार्क्सवादी विचारधारा और चिन्तनपद्धति को पचा नहीं पायी थी। फलस्वरूप शीघ्र ही ये सभी कवि नारेबाज़ी की समरसता और सस्तेपन से ऊब गये। कुछ लोग समझते हैं--- 'तारसप्तक' या प्रयोगवादी कविता, प्रगतिवादी कठमुल्लापन के विरुद्ध एक विद्रोह थी (भारत भूषण—आधुनिक कविता—भाषण-अवन्तिका, कलकत्ता), किन्तु ऐसे लोग भूल जाते हैं कि 'तार सप्तक' के सात में से छः कवि मार्क्सवादी विचारधारा से कमोबेश प्रभावित थे। मुक्तिबोध (पूँजीवादी समाज के प्रति) नेमिचन्द्र जैन (कवि गाता है), भारत-भूषण (जागते रहो) माचवे (निम्नमध्यवर्ग), रामविलास शर्मा (विश्व-शान्ति) और अज्ञेय (जनाह्वान) की कवितायें सीधे मार्क्सवादी विचारों की मिट्टी से बनी दीख पड़ती हैं। किन्तु यह कहना है कि 'प्रयोगवाद का जन्म प्रगतिवाद की कुक्षि से हुआ है (जगदीश गुप्त-आलोचना-२६ पृष्ठ ८५) भ्रमपूर्ण है, क्योंकि मूलतः ये कवि मार्क्सवादी सिद्ध नहीं होते और बाद में आने वाली---इनमें से अधिकांश कवियों की रचनायें मानववादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोणों के बीच किसी धुंधले बिन्दु पर कांपती रहती हैं। नई कविता का संघर्ष अपनी पूर्ववर्ती कविता से प्रायः नहीं के बराबर है, क्योंकि उसका प्रारम्भ ही ऐसी रिक्तता से हुआ है, जो पूर्ववर्ती कविता छोड़ गयी थी।' (विद्यानिवास—'अज्ञेय'—भूमिका, पृष्ठ २३)।

प्रयोगशील कविता वस्तुतः छायावादी अतिभावुकता, रोमांटिकता तथा अध्यात्मपरकता के विरुद्ध जन्मती है। प्रगतिवादी कविता का जो दौर उस समय आया वह नकली नारेबाज़ी और लालसेना तथा क्रान्ति के गुणगान तक सीमित था। यह प्रभाव 'तार सप्तक'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक बना रहा। किन्तु 'दूसरा सप्तक' तक अधिकांश कवि इस नकली कविता से ऊबकर धीरे-धीरे स्वच्छन्द प्रवृत्ति अपनाने लगे थे। उनकी दृष्टियाँ गांधीवादी और मार्क्सवाद के संघात से उत्पन्न खींचातानी में लक्ष्य-भ्रष्ट हो गई थीं। 'दूसरा सप्तक' के एक कवि की स्वीकारोक्ति है कि कि 'मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता······जागरूक रहकर दृष्टिकोण बनाना होगा।' (रघुवीर सहाय) सचमुच प्रगतिवादियों ने शब्दों पर मार्क्सवाद की केवल गिलाफ चढ़ाई थी। उनका जीवन-दर्शन न जीवन से मिला था न दर्शन से।

प्रयोगवादी (प्रयोगशील) कविता पर एक प्रयोगवादी कवि का वक्तव्य काफी साफ़ और शायद सच के बहुत पास है। 'उनकी भाषा और कला ऊबड़-खाबड़ है। उनके कलात्मक संस्कार अच्छे स्तर के नहीं हैं। उनमें चतुराई और कौशल है। धोखा आमतौर पर नहीं है, मगर नातजर्बेकारी है कला की, पद की (यानी शेर की)।' (संभवत: शमशेर ने कविता के नवीनतम रूपों—अकविता, एब्सर्ड कविता, लिंग्वातलमानवाद आदि को निगाह में रखकर यह बात नहीं कही थी। इन प्रवृत्तियों को देखने के बाद शमशेर की इस पंक्ति को मैं यों सुधारना चाहूँगा—आमतौर पर धोखा है, सरासर धोखा है) सबसे बुरी बात है कि उनका दिमाग़ आसमान पर है और उन दिमाग़ों में अक्सर सिर्फ हवा है। उलझन और हवाई उलझन। इसका कारण एक यह भी है कि उनमें आधे से ज़्यादा राजनीति की थ्योरी से ज़्यादा बेचैन हैं, ज़िन्दगी के मसलों से उतना नहीं; उनके ग्रुप और गुट हैं और कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति के अधीन हैं। दूसरी तरफ विरोधी तबकों में इसी की प्रतिक्रिया है। कविता के नाम पर भावुकता है, जिसे बीसियों तथाकथित आधुनिक तरीकों से छिपाया गया है। दो-तीन कवि इस जुमले में गम्भीर हैं और कला में वाकई संघर्ष कर रहे हैं। उनमें एक अज्ञेय दूसरा मुक्तिबोध और तीसरा त्रिलोचन। बाकी मैं हूँ या कोई और, सब लेबॉरेटरी में शोध-सा कर रहे हैं—र्‌हेटरिक के घालमेल से सच्ची भाषा को, अपनी-अपनी बिसात के अनुसार शायद अलगा रहे हैं और रास्ता खोज रहे हैं, मगर (लगता है) किसी कदर मजबूरी से और इसीलिए कुछ लापरवाही के साथ। नतीजा ज़ाहिर है।' (शमशेर) इस वक्तव्य से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जैसे—

एक : कि प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) अभी लेबॉरेटरी में ही है और यही उसकी नियति है।

दो : कि इन कवियों की कविता, कला, अनुभूति सब ग्रुप और राजनीति की सीमा में बाँधकर लिखा जाता है।

तीन : कि प्रयोगशील कविता की तीन उपलब्धियाँ हैं—अज्ञेय, मुक्तिबोध और त्रिलोचन।

त्रिलोचन की कृतियाँ बहुत उभरकर सामने नहींआई हैं। किन्तु अज्ञेय और मुक्तिबोध को हम यदि अपनी दृष्टि में रखकर देखें तो एक बात साफ़-साफ़ सामने आती है कि इन दोनों की कविदृष्टि की परिणति में दो ध्रुवों की दूरी है। मुक्तिबोध एक ओर जहाँ मार्क्सवादी-समाजदर्शन केवल से प्रभावित ही नहीं हैं, अपितु भयंकर पूंजीवादी यंत्रणा को भोगकर उसके बीच से उभरती हुई वितृष्णाओं और असंगतियों पर तेज़ी से प्रहार करते हैं, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर अज्ञेय पूंजीवादी प्रतिक्रिया के व्यक्तिपरक यथार्थ और उलझे हुए व्यक्तिनिष्ठ जीवन-मूल्यों को अपनी कविता का आधार बनाते हैं।

प्रयोगशील कविता के इस अन्तर्द्वन्द्व के पीछे मूलभूत राजनैतिक-सामाजिक कारण हैं। स्वतंत्रता के पूर्व से ही हमारे देश का नेतृत्व पूंजीपतियों द्वारा समर्थित बुर्जुआ के हाथ में रहा है। फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में धीरे-धीरे शोषण की जड़ें गहराती गई हैं और आज यह स्थिति आ पहुँची है कि खुद सरकार, जो समाजवाद का नारा देती है, पूंजी के हाथों में खिलौना बन रही है। इस स्थिति ने बहुत शीघ्र जनता का मोहभंग किया और शीघ्र ही सभी की दृष्टि में यह बात साफ़ हो गई है कि हम भीतर-बाहर दोनों ओर पूंजीपतियों पर आश्रित हैं। यह आश्रय देशी पूंजी के माध्यम से विदेशी पूंजी द्वारा हमें मिल रहा है। यह भी तभी तक जब तक देश में पूंजी रक्षित है। हमारा भोजन और प्रतिरक्षा आज पूर्णतया दूसरों पर आश्रित है। पी. एल. ४८० के जहाज न आयें तो भोजन नहीं मिल सकता। और कोई समर्थ देश यदि आक्रमण करे तो हमें सामरिक उपादानों के लिए भी उन्हीं का मुंह जोहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक असमानता ने भ्रष्टाचार, जातिवाद, साम्प्रदायिकता आदि अनेक रोगों को जन्म दिया है।

इस सामाजिक यथार्थ को समाजवादी दर्शन के संदर्भ में देखने वाली और पूंजीवादी शोषण की समस्त यंत्रणा, त्रास और अमानुषिकता की अनुभूति तथा भोग के साझीदार की हैसियत से वेनक़ाब करने वाली मुक्तिबोध की कविता है। इसके विपरीत नई कविता वालों ने "जीवन के बिलकुल सामयिक गुण-अवगुणों को आधुनिकता के मूल्यों के रूप में मानकर मानव-विकास की सांस्कृतिक परम्परा की सभी कलात्मक उपलब्धियों को झाड़मार ढंग से तिरस्कारना शुरू किया है। मानव-परम्परा की कलात्मक उपलब्धियों को नया कवि अपने आधुनिकतम स्वभाव (यदि वे आधुनिकता और सामयिकता के भेद को अपनी रचना में स्पष्ट रूप से समझ सके हैं तो) के कारण आत्मसात् न कर सके तो यह उनकी मजबूरी है लेकिन उनको तिरस्कृत करने की आदत डालना एक मनोवैज्ञानिक रोग भी तो हो सकता है। और यह रोगग्रस्त आधुनिकता कम-से-कम आधुनिक मूल्य नहीं बन सकती। इसलिए मानव-मूल्यों के सन्दर्भ में ऐसी विपरीत गति मानव-विरोधी हो जाती है।' (गोपालकृष्ण कौल, आलोचना-२६, पृष्ठ ९६)

नई कविता के 'विपरीत गतिवादियों' के विपरीत आज का नवप्रगतिवादी कवि समाजवादी यथार्थ को चित्रित करता हुआ एक ओर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की असंगतियों और कुत्साओं की नंगी तस्वीर उतारता है तो दूसरी ओर उसके विनाश के लिए संघर्षशील शक्तियों के संघात से निरन्तर पुष्ट होते हुए प्रगतिशील सामाजिक यथार्थ के विकास को स्वर देता है। प्रयोगशील कवियों का सबसे प्रमुख स्वर अज्ञेय और नव-प्रगतिवादियों का मुक्तिबोध है।

इन स्वरों के मूल अन्तर को विवेचित किया जाय इसके पूर्व ही कुछ अन्य प्रवृत्तियों की चर्चा कर लेना ठीक होगा। वैसे इस चर्चा का केवल प्रासंगिक महत्व होगा, क्योंकि हम जिन प्रवृत्तियों की चर्चा करने जा रहे हैं वे अभी भी साफ उभर कर सामने नहीं आ सकी हैं। वैसे भविष्य में भी उनके उभर आने की कोई संभावना नहीं दीख पड़ती क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे केवल किन्हीं शिल्पगत प्रयोगों या प्रयोजनों को अतिरिक्त महत्व देकर नई काव्य-प्रणालियाँ निर्मित कर देने का प्रयास करती हैं। ऐसी प्रवृत्तियों की सार्थकता केवल इस तथ्य में है कि ये ऊपर कही गई दो प्रमुख काव्य-धाराओं में से निकली हुई या उनमें से किसी एक में मिलती हुई प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं, मूढ़ताओं और अन्य कारणों से जन्मती हैं।

इन प्रवृत्तियों में अकविता, ताज़ा कविता या आज की कविता के आन्दोलन, लिंग्वातलमोतवाद,अन्यथावाद, एब्सर्ड कविता, युयुत्सावाद आदि का नाम लिया जा सकता है। मूढ़ताओं के उदाहरण अन्यथावाद, लिंग्वातलमोतवाद महत्वाकांक्षाओं के युयुत्सावाद या एब्सर्ड कविता और साहित्यिक गुटबाज़ी के नवगीत आदि नामों से प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों के पीछे कोई ठोस आधार मान्यता या दृष्टि नहीं है। वस्तुतः ये सारी रचनायें शिल्प के अतिवादी प्रयोग-भर हैं जो अक्सर 'एब्सर्डिटी' को भी मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करती हैं। उन सारी अस्थापित अथवा विस्थापित स्थापनाओं में से केवल युयुत्सावाद है जो प्रगतिवादी आन्दोलन से यदि अपने को जोड़ सके तो उसको अर्थ मिल सकता है अन्यथा अन्य बेपैंदी के आन्दोलनों की तरह इसकी प्रगति भी घोषणा तक ही सीमित रह जायगी। यों तो युयुत्सा शब्द हिन्दी कविता के लिए एकदम नया नहीं है। प्रयोगवादी कवियों ने आरम्भ में 'युयुत्साभाव' और 'प्रतिरोध' का नारा दिया था किन्तु प्रयोगशील कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ उसे कहाँ ले गईं, यह अज्ञेय की आधुनिकतम कृति 'सुनहरे शैवाल' की आलोचना सिद्ध करती है। अगर ये कविताएँ अज्ञेय की प्रतिनिधि कवितायें हैं तो उन्हें नव-छायावाद के प्रवर्तक कहना ही अधिक समीचीन लगता है।' (रवीन्द्र कालिया, धर्मयुग, २४ अप्रैल, पृष्ठ ३५)। (यदि उक्त कृति को प्रयोगवाद की प्रतिनिधि रचना न मानें तो भी हमारे हाथ एब्सर्ड कविता ही लगती है। अस्तु, जब तक अज्ञेय के चेले स्वयं उन्हें अस्वीकारना प्रारम्भ न कर दें हमें एतराज़ नहीं है, उनको प्रयोगशील कविता का प्रतिनिधि कवि मानने में, यद्यपि प्रयोगशील कविता की बागडोर अज्ञेय के हाथों से उसी समय छूट गई जब नलिन विलोचन, केशरी कुमार ने 'प्रपद्यवाद' की घोषणा की।)

अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविताएँ परस्पर-विरोधी दो ध्रुवों को स्पर्श करती कवितायें हैं। शेष कवि इन्हीं के बीच कहीं न कहीं स्थित हैं। इन दोनों कवियों की विकास-प्रक्रिया को यदि हम सामने रखें तो कहना पड़ेगा कि पिछले बीस-बाईस वर्षों में हिन्दी कविता एक तीव्र अन्तर्द्वन्द्व से गुज़र चुकी है जिसके फलस्वरूप कुछ बातें स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आई हैं।

यों तो अभी द्वन्द्व समाप्त नहीं हुआ है फिर भी 'विपरीत गति' ह्रासोन्मुखी, मध्यवर्गीय, व्यक्तिवादी, बोर्ज़्वा कविता ने एक बार लगता है वर्गों के द्वन्द्व को उभारने वाली, पूँजीवादी शोषण को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करती हुई, भयंकर उत्पीड़न और त्रास के बीच भी समाजवादी आस्था और प्रयोगशील कविता की सारी उपलब्धियों की धनी नव-प्रगतिवादी कविता के सामने घुटने टेक दिए हैं।

अज्ञेय और मुक्तिबोध के काव्यों की परिणति को उनके सम्पूर्ण काव्यजीवन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित होगा। प्रयोगवाद के प्रारम्भिक दिनों से ही अज्ञेय और कतिपय अन्य कवियों—जैसे भारतभूषण, नेमिचन्द्र और मुक्तिबोध के आत्मबोध के स्वरूप में अन्तर रहा। 'अज्ञेय' की तरह इन कवियों में भी घोर असंतोष था, किन्तु अज्ञेय के विपरीत इन कवियों में अपनी मुक्ति के लिए नवीन जन-आन्दोलन से तादात्म्य स्थापित करने की आकांक्षा भी थी। इसलिए इन कवियों में अज्ञेय के असंतोष से थोड़ा भिन्न एक नये ढंग की 'कशमकश' दिखाई पड़ती है। यह कशमकश है संस्कार और विवेक की, आत्मस्थ होने की चाह को, असमर्थता को विवेक द्वारा चीर डालने की कशमकश है। नेमि और मुक्तिबोध में यह कशमकश अधिक तीव्र तथा मार्मिक है और इन दोनों कवियों में भी मुक्तिबोध में 'सक्रिय-जीवन-शक्ति' अधिक है। (नामवर—आधुनिक-साहित्य की प्रवृत्तियाँ)।

अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों ही प्रयोगकालीन अन्तर्द्वन्द्व से उभरे हैं। किन्तु दोनों की उपलब्धियाँ पूर्णतया भिन्न हैं। वस्तुतः प्रयोगशील कविता का काल कुछ ऐसे विरोधी तत्वों का द्वन्द्व हमारे सामने प्रस्तुत करता है कि सहसा उनमें से किसी को चुन लेना ग़लत ही हो सकता है। इन या उन प्रवृत्तियों को चुन लेने वाले ऐसे ही समीक्षक रहे हैं जिन्हें भीतर का यह अन्तर्द्वन्द्व प्रायः नहीं दीखता। इस कारण वे प्रयोगशील कविता (प्रयोगवादी और नई कविता) की उपलब्धियों के दो परस्पर-विरोधी कोणों को एक-दूसरे के पर्याय रूप में देखने की भूल करते हैं।

अज्ञेय की कविता व्यक्तिनिष्ठता तथा आत्मनिष्ठता से होकर अध्यात्म की तरफ संक्रमित हुई है और रावीन्द्रिक शैली की रहस्यवादी अभिव्यक्ति में परिणत होती है :—

आँगन के पार द्वार
द्वार खुले
द्वार के पार आँगन
भवन के ओर-छोर
सभी मिले—
उन्हीं में कहीं खो गया भवन।
कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार-बार पा लागन। (आँगन के पार द्वार)

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

इसके ठीक विपरीत व्यक्ति की पीड़ा को एक व्यापक सामाजिक तथा मानविक परिप्रेक्ष्य में रखकर भोगने और उनसे मुक्त होने की एक तीव्र छटपटाहट जो मुक्तिबोध की कविता में हमें, करीब-करीब हर कविता की किन्हीं पंक्तियों में मिल जायेगी—अज्ञेय में नहीं है :—

"अजीब संयुक्त परिवार है—
औरतें व नौकर व मेहनतकश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने ही वक्ष को
खुरदरा वृक्ष-धड़
मानकर घिसती हैं, घिसते हैं
अपनी ही छाती पर ज़बर्दस्ती
विषदात्री भावों का सर्प-मुख।
विद्रोही भावों का नाग-मुख
रक्तप्लुत होता है।
नाग जकड़ लेता है बाँहों को,
किन्तु वे रेखायें मस्तक पर
स्वयं नाग होती हैं।
चेहरे के स्वयं भाव सरीसृप होते हैं,
आँखों में जहर का नशा रंग लाता है।
बहुएँ मुँडेरी से कूद अरे
आत्महत्या करती हैं।
ऐसा मकान यदि ढह पड़ा
हवेली गिर पड़ी,
महल धराशायी, तो
बुरा क्या हुआ ?
ठीक है हम भी तो दब गए,
हम जो विरोधी थे
कुँओं तहखानों में बन्द—क़ैद,
लेकिन हम इसलिए
मरे कि ज़रूरत से
ज़्यादा नहीं, बहुत-बहुत कम
हम बाग़ी थे।
मेरे साथ
खण्डहर में दबी हुई अन्य धुकधुकियो
सोचो तो—
कि स्पन्द अब
पीड़ा भरा उत्तरदायित्व—भार हो चला,
कोशिश करो,
कोशिश करो,
जीने की,
ज़मीन में गड़कर भी।

(एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन)

एक साधारण संयुक्त परिवार की, जो पूंजीवादी दबाव में ज़मीन के नीचे गड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहने को बाध्य है, के सारे आक्रोश-विक्षोभ को दिशा देती हुई ये पंक्तियाँ भारत की मेहनतकश जनता में विद्रोह की कमी की ओर संकेत करती हैं और उसे ज़मीन में गड़कर भी जीने की आस्था देती हैं क्योंकि इन पंक्तियों के लेखक के हाथ में समाजवादी आस्था का परचम है। वह अस्तित्ववादी से कहीं अधिक व्यक्तित्व के संकट से ग्रस्त होकर भी उस संकट से आक्रान्त नहीं होता और ज़मीन में गड़कर भी जीता है, सोचता है और विद्रोह का आह्वान करता है।

तारसप्तक से क्रमशः 'आँगन के पार द्वार' और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' तक संक्रमण करने वाले अज्ञेय और मुक्तिबोध की ये काव्य-यात्राएँ प्रयोग से पलायन तक तथा प्रगति से नवप्रगति तक की यात्राएँ हैं। अज्ञेय शुद्ध प्रयोगशील कवि हैं और उनके प्रयोग आधुनिक रहते हुए भी पीछे हटते चले जाने के प्रयोग हैं। मुक्तिबोध शुद्ध प्रगतिवादी या मार्क्सवादी कवि हैं और उनके प्रयोग शैली और शिल्प तक ही सीमित रहते हैं। चिंतन तथा अनुभूति में वे यथार्थ की पर्तों के नीचे धँसते हैं, धँसते चले जाते हैं। वह उस जीवन का चित्र खींचते हैं जिसे वे जी रहे हैं और उसकी ओर उनकी दृष्टि है जिसे वे जीना चाहते हैं।

हिन्दी के एक चोटी के समीक्षक ने, जो अज्ञेय के परम आत्मीय रह चुके हैं, नयी कविता के लक्षण गिनाते हुए लिखा है—इसकी पहली विशेषता है 'जीवन का आस्वादन' फिर नई कविता का दूसरा लक्षण है 'पार्थिव जगत की समग्रता का ग्रहण,' नई कविता की तीसरी विशेषता है उसकी प्रश्नाकुलता, और नई कविता की चौथी विशेषता है अपनी भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा का अन्वेषण(विद्या निवास)।

यदि इन महासमीक्षकजी की बातों को आप मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि नई कविता के पहले की कविताओं में जीवन का आस्वादन, जगत् की समग्रता का ग्रहण, प्रश्नाकुलता और भावसंकुलता के अनुरूप लय तथा भाषा नहीं थी। ये सभी लक्षण क्या पूर्ववर्ती कवियों पर नहीं घटते ? क्या रीतिकालीन कविता में जीवन का आस्वादन नहीं था ? क्या भक्तिकालीन महाकाव्यों में जगत् की समग्रता को ग्रहण नहीं किया गया था ? क्या रहस्यवादी कवियों से भी अधिक प्रश्नाकुल हैं ये नई कविता वाले ? क्या भावाकुलता में छायावादी कवियों से वे आगे बढ़ सके हैं और क्या भावाकुलता के अनुरूप भाषा बनाने में पहल इन्हीं ने की है ? और फिर लय से क्या अर्थ लिया जाए, तुक, संगीत-ध्वनि या क्या ?

क्यों ऐसा है कि लम्बी अवधि तक एक काव्य-प्रवृत्ति गिनी जाने वाली प्रयोगशील कविता यानी नई कविता को कोई आलोचक नहीं मिला और अज्ञेयजी को 'तीसरा सप्तक' के प्रकाशन यानी आज से सिर्फ़ सात वर्ष पूर्व भी यह कहना पड़ा कि—'परिस्थिति की माँग यह है कि कविगण स्वयं एक-दूसरे के आलोचक बनकर सामने आवें।' इतना ही नहीं, उन्होंने कहा 'कि कृतिकार के रूप में नये कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा (और सम्पादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी)।' सचमुच यह तो बड़ा अँधेर है कि एक काव्य-प्रवृत्ति स्थापित हो जाए और सारी पत्र-पत्रिकाएँ उस काव्य-प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्वीकार्य खास किस्म की कविताओं से भरी रहें, फिर भी, नये-पुराने ढेर सारे आलोचकों में से एक भी उसका पक्ष लेने वाला न हो। जाने क्या बात है कि अव्वलन तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई आलोचक नई कविता की समीक्षा करने की सोचता नहीं; अगर करता ही है तो भले ही वह प्रयोगशील कविताएँ भी लिखता रहा हो वह प्रगतिवादी मानदण्ड को ही प्रयोग में लाता है (रामविलास-नामवर) और जोड़-तोड़ करके यदि कोई आलोचक मैदान में उतारा जाता है तो अपने सारे जिरह-बख्तरों के बावजूद वह डान क्विक्ज़ोट की तरह धूल फाँकता नज़र आता है (विद्यानिवास, शमशेर, श्रीकान्त, अज्ञेय)।

'तीसरे सप्तक' की भूमिका में नकेनवादियों द्वारा प्रयुक्त भाषा की अतिप्रयोग-वादिता का खण्डन तथा विषय और वस्तु की व्याख्या तथा शिल्प के प्रयोगों का महत्त्व स्वीकारने के अतिरिक्त अज्ञेय को स्वयं नई कविता के विषय में कुछ नहीं कहना है। हाँ छोटे या बड़े सफल या असफल कवि की बड़ी आसान कसौटी उनके पास है। 'नये (या पुराने भी) विषय की, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, और उससे उत्पन्न सारे प्रभाव जो पाठक-श्रोता-ग्राहक पर पड़ते और उन प्रभावों को सम्प्रेष्य बनाने में कवि का योग (जो सम्पूर्ण चेतन भी हो सकता है, अंशत: चेतन भी और सम्पूर्णतया अवचेतन भी)—मौलिकता की कसौटी का यही क्षेत्र है। यही कवि की शक्ति और प्रतिभा का भी क्षेत्र है—क्योंकि यही कवि-मानस की पहुँच और उसके सामर्थ्य का क्षेत्र है। कहाँ तक कवि नई परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है (आयत्त करने में रागात्मक प्रतिक्रिया भी और तज्जन्य बुद्धि-व्यापार भी है जिसके द्वारा कवि संवेदना का पुतला-भर न बना रहकर उसे वश करके, उसी के सहारे ऊपर उठकर उसे सम्प्रेष्य बनाता है), इसीसे हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि है। (और फिर सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र के उपयोग की पड़ताल कर यह भी देख सकते हैं कि वह कितना सफल कवि है—पर इस पक्ष को अभी छोड़ दिया जाए)।'

अज्ञेय के पास नई कविता का केवल एक ही लक्षण नया है और वह है प्रयोग-शीलता। शेष लक्षण जैसे विषय और वस्तु, कवि की संवेदना पर प्रतिक्रिया, सम्प्रेषणीयता, बुद्धि और संवेदना का सन्तुलन, सम्प्रेषण के साधनों और तन्त्र (टेकनीक) का उपयोग आदि सभी लक्षण क्या सब कालों की कविता के विषय में नहीं दोहराए जा सकते ?

वस्तुत: नई कविता को परिभाषित करने के सारे प्रयास व्यर्थ हैं, इसलिए नहीं कि नई कविता की परिभाषा करने की सामर्थ्य ही पिछले बीस वर्षों में कोई नहीं जुटा पाया बल्कि इसलिए कि नई कविता में, केवल प्रयोग-वैचित्र्य और नवीनता के आग्रह के, कुछ भी नया नहीं है। दर्शन के नाम पर नई कविता का हर कवि अपनी ढफली अपना राग बजा रहा है। सुविधा के लिए वह अस्तित्ववाद—जैन या बौद्ध दर्शन तथा शांकर दर्शन को भी एक हाथ में उठा सकता है।

नई कविता नई परिस्थितियों की उपज है किन्तु नई स्थितियों, नई संवेदनाओं और नये परिवेश की विशिष्टता को स्वीकार करके भी वह नये दर्शन को स्वीकार करने से हिचक रही है इस कारण कभी तो वह लोकगीतों की धुन पर गाती दीख पड़ती है तो कभी युद्धोत्तर यूरोप के कवियों के सुर में सुर मिलाकर मर्सिया पढ़ना शुरू कर देती है या फिर कमिंग्स तथा मायाकोव्स्की की तरह शब्द-चित्र बनाती है। 'नई कविता को उत्तराधिकार के रूप में न अध्यात्मवादी विचारधारा प्राप्त हुई न भौतिकवादी' (मुक्तिबोध—आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि में) सम्भवतः एक नये कवि के शब्दों में—'नई कविता के नाम पर आज जो-कुछ लिखा जा रहा है उसके अन्तर्गत बहुत कुछ (मेरी अपनी कविताएँ भी) महज़ बकवास है।' (प्रयागनारायण, तीसरा सप्तक) तीसरा सप्तक में संकलित कवि की नई कविता के सन्दर्भ में दी गई यह प्रतिक्रिया महत्त्वपूर्ण है। इसे केवल विनम्रता मान लेना सही नहीं होगा।

दर्शन के नाम पर नई कविता हमें जो दे रही है वह कुछ ये चीज़ें हैं—

वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है—चाहे वह साम्यवादी हो चाहे पूँजीवादी—
इस व्यवस्था में व्यक्तित्व का विकास नहीं होता।
व्यक्तिनाश प्रायः अवश्यम्भावी है।
अतएव मानव-दुःख भी अवश्यम्भावी है।
इसलिए निष्कर्ष—दुःख, निराशा, ग्लानि, विरक्ति, अगतिकता, कुण्ठा आदि-आदि—
अगतिकता मनुष्य की नियति है।
इसलिए उसे बदलने या उससे विक्षुब्ध होने की बात असंगत है।
आदर्श ग़लत हैं। उनके द्वारा हमें छला गया है।
हम लघु-मानव अपने लघु-प्रयत्नों द्वारा अपनी उन्नति या विकास करते हैं और अपनी जो भी भावनाएँ हैं उन्हें काव्य में व्यक्त करते हैं।
जनता एक भीड़ है।
भीड़ की कोई आत्मा नहीं होती।
व्यक्ति को भीड़ का हिस्सा बनने से बचना चाहिए। अर्थात् चेतन को अचेतन बनने से बचना चाहिए।
शुद्ध और शाश्वत कलाकार राजनीति या समाजनीति के चक्कर में नहीं पड़ता।
उसे तो केवल मानव की चिरन्तन संवेदना से मतलब रखना चाहिए। वह केवल
सौन्दर्य का आराधक है।

इन सारी बातों को प्रयोगशील कविता में ढूँढ़ा और पाया जा सकता है किन्तु नव-प्रगतिवादी के पास इन सभी दर्शनों का उत्तर है। वह प्रगतिवादी कवि के समान केवल नारा नहीं लगा रहा है और न प्रारम्भिक प्रगतिवादी आलोचकों के समान भद्दे ढंग से किसी भी कृति को या साहित्यधारा को कलम के एक झटके से प्रतिक्रियावादी या प्रगतिवादी घोषित कर रहा है। वह उसकी जड़ों में जाता है और सारे सामाजिक अंतर्विरोधों को अपने सामने रखकर कृति के भीतर से रचनात्मक-तत्त्वों तथा सौन्दर्यबोध को संवेद्य करती हुई पंक्तियों को चुनता है और एक पूरी सामाजिक तथा एस्थेटिक (सौन्दर्य-शास्त्रीय) कसौटी पर उसे कसता है। उसे किसी कृत्रिम दर्शन के मुखौटे से त्रस्त नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता। क्योंकि वह सत्य को अपनी दृष्टि से देखता है, किसी भी दर्शन का चश्मा पहनकर नहीं।

नई कविता के दर्शन का उत्तर नव-प्रगतिवादी के पास है। वह जानता है कि मानव को सुखी बनाने के लिए उद्योगों का प्रसार हुआ है। यदि मनुष्य की शान्ति की गारंटी हो जाए और प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का खुला क्षेत्र प्राप्त हो—(ऐसा कुछ साम्यवादी देशों में हो भी रहा है) मानव का दुःख यदि अवश्यम्भावी है तो सुख भी। और यदि दुःख के कारणों को कम किया जा सके और किया जा सकता है तो सुख की सम्भावनाएँ अपने आप बढ़ जाएँगी। पुराने आदर्श ग़लत हैं। इसलिए उन्हें तोड़ दिया जाए और नया मानव लघु तथा आदर्श-हीन होने के बदले नये आदर्शों को पकड़े। मानव का समाज से निरासक्त या अलग कोई विकास नहीं हो सकता और व्यक्ति की काव्य-रचना किसी-न-किसी स्तर पर समष्टि की रचना होती ही है।

जनता एक भीड़ है किन्तु जागृत जनता अचेतन भीड़ नहीं रहेगी। चैतन्य जनता महान् उद्देश्यों के लिए संघर्ष करने वाली जुझारू जनता होती है जो मानवता के भविष्य की दिशाएँ निर्धारित करती है। वह यह भी जानता है कि कोई भी व्यक्ति आज की ज़िन्दगी में राजनीति से उसी प्रकार नहीं बच सकता जैसे मध्य-युग में भगवान् से। उसे यह भी मालूम है कि मानव की चिरन्तन-संवेदना या सौन्दर्य को कोई भी कलाकार केवल समसामयिक यथार्थ के चित्रण द्वारा ही कर सकता है और उसकी दृष्टि अपने समाज के जीवन को हर कोण से परखने को बाध्य है। इसके अतिरिक्त नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि ये सारे सिद्धान्त उसे केवल इसलिए पिलाए जा रहे हैं—'कि कहीं ऐसा न हो कि ये भाव प्रगतिवादी जीवन-दर्शन में बँधकर कवि-हृदय में, एक भिन्न आलोक में चमक उठें। अतएव, यह आवश्यक समझा गया कि नये कवि उसके चक्कर में न पड़ें।' (मुक्तिबोध—'नई कविता का आत्म-संघर्ष और अन्य निबन्ध, पृष्ठ १८३)

नव-प्रगतिवादी यह भी जानता है कि जन-भावना या साधारणी-कृत भावना से ही काव्य की मूर्ति गढ़ी जाती है और यह मिट्टी केवल अपने को समाजवादी घोषित करने वाले साहित्यकारों में ही नहीं अन्य जागरूक और संवेदनशील साहित्यकारों में भी पाई जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि ऐसी अचेतन-जागृति दिशाहारा होती है और प्रायः उसको गुमराह करने या उसके लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने का खतरा रहता है।

'हिन्दी में इन दिनों दो प्रकार के वर्ग काम कर रहे हैं। एक उच्च मध्यवर्गीय जन, दूसरे निम्न मध्यवर्गीय जन। इन दोनों के बीच की खाई लगातार चौड़ी होती जा रही है। विश्व का जो आभ्यन्तरी-करण (संवेदनात्मक प्रतिक्रिया—लेखक) ये दो वर्ग करते जा रहे हैं उसमें बड़ा भेद दृष्टिगत हो रहा है। इन दोनों श्रेणियों की प्रधान भावनाएँ एक-दूसरे से जुदा हो चुकी हैं। दोनों के सामने दुनिया दो अलग संवेदनात्मक रूपों में प्रस्तुत हो रही है। प्रगतिशील जीवन-मूल्य निम्न-मध्यवर्गीय श्रेणी के मानव-चित्रों में अधिक पाए जाते हैं। इस श्रेणी में, जीवन-संघर्ष की अधिकता के फलस्वरूप अन्तर्मुखता और भावसघनता तो होती है, किन्तु उसके साथ स्वाध्याय और समय के अभाव के कारण काव्य-सौन्दर्य के विकास के प्रति विमुखता भी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु सबसे अधिक चिन्तनीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि वे तथाकथित अभिजात उच्च मध्यवर्गीय काव्य-संस्कृति से आच्छन्न होकर अपनी विशिष्टता को प्रखर रूप से प्रकट नहीं कर पाते।' (मुक्तिबोध—काव्य की रचनाप्रक्रिया)

इन शब्दों में मुक्तिबोध ने साफ़-साफ़ आज की हिन्दी कविता की मीमांसा की है और उन्हें इस बात का विश्वास है कि नई कविता में 'नियो-क्लासिसिज़्म' के बीज पक चुके हैं और अभी से विभिन्न कवियों में उसकी आशाएँ प्रकट हो रही हैं। (मुक्तिबोध—वही)

हिन्दी के सातवें दशक के पूर्वार्ध में हमें प्रयोगशील कविता या नई कविता में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दीख रही हैं। एक व्यक्तिवादी बोर्ज़्वा संस्कारों के माध्यम से प्राप्त एक विशेष प्रकार की सौन्दर्य-अभिरुचि के रेजिमेण्टेशन से सम्बन्धित मुमूर्ष प्रवृत्ति जो अपनी ह्रासशीलता के कारण एब्सर्डिटी की ओर बढ़ती जा रही है और दूसरी सम्पूर्ण मनुष्य की अन्तस्थित जीवनानुभूति को सम्पूर्ण बाह्य-सन्दर्भों के साथ उपस्थित करने वाली, मानव की सारी पीड़ा को उसके संकल्पों और विकल्पों के साथ प्रस्तुत करने वाली और मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से अपने को जोड़ने वाली तथा हिन्दी कविता के भविष्य की ओर चलने वाली जीवन्त-प्रवृत्ति है।

डॉ० मधुरमालती सिंह

दिनकर के काव्य में नारी

३१ जुलाई, १९६५ को दिल्ली विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भवन में मैथिलीशरण गुप्त जयन्ती मनाई गई। गुप्तजी के काव्य की विशेषताओं और मुख्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण संश्लेषण करते हुए दिनकर ने अपने वक्तव्य में कहा, "आधुनिक काव्य की मुख्य तीन विशेषताएँ रहीं, एक बुद्धिवाद, दूसरा नारी की मर्यादावृद्धि और तीसरा पौराणिक कथानकों की ओर झुकाव जिसमें भारत का हृदय है।" इसी वक्तव्य में भारतीय नारी के जीवन इतिहास को संक्षेप में दिनकर ने इस भाँति व्यक्त किया, "वेद नारी के महत्त्व के प्रमाण थे। वैदिक युग में ऋषिवाद था, मुनिवाद नहीं। वह प्रवृत्ति का युग था। गृहस्थ का महत्त्व था। मुनिवाद के पश्चात् बुद्ध का युग आया; हट्टे-कट्टे लोग नारी को छोड़कर चले जाते थे। नारी आजीवन वैधव्य का जीवन भोगती थी; जिसके आँसुओं में यह देश अब तक डूबा है।"

उपर्युक्त वक्तव्य में दिनकर ने युग परिवेश के साथ अपना नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी अनायास अभिव्यक्त कर दिया है। उनके काव्य का एक महान् अंग 'नारी' है, उसके आँसुओं को इस कवि ने जैसा पहचाना है और उसकी मर्यादावृद्धि का जैसा प्रयत्न किया है उससे परिचय प्राप्त करके हतप्रभ रह जाना पड़ता है।

हिन्दी काव्य के इतिहास में नारी का क्या स्थान रहा? यदि उस ओर दृष्टिपात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आदियुग से भारतेन्दु युग तक नारी प्रिया थी या फिर प्रेयसी या माया। आदि युग का कवि राजा की सामन्ती नारियों की परम्परागत विरह व्यथा में डूबता उतराता रहा। कबीर के लिए वह ठगिनी माया थी और जायसी के लिए नागमती जैसी साध्वी गृहस्था शैतान। तुलसी अवश्य एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने नारी को जीवन की विविध परिस्थितियों में आँका और पुरुष का साझीदार समझा; किन्तु उनके मुख्य नारी पात्र राम के संदर्भ से स्वयमेव महान् हो गए थे। फिर भी तुलसी की नारी विषयक ईमानदारी उपेक्षणीय नहीं है। तुलसी द्वारा प्रतिष्ठित नारी-सम्बन्धी महत्त्व का युग ने आदर नहीं किया; नारी का प्रिया और प्रेयसी या यूँ कहें कि कामिनी और विरहिणी रूप ही कवियों का प्रिय विषय रहा। रीतियुग और फिर भारतेन्दु युग तक स्थिति ऐसी ही चलती रही। काव्य के अनुकूल काव्य शास्त्र में भी नायिका भेदों में वासक सज्जा, आगत पतिका, प्रोषित पतिका, प्रवत्स्य पतिका आदि प्रधान रहे। नारी के गुण और स्वभाव का विश्लेषण करते समय आचार्यों की दृष्टि उसके हाव-भाव और हेला पर टिकी रही। वह सौंदर्य की कठपुतली-सी पुरुष की वासनापूर्ण कामुक दृष्टि का खिलौना और तृप्ति बनी रही। काव्यशास्त्र में नारी या यूँ कहें नायिकाभेद अब तक इसी दृष्टिकोण पर आधारित है। उसके रूप-सौंदर्य के अंकन में किसी भी काव्यशास्त्री की दृष्टि उसके मन और आतमा के सौंदर्य पर नहीं गई।

द्विवेदी युग के सुधारवादी आन्दोलनों ने अनायास कवि का ध्यान नारी महत्त्व की ओर केन्द्रित कर दिया। जीवन के प्रति प्रवृत्ति में आस्था हुई, गार्हस्थ के महत्त्व के साथ उसमें पुरुष की बराबर की साझीदार नारी अपने सम्पूर्ण आत्मिक मानसिक सौंदर्य से आवेष्ठित काव्य-भूमि पर अवतरित हुई। रामनरेश त्रिपाठी के स्वप्न और पथिक, हरिऔध के प्रिय-प्रवास और वैदेही वनवास तथा मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण काव्य नारी के इसी सौंदर्य से आभासित है।

नारी महत्त्व की इसी शृंखला को दिनकर ने अद्‌भुत सौंदर्य पराकाष्ठा तक पहुँचाया है। प्रिया और प्रेयसी के साथ सखी और माता रूप अपने समस्त दोष-गुण के साथ उनके काव्य में प्रतिष्ठित हैं। दिनकर के काव्य में प्रतिभाषित नारी सौंदर्य का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करके सम्भवतः भविष्य के हिन्दी काव्यशास्त्रियों को गर्भिणी, सद्यःप्रसूता आदि नवीन नायिका भेदों को अपने ग्रन्थों में स्थान देना पड़े।

काव्य सर्जना के प्रारम्भिक दिनों से ही सम्भवतः दिनकर को नारी के विविध सौंदर्य ने आकर्षित किया है, उसके उल्लास ने आह्लादित और पीड़ा तथा रुदन ने आप्लावित किया है। सन् १९३१, ३४, ३५, ३६ आदि वर्षों में लिखे गए स्फुट गीतों में नारी के विविध रूपों को कवि देख सका है। कृषक पत्नी और राजकुमारी दोनों ही उनके काव्य में अवतरित हुईं; विधवा के एकान्त साधनारत जीवन के प्रति उन्होंने श्रद्धांजली अर्पित की, माता और प्रेयसी दोनों के महत्त्व का कवि ने गुणगान किया। भावी प्रबन्ध काव्यों में कवि नारी के जीवन की जिस विशद व्यथा और उल्लास को अभिव्यक्त कर सका है उस सबके बीज स्फुट गीतों में ही विद्यमान हैं। प्रस्तुत निबन्ध में दिनकर के स्फुट काव्य की नारी का परिचय प्राप्त करके उनकी प्रबन्ध कृतियों का नारी सम्बन्धी अंकन अभीष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनकर के स्फुट काव्य में नारी—सन् १९३६ में 'नारी' नामक कविता में नारी के सौंदर्य को दिनकर जी ने यूँ अभिव्यक्त किया—

कुशल विधि-मानस का नवनीत
एक लघु दिव सी हो अवतीर्ण,
कल्पना-सी, माया-सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण।

कल्पना और दिव्य विभा के अतीन्द्रिय उपमानों से आवृत होती हुई भी उनकी नारी 'माया सी' न रह सकी—

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष और बाण।
हो गया मदिर दृगों को देख
सिंह विजयी बर्बर लाचार,

पुरुष की निसर्ग प्राप्त हिंसा वृत्ति पर नारी कोमल प्रबल अंकुश है; वह हिंस्रता का लोप कर उज्ज्वल कोमल कमल पंक्तियों की सृष्टि करती है, बर्बर से बर्बर पुरुष भी नारी के मदिर नेत्रों के आजीवन दास हो जाते हैं, यह जीवन का सत्य है। प्रसाद की प्रलय की छाया में बर्बर अलाउद्दीन ने कमला से कहा था—

शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से।

—लहर

राजा और ऋषि दोनों नारी के उस मदिर प्रभाव से अभिभूत हुए थे—

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक मृग पर होकर हतज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान!

प्रेयसी रूप में पुरुष ने—

तुम्हारे अधरों का रस प्राण।
वासना तट पर पिया अधीर;

और माता रूप में अपत्य ने—

अरी ओ मां हमने है पिया
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

× × ×

पिया शैशव ने रस-पीयूष,
पिया यौवन ने मधु मकरन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृषा प्राणों की है पर देवि !
एक पल को न हो सकी मन्द ।

माता और प्रेयसी दोनों रूपों में नारी के आत्मिक, मानसिक और शारीरिक रूप सौंदर्य रस का पान करके भी पुरुष उसके लिए प्यासा ही है । दिनकर के लिए उनके ही शब्दों में नारी—

भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ अगेय ।

भारत का हृदय उसके ग्रामों में है जहाँ उसकी ८० प्रतिशत जनता निपट अपढ़ता और निर्धनता में विवश जीवनयापन कर रही है । सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग के कवि की वाणी स्वभावतः उन दीन मलीन मानव कहलाने वाले अस्तित्वों की ओर आकर्षित हुई है, मैथिलीशरण गुप्त ने कृषक् वेदना में लिखा—

वर्षा का सब सलिल खुले सिर पर है पड़ता
है बैलों के साथ बैल भी बनना पड़ता
जलता तो भी उदर अहो जीवन की जड़ता ।

कृषक की वेदना को आत्मसात करके भी नारी महत्त्व को प्रतिष्ठित करने वाले कवि की वाणी इस विषय में मूक रह गई; कृषक परिवार और विशिष्टतः कृषक पत्नी की कोई झाँकी मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत नहीं की । दिनकर कृषक-पत्नी के जीवन की मार्मिक झाँकी प्रस्तुत करने में सफल हुए । वह इस विषय में अग्रगामी हैं ।

ज़मीदारी व्यवस्था में दलित पीड़ित कृषक जाति खेतों में सोना उगाकर भी दाने-दाने को मुहताज रहती थी । अषाढ़ की रिमझिम कृषक-पत्नी के जीवन में नया उल्लास भर देती है । खेत भरे पूरे हैं, आज वह किसी राजा की रानी से कम नहीं है, यद्यपि वह जानती है कि उसका आह्लाद, अनाज के खलिहान में पहुँचने के साथ ही समाप्त हो जाएगा ! समाज के लुटेरे महाजन और ज़मीदार कुछ भी न छोड़ेंगे—फिर वही अभाव-मय जीवन; तब भी वह कवि की 'कविता की पुकार' के रूप में कह उठती है—

कवि ! आषाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो,
कृषक सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो ।
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,
रोऊँगी खलिहानों में खेतों में तो हर्षाने दो ।

'रोऊँगी खलिहानों में' अभिव्यक्ति कितनी मार्मिक और सत्य है ।

अपनी अपढ़ता के कारण विवश एक कृषक वियोगिनी वधू प्रियतम को पाती लिखने में असमर्थ है । दूर देश गए बालम से सम्पर्क बनाये रखने का एक यही तो उपाय है । निदान विवश किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति द्वारा पत्र लिखवाना ही एकमात्र चारा रह जाता है । ग्राम वधू की सरलता में उसी के अनुकूल भाषा का प्रयोग करके दिनकर ने अपनी अपढ़ वियोगिनी से कहलाया है :—

"भैया लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
चारों कोने खेम-कुशल माँझे ठाँ मोर वियोग ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनकर की 'कविता की पुकार' ने कृषक परिवार की दाम्पत्य झाँकी भी देखी है और गार्हस्थ्य परिस्थिति भी ।

दाम्पत्य झाँकी—

शस्य-श्यामला निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा,
तब मैं उसके हृदय स्रोत में उमड़ूँगी बनकर आशा ।
अर्धनग्न दम्पति के गृह में मैं झोंका बन आऊँगी ।
लज्जित हों न अतिथि सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी ।

गृहस्थ दिनचर्या—

ऋण शोधन के लिए दूध-घी बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे ।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी ।

× × ×

बैलों के ये बन्धु वर्ष भर, क्या जाने कैसे जीते हैं ?
बँधी जीभ, आँखें विषण्ण, ग़म खा शायद आंसू पीते हैं ।
पर शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना ?
चूस-चूस सूखा तन माँ का, सो जाता रो विलप नगीना ।
विवश देखती माँ अंचल से, नन्हीं जान तड़प उड़ जाती ।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र-सी छाती ।

ऋण के बोझ से दबी हुई कृषक-वधू दुग्धाभाव के कारण अपनी सन्तति से भी हाथ धो बैठती है, उसकी वज्र की छाती तब भी नहीं फट पाती; अपनी विवशता में उसे जीना पड़ता है । दिनकर के कवि की सम्वेदना दलित वर्ग के साथ जैसे उसके जीवन को जीकर आत्मसात कर सकी है । नारी के जीवन की मार्मिक वेदना की यह तस्वीर हिन्दी-काव्य में अभूतपूर्व है ।

नारी केवल निर्धनता में ही विवशता का जीवन नहीं जीती रही है, धनाधिक्य में भी उसका वही हाल रहा है । धन-वैभव से आवेष्टित धनी-मानी, प्रतिष्ठित सामन्ती वर्ग उसको वासना का खिलौना मात्र समझता रहा है । 'राजा-रानी' नामक कविता में दिनकर ने राजा को ऋतुओं के राजा बसन्त और रानी को ऋतुओं की रानी वर्षा के समकक्ष ठहरा कर उनकी नाम-गुण सटीकता को प्रमाणित किया है ।

राजा बसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी,
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी ।
राजा के मुख में हँसी कंठ में माला,
रानी का अन्तर विकल दृगों में पानी ।
डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने,
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आयी,
उमड़ी जाने क्या व्यथा लगी वह रोने।
रानी रोओ, पोंछो अश्रु अंचल से,
राजा अबोध खेलें कचनार कमल से।
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,
सींचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से ?
लेखनी लिखे, मन में जो निहित व्यथा है,
रानी की सब दिन गीली रही कथा है।

'परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने' अथवा 'राजा अबोध खेलें कचनार कमल से' आदि अभिव्यक्तियों में जो चोट दिनकर इस वर्ग पर कर सके हैं वह काव्य में अपना सानी नहीं रखती। हीरे-मोतियों के आवरण में आवृत विवश नारी विश्व की स्थूल व्यावहारिक दृष्टि से चाहे स्वयं के वास्तविक रूप-को छिपा ले; कवि की सर्वग्राही पैनी दृष्टि से नहीं छिप सकती। 'राजा-रानी' कविता दिनकर ने सन् १९३५ में लिखी थी। रानी के विवश जीवन की जिस कसक ने दिनकर को तब अभिभूत किया था उसकी अभिव्यंजना 'उर्वशी' काव्य में पूर्ण हो सकी। 'औशीनरी' के चरित्र और वर्षा ऋतु रानी के जीवन में अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है।

औशीनरी की भाँति सीता-राम के चरण-पूजन में ही लगी रही और--

विधु संग-संग चाँदनी खिली बन-बन में,
सीते तुम तो खो रहीं चरण पूजन में।
तो भी यह अग्नि-विधान ! राम निष्ठुर हैं,
रानी जनमी थी तुम किस अशुभ लगन में।
नृप हुए राम तुमने विपदाएँ झेलीं,
थी कीर्ति उन्हें प्रिय, तुम बन गईं अकेली।
वैदेही तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने,
रानी करुणा की तुम भी विषम पहेली।

'थी कीर्ति उन्हें प्रिय तुम वन गईं अकेली' में अग्नि-परीक्षा में भी उत्तीर्ण सीता की विवशता कवि ने मुखरित की है। त्रेता युग और फिर द्वापर युग की सामन्ती नारी भी पुरुष के सुख-दुख की सहचरी कहलाकर भी; केवल उसके हाथ की कठपुतली थी; उससे और अधिक कुछ नहीं। कवि दिनकर ने पौराणिक नारी की भर्त्सना करते हुए सीता से कहा है—

रो-रो राजा की कीर्ति लता पनपाओ,
रानी आयसु है, लिए गर्भ बन जाओ !
सूखो सरयू ! साकेत ! भस्म हो रानी।
माँ के उर में छिप रहो न मुँह दिखलाओ।

शकुन्तला के प्रति कवि के उद्गार अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं—

प्याली थी विष भरी, प्रेम में भूली,
पी गईं जिसे तुम भोली लता भवन में···

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा हँसते हैं हँसें तुम्हें रोना है,
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है;
रानी ! विधि का अभिशाप यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है ।

राजपूताने के सामन्ती इतिहास में नारी ने अपना मूल्य पहचाना और जौहर की रस्म अदा करके हताश-निराश सैनिकों में प्राण संचार किया—

छिटकी तुम विद्युत शिखा, हुआ उजियाला,
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला;
हल्दीघाटी हुँकार उठी जब रानी !
तुम धधक उठीं बनकर जौहर की ज्वाला ।

जौहर की रस्में स्वाभिमान की रक्षा के लिए विवशता में की गई थीं । भारत की स्वाभिमानी नारी के पास स्वरक्षा का और कोई उपचार उस युग में नहीं था । अपना पहचानने न पहचानने का अवसर और अधिकार उन रानियों को प्राप्त नहीं था, अन्यथा एक पुरुष के अन्तःपुर में सैकड़ों की संख्या में कैसे वे चली जातीं ? यह संयोग की बात है कि रानियों के उत्सर्ग से, जौहर से सैनिकों के रक्त में उष्णता आई; कवि दिनकर ने सामन्ती युग की असमर्थ नारी के चरित्र-बल के महत्त्व को उदार दृष्टि से देखा, यह उनके लिए बधाई का विषय है ।

वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली नारियों के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त दिनकर ने समाज में अत्यन्त तिरस्कृत एक और वर्ग की नारी का अंकन किया है और वह है नर्तकी । नर्तकी के जुगुप्सापूर्ण जीवन की झाँकी कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत की है—

बरसते हैं तुम्हारे अंग पर भी बाण आँखों के
असूया में तुझे, विद्वेष के तीखे जहर वाले ?
उन्हीं के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में,
नहीं तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो ?

× × ×

अतल गहराइयों को छोड़ क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष, सब भाले लिए फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियों तक है !
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है ।

नर्तकी जिस वातावरण में रहती है वहाँ कला के पारखी नहीं, 'सतह के फेन के ग्राहक' आते हैं । उन 'सतह के फेन के गाहकों' के कामना के सागर में केवल वारुणी का नशा रहता है । वे उच्च नशे से रंगीन नर्तकी का झिलमिलाता रूप ही केवल देख पाते हैं; रस का उमड़ता हुआ सागर ही उन्हें दृष्टिगत होता है, कल्पनाओं के मन्थन से उबलती हुई जहर की आग नहीं । जहर की वह आग जो नर्तकी के हृदय में सुलगती रहती है ।

सतह के फेन के गाहक, कलाएँ मौज हैं इनकी ।
कभी जब काम से थककर महल से ये निकलते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी ओर भी कुछ घूमते फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।
इन्हें है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है,
अतल को छोड़कर आती भुवन में वारुणी केवल।
नहीं यह जानते हैं कल्पनाएँ जब मथी जातीं,
निकलती है जहर की आग भी, पीयूष का जल भी।

नर्तकी सामाजिक व्यवस्था की वह अभिशप्त नारी है जिसके जीवन में कोमल अतीन्द्रिय पवित्र प्रेम की एक किरण भी कभी नहीं फूटती न कभी अपने प्रेम का प्रतिरूप अपत्य मिलता, माँ बनना, और यदि बन भी जाये तो अपत्य का पालन नर्तकी के भाग्य में नहीं होता—

न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धरकर पास आ जाये।

आत्मवंचना की जलन में जलकर और कला की साधना में रत रहकर भी नर्तकी विश्व में मान कभी नहीं पा सकती। ग्लानिपूर्ण जीवन का ज़हर वह निरन्तर पीती है, रसपूर्ण जीवन के कुछ क्षण भी वह समाज के एक विशिष्ट वर्ग को देती है। उसके जीवन की सार्थकता क्या है ? कवि उससे सीधा-सादा किन्तु अत्यन्त मार्मिक प्रश्न करता है—

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुमको।
जहर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सबको खिला करके बिना आहार सोती हो ?

उपर्युक्त विवेचित नारियों के अतिरिक्त अपने स्फुट काव्य में दिनकर ने विधवा, गीतवासिनी और विपक्षिणी का अंकन भी किया है।

'विधवा' नामक कविता में तरुणी विधवा के घर वातावरण और शारीरिक-मानसिक भावस्थिति का बड़ा सजीव चित्रण हुआ है। 'नवयौवन की चिता बनाकर' भग्न मनोरथ की समाधि पर वह तपस्विनी कैसे बैठी रहती है ? देखिये—

उजड़े घर, निर्जन खंडहर में,
कंचन थाल लिये निज कर में।
रूप आरती सजा खड़ी किस सुन्दर के स्वागत चिन्तन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।
सूखी सी सरिता के तट पर,
देवि ! खड़ी सूने पनघट पर,
अपने प्रिय दर्शन अतीत की कविता बाँच रही हो मन में ?
जीवन के शुचि-शून्य सदन में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नव यौवन की चिता बनाकर।
आशा कलियों को स्वाहा कर,
भग्न मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में।
जीवन के शुचि शून्य सदन में।

'गीत वासिनी' में सौंदर्य-सज्जा के विभिन्न उपकरण लेकर कवि ने अपनी कल्पना की नायिका का शृङ्गार किया है। इस शृङ्गार की विशिष्टता यह है कि वह स्थूल सौंदर्य की सर्जना न करके अतीन्द्रिय भास्वर रूप का निर्माण करता है।

स्वर्णदीप्त ललाट पर दे एक टीका लाल,
बालरवि से आँक दूँगा चन्द्रमा का भाल।
आँख में काली घटा, उर में प्रणय की प्यास,
साँस में दूँगा मलय का पूर्ण भर उच्छ्वास।

'विपक्षिणी' मैथ्यू आयर की एक कविता का भावानुवाद है। उसमें कवि ने तर्कशीला नारी के सन्मुख पुरुष की पराजय घोषित की है। नारी तर्कमयी हो अथवा मौन, पुरुष उससे बौद्धिक समकक्षता नहीं चाहता, भावना का आधार लेकर हार मान लेता है यही इस कविता का प्रतिपाद्य है।

दिनकर के प्रबन्ध-काव्यों—उर्वशी और रश्मिरथी में नारी के विविध रूप प्राप्त हैं जिनको हम मुख्य इन चार परिसीमाओं में बाँध सकते हैं—प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता। एक पाँचवाँ रूप सखी का भी है। 'उर्वशी' में उर्वशी के चरित्र में कवि ने प्रेयसी और प्रिया (उर्वशी के प्रिया-रूप के सन्मुख प्रश्नचिह्न लगा है सिवाय इसके कि वह आयु की माता है) और माता, औशीनरी के चरित्र में पत्नी, सुकन्या के चरित्र में प्रिया और माता का अंकन किया है, बाकी स्त्री-चरित्र या तो औशीनरी की सखियाँ हैं या उर्वशी की। 'रश्मिरथी' का मुख्य स्त्री-चरित्र कर्ण की माता कुन्ती है।

'उर्वशी' में दिनकर ने उर्वशी, औशीनरी और सुकन्या तीन चरित्रों को बराबर-बराबर रखकर नारी को प्रत्येक पहलू से देखने का प्रयत्न किया है। प्रेयसी, पत्नी, प्रिया और माता-रूपों के संदर्भ में इन चरित्रों का अंकन अनुपयुक्त न होगा।

प्रेयसी—उर्वशी पुरूरवा की प्रेयसी है। विवाहित होकर भी राजा पुरूरवा अपनी रानी को भूलकर उसके प्रति लुभाये हैं। प्रेयसी में जिस यौवन मदालस भाव को पुरुष देखना चाहता है उसकी अभिव्यंजना दिनकर ने इस प्रकार की है—

किसी सान्द्र वन के समान नयनों की ज्योति हरी थी,
बड़ी-बड़ी पलकों के नीचे निद्रा भरी भरी थी।
अंग-अंग में लहर लास्य की राग जगाने वाली,
नर के सुप्त, शान्त शोणित में आग लगाने वाली।

प्रेयसी के इस रूप को पुरुष अंक में भर लेता है, उसको प्राप्त करने के लिए किसी भी महान से महान कष्ट को झेलने से भी नहीं कतराता। उर्वशी को प्राप्त करके पुरूरवा हर्ष-विह्वल पुकार उठे थे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और प्रेम पीड़ित नृप बोले, 'क्या उपचार करूँ मैं ?'
सुख की इस मादक तरंग को कहाँ समेट धरूँ मैं ?

× × ×

प्राणों की मणि ! अयि मनोज्ञ मोहिनी ! दुरन्त विरह में
नहीं झेलता रहा वेदनाएँ क्या-क्या दुस्सह मैं ?

प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके प्रेम में उन्मत्त होकर इतर समस्त विश्व को भूल जाता है। प्रेयसी स्वकीया भी हो सकती है और परकीया भी। उर्वशी परकीया से प्रारम्भ होकर स्वकीया प्रेयसी बनी थी। गन्धमादन पर्वत पर अपना राजकाज सब-कुछ भूलकर पुरूरवा उसके प्रेम में डूबे रहे थे। प्रिया बनना उर्वशी के सौभाग्य में न था क्योंकि राजा की रानी की भाँति वह राजा के नित्यप्रति की दिनचर्या में समभागी न हो सकती थी। वह अभिशप्त नारी माता बनकर पति और पुत्र दोनों का मुख एक साथ न देख सकती थी। कुलवधुओं की दृष्टि में वह गणिका से अधिक कुछ न थी। औशीनरी के शब्दों में—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुल वामाओं को तड़पाती हैं !
जाल फेंकती फिरती अपने रूप और यौवन का,
हँसी-हँसी में करती हैं आखेट नरों के मन का।

किन्तु फिर भी प्रेयसी, नारी का वह रूप है जिसमें पुरुष उसके बुद्धिबल का सम्मान समादर करता है; वह नर की प्रेम-पात्री होकर उसके साथ जीवन के गम्भीर तत्त्वों पर, स्वर्ग और धरती के विषय में परस्पर विचार-विनिमय के योग्य समझी जाती है। पुरूरवा ने उर्वशी को इसी प्रकार का गौरव प्रदान किया था।

पुरूरवा और उर्वशी के रूप में कवि ने उन दो पात्रों को मिला दिया है जिनमें एक पुरूरवा पृथ्वी का जीव होकर भी स्वर्ग की असीमता में विहरना चाहता है और दूसरा स्वर्ग का वासी होकर भी उससे अतृप्त है क्योंकि सीमा के बन्धन का आकर्षण अतुल्य है असीमता उसकी क्या बराबरी कर सकेगी ?

पुरूरवा ने कहा—

रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ भेद उसका जान लूँ
पन्थ हो सौंदर्य की आराधना का व्योम में यदि
शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।
पर, जहाँ तक भी उड़ूँ इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।

उर्वशी ने उत्तर दिया—

इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरों की हँसी यह कुन्द-सी, जूही की कली-सी ?
गौर चम्पक यष्टि सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा के स्वप्न-साँचे में ढली सी ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तुम्हारी कल्पना है प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल कपूर कुँकुम से, कुटज से
इस अतुल सौंदर्य का शृङ्गार कर लो।

प्रेयसी के प्रति उद्दाम वासना पुरूरवा के इन वाक्यों में अभिव्यंजित हुई है—

फिर क्षुधित कोई अतिथि आवाज़ देता,
फिर अधर पुट खोजने लगते अधर को,
कामना छूकर त्वचा को फिर जगाती है,
रेंगने लगते सहस्रों साँप सोने के रुधिर में,
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।

× × ×

कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर,
वारुणी की धार से नहला रही है?
कौन है यह जग समेटे अंक में ज्वालामुखी को,
चाँदनी चुमकार कर बहला रही है?

• प्रेयसी की बाँहों में सिमटे हुए पुरुष की अवशता को दिनकर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

पर न जाने बात क्या है!
इन्द्र का आयुध पुरुष जो झेल सकता है,
सिंह से बाँहें मिलाकर खेल करता है,
फूल के आगे वही असहाय हो जाता,
शक्ति के रहते हुए निरुपाय हो जाता,
बिद्ध हो जाता सहज बंकिम नयन के बाण से
जीत लेती रूप-सी नारी उसे मुसकान से।
मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूँ।

प्रेयसी जीवन संग्राम से जूझते हुए पुरुष के तप्त वपु के लिए ही केवल विश्राम-भूमि नहीं है; उसके अंक में आत्मा की तृप्ति भी प्राप्त है जो विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। पुरूरवा के शब्दों में—

बाहुओं के इस वलय में गात्र ही बन्दी नहीं है,
वक्ष के इस तल्प पर सोती न केवल देह,
मेरे व्यग्र, व्याकुल प्राण भी विश्राम पाते हैं।

प्रेयसी के नयनों की गहराई में पुरुष तन की सीमा का अतिक्रमण करके उस लोक के दर्शन करता है जहाँ सीमा स्वयं को असीम के प्रति समर्पित करती है, कवि दिनकर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार प्रेयसी वही सौन्दर्य-सेतु है जो देह और आत्मा की खाई को दूर करके उनको परस्पर मिलाता है—

तन का अतिक्रमण, यानी इन दो सुरम्य नयनों के
वातायन से झाँक देखना उस अदृश्य जगती को
जहाँ मूर्त्ति की सीमा सूनेपन में बिला रही है।
अनुलंघ्य वह नहीं प्रभा के पुल से संयोजित है।
मध्यान्तर में देह और आत्मा के जो खाई है,
अतिक्रमण कर इसलिए पार कर इस सुवर्ण सेतुक को
उद्भासित हो सकें भूतरोत्तर जग की आभा से।

× × ×

यह अतिक्रान्ति वियोग नहीं, आलिंगित नर-नारी का,
देह धर्म से परे अन्तरात्मा तक उठ जाना है।

× × ×

ले जाना है ग्रह समूल नगपति के तुंग शिखर पर,
वहाँ जहाँ कैलाश-प्रान्त में शिव प्रत्येक पुरुष है,
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी।

पत्नी—भारतीय समाज में पत्नी की परिकल्पना यद्यपि प्रेयसी और प्रिया की भावना से समन्वित है तदपि संस्कार इस समाज की 'पत्नी' कहलाने वाली नारी को गृह-स्वामिनी से अधिक गौरव प्रदान नहीं करते। सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों में पति की समभागी सहभोक्ता होती हुई भी यह नारी प्रायः उसके प्रेम से आजीवन वंचित-सी रहती है; पुरुष उसे अधिकार से प्राप्त सम्पत्ति से अधिक महत्त्व नहीं देता। कालिदास के 'शाकुंतलम्' की वेत्रवती, हँसपदिका आदि और उर्वशी काव्य की औशीनरी ऐसी ही अभागिनी नारियाँ हैं।

पति के अन्य-स्त्री-अनुरक्त होने पर ये नारियाँ विद्रोह नहीं कर सकतीं। एक दुर्बल आह-मात्र भरकर रह जाती हैं—

औशीनरी—

आजीवन वे साथ रहेंगे ? तो अब क्या करना है ?
जीते जी यह मरण झेलने से अच्छा मरना है।

कुलवामाओं के कुलधर्म में सिमटी-सिकुड़ी यह पति को अपनी ओर अनुरक्त करने वाली स्त्री से क्षुब्ध तो होती हैं किन्तु स्वयं को लाचार पाती हुई कह उठती हैं—

ये प्रवंचिकाएँ, जाने क्यों तरस नहीं खाती हैं,
निज विनोद के हित कुलवामाओं को तड़पाती हैं।

भारतीय पत्नी संस्कार से ही स्वयं अपने को पति की सम्पत्ति समझती है। इसी से सहज समर्पण तो कर देती है किन्तु जिस लीला-विलास का पुरुष प्यासा होता है उसे केवल गणिका का निरावृत प्रेमोद्घाटन समझकर अपनी कुलशील महिमा को बचाती हुई उसकी छाया भी नहीं छूने देती; इसी से केवल पत्नी कहलाने वाली नारी से पुरुष दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता जाता है। नारी में प्रेम की उद्दाम तरंग देखने के लिए वह अन्य स्त्रियों की, अप्सराओं की मरु-मरीचिका में भटका करता है। औशीनरी ने जीवन में सब-कुछ खोकर इस तथ्य को समझा था। उसने पुरूरवा के वनगमन के पश्चात् सुकन्या के सम्मुख इस तथ्य की स्वीकृति भी की थी—

गँवा दिया सर्वस्व हाय मैंने छिपकर छाया में,
अस्वीकृत कर खुली धूप में आँख खोल चलने में।
देवि ! प्रेम के जिस तट पर अप्सरा स्नान करती है
गई नहीं क्यों मैं तरंग आकुल उस रसित पुलिन पर ?
पछताती हूँ हाय, रक्त आवरण फाड़ व्रीड़ा का
व्यंजित होने दिया नहीं क्यों मैंने उस प्रमदा को
जो केवल अप्सरा नहीं, मुझ में भी छिपी हुई थी ?

× × ×

जीत गईं वे जो लहरों पर मचल-मचल चलती थीं,
उड़ सकती थीं खुली धूप में, मेघों-भरे गगन में,
हारी मैं इसलिये कि मेरे व्रीड़ा विकल दृगों में
खुली धूप की प्रभा, किरण कोलाहल की गड़ती थी।

भारतीय नारी अपने इस विवश रूप में भी गौरवमयी रह सकी है क्योंकि सामाजिक उत्तरदायित्वों के जिन गुरु भारों से पुरुष घबरा गया है, सामाजिक संघर्ष में न जूझकर उसने वन की शरण ली है वहाँ परिताप की अग्नि में दग्ध होकर भी पत्नी कहलाने वाली नारी कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुई है। औशीनरी उसी पत्नी का प्रतिनिधित्व करती है जो पति की दुर्बलताओं को दुलराती हुई, उसके हाथों अनेक कष्ट सहती हुई भी उसकी वंश-रक्षा के उत्तरदायित्व को निभाती है। अप्सरा के पुत्र को गले से लगाती हुई औशीनरी कह उठती है—

हाय पुत्र ! मैं भी जीवन भर बहुत-बहुत प्यासी थी;
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

सुकन्या ने औशीनरी के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, शान्ति, करुणा है।
इसीलिये इतिहास पहुँचता जभी निकट नारी के,
हो रहता वह अचल या कि फिर कविता बन जाता है।

पुरूरवा के बिना बताए वन-गमन के विषय में औशीनरी का आक्रोश गुप्तजी की यशोधरा के वाक्यों की दुर्बल प्रतिध्वनि मात्र लगता है। यशोधरा के समर्थ मान का वहाँ नितान्त अभाव है।

प्रिया—प्रिया नारी का वह रूप है जिसमें पत्नी प्रेयसी बन जाती है; वह पुरुष के सुख-दुःख की समभागी बनकर उसके लिए अपूर्व शान्तिमय लोक की सर्जना करती है, सुकन्या ने च्यवन के लिए वैसा ही किया था। सुकन्या को देखकर च्यवन के शुष्क स्थाणु-प्राय हृदय में हरियाली छा गई थी; अपने मन के भावों को सीधे-सादे से शब्दों में अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्त करके जब उन्होंने सुकन्या से स्वयं उसको माँगा था तो गद्‌गद् हुई राजकुमारी ने धन-वैभव को पाँवों तले रौंदकर ऋषि-पत्नी बनना स्वीकार कर लिया था। नारी का ऐसा प्रणयी-रूप ही सम्भवतः दिनकर का आदर्श है। च्यवन ने सुकन्या को देखकर कहा था—

कहाँ मिला यह रूप, देखते ही जिसको पावक की
दाहकता मिट गई, स्थाणु में पत्ते निकल रहे हैं ?

× × ×

मणि-माणिक्य नहीं, तप केवल एक रत्न तापस का;
शुचिस्मिते ! मैं वही रत्न तुमको अर्पित करता हूँ।
हम तुम मिलकर साथ रहेंगे जहाँ पर्णशाला में,
शुभे स्वर्ग वरदान माँगने वहाँ स्वयं आयेगा।

सुकन्या वह प्रिया थी जिसे पति के पवित्र प्रेम की दृढ़ आधार-भूमि प्राप्त थी। जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा के आदर्श की भाँति जो 'विश्वास रजत नग पगतल में पीयूष स्रोत-सी बहती थी।' उस दृढ़ विश्वास से प्रेम का अमरत्व भोगती हुई 'प्रिया' 'नारी' अप्सरियों को भी चुनौती देती हुई कह सकती है—

अप्सरियाँ उद्विग्न भोगतीं रस जिस चिर-यौवन का,
उससे कहीं महत सुख है जो हमें प्राप्त होता है
निश्छल शान्त विनम्र, प्रेम भर उर के उत्सर्जन से

तथा

अप्सरियाँ जो करें किन्तु हम मर्त्य योषिताओं के
जीवन का आनन्द कोष केवल मधुपूर्ण हृदय है।
हृदय नहीं त्यागता हमें यौवन के तज देने पर,
न तो जीर्णता के आने पर हृदय जीर्ण होता है।

माता—नारी के विविध रूपों में मातृत्व वह स्थिति है जहाँ उसका वास्तविक रूप निखरकर आता है। माता के रूप में नारी स्वयं सृष्टि की अधिष्ठात्री सत्ता ही है। अत्यन्त असंग भाव से अरूप को रूप तो वह देती ही है निस्वार्थतः उसका पोषण भी करती है। दिनकर ने शब्दों में मातृत्व की इस महान् स्थिति को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नये मनुज नव प्राण दृश्य जग में आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ, देव-दानव-मनुज से छिपकर
महाशून्य चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है।
सच पूछो तो प्रजा सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?
यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पूर्ण करती है।
सत्व भार सहती असंग सन्तति असंग जनती है;
और वही शिशु को ले जाती मन के उच्च निलय में
जहाँ निरापद सुखद कक्ष है शैशव के झूले का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि यह ठीक है कि मातृत्व को प्राप्त करने पर स्त्री में वह युवावस्था का स्वाभाविक लावण्य विनष्ट होने लगता है जो पुरुष के आकर्षण का मुख्य केन्द्र है; शरीर के रेखा-वृत्त आदि वैसे साँचे में ढले से नहीं रहते किन्तु मातृत्व की गरिमा के गुरुभार के सम्मुख सौन्दर्य के वे मानदण्ड कितने हलके हैं ? मेनका के शब्दों में कवि दिनकर कह उठते हैं—

गलती है हिमशिला सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?

हिमशिला जब गलकर जीवन-वाहिनी स्रोतस्विनी बन जाती है और क्षेत्रों को हरा-भरा करती हुई प्रवाहित होती है तभी उसका सौन्दर्य मुखर होता है। जड़ हिम के रूप में देह की गठन रखकर भी उसका क्या मूल्य ?

'उर्वशी' में दिनकर ने आयु को गर्भ में वहन करती हुई उर्वशी के रूप में गर्भिणी नारी का बड़ा सजीव सुन्दर वर्णन किया है । मातृत्व के संभार से युक्त नारी के व्यक्तित्व में अभूतपूर्व सन्तोष और तृप्ति का सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है । दिनकरजी ने गर्भिणी की उपमा उस मेघाली से की है जिसने समुद्रजल को छककर पिया हो—

और नारियों में भी श्लथ, गर्भिणी सत्त्वशीला को,
देख मुझे सम्मानपूर्ण करुणा सी हो आती है ।
कितनी विवश किन्तु, कितनी लोकोत्तर वह लगती है ।
देह कान्ति पीतिमायुक्त, गति नहीं पदों के वश में,
चल लेती है किसी भाँति पीवर उस मेघाली-सी,
जो समुद्र का जल पीकर मन्थर डगमगा रही हो ।

गर्भिणी की मुख मुद्रा पर भविष्य के उस शिशु कहलाने वाले जीव के भाव ही आप्लावित रहते हैं क्योंकि सत्त्ववती नारी अपत्य के ध्यान में अधिकांश निमग्न रहती है—

जो चाहता भविष्य, वक्त पर वही भाव आते हैं ।
मानो जो ले जन्म कभी तुतली वाणी में बोलेगा,
लगा भेजने वह अजात तुतले संकेत अभी से ।

सद्यःप्रसूता उस नौका के समान है जो दृश्य से अदृश्य जग में जाकर दृश्य के लिए सार्थ ले आई हो और उस गुरुभार से उऋण होकर अब अशेष तन्द्रा में निमग्न-सी हो गई हो । च्यवन के शब्दों में—

तट पर लगी अचल नौका सी जो अदृश्य में जाकर,
दृश्य जगत के लिए सार्थ जीवन का ले आई हो,
और रिक्त होकर प्रभार से अब अशेष तन्द्रा में,
याद कर रही हो धुँधली बातें अदृश्य के तट की ।

मातृत्व का गौरव केवल उन नारियों को ही प्राप्त नहीं है जिन्होंने सत्त्व ग्रहण करके उसको जन्म दिया हो; बल्कि माता वह भी है जो शिशु को हृदय से लगाकर पालती है । उर्वशी ने सुकन्या से कहा था—

केवल भ्रूण वहन, केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है
माता वही, पालती है जो शिशु को हृदय लगाकर ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उर्वशी' काव्य में उर्वशी-जैसी अप्सरा में भी माता के अपत्य के प्रति सहज अनुराग को कवि ने बड़ी समवेदना और सहानुभूति से अभिव्यंजित किया है। दैविक शाप के कारण उर्वशी यद्यपि पति और पुत्र दोनों का मुख एक साथ न देख सकने के लिए अभिशप्त थी किन्तु च्यवन के आश्रम में पुत्र को छोड़कर जाने के लिए बाध्य होने पर भी वह समय-समय पर आयु को कैसे हृदय से जुड़ाती थी—

'अरी जुड़ाना क्या इसको ? ला दे इस हृदय कुसुम को,
लगा वक्ष से स्वयं प्राण तक शीतल हो जाती हूँ।

अपने गर्भ के दिनों की स्मृति-रूप में उर्वशी प्रत्येक माता की अपत्य के प्रति सहज कामना को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है—

यही चाहती थी, समेट कर पी लूँ सूर्य-किरण को,
विधु की कोमल रश्मि, तारकों की पवित्र आभा को,
जिससे यह अपरूप, अमर ज्योतियाँ गर्भ में जाकर,
समा जायँ इसके शोणित में, हृदय और प्राणों में।
यही सोचती थी त्रिलोक में जो भी शुभ सुन्दर है,
बरस जाय सब एक साथ मेरे अंचल में आकर,
मैं समेट सबको रच दूँ मुस्कान एक पतली सी,
और किसी भी भाँति उसे जड़ दूँ इसके अधरों पर।

पुरूरवा के राज्य में लौटने के पश्चात उर्वशी राजरानी बनकर रह रही थी। राजा ने च्यवन के आश्रम का स्वप्न जब देखा तो उर्वशी को ज्ञात हो गया कि पति और पुत्र दोनों से बिछुड़ने का समय अब आ गया है। राजा के स्वप्न को एक-एक कड़ी के पश्चात्, 'हाय ! अपाले पानी दे' की घोषणा उर्वशी के नारीत्व, मातृत्व पर देवशाप के कुठाराघात की व्यंजना करती है।

मातृत्व की प्यास प्रत्येक नारी के हृदय में निहित रहती है। औशीनरी अपत्य-सुख से आजीवन वंचित रही। परम्परागत संस्कारों में पोषित औशीनरी पति के पुत्र को ही पुत्र मानकर पुकार उठती है—

हाय ! पुत्र मैं भी जीवन-भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
शीतल जल का पात्र अधर से पहले पहल लगा है।

'उर्वशी' काव्य के अतिरिक्त मातृत्व की एक बिल्कुल भिन्न परिस्थिति दिनकर ने 'रश्मिरथी' में देखी है। कर्ण की माता कुन्ती कुरुकुल की राजमहिषी थी। कुमार जीवन में सूर्य के साहचर्य से कर्ण-जैसा यशस्वी बालक उसे मिला था। कुन्ती भारतीय समाज की भीरु कुमारी माता से अधिक कुछ नहीं थी जो माता बनने पर समाज के ठेकेदारों से डरकर अपत्य को फेंक देती हैं और फिर ग्लानि की आग में मन-ही-मन जलकर भी ऊँचे महलों के प्रतिष्ठित जीवन की प्रवंचना में मन बहलाती है। विवाहिता होकर यह अपने प्रथम शिशु को भूल जाती है।

कुन्ती कर्ण के पास इसलिए नहीं गई थी कि कर्ण के प्रति उसका उमड़ता स्नेह का स्रोत था; बल्कि इसलिए गई थी कि पाण्डवों की प्राणरक्षा करने का महत् प्रश्न उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मुख था। कुन्ती का अभागा त्यक्त पुत्र कर्ण इस विडम्बना को भली-भाँति जानता था। इसीलिए कुन्ती के ममत्व-प्रदर्शन पर (चाहे स्वाभाविक ममत्व भी पुत्र को देखने पर उमड़ आया हो परन्तु वह ममता पहले कहाँ थी ?) कर्ण क्षुब्ध हो गया। कर्ण के रूप में कवि दिनकर इस बात को मानने को तत्पर नहीं है कि कुमार-जीवन में माता बन जाने पर नारी अपने हृदय के टुकड़े को फेंक दे, केवल समाज से डरकर, प्रतिष्ठित जीवन यापन की साध में।

'रश्मिरथी' में कर्ण कुन्ती की इस दलील से सहमत नहीं है कि—

पर मैं कुमारिका थी जब तू आया था,
अनमोल लाल मैंने असमय पाया था।
अतएव हाय, अपने दुधमुँहे तनय से,
भागना पड़ा मुझको समाज के भय से।
बेटा धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।

प्रतिष्ठा के पद में भूली हुई अपनी माता के प्रति कर्ण के ये शब्द बड़े मार्मिक और हृदय-भेदी हैं—

ठकुरानी क्या लेकर तुम मुझे करोगी ?
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी ?

× × ×

उलटे मुझको असहाय छोड़कर जल में,
तुम लौट गई इज्जत के बड़े महल में।

सद्यःप्रसूत दुधमुँहे बच्चे को त्यागकर चले जाने वाली माँ, माँ कहलाने की अधिकारिणी नहीं है क्योंकि नारी-हृदय के सहज ममत्व को उसने सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए तिलाञ्जलि दे दी। कर्ण कुन्ती से कहता है—

अपना खोया संसार न तुम पाओगी,
राधा माँ का अधिकार न तुम पाओगी।
छीनने स्वत्व उसका तो तुम आई हो,
पर कभी बात भी यह मन में लाई हो ?
उसको सेवा तुमको सुकीर्ति प्यारी है,
तुम ठकुरानी हो वह केवल नारी है।
तुमने तो तन से मुझे काढ़ कर फेंका,
उसने अनाथ को हृदय लगाकर सेंका।

कुमारी कन्या यदि सुयोग अथवा दुयोग से माता बन जाय तो कवि दिनकर की उसके प्रति चुनौती और संदेश यह है—

विधि का पहला वरदान मिला जब तुमको,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोदी में नन्हा दान मिला जब तुमको,
क्यों नहीं वीर माता बन आगे आई,
सबके समक्ष निर्भय होकर चिल्लाई,
सुन लो समाज के प्रमुख धर्म-ध्वज-धारी,
सुतवती हो गई मैं अनब्याही नारी।
अब चाहो तो रहने दो मुझे भवन में,
या जातिच्युत कर मुझे भेज दो बन में।
पर मैं न प्राण की इस मणि को छोड़ूँगी,
मातृत्व धर्म से मुख न कभी मोड़ूँगी।
यह बड़े दिव्य उन्मुक्त प्रेम का फल है,
जैसा भी हो, बेटा माँ का संबल है।

× × ×

शायद समाज टूटता वज्र बन तुम पर,
शायद घिरते दुख के कराल घन तुम पर।

× × ×

पर, सह विपत्ति की मार अड़ी रहती तुम,
जग के समक्ष निर्भीक खड़ी रहती तुम।

× × ×

भोगती राजसुख रहकर नहीं महल में,
पालती खड़ी हो मुझे कहीं तरु तल में।
लूटती जगत में देवि ! कीर्ति तुम भारी,
सत्य ही कहाती सती सुचरिता नारी।

मातृत्व के इस गौरव की महिमा को हिन्दी के जागरूक लेखक ने आज के युग में पूर्णतः पहिचान लिया है। हिन्दी का कोई भी प्रगति-प्रेमी लेखक समाज से प्रताड़ित नारी को भीरु नहीं देखना चाहता। कुमारी माता के प्रति दिनकर की उपर्युक्त चुनौती महादेवी के इन वाक्यों से कितना साम्य रखती है देखिये—

"यदि ये स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि, 'बर्बरो तुमने हमारा नारीत्व-पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी तो इनकी समस्या तुरन्त सुलझ जावे। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्याग-भरे मातृत्व के साथ स्वीकार नहीं कर सकता, क्या वह इनकी कायरता और दैन्य-भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर रखकर पूजेगा ?"—अतीत के चलचित्र ६।

कुन्ती को असहाय कुमारिका माता बनकर कर्ण से प्रार्थना करनी पड़ी तभी वह उसके प्रति कुछ द्रवित हो सका। अर्जुन से इतर चार पाण्डवों के लिए उसने अभय-दान भी कुन्ती को प्रदान किया।

इस प्रकार दिनकर के काव्य में नारी के विविध रूपों का परिचय प्राप्त करके यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस महान कवि ने युग की चेतना के अन्य पक्षों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ नारी के प्रति दृष्टिकोण को पर्याप्त सच्चाई और सहानुभूति से प्रतिष्ठित किया है। नारी-जीवन के मुख्य पहलुओं प्रेयसी, प्रिया, पत्नी और माता की स्वस्थ और तथ्यपूर्ण व्याख्या और प्रतिष्ठा तो की ही है साथ ही उनकी कमजोरियों की यदि उन्हें कहीं पाया है तो कटु-शब्दों में आलोचना भी की है। ऊँच अथवा नीच कहलाने वाले सभी वर्गों की नारियों की विवशताओं और सबलताओं को कवि ने अपनी आत्मा में आत्मसात किया है।

कवि के अनुसार नारी सृष्टि की सबसे बड़ी शक्ति है। उसके वक्ष पर सिर रखकर जीवन-संघर्ष में जूझता पुरुष मर्त्य-भाव को भूलकर कुछ क्षणों के लिए ही चाहे हो अमर हो जाता है—

और वक्ष के कुसुम कुंज, सुरभित-विश्राम भवन ये,
जहाँ मृत्यु के पथिक ठहर कर श्रान्ति दूर करते हैं।

नारी-जीवन की सार्थकता को कवि ने पुरुष और नारी की प्रणय-निगूढ़ एकत्वानुभूति की स्थिति में माना है। चित्रलेखा के शब्दों में—

बलिहारी उस पूर्ण प्रेम की जिसकी क्षिप्र लहर में,
केवल मन ही नहीं, अंग संज्ञा भी खो जाती है।
धन्य त्रिया वह जो बलिष्ठ नर की पिपासु बाँहों में,
आँख मूँद रसमग्न प्रणय-पीड़न असह्य सहती है,
जैसे बहता कुसुम तरंगित सागर की लहरों पर।

'नारी-जीवन' के विविध पक्षों का समग्र विवेचन करके दिनकर ने आधुनिक युग के काव्य के एक वृहद् उत्तरदायित्व की पुष्टि की है।

बैजनाथ सिंहल

नया भाव-बोध और धर्मवीर भारती

आज हिन्दी-जगत् में 'आधुनिकता और नये भाव-बोध' विषय पर आक्षेपकों और समर्थकों के ऐसे दो वर्ग बने हुए हैं जिनमें अधिकांशत: कवि और आलोचक ठोस सैद्धान्तिक सत्य को स्वीकारते हुए भी जान-बूझकर आँख मींच जाते हैं और पूर्वाग्रहों (Platitudes) के रंग में रँगकर गतानुगतिकता को श्रेयस्कर समझते हैं। इनमें—पहला और ऐसा वर्ग उन कवियों और आलोचकों का है जो छायावादी प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त नहीं हो सका है और कदाचित् विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सस्ती कविताओं के अध्ययन-मात्र से नयी कविता का विरोधी हो बैठा है; क्योंकि नये अविकारी-कवियों के काव्यों पर उसने दृष्टि-निक्षेप प्रथमत: तो किया ही नहीं, दूसरे एक चिढ़ जो बन गई है। इस प्रकार उक्त विद्वान नयी-कविता का मूल्यांकन छायावादी मान-दण्डों के आधार पर करते हैं। दूसरे वर्ग में कुछ ऐसे विद्वान हैं जो कि स्वयं नये कवि और आलोचक, दोनों हैं। नयी-कविता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयुक्त समर्थन से ऊपर उठ, ये लोग अतिवादिता का ऐसा गहरा मुल्लमा चढ़ाते हैं जो वास्तविकता में अस्वीकार्य हो उठता है। ऐसी स्थिति में सामान्य पाठक अथवा साहित्य-प्रेमी की स्थिति अनिवार्यतः शोचनीय हो उठी है। नयी-कविता के अतिरिक्त समस्त हिन्दी-काव्य-जगत् में पारंगत होने पर भी इन नये कवियों और आलोचकों को उसकी योग्यता पर सन्देह है। यदि वह समसामयिकता से कदम सटाकर चले तो उसे यह अतिवादिता का मुल्लमा कुछ अंशों में स्वीकारना ही होगा।

उक्त भ्रान्तियों के सम्यक् निवारण हेतु नए भाव-बोध का विश्लेषण छायावाद के परिप्रेक्ष्य में रखकर ही करना होगा। नया भाव-बोध क्या है ? छायावाद से इसमें क्या भिन्नता है ? इसकी केन्द्रीयता छायावादी भित्ति से किस रूप में विलगता पाती है ? आदि —सभी पर तर्क आश्रित निर्णय अपेक्षित है।

यदि रीतिकाल को भक्तिकाल की प्रतिक्रिया मान लिया जाए, और छायावाद को रीतिकालीन नायिका के गालों पर से पान-पीक के धब्बे पोंछकर स्वच्छ और सुसज्जित पोशाक पहनाने वाला मान लिया जाए, तो निश्चित रूप से नयी-कविता को छायावाद के इसी रूप की प्रतिक्रिया स्वीकार करना होगा, क्योंकि इसी में सौन्दर्य के अन्दर छिपी नर और नारी दोनों की हार्दिक रुग्णता मुखरित हो सकी है। छायावादी कविता यथार्थता से बहुत दूर कोरी भावुकता के स्वप्नजाल में उलझकर आत्म-सन्तोष पाती रही। वहाँ पर स्वर्ण-धूमिका में प्रच्छन्न स्वर्ण प्राची की अनवरत प्रतीक्षा होती रही। सभी कटु-सत्यताओं के प्रति छायावादी कवि आँख मींचकर गरलपान करता हुआ खोखली राष्ट्रीयता का दम्भ भरता रहा, जो न्यूराटिक (Neurotic) ओज की पुंसत्वहीन साहसिकता पर आधारित थी, वह इसे अपने हृदय का हार इसलिए बनाए रहा क्योंकि यह सभी प्रकार की यथार्थता की घुटन से दूर उस एकाकी को काल्पनिक स्वप्नलोक के उस स्वर्गिक उद्यान में विचरण कराती थी। यहाँ इस सबकी पहुँच नहीं थी। मन में विक्षुब्ध, प्राण में थका, तन में जर्जरित, घ्राण में मूर्च्छित होकर भी वह इसी स्वप्नजाल को ग्राह्य मानता रहा क्योंकि उसकी धारणा बन चुकी थी कि दिल-बहलाव के लिए इससे अधिक उपयुक्त साधन और कोई नहीं।

नयी कविता इसके ठीक विपरीत युग-सत्य, यथार्थता, आधुनिकता को लेकर चली है। वह शिव-अशिव, प्रकृति-विकृति, हार-जीत, क्षणिकता, ऐन्द्रिकता से विकसित होती हुई भाव-जगत् के नूतन सन्दर्भों को विकसित करती रही है। जिन कमियों को छायावाद ने रहस्याच्छादित कर दिया था, उन्हीं की पोल खोलकर नयी कविता विवेक और सत्यता की आँच में तपकर निखरी है। नया-कवि केवल स्वर्ण ही नहीं देखता, मिट्टी भी देखता है, वह केवल चन्द्रमा की शीतलता में ही नहीं नहाता, प्रत्युत सूर्य की गर्मी में भी तपता है, नक्षत्रलोक में ही विचरण नहीं करता पृथ्वी की धूल में भी लोटता है, सभी अंगों में निरी कमलों की सुन्दरता नहीं निरखता वरन् जर्जर हाड़ों का भी साक्षात्कार करताहै। शलभ को जलते देख किसी के विरह में उच्छ्वास और आहें ही नहीं छोड़ता बल्कि लाखों, करोड़ों दीन-दुखियों, निस्सहायों और पीड़ितों की आहों और रुदन की ध्वनि को भी सुनता है। इस प्रकार उसका काव्य युगमय है और युग स्वयं में नयी कविता। जो नयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का अध्ययन करना चाहे, मेरी सम्मति है कि वह पहले युग का अध्ययन करे। कोरी कल्पना और भावुकता को छोड़कर वास्तविक युग-सत्य की आँच में तपे। सस्ते मनोरंजन की अपेक्षा आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष सत्य का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषण करे।

नयी-कविता में आधुनिकता का परिप्रेक्षण केवल कालगत (Chronological) आधुनिकता नहीं, वरन् भावगत नवीनता भी है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के शब्दों में—"नवीनता को बहुधा लोग अनोखा (Strange) का नाम देकर हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं, क्योंकि वे भाव की नवीनता, स्तर की नवीनता, दृष्टि की नवीनता को महत्वहीन समझकर साधक और सिद्धि को सत्य मानते हैं, एकालाप और विलाप की निष्क्रियता को सक्रिय मानते हैं, महफिल और मजलिस में मनोरंजन उनका ध्येय होता है, तुक और लय में वेतुकी कहने की धृष्टता उनमें होती है। आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष-तत्व को वे अमर्यादित सत्य कहकर ठुकरा देना चाहते हैं। वे सारी हिन्दी-कविता को सिनेमा गीत के स्तर पर देखना चाहते हैं।[1] अस्तु ये साहित्य-प्रेमी व्यंग्यार्थ में सच्चे सहृदय (प्रमाता) नये कवि की रचना को देखकर बौखला क्यों न जाएँ। वे उस गरीब पर दुस्साहस का आरोप कर यह भूलना चाहते हैं कि नवीनता के स्तर के साथ-साथ वह एक नूतन दृष्टि का भी बोध कराता है। नया भाव-बोध नये स्तर और नयी-दृष्टि के साथ-साथ नये मूल्यों को साथ लेकर विकसित हुआ है। यह नया-मूल्य आधुनिकता में रंगकर आतमवेदना की गहराई से उठता हुआ काव्य-परिवेश के अन्वेषण की ओर अग्रसर होता है।

बहुत से साहित्य-मर्मज्ञ जो नये भाव-बोध का विरोध केवल विरोध करने के लिए ही करते हैं उनसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे छायावाद के उस युग पर क्षणिक दृष्टि-निक्षेप करें, जहाँ पर यथार्थ की संवेदनशीलता से द्रवीभूत होकर छायावादी कवि गुलाब की पंखुड़ियों का मोह छोड़ उस दिशा में सोचने पर बाध्य हो गया, जिस भूमि पर आज की नयी कविता प्रतिष्ठित है। निराला उनमें सर्वप्रथम हैं। संस्कारबद्ध रूढ़ि में उलझे शब्दार्थ को छोड़कर समकालीन यथार्थता को प्रदर्शित कर सकने की क्षमता से युक्त शब्दों द्वारा उनका विषय 'जूही की कली' पर से कुकुरमुत्ता पर आ ठहरा। इसका प्रमुख कारण थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ और इससे प्रमुख थी कवि की अनुभूति की प्रगाढ़ता जो गत और आगत बन्धनों को तोड़कर सच्चा-जीवन जीने के लिए चीत्कार कर उठी। आरोपित मूल्यों का अवमूल्यन कर उसमें जागृति की प्रौढ़ता ने पर्यावसान पाया। यह युग था संक्रमणकाल का। इसका यथार्थ, विघटित मानव-आस्था के स्तर का यथार्थ, युद्ध जनित यथार्थ के समक्ष अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुका था। सौन्दर्य के प्रतिमान, मनुष्य का अस्तित्व सब कुछ बदल रहा था। युद्ध के यथार्थ, संक्रमण की मार्मिक चोटों से आहत छायावादी कोमल-मानव सत्यता की पथरीली धरती पर आ गिरा। इस स्थिति का वहन छायावादी कवि न कर सका, उसकी भाषा न कर सकी, उसकी अनुभूति न कर सकी, उसकी क्षमता न कर सकी। प्रश्न होगा केवल निराला ही इस ओर उन्मुख क्यों हुए? उत्तर सहज है। निराला का व्यक्तिगत जीवन उपर्युक्त परिस्थितियों का अनुभूत था। वह इस ठोस धरातल

१. 'नयी कविता के प्रतिमान'—लक्ष्मीकान्त वर्मा, पृ० ५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर ठहर सकता था। निराला जैसे छायावाली व्यक्तित्व द्वारा उद्भूत यह क्रान्ति राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आधुनिकता के आयामों को छू सकी। यह ऐसी मनःस्थिति है जो आक्रान्त मर्यादा की विकलता में गर्भ से प्रसूत हुई। यह प्रयोग स्वयं में विशिष्टतम महत्व का है।[१]

प्रयोग एक जान-बूझकर की गई धारणा का निश्चित फल होता है अथवा स्वयमेव प्रस्फुटित परिस्थितियों का परिणाम। काव्यगत प्रयोगों की प्रवृत्ति एवं प्रयोजनीयता पर विमर्श करते हुए पाश्चात्य-साहित्य में प्रयोगवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक टी० एस० इलियट[२] के अनुसार—प्रयोग शब्द को उन कवियों की कृतियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है जो विकसित होते हुए परिपक्वता प्राप्त करते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है वह नयी विषय-वस्तु की ओर मुड़ता है या पुरानी विषय-वस्तु को ही नयी के माध्यम से उपस्थित करता है, क्योंकि हमारे आदिम 'स्व' और युगीन 'स्व' एक ही युग में रहने लगते हैं अथवा उसी विश्व में भिन्न व्यक्ति होते हैं। "कुकुरमुत्ता के प्रयोग में ऐसी ही परिपक्वता है, उसमें ऐसी ही 'विषय-वस्तु की पकड़ में कवि का प्रयास रहा है। इस पकड़ को कई अन्य छायावादी-कवियों ने भी पकड़ने का साहस किया, परन्तु उनकी रचनाओं में व्यक्त आँसू और पीड़ा उस स्तर पर हमारे हृदय को स्पर्श न कर सकी जिस स्तर पर सहपीड़ा और संवेदना की अनुभूति जागृत होती है। इसलिए छायावाद का भाव-बोध, उसका शब्द-विन्यास, उसकी प्रेषणीयता आगे चलकर अर्थहीन-सी हो गई।" छायावाद का पतनोन्मुख काल केवल एक स्नॉबरी (Snobbery) का काल रह गया था।"[३]

इससे पूर्व कि नयी-कविता में आधुनिकता के निर्वहन का मूल्यांकन किया जाये, यह जान लेना परमावश्यक है कि 'आधुनिकता' शब्द का मूल्यांकन किस प्रकार हुआ है? आधुनिकता के विषयगत और वस्तुगत अर्थ के प्रति आधुनिक कवियों और आलोचकों में मतैक्य नहीं। एक मत आधुनिकता को मात्र समसामयिकता की संज्ञा प्रदान कर शेष सभी बन्धनों से मुक्त हुआ चाहता है, जबकि दूसरा मत इसे अधिक आन्तरिक और मूल्यगत

---

१. प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं साधन है और दोहरा साधन, क्योंकि एक तो वह उस युग-सत्य को जानने का माध्यम है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को भी जानने का साधन है। दूसरा सप्तक, भूमिका, पृ० ७

२. The word experimentation may be applied and honourably applied to the work of many poets, who develop and change in maturity. As a man grows older, he may turn to new subject-matter or he may treat the same material in a different way. As we are, we both live in a different world and become different men in the some world—T. S. Eliot.
Selected prose. P. 81 Penguin Edition 1963

३. (क) नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६२
(ख) A Society with plenty of snobberies is like a dog with plenty of fleas, it is not likely to become Comatie. Every snobbery demands of its devotees unceasing efforts, a succession of sacrifices. —Aldous Huxley

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव मानता है। उसके अनुसार—आधुनिकता युग-विशेष का गुण है, समसामयिकता स्थिति-विशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो देशकाल के बोध के साथ-साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। आधुनिकता काल-बोध, युग-बोध की उद्योतक है। विचार में आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते क्योंकि सम-सामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता।[1] वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता तो हर काल में हर साहित्य के लिए उसका रचनाकाल रहा करता है, परन्तु आधुनिकता में मेरे विचार से वे परम्परागत तत्व अनिवार्य रूप से समाहित रहा करते हैं जो विगत प्रस्तुत (वर्तमान) और आगत समसामयिकता जन्य होते हैं। उन सभी की समन्वय-कारिणी-आधुनिकता वास्तविक आधुनिकता हो सकती है। अतः समसामयिकता और आधुनिकता क्षणिक वर्तमान में एक होते हैं और स्थिति-विशेष में भिन्न भी हुआ करते हैं। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार हर लेखक और कवि का हर नयी रचना को स्वतन्त्र मानकर चलना, (जिसकी प्रेरणा और नियम अपने ही बाह्यरूप नियमों से परिचालित हों) दूसरे शब्दों में व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में उसकी परख को व्यर्थ समझना एक नितान्त भ्रान्त और अतिवादी धारणा है। नया कवि अनुभव करने लगा है कि नया भाव-बोध आमूल-चूल रूप में नया है जो परम्परा-विच्छिन्न और स्वतन्त्र है। ऐसी धारणा साहित्य में विकृति और अनर्गल रचनाओं को जन्म देगी जिससे नव्यता जैसे निराधार मापदण्ड रूढ़ हो जाएँगे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों—"आधुनिकता (नवीनता) काव्य के प्रतीयमान रूप को स्पर्श करती है, माँजती है, खरोंचती है उसके अन्तर्निहित स्थिर और विकासमान धर्म को नहीं।"[2]

"आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिखकर रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने को उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने को उत्सुक हैं—"[3] छायावाद के इस स्वप्न जड़ित सुनहले अभियान के उपरान्त हम युग-चेतना की भाव-भूमि पर उतर कर उस विस्तृत आयाम का भ्रमण करेंगे जो नया-भाव-बोध बनकर धर्मवीर भारती की काव्य-भूमि में प्रसरित होकर, उगा है और विकसित हुआ है।

धर्मवीर भारती का नयी-कविता क्षेत्र में अप्रतिम स्थान है। साहित्य की अन्य विधाओं के कुशल परिष्कार-कर्त्ता होने के साथ-साथ एक जागरूक काव्य-रचना को अत्यन्त दायित्वपूर्ण और महत्व-सम्पन्न कर्म मानते हुए उन्होंने इस बात का सदा ध्यान रखा है कि कहीं अकाव्यात्मकता उन्हें छू न जाए। वे सरलता की ओर अकाव्यात्मक पलायन की भर्त्सना करते हैं। ऐसे पलायन का कारण एक तो वे रचना-प्रक्रिया की अनिवार्य प्रकृतिगत माँगों की उपेक्षा कर किसी संकीर्ण परिधि में ही सौंप देने को मानते हैं और दूसरे समूची जीवन-प्रक्रिया और यथार्थ की कठोर भाव-भूमि से असम्पृक्तता को। ऐसे रचनाकार रचना-प्रक्रिया को जीवन-प्रक्रिया से भिन्न ही नहीं अपितु विरोधी भी

---

१. नयी कविता के प्रतिमान, पृ० २६४-२६५।
२. आधुनिक साहित्यबोध (एक परिसंवाद) पृ० ५ (प्रकाशक शिल्पायतन कालेज कलकत्ता)
३. यामा 'भूमिका'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेते हैं—ऐसा उनका विचार है। ऐसी सजगता को नयी कविता की जड़ कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी वरन् कुछ नये कवियों के लिए यह प्रेरणा पुंज होगी। भारती के इसी मन्तव्य से उनकी रचना-प्रक्रिया की प्रौढ़ता, उनकी सजगता और दायित्व के निर्वाह का अन्दाज़ा हो सकता है। इस प्रकार काव्य में परम्परा एवं प्रयोग की नयी संतुलित भूमि की खोज में वे नयी कविता के दोषों के प्रति कभी उदासीन नहीं रहे।

भारती का कवि मानव-मूल्यों के प्रति दायित्व चेतना को ही कविता की विशिष्टतम उपलब्धि स्वीकारता है। उनका विश्वास है कि सच्चा कवि वही हो सकता है जो किसी प्रकार का दम्भ न कर, मिथ्याडम्बरों से दूर, कुण्ठाओं का निवारणकर-एकाकी रहकर भी सर्व से लेकर 'प्रत्येक' से नाता जोड़ता है। अन्धेरी गुफाओं और सुरंगों में से गुजरता, वह एकाकी अन्धेरे में ही उसी अन्धेरे से सम्बन्धित रचना किया करता है। वह ऐसी भावस्थिति को मानता है—"जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने को परदेशिनी नहीं मानती। ऐसे लोग असाधारणता का बाना नहीं ओढ़ते, सहज रूप में जीवन को सम्पूर्णता में जीने के हामी हैं, व्यक्तित्व को हारते नहीं, जगत को अस्वीकारते नहीं।"[1]

भारती का समस्त काव्य नये भाव-बोध पर आश्रित आधुनिकता का पोषक है। वह आधुनिकता केवल कालगत (Chronological) भाव में नहीं वरन् चिन्तन-विधि में है, दृष्टिकोण और विवेक में है, जीवन की स्पष्ट व्याख्या तथा ऐतिहासिक दायित्व में है, बल्कि इससे आगे वह आधुनिक इसलिए है कि आज के जीवन-सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयोग करता है। उसकी दृष्टि पिटी-पिटाई लकीर से दूर— अन्वेषणगत है, परीक्षण जन्य है। उसमें तर्कगत अवलोकन है, उसके आधार पर परीक्षण करके किसी समुचित निष्कर्ष कर पहुँचने की अदम्य लालसा है। अपने ही निष्कर्षों को वह अन्तिम सत्य नहीं स्वीकारती, प्रत्युत सत्य की अनवरत खोज में वह आगे भी चला करती है— अजस और शाश्वत। वह पूर्वाग्रहों (Platitudes) और वर्जनाओं (taboos) को न मानकर स्पष्टवादिता में विश्वास रखती है। मर्यादित सत्य उसकी दृष्टि में कोई पाप नहीं है—"अनुभूति की ईमानदारी मूल्यों की मर्यादा को निखारती है।"[2] ऐसा उसका विश्वास है।

अनुभूति की इसी प्रगाढ़ता में सराबोर कवि वर्तमान की विभीषिका को मिटाकर संघर्ष और नवीन-चेतना द्वारा नव-निर्माण का मंगल संदेश देता है। वह कल्पना के स्वर्ग में न रहकर अपनी सृष्टि के जीवन में ही स्वर्ग-निर्माण की कामना करता है। इस हेतु कविता की अतुल शक्ति पर उसका अडिग विश्वास है। इसी माध्यम से वह मानव-मन को बदलकर उसमें एकता स्थापित करना चाहता है :—"

फिर उभर कर कहेगी कविता
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी है

---

१. सातगीत वर्ष—भूमिका पृ०—
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी मेरी आखिरी आवाज़ बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गई है।[1]

''अन्धा-युग' ऐसी ही कृति है जिसमें अन्धों के माध्यम से एक चिरन्तन आलोक विकीर्ण हो रहा है। उसकी समस्त भाव-भूमि, विषय-वस्तु का संयोजन-विवेक, मर्यादा, सापेक्ष और अर्द्धसत्य की अन्वेषण प्रवृत्ति पर आधारित होकर चला है—'' जिस युग में अश्वत्थामा और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्त हों, उसकी कथा में विवेक ही प्रकाश दे सकता है।''[2] अतः उसका स्वर अशक्तता, निराशा से ऊपर खिन्नता से मुक्त होकर, विषैली सँकरी गलियों में अमृतमय प्रकाश की वृष्टि से अनुभूति को समस्त सहृदयता में बाँध देता है—

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्ध सत्य, रक्तपात हिंसा से जीतकर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना है।[3]

जो आलोचक 'अन्धा युग' में मुखरित इस स्वर को यूरोप के सामाजिक, राजनीतिक, रॉक-एण्ड-रोल, चा-चा-चा, ट्विस्ट आदि के सन्दर्भ में देखना चाहें उनसे मेरा आग्रह है कि वे लोग यह भयंकर भूल न करके वास्तविक केन्द्रीयता को समझने, परखने और निरखने की चेष्टा करें। भारती के कवि का विश्वास है कि भावनाएँ लोकहित के संयोग से ही फलीभूत होंगी। इसी कारण वह 'युग-संघर्ष-समष्टि के प्रति जागरूक है। वह व्यक्तिगत अतृप्त तिक्तता की वर्जना कर समष्टि के व्यापक हित में ही अपना मंगल मानता है। उनकी कविता उस आँगन में जहाँ पर सतह बेल-बूटों से सजी हो और भीतर तप्त बालू भरा हो नृत्य न करके बालू की उस मरुस्थली चट्टान पर भी चढ़ती प्रतीत होती है जहाँ से वह स्वस्थ, सहज, समाजोन्मुखता को देख, सोच और समझ सकें। सुदृढ़ मानवता का खोज और उसमें भी एक समग्र-जीवन-दृष्टि का विकास उसकी लोक सम्पृक्ति की दो सम्वद्ध दिशाएँ हैं। वह विवेक की बल्गाओं से मर्यादित गतिशील सामूहिकता की कामना करता है :—

''वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहास के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग-पथ पर
जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग
उन्नत माथ

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

---

१. भारती—ठण्डा लोहा, 'कविता की मौत'।
२. नयी कविता के प्रतिमान पृ० ७५
३. अन्धायुग।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम सबके ओठों पर सामूहिक गीत
गतियों की वल्गा
जन-नायक के हाथ।"[१]

परन्तु उसका यह समष्टि-रूप में दृष्टिकोण हारी हुई मनोवृत्ति का प्रतीक नहीं है। वह व्यक्तिगत सत्ता को मूल सार्थकता से निरस्त्र नहीं करता। उसकी आत्म-चेतना समष्टि प्रवाह से रुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसके अंग रूप में निज का महत्व स्वीकारती है। वह व्यक्ति सामर्थ्य को बल प्रदान कर उसके आत्म-विश्वास को वाणी देती है :—

"मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस
दुरूह चक्रव्यूह में, अक्षौहिणी सेनाओं को
अकेले चुनौती देता हुआ···[२]

यहीं से—'न हो यदि वासना तो जिन्दगी की माप कैसे हो'[३]—की स्वस्थ व्याख्या करते हुए वे सहज जीवन का उद्घोष 'कनुप्रिया' में करते हैं—'लेकिन वह क्या करे जिसने अपने सहज मन से जीवन जिया है, तन्मयता के क्षणों में डूबकर सार्थकता पाई है, और जो अब उद्घोषित् महानताओं से अभिभूत और आतंकित नहीं होता बल्कि आग्रह करता है कि वह उसी सहज की कसौटी पर समस्त को कसेगा।'

ऐसा ही आग्रह है कनुप्रिया का।"[४]
कनु मेरा लक्ष्य है, मेरा आराध्य, मेरा गन्तव्य।[५]
इस यात्रा का आदि न तो तुम्हें स्मरण है न मुझे
और अन्त तो इस यात्रा का है ही नहीं मेरे सहयात्री।[६]

इस पथ का यात्री समस्त, विगत आगत आपदाओं से अवगत ही नहीं अपितु वज्र की चट्टानों को घायल फूल की भाँति बिखरते देख सकने की सामर्थ्य से भी युक्त है। जिस प्रकार 'अन्धायुग' महाभारत की ही अन्तिम रात्रि की ही कथा-व्यथा नहीं वह तो आज का इतिहास है, उसी प्रकार कनुप्रिया भी कनु से अन्तःप्रेरणा की ही दुहाई देती है। आधुनिक बोध, और जीवन से परिचित राधा एक आधुनिका की भाँति ही अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करती है। उसके लिए वायदे, आश्वासन, कर्म, स्वधर्म सब अर्थहीन हैं। यह राधा की स्वानुभूति का यथार्थ प्रकाशन है न कि उसने पागलपन का। कनुप्रिया वैयक्तिक सुख-अभिलाषा के अतिरिक्त कनु के विचारों की पुष्टि करने का प्रयास करती है :—

और जब तुमने कहा था—माथे पर पल्ला डाल लो"
तो क्या तुम चिता रहे थे

---

१. सात गीत वर्ष—'जिज्ञासा'—पृ० ३८
२. वही पृ० ९१-९३
३. दूसरा सप्तक—धर्मवीर भारती पृ० १८६
४. कनुप्रिया, पृ० ७
५. कनुप्रिया—पृ० ३६
६. वही पृ० ३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि अपने इस निजत्व को अपने आन्तरिक अर्थ को
मैं सदा मर्यादित रखूं
रसमय और पवित्र रखूँ
नव वधू की भाँति"[१]

भारती का समस्त काव्य वैज्ञानिकता और विवेक आश्रित है जो भले ही भावनावादी कवियों को न रुचे। उसमें चिन्तन की गहराई स्पष्ट हुई है, नई समस्याएँ प्रकाश में आई हैं और उनके संशोधन का अवसर मिला है। यथार्थ की तिक्तता और कटुता को उसने सहर्ष अंगीकार किया है। उसमें पलायन और घृणा की प्रकृति कहीं भी लक्षित नहीं होती, उसकी समस्त नैतिकता की पाचन-शक्ति, कार्य-कारण, कल्पना और बौद्धिकता के परिवेश में कलागत अभ्यास लेकर चली है।[२] नयी-कविता की समस्त नवीनताओं, विशेषताओं और संभावनाओं की उपलब्धि के साथ-साथ वहाँ पर नयी-कविता के प्रभान्विति, असंगति या वैचारिक विरोधाभास आदि दोषों का भी यथासम्भव परिष्कार हुआ है। उनके काव्य में कविता की समग्रता (Wholeness) संगति (Harmony) और दीप्ति (Radiance) आदि सरणियों का भी समुचित निर्वाह हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्मवीर भारती के काव्य में नयी-कविता के आधुनिकतम स्वरूप तक की व्यंजना अत्यन्त सुदृढ़ हुई है। अस्तु वे नये कवियों में मूर्धन्य कवि हैं। नयी कविता में उनका योगदान अप्रतिम और अमूल्य है। छायावादोत्तर व्यक्तिवादी काव्य-धारा में रत अल्हड़ प्रेमी-हृदय इन सीमाओं से उठता हुआ युग और वाह्य जीवन से प्रेरित हो, नये मानव-मूल्यों और नयी जीवन-स्थिति की स्थापना पौराणिक पात्रों, प्रतीकों के माध्यम से कर सकने में सफल हुआ है।

---

१. वही—पृ०
२. A man would not be moral without the capacities for reason and imagination for intellectual and artistic experience. He cannot philosophise unless he had a strain of poetry and a strong and delicate conscience. —Croce.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० दागमार अन्सारी

सन् १९४७ के बाद के उपन्यास के साहित्य में नारी समस्याएँ

[इस लेख की लेखिका डॉ० दागमार अन्सारी आजकल हम्बोल्ट विश्वविद्यालय बर्लिन में हिन्दी साहित्य में शोध-कार्य कर रही हैं। आपने हिन्दी और उर्दू भाषा तथा साहित्य और यत्किंचित् भारतीय इतिहास का अध्ययन प्राग के चार्ल्स विश्वविद्यालय में किया, विशेषकर डॉ० पोरीज़का के नेतृत्व में। संस्कृत का भी अभ्यास किया है, परन्तु मुख्य विषय हिन्दी रहा। आधुनिक भाषा और साहित्य तथा भारत की वर्तमान समस्याओं में आपकी रुचि है। विवाह के बाद अपने पति डॉक्टर अन्सारी के साथ जर्मन जनवादी प्रजातंत्र में आईं और हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रूबेन की अध्यक्षता में अपना अध्ययन समाप्त किया। सरकारी परीक्षा के लिए प्रेमचन्द की कहानियों पर थीसिस लिखी। इसके बाद विश्वविद्यालय में अध्यापन प्रारम्भ किया। आपको भारत यात्रा का अवसर भी मिला। भारत से लौटने के बाद पी-एच०डी० की थीसिस का प्रश्न उठा। भारत-यात्रा के दौरान यहाँ मध्यवर्ग की साधारण स्त्री तथा पढ़ी-लिखी बुद्धिजीवी स्त्री की जीवन-परिस्थितियाँ काफी समीप से देखने का अवसर मिला और इसी का परिणाम निकला "हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में नारी-समस्याएँ" नामक शोध-प्रबन्ध, जो प्रो० रूबेन की अध्यक्षता में लिखा गया। हिन्दी की नई कहानी पर काम करने की आपकी योजना बन रही है।]

स्वतंत्र भारत के संविधान पर एक दृष्टि डालने से पता चलता है कि कानून के लिहाज़ से भारतीय स्त्री की स्थिति पहले से कितनी सँभल गई है। परन्तु कानून और नित्य व्यवहार में अभी कितना बड़ा भेद है और नित्य व्यवहार में ही कितने अन्तर्विरोध हैं ! जो भेद एक कर्मशील राजनीतिक अधिकारिणी और एकदम कुचली हुई बुर्का ओढ़े या घूँघट निकाले अपने पतिदेव के कुछ कदम पीछे चलती हुई वधू के बीच है, वह भारत के सबसे तीव्र और सबसे पीड़ाजनक भेदों में है। इसके सम्पर्क में एक बार आकर कोई बुद्धिजीवी व्यक्ति इससे उदासीन नहीं रह सकता। साहित्य में भी प्रदर्शित स्त्री-समस्याओं की न केवल संख्या बढ़ गई, बल्कि उनमें परिवर्तन भी हुआ।

पहले यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इस लेख की लेखिका को वर्तमान हिन्दी साहित्य के पूरे भंडार से परिचित होने का अवसर नहीं मिला। भारत से दूर रहकर यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। जिन कृतियों की यहाँ चर्चा की जायेगी, वे केवल उदाहरण का काम दे सकती हैं। फिर भी, अधिक-से-अधिक विभिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों के साहित्य का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

कह सकते हैं कि कुछ पुरानी समस्यायें—जैसे, बाल-विवाह और विधवा-विवाह-नई सामाजिक परिस्थितियों में पीछे हट गई हैं। पुराने काल की कुछ समस्याएँ अब भी जीवित हैं, जिनमें से जाति-प्रथा की समस्या विशेष महत्व की है। वह उदाहरणतः अमृत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राय के उपन्यास 'बीज' में, नागार्जुन के 'दुखमोचन' में और अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में सामने आती है।

प्रेम-विवाह की समस्या आज भी अधिकांश उपन्यासों में आती है। सामाजिक वास्तविकता में भी लगभग हर प्रेम-विवाह के सामने—विशेषकर यदि वह अन्तर्जातीय विवाह हो—बड़ी वस्तुगत तथा व्यक्तिगत रुकावटें उठती हैं और यह स्थिति फिर साहित्यिक चित्रण की रोचक सामग्री बनती है।

आजकल की नई परिस्थितियों में नई समस्याएं पैदा हो रही हैं, जिनका पहले कोई बड़ा महत्त्व नहीं था। उनमें स्त्री के काम करने, उसके राजनीतिक कार्य, वास्तविक अर्थों में उसके समान अधिकारों और अविवाहित स्त्री की स्थिति की समस्याएँ हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय स्त्री के जीवन में कुछ ऐसी नई समस्याएँ पैदा हुई हैं जिनके विषय में बहुत कम या नहीं के बराबर लिखा जाता है; उदाहरणतः प्रगतिशील स्त्री-संगठनों का कठिन कार्य, काम करने वाली माँओं की कठिनाइयाँ, सामान्य स्त्रियों की शिक्षा, विवाह-विच्छेद आदि। काम करने वाली माँओं की कठिनाइयों का उल्लेख अमृतराय के उपन्यास 'बीज' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में है। विवाह-विच्छेद का भी सन्तोषपूर्ण हल यशपाल की कृति में मिलता है। निस्सन्तान स्त्री की कठिन स्थिति का उल्लेख बहुत कम मिलता है। बहुत विस्तार प्रसंग इस प्रश्न पर मिल सकता है कि हृदय की अच्छी, पर अनजान अशिक्षित माँ अपनी सन्तान के लिए किस स्थिति में कुछ कर पाती है और किस स्थिति में नहीं। उदाहरण के लिए, उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' और यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' में यह समस्या विवाह की समस्या से सम्बन्धित है। यह प्रश्न भी न केवल विचार करने योग्य है, बल्कि साहित्य में भी इसका कलात्मक रूप से अधिक-से-अधिक विश्लेषण किया जाना चाहिए कि आजकल के भारतीय मध्य-वर्ग के अधिकतर लोग, स्त्री-स्वतंत्रता को किस दृष्टि से देखते हैं और उनकी कल्पनाओं और स्त्री-स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ में क्या अन्तर है।

यशपाल 'झूठा सच' में इन प्रश्नों की चर्चा जरा विस्तार से करते हैं और नई पीढ़ी के लिए उनका महत्त्व दिखाते हैं। अकेली स्त्रियों की समस्याओं की चर्चा अमृतराय अपने उपन्यास 'बीज' में, यशपाल 'झूठा-सच' में, भगवतीचरण वर्मा 'भूले बिसरे चित्र' में, नागार्जुन 'वरुण के बेटे' में, और अज्ञेय 'नदी के द्वीप' में करते हैं। साधारणतः वे ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनको किसी-न-किसी कारण से वैवाहिक जीवन से निराशा हुई है और जो पति से अलग हो गई हैं। जो स्त्रियाँ किसी कारणवश विवाह नहीं कर सकतीं या करना नहीं चाहतीं, उनकी चर्चा बहुत कम और प्रासंगिक होती है; यद्यपि यह समस्या बढ़ती हुई स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ बढ़ रही है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में मुस्लिम महिलाएँ बहुत कम चित्रित होती हैं, यद्यपि ऐसा लगता है कि इस प्रकार की विषय-वस्तुओं के सहारे हिन्दी और उर्दू साहित्य एक-दूसरे के बहुत निकट लाये जा सकते हैं। इसके अपवाद उदाहरणतः 'झूठा सच' और मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे' में छोटे-से नारी-पात्र हैं। हिन्दू-मुसलमान विवाह की चर्चा हिन्दी उपन्यासों में बहुत कम होती है। ऐसा लगता है कि साहित्यकार इस सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयं अस्थिर चित्त हैं और वे अंशतः आशंका करते हैं कि कहीं उनका दृष्टिकोण उनके पाठकगण को बुरा न लगे। 'झूठा-सच' में ऐसे एक प्रासंगिक हिन्दू-मुसलमान विवाह के प्रति यशपाल की सहानुभूति है, परन्तु नायिका तारा का मिश्रित विवाह नहीं हो पाता। गुरुदत्त 'स्वराज्य-दान' में हिन्दू-मुसलमान विवाह की आलोचना करते हैं।

वास्तविकता के प्रति विभिन्न लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। स्त्री का वस्तु से व्यक्ति बनना, विभिन्न लेखकों में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। लेखकों की आयु इसमें निर्णायक महत्त्व नहीं रखती, निर्णायक महत्त्व उनकी विचारधारा रखती है जो आदमी के सामाजिक अस्तित्व, जीवन की परिस्थितियों और सारी जीवन-प्रणाली के आधार पर बनती है और सदा विशेष स्थिति तथा उद्देश्य प्रकट करती है।

लेखकों का एक भाग ऐसी स्त्री पसन्द करता है जो केवल गृहलक्ष्मी हो। वे पुरानी सामाजिक परिस्थितियाँ बनाये रखना या पुनर्जीवित करना चाहते हैं। स्त्रियों के समान अधिकारों के लिए प्रयत्न इन रूढ़िवादी मान्यताओं को संकट में डालते हैं। गुरुदत्त के उपन्यास इसी बात के उदाहरण हैं।

अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१) में स्त्री बहुत दुर्बल प्राणी है जो पुरुष के बिना जीवित नहीं रह सकती। स्त्री की अधिकारहीनता की ओर वे संकेत तो करते हैं लेकिन इस स्थिति के कारणों का भंडाफोड़ करने का प्रयत्न नहीं करते। स्त्री-समस्याएँ यहाँ केवल प्रेम-समस्याओं के रूप में दिखाई देती हैं।

जैनेंद्र कुमार की 'सुखदा' (१९५२) की स्वतंत्रता का फल बहुत बुरा हुआ। 'विवर्त' (१९५२) में मोहिनी सुखदा के रास्ते पर नहीं चली, बल्कि उसकी सहायता से कुछ विचित्र प्रकार के आतंकवादी अहिंसा के पथ पर आई। लेकिन मोहिनी में मुझे ऐसी अकर्मण्य स्त्री का चित्र दिखाई देता है जो सामान्यतया दुर्लभ है। स्त्री को घर रहने का उपदेश प्रत्येक अवसर पर दिया जाता है। 'व्यतीत' (१९५२) में तो सारी समस्या यौन-सम्बन्धों की समस्या है। उसमें स्त्री राजनीति आदि में भाग लेने का नाम तक नहीं लेती।

अफ़सोस की बात है कि मोहन राकेश भी 'अँधेरे बन्द कमरे' (१९६१) में, जो अनेक दृष्टियों से उच्च कोटि का उपन्यास कहा जा सकता है, स्त्री को गृहलक्ष्मी बनने का उपदेश देते हैं। नीलिमा तो अपनी प्रयत्नशीलता के कारण कभी प्रसन्न हो ही नहीं सकती। इसके विपरीत, शुक्ला अपने पति की तीसरी पत्नी बनकर भी प्रसन्न है। परन्तु इस धारणा और इन दोनों चरित्रों के कलात्मक वर्णन में विरोध है। नीलिमा उपन्यास का सबसे यथार्थ चरित्र है जिसकी तुलना में शुक्ला बिल्कुल कागज़ी ढाँचा मालूम होती है। शुक्ला में नेकी के अतिरिक्त न कोई गुण है, न अवगुण; माना कि वर्तमान परिस्थितियों में स्थापित अच्छे चरित्रों का जीवित ढंग से वर्णन करना कठिन है। नीलिमा के चरित्र का कथानक में विकास तो नहीं हुआ, लेकिन फिर भी वह बिल्कुल जानी-पहचानी-सी लगती है। उसके शब्द "मैं नाचने के बिना नहीं रह सकती······मैं जानती हूँ कि मेरे अन्दर वह चीज़ है जो मुझे इस क्षेत्र में आगे ला सकती है। (पृ० ३०६)—उसके दिल की गहराई से उमड़कर आये हैं और उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। और नेक शुक्ला नीलिमा की समस्यापूर्ण स्थिति पर क्रोध में केवल इतना ही कह सकती है—"तो अपनी इन जरूरतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अरुण की और भापाजी की जिन्दगी तबाह कर डालिए, और साथ ही अपनी भी !'' (पृ० ३१६)

रामकुमार के उपन्यास 'वापसी' (१९६२) का लहजा बहुत निराशावादी है। स्त्री किसी की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकती और यह संसार ऐसा ही है कि सहायता देने वाला कोई नहीं मिलता। उपन्यास में जो कुछ चित्रित है, वह तो अवश्य वास्तविकता का एक भाग है, पर पूरी वास्तविकता नहीं। 'प्रायश्चित्' के लेखक यज्ञदत्त शर्मा स्त्रियों की समस्याओं में केवल पति की सेवा की गणना करते हैं।

सामाजिक आलोचना का प्रयत्न इलाचन्द्र जोशी के 'जहाज का पंछी' में मिलता है, परन्तु यह पता नहीं चलता कि लेखक स्त्री के लिए आखिर चाहते क्या हैं ! इसकी आशा तो नहीं की जा सकती है कि बेला के रूप में विकास के नये तत्वों से युक्त एक ''विद्रोह-मूलक बीज'' (पृ० २२८, दूसरा संस्करण, १९५६) का अपने आप विकास होगा। बेला कैसे मान ले कि ''वह बटोरी हुई ताकत एक दिन तुम्हें अपने-आप सही रास्ते पर रख देगी।'' (पृ० २४७)

स्त्री की कठिन स्थिति की आलोचना अधिकतर उपन्यासकार करते हैं, लेकिन अधिकतर वे कोई नया सुझाव नहीं प्रस्तुत करते जो व्यवहार में लाया जा सके। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था की उनकी आलोचना तथा मानवतावादी उमंग अन्ततः प्रगति को अग्रसर करती है।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'भूले बिसरे चित्र' (१९५९) में दहेज-प्रथा की बड़ी आलोचना की गई है। उपन्यास का महत्त्व उससे और भी बढ़ जाता है कि वह दहेज-निषेध बिल पेश करने के एक साल बाद प्रकाशित हुआ। नवल के अंध आज्ञा-पालन ने विद्या को बहुत दुःख दिया। इसमें नई परिस्थिति के अनुकूल अपने को ढालने के अयोग्य अति भौतिकवादी रूढ़िवादी व्यवहार की बड़ी आलोचना है। नवल का व्यवहार रामायण की याद दिलाता है और यह तुलना स्पष्ट करती है कि राम सदृश व्यवहार, विशेषकर नये जमाने में, कितना अनुचित कहा जायेगा। यह कहना कठिन है कि क्या यही उपन्यासकार का अभिप्राय था। वैसे विद्या का चरित्र बहुत उत्तम है। विलासिनी उषा उसके बिल्कुल विपरीत है फिर भी, उषा का भी अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व है जो उपन्यास के पुरानी पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों के विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता, और यही भगवतीचरण वर्मा द्वारा चित्रित पुरानी और नई पीढ़ी के स्त्री-चरित्रों में अन्तर है।

उपेन्द्रनाथ अश्क 'गिरती दीवारें' (१९४७) में चेतन पर ध्यान इस प्रकार केन्द्रित करते हैं कि स्त्री-पात्रों के मानसिक जीवन का कुछ अधिक पता नहीं चलता, लेकिन हर प्रकार से वह माता-पिता द्वारा की गई शादियों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं। ''तुम्हें लड़की दिखा देंगे बेटा, मैं स्वयं आज़ाद-ख़याल आदमी हूँ। जिसके साथ जीवन-भर का नाता हो, उसे देखा न जाय, इसे मैं अन्याय समझता हूँ।'' (पृ० ५२, तीसरा संस्करण, १९५७)। इन शब्दों में लेखक का कितना उदास व्यंग छिपा हुआ है ! देखने से क्या होता है ! चेतन की माँ की जीवन-कथा भी एक उदास उदाहरण है, जिससे लेखक का अफ़सोस प्रकट होता है कि भारत में आज भी इस प्रकार की स्त्रियों की कमी नहीं है जो बचपन में तेज़ लड़कियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं, लेकिन जिनके मानसिक विकास में बाधा डाल दी गई।

'गर्म राख' (१९५२) के विषय में अफसोस प्रकट कर सकते हैं कि कथानक के केन्द्र में सत्या के स्थान पर द्रौपदी नहीं है। सत्या अपनी सारी कर्मशीलता, प्रेम और यौन-प्रश्नों पर समर्पित करती है जब कि द्रौपदी नई दुनिया की स्त्री की प्रतिमा समझी जा सकती है।

अमृतलाल नागर 'बूँद और समुद्र' (१९५६) में स्त्री के लिए समान अधिकार चाहते हैं। उदाहरण के लिए, कन्या कहती है : 'जहाँ स्त्री-पुरुष बराबर-बराबर काम करते हों, वहाँ उनमें मैत्री भाव होना स्वाभाविक ही है। वहाँ दबने और दबाने का प्रश्न नहीं, इसलिए व्यवहार में सरलता, खुलाव है।' (पृ० ३३७) परन्तु चौक के मध्यकालीन वातावरण के स्त्री-चरित्र कन्या से कहीं जीवित ढंग से वर्णित हैं। आजकल के जमाने में पर्दा कितना कालदोष है और यह कालदोष स्त्री को कितने संकट में डालता है, यह 'बड़ी' के चरित्र द्वारा दिखाया गया है। 'छोटी' का चरित्र भी खूब ही सफल हुआ है। 'छोटी' का मानसिक क्षितिज, उदाहरणतः इस संक्षिप्त से कथन में प्रकट होता है : 'वह एक जगह मन में अपने को तारा और अपनी जिठानी—दोनों से भी अधिक भाग्यशाली मानती है। उसने 'लव-मैरेज' नहीं की (लव मैरेज अपना सारा जादू लेकर भी उसकी निगाह में ओछी चीज है), फिर भी प्रेम-विवाह का पूरा सुख शंकरलाल की सोहबत में पा लिया।' (पृ० ६३) 'छोटी' के सम्बन्ध में 'आधुनिक', 'आधुनिकता' शब्द बार-बार कहने में कितना सफल हल्का-सा व्यंग्य है! वही हल्का-सा व्यंग्य तारा पर भी लागू होता है। फिर भी उपन्यासकार की सहानुभूति तारा और उसके अन्तर्जातीय विवाह के साथ है।

रांगेय राघव के उपन्यास 'काका' (१९६३) में मुझे यह बात सबसे महत्वपूर्ण और दिलचस्प प्रतीत हुई कि स्त्री के प्रभाव में आकर अब तक आलसी, अकर्मण्य ब्राह्मण ने काम करना शुरू किया। परन्तु कान्ता इसी ब्राह्मण से प्रेम क्यों करने लगी, यह बात स्पष्ट समझ में नहीं आती। यह तथाकथित प्रेम वही पुराना प्रभाव उत्पन्न करता है कि स्त्री पुरुष के बिना कभी नहीं रह सकती और वह उस पहले पुरुष से ही प्रेम करने लगती है जो उससे अच्छा व्यवहार करता है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' (१९५४) के विषय में कमलेश्वर जी ने लिखा है कि इसमें 'हर पात्र पूर्ण रूप से उभरा है' (फणीश्वरनाथ रेणु, नई कहानियां, मेरा हमदम, मेरा दोस्त, पृ० १८)। फिर भी लगता है कि कमला का चरित्र ममता के चरित्र से कहीं अधिक जीवित ढंग से वर्णित है। ममता केवल नेक है। ऐसा मालूम होता है कि रेणु जी उपन्यास में एक काम करने वाली बुद्धिजीवी स्त्री का भी चरित्र चित्रित करना चाहते थे, पर गांव की लड़की का चरित्र उनके लिए अधिक सुगम हुआ। वैसे 'मैला आंचल' कुछ इने-गिने ऐसे उपन्यासों में से एक है जिनमें अवैध सन्तान पैदा होती है, जिसके माँ-बाप सन्तान होने के बाद विवाह करते हैं। इसमें लेखक ने जरूर साहस से काम लिया है।

नागार्जुन के उपन्यासों में से 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) काफी निराशावादी है। इसकी तुलना में 'दुखमोचन' और 'वरुण के बेटे' के स्त्री-चरित्र, गौरी जैसे असहाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। 'दुखमोचन' में माया का अन्तर्जातीय विधवा-विवाह उल्लेखनीय है। 'वरुण के बेटे' (१९५७) में माधुरी का चरित्र तो नई दुनिया की स्त्री का चरित्र कहा जा सकता है, जिसका अभी विकास हो रहा है। परन्तु 'नई पौध' (१९५७) इस दिशा में अगला कदम नहीं है। इसमें न कोई प्रेम-विवाह हो पाता है, न कोई स्त्री अपनी मर्जी और अपनी शक्ति से स्वयं कुछ कर पाती है। उपन्यासकार का सामाजिक महत्त्व इसमें नज़र आता है कि इसमें असमान विवाहों का भंडाफोड़ और कम उम्र लड़कियों की शादी करने पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव है।

पुराने संस्कारों और रूढ़ियों से पूरी तरह से छुटकारा पाना वास्तव में आसान नहीं है। फिर भी हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में कई ऐसी कृतियाँ मौजूद हैं जिनमें सच्चे अर्थ में स्त्री के समान अधिकारों के लिए तकाज़ा किया हुआ मिलता है।

राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग' (१९५६) में यह बात है। आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अपनी आलोचना में ('आजकल', जून, १९५७) इसका उल्लेख तक नहीं किया कि 'उखड़े हुए लोग' का एक पहलू स्त्री की स्थिति की आलोचना भी है। जिस परिच्छेद में जया कपिल की दकियानूसी पत्नी से मिलती है, वह उपन्यास के विशेष सफल परिच्छेदों में से एक है। इसमें पर्दे के पीछे के उस सड़े वातावरण से उपन्यासकार की घृणा व्यक्त होती है जो स्त्री का दृष्टिकोण इतना संकुचित और संकीर्ण कर देता है। उपन्यास के आरम्भ में नवदम्पति जया और शरद को और पाठक को भी संशय है कि उन लोगों ने अपनी इच्छा से विवाह करके ठीक किया या नहीं। उपन्यास के अन्त में दूसरे लोगों की जीवन-प्रणाली से तुलना करके पाठक भी इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि······उन लोगों ने कुछ ऐसा किया है जो भावना को, बंधी लीकों और सड़ी रूढ़ियों से आगे ले जायेगा—कम-से-कम एक नयी राह है, और यदि कुछ के लिए द्वेष की वस्तु हो सकती है तो कुछ के लिए स्पृहा और आकांक्षा की भी।' (पृ० २५४)। 'कुलटा' (१९५८) और 'शह और मात' (१९५९) में भी स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण मिलता है। 'कुलटा' में मिसेज़ तेजपाल के व्यक्तित्व का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करने वाले प्रतीक कुतिया और बच्ची बहुत सफल लगते हैं।

अमृतराय का दृष्टिकोण राजेन्द्र यादव से मिलता है। 'बीज' (१९५३) के पात्रों के व्यक्तित्त्व भाग्य का कारण ऐतिहासिक आवश्यकता है जो किसी-न-किसी दिन समाज का पथ-निर्देशक बन जायेगी। उषा "न होती तो कोई दूसरी नई रोशनी की लड़की इस घर में आती और उसके संग भी वही सब होता जो उषा के संग हुआ। यहाँ व्यक्तियों की तो बात ही नहीं है, यह तो दो युगों—दो दुनिया—की टकराहट है।" (पृ० १६३) विशेष ध्यान उषा के विकास पर दिया गया है जो धीरे-धीरे अपने पति की बराबर जीवन-संगिनी बनती जाती है। अभागी राजेश्वर का दुखान्त एक तो स्त्री की समाज में अधीन स्थिति का और दूसरे समाज के प्रति राजेश्वरी के अकेले पृथक् विद्रोह का फल है।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा-सच' (१९५८-६०) को यदि भारतीय स्त्री के जीवन का कलात्मक विश्वकोश कहा जाये तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं होगी। 'मनुष्य के रूप' (१९४९) में भी मनोरमा के विकास द्वारा दिखाया गया है कि स्त्री सच्चा सम्मान तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म-सम्मान कैसे प्राप्त कर सकती है। 'झूठा-सच' में तो वे संस्कार और अंधविश्वास और भी आलोचनात्मक रूप से दिखाये गए हैं जिनमें अधिकांश भारतीय स्त्रियां जकड़ी हुई हैं। कभी-कभी (उदाहरणतः, तारा के विवाह के अवसर पर) ऐसा लगता है कि उपन्यासकार का, गैर-हिन्दू पाठक को भी उन सारी रूढ़ियों की जानकारी कराने का विशेष विचार था। आगे मुसलमान रूढ़ियों की भी आलोचना की गई है। लेकिन यशपाल के ध्यान का केन्द्र नई रोशनी की पढ़ी-लिखी काम करने वाली स्त्रियों के चरित्रों पर है जिनका अभी विकास हो रहा है। पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं के विरोध की सब अवस्थाओं का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एक क्रान्तिकारी लेखक का काम है, विशेषकर तारा के मनोभाव का चित्रण बहुत सूक्ष्म है। कनक की समस्या द्वारा यह दिखाया गया है कि पुरुष का, केवल हुक्म चलाने की इच्छा के कारण प्रेम-विवाह भी कैसे टूट सकता है। कनक और तारा, दोनों के चरित्र कुछ आलोचकों की इस धारणा को गलत साबित करते हैं कि 'यशपाल की सभी कृतियों में नारी अत्यन्त दुर्बल, कामुक और वासना की मूर्ति के रूप में चित्रित की गई है।''

यशपाल, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि के स्त्री-चरित्रों का केवल नारीत्व ही नहीं, बल्कि अपना मानवी व्यक्तित्व और सामाजिक अस्तित्व है और इसे दोष मानना आज के ज़माने में रूढ़िवादिता नहीं तो क्या है? आशा है कि इन स्त्री-चरित्रों का उदाहरण और भी भारतीय स्त्रियों का साहस बँधायेगा। यह साहित्यकार नारी-समस्याओं को सारे सामाजिक विकास-क्रम से पृथक न करके भूतकाल की केवल वे परम्पराएँ रखने के पक्ष में हैं जो समाज को आगे ले जा सकती हैं। बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध रामायण-काल नहीं है और आज का आदर्श स्त्री-चरित्र सीता का चरित्र नहीं हो सकता। सच तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य की अपनी भावना और चिन्तन की सभ्यता है जो समाज के इतिहास से और मनुष्य की अपनी आप-बीती से बनी हुई है। भावना और चिन्तन की सभ्यता को ऊँचे स्तर पर चढ़ाना भी साहित्य का एक कर्तव्य है।

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य अपनी समग्रता में भारतीय स्त्रियों की अन्तर्विरोध पूर्ण असमान स्थिति का सच्चा चित्र देता है जिनको समान अधिकार भिन्न-भिन्न मात्रा में प्राप्त हैं। एक ओर से विशुद्ध भारतीय स्त्री-समस्याओं की उपन्यासों में चर्चा होती है, जैसे विधवा-विवाह या अन्तर्जातीय विवाह हैं; दूसरी ओर ऐसी समस्याएँ भी मिलती हैं जो भारत या पूर्व तक सीमित नहीं हैं उनमें प्रेम-विवाह जैसी समस्याएँ भी हैं जो यूरोप के साहित्यों में पुनरुत्थानकाल से अब तक बड़ी और महत्त्वपूर्ण मात्रा में मिलती हैं, और ऐसी समस्याएँ भी हैं जिनकी उत्पत्ति और साहित्य में उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि बीसवीं शताब्दी भारत के द्वार पर नहीं रुकी है। भारत में भी स्त्री अब वस्तु न रहकर व्यक्ति बन रही है और उत्पादन तथा संस्कृति में अपनी भूमिका अदा करना शुरू कर रही है। वह स्वतंत्र चिन्तन तथा निश्चय और स्वतंत्र जीवन का अधिकार माँगने लगी है। हिन्दी साहित्य की कुछ कृतियों में अब स्त्री का यह रूप भी चित्रित होने लगा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीकान्त शर्मा

महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य : उपलब्धियाँ और मूल्यांकन

पृष्ठभूमि :—महादेवी वर्मा को छायावाद एवं रहस्यवाद की एक महान कवयित्री के रूप में तो हम सभी जानते हैं, पर उनका गद्यकार भी कम सशक्त नहीं है। इसका प्रमाण है कविता-पुस्तकों के लिए लिखी गई उनकी भूमिकाएं। इन भूमिकाओं को पढ़कर पाठक के मन में एक सहज ही प्रतिक्रिया होती थी, और वह यह कि कविता में महादेवी जितनी अस्पष्ट हैं, उतनी ही गद्य में सुस्पष्ट हैं। क्या इस सुस्पष्टता को काव्य-सृजन के संदर्भ वाली अस्पष्टता की क्षति-पूर्ति समझा जाय ? महादेवी का गद्यकार हमें तीन रूपों में मिलता है : (१) आलोचनात्मक निबंधों के रूप में (२) नारी-जीवन संबंधी आक्रोशपूर्ण निबंधों और (३) संस्मरण-कथाओं में।

महादेवी जी के आलोचनात्मक निबंध अपनी गहन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण दुरूह एवं क्लिष्ट हो गए हैं। उनके नारी-जीवन संबंधी निबंध, 'शृंखला की कड़ियाँ,' शीर्षक पुस्तक में संग्रहीत हैं। इन निबंधों को पढ़कर पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि नारी-जीवन का इतना शक्तिशाली एवं तर्क-संयुक्त वकील और कोई नहीं हो सकता। दरअसल, ये निबंध 'चाँद' की संपादिका के रूप में संपादकीय टिप्पणी के अन्तर्गत लिखे गये थे। इनमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं समाजशास्त्रीय विवेचन तो है ही, किन्तु कहीं-कहीं वे नारी की विवशता एवं असमर्थता का ऐसा चित्र अंकित कर जाती हैं कि उन्हें पढ़कर मन में यह बात आती थी कि यदि लेखिका संस्मरण या रेखाचित्र लिखे, तो वह बहुत अधिक सफल हो सकती है। पाठक की इसी भावना की परिणति हमें महादेवी जी की तीन संस्मरणात्मक पुस्तकों में अत्यन्त ही सफल एवं मार्मिक रूप में उपलब्ध होती है। ये पुस्तकें हैं : (१) अतीत के चलचित्र (२) स्मृति की रेखाएँ और (३) पथ के साथी।

'अतीत के चलचित्र' का प्रकाशन-काल सन् १९४१ है। यद्यपि इसमें संकलित संस्मरण सन् १९३० से लगाकर सन् १९३९ तक फैले हुए हैं। रचना-काल के इस विराट् प्रसार को देखते हुए एक बात स्पष्ट है कि लेखिका ने इन कृतियों को बड़े धैर्य, संयम एवं सुविधा के साथ लिखा है। इन्हीं गुणों के मूल में उनकी सफलता का रहस्य अन्तर्निहित है। 'अतीत के चल-चित्र' की प्रस्तावना में इन स्मृति-चित्रों को 'संस्मरण-कथाएँ' कहा गया है। ऐसे व्यक्ति, जो लेखिका के जीवन में आये और उसकी चेतना के अभिन्न अंश बन गये, उन्हीं के करुणापूर्ण इतिवृत्त को लेखिका ने इन संस्मरणों में संजोया है।

क्रम-विकास—संस्मरण की विधा सन् १९४१ में हिन्दी-साहित्य के लिए नई ही थी। राजनीति एवं साहित्य के महान खिलाड़ियों को लेकर तो संस्मरण लिखे गये हैं, पर रामा, लछमा एवं अलोपी जैसे व्यक्तियों पर संस्मरण लिखे जाना एक नई बात थी। ऐसा लगता है कि प्रगतिवाद की तुमुल-ध्वनि के कारण लेखिका के लिए छायावादी गीत लिखना तो संभव न हुआ, इसीलिए उनका प्रतिभाशाली कृतिकार गद्य की ओर उन्मुख हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसमें उन्होंने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। उनके संस्मरणों की मानवता, करुणा, संवेदना एवं कहीं-कहीं तीव्र व्यंग्य-विनोद अपने आपमें इतने कारगर सिद्ध हुए कि उन्होंने संस्मरण की विधा के लिए साहित्य में एक सुरक्षित स्थान बना लिया। इस कार्य का आरम्भ निराला जी इससे पूर्व ही कर चुके थे। उनका 'कुल्लीभाट' एवं 'बिल्लेसुर बकरिहा' इस बात के जीवित-जाग्रत प्रमाण हैं। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों में एक प्रकार की औपन्यासिकता है। जीवन-चरित्र की रेखाएँ भी इन कृतियों में स्पष्ट रूप से उद्‌भासित हुई हैं। इन्हीं की समकालीन महादेवी ने औपन्यासिक आधार के स्थान पर अपने संस्मरणों को कहानी की पृष्ठभूमि प्रदान की और अपनी कला को करुणा में भिगोकर ऐसे रमणीय चित्र अंकित किए कि प्रगतिवादी आलोचकों ने भी लेखिका का अभिनन्दन किया। अमृतराय ने बंबई से निकलने वाले 'नया-साहित्य' में लेखिका की इस नई साहित्य-सृष्टि की विस्तृत विवेचना की।

संस्मरण का स्वरूप—वस्तुतः 'अतीत के चलचित्र' में जो साहित्यिक विधा हमारे सामने आई है, उसमें संस्मरण, कहानी एवं रेखाचित्र का गंगा-जमुनी सम्मिलन है। संस्मरण के अन्तर्गत लेखक जीवन की उन घटनाओं या व्यक्तियों को याद करता है, जिन्हें वह भुला नहीं सका था, जो उसकी मानसिक चेतना के अभिन्न अंश बन गये हैं। स्वाभाविक ही है कि ऐसी रचना लेखक की मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक सही आकलन प्रस्तुत करेगी। इस प्रकार यह विधा जीवनी और आत्मकथा के बीच की एक कड़ी है। आधुनिक युग में जिन परिस्थितियों ने गीत, कहानी एवं एकांकी को जन्म दिया है, उन्हीं परिस्थितियों ने जीवनी और आत्मकथा के बीच में से संस्मरण एवं रेखाचित्र को उत्पन्न किया है। मैंने इन संस्मरणों को कहानी इसी दृष्टि से कहा कि इनमें कथा जैसी रोचकता एवं मर्मस्पर्शिता सहज-सुलभ है। महादेवी एक कुशल चित्रकार भी हैं. इसलिए स्वाभाविक ही था कि उनकी रचना में सूक्ष्म निरीक्षण एवं सौंदर्य-ग्रहण की एक अन्तरंग विशेषता हो। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हम उनके संस्मरणों में किसी व्यक्ति-विशेष के बड़े सरस शब्द-चित्र भी पाते हैं। इन कृतियों में लेखिका का स्वयं का जीवन भी बीच-बीच में से झाँकता है, जैसे शरद् ऋतु में बदली के हट जाने पर आकस्मिक रूप से सूर्य-किरणों के माध्यम से प्रकाश एवं उष्णता सुलभ होती है, उसी प्रकार इन रचनाओं में जहाँ-जहाँ लेखिका का जीवन झाँकता है, वहाँ-वहाँ पाठक एक गहरी रसानुभूति में गोते लगाने लगता है। मैं अपने इस कथन के प्रमाण-स्वरूप 'रामा' शीर्षक संस्मरण का अंतिम अंश देना चाहूँगा। 'आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि राजा भैया कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियाँ कल्पना-जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार का सौंदर्य, भ्रांति हो गया है, पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक, निस्तन्द्र पर स्नेह-तरल !'

रेखाचित्र के लक्षण—उपर्युक्त उद्धरण में मैं अंतिम वाक्य को रेखांकित करना चाहूँगा, क्योंकि यह वाक्य इतना मार्मिक है और इसकी अनुभूति इतनी तरल है कि हम लेखिका की चित्रण-शक्ति के क़ायल हो जाते हैं, जैसे उसने एक वाक्य के ही चषक में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और रामा के सम्पूर्ण मानवीय जीवन को परिप्लावित कर दिया हो। सचमुच, कुछ व्यक्ति मन पर ऐसा गहन प्रभाव डालते हैं कि हमारी चेतना उससे नित्य-नवीन उल्लास की अनुभूति प्राप्त करती है। **रेखाचित्र में चित्रकार का सूक्ष्म-निरीक्षण, रंगों, आकारों एवं प्रवृत्तियों का सहज समन्वय और उनका कम-से-कम शब्दों में चित्रण रहता है। व्यंग्य और विनोद रेखाचित्रकार के अलादीन के चिराग हैं, जिनके आलोक में एक नई दुनिया ही चमक उठती है।** चूँकि लेखिका स्वयं एक कुशल चित्रकार हैं, इसलिए रेखा-चित्रण या शब्द-चित्रण तो उनके बायें हाथ का खेल है। एक उदाहरण लीजिये, इसमें लेखक ने रामा की बहू का बड़ा ही व्यंग्य-विनोद पूर्ण चित्र अंकित किया है। 'उसके साँवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुंठन पड़ा ही रहता है और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसी से हमारे ही समान अबोध रामा पहले हत-बुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अंत में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ ही में नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे, और रख दे तो स्वयं जिये कैसे। फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।'

प्रस्तुत उद्धरण में हम बालक-बालिकाओं एवं रामा के मधुर संबंधों के बीच दाल-भात में मूसरचंद की तरह रामा की बहू को पाते हैं और जब वह रूठ कर मायके चली जाती है, तो न केवल लेखिका और उसके भाई-बहिन ही प्रसन्न होते हैं, बल्कि रामा और इस संस्मरण के पाठक भी मुक्ति की साँस लेते हैं।

अनेक विधाओं का सम्मिलित रूप—गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है। और कोई कवि इस कसौटी पर खरा उतरे चाहे न उतरे, पर महादेवी वर्मा को तो इस दिशा में अद्‌भुत सफलता मिली है। **संस्मरण, रेखाचित्र और कहानी के सम्मिलित व्यक्तित्व को लिये हुए यह मधुर गद्य-सृष्टि हिन्दी साहित्य की एक विलक्षण घटना है।** काव्य की स्वाभाविक कोमलता, कहानी की मनोरंजकता, रेखाचित्र का सूक्ष्म विवरण और संस्मरण का हार्दिक संवेदन—सभी-कुछ इन कृतियों में अत्यन्त कलात्मक रूप में पिरोये हुए हैं। ये संस्मरण सहानुभूति से आर्द्र, सामाजिक असंगति के प्रति आक्रोशमय और पददलितों के प्रति अतलस्पर्शी ममत्व से छलछलाते हुए हैं। इन तथ्यों की पुष्टि के लिए कुछ उदाहरण देने आवश्यक हैं।

"हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे। नन्हे बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था, पर उड़ने वाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी झंडी दिखाने वाले के बिना उसका चलना, ठहरना संभव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था, पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।"

प्रस्तुत उद्धरण में हम काव्य की स्वाभाविक कोमलता के दर्शन कर सकते हैं, क्योंकि लेखिका ने शैशवावस्था के संबंध में कल्पना की तूलिका से अत्यन्त मनोरम चित्र अंकित किया है। इसमें कहानी की मनोरंजकता भी है। ऐसा लगता है कि हम शुष्क संस्मरण न पढ़कर रोचक कहानी पढ़ रहे हैं। **इसका आधार है लेखिका की तरल भावनायें और**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका गंभीर मानवीय दृष्टिकोण। निम्नलिखित उदाहरण से रेखाचित्र की सूक्ष्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।'

'फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी, जूता इत्यादि निकाल कर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आँगन में आ खड़ा हुआ, तब हम सब बहुत सभीत हो गये, क्योंकि ऐसी सजधज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर संदेह भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, 'क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा?' रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया। 'हाँ राजा भैया, ऐसी देहों ना समिटन को'···पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की माँ के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य-नवीन उपाय सोचने पड़े।'

उपर्युक्त उद्धरण से लेखिका का सूक्ष्म निरीक्षण एक ऐसा शब्द-चित्र अंकित करता है कि पाठक के मानस-पट पर गुलाबी साफा बाँधे रामा का चित्र स्पष्ट रूप में अंकित हो जाता है।

संस्मरणों का वैशिष्ट्य—रेखाचित्र में व्यक्ति के वैचित्र्य का जो मार्मिक अंकन होता है, वह भी यहाँ सहज-सुलभ है। रामा की मिठास से भरी हुई बोली, वात्सल्य-रस से पूर्णतः परिप्लावित है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत उद्धरण में हम संस्मरण का हार्दिक संवेदन भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखिका की स्मृति एक स्नेहपूर्ण अनाथालय है, जिसमें सभी के लिए स्थान है। इस स्नेहपूर्ण परिधि में कहीं कोई परिचारिका आती है, तो कहीं कोई युवती-विधवा अपनी करुणा से हमारे मन को पूर्णतः भिगा देती है। वैधव्य के मार्मिक चित्र की दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ सहज ही द्रष्टव्य हैं।

"उस उन्नीस वर्ष की युवती की दयनीयता आज समझ पाती हूँ, जिसके जीवन के सुनहरे स्वप्न गुड़ियों के घरौंदों के समान दुर्दिन की वर्षा में केवल वह ही नहीं गये, वरन् उसे इतना एकाकी छोड़ गये कि उन स्वप्नों की कथा कहना भी सम्भव न हो सका। ऐसी दशा में उसने आठ वर्ष की बालिका को अपने संगी-हीन हृदय की सारी ममता सौंप दी, परन्तु वह बालिका तो उसके संसार में प्रवेश करने में असमर्थ थी, इसी से उसने उसी के गुड़ियों वाले संसार को अपना लिया।" (अतीत के चलचित्र-महादेवी वर्मा : पृष्ठ ३९)

इन पंक्तियों में करुणा का अथाह सागर लहर रहा है। लेखिका ने अत्यन्त विस्तार से उस बाल-विधवा के दैन्य और अभाव का चित्र अंकित किया है। इस प्रकार के संस्मरणों में लेखिका का ध्यान वातावरण-स्रजन की ओर ही विशेष रूप से रहा है। निम्नलिखित उद्धरण में बाल-विधवा की दिनचर्या और जिस प्रकार के वातारण में वह काम करती है, उसका मार्मिक चित्र बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया गया है :

"जिस प्रकार उसका खंडहर जैसे घर और लम्बे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठ कर बुहारना, आँगन के कुएँ से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में, मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना, मेरी हँसी का साधन बनता था, उसी प्रकार केवल जलती लकड़ियों से प्रकाशित, दिन में भी अँधेरी रसोई की कोठरी घुटते हुए धुएँ में से रह-रह कर आता हुआ खाँसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वर, कुछ गीली और कुछ सूखी राख से चाँदी-सोने के समान चमका कर तथा कपड़े से पोंछकर रखते समय शिथिल उँगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट मेरे मन में एक नया विषाद भर देती थी।'' (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृष्ठ ३८)

इन संस्मरणों का प्रारम्भ और अन्त प्रायः बड़ा मार्मिक रहा है। बिन्दा पर अध्यापिका महादेवी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका आरम्भ किसी विद्यालय में नव-प्रविष्ठ छात्रा की दृष्टि से कितना सचित्र है।

''सभीत-सी आँखों वाली उस दुर्बल छोटी अपने आप ही में सिमटी-सी बालिका पर दृष्टि डालकर मैंने सामने बैठे सज्जन को, उनका भरा हुआ प्रवेश-पत्र लौटाते हुए कहा—'नहीं, यह तो गत आषाढ़ में चौदह की हो चुकी।' सुनकर मैंने कुछ विस्मित भाव से अपनी उसी भावी विद्यार्थिनी को अच्छी तरह देखा, जो नौ वर्षीय बालिका की सरल चंचलता से शून्य थी और चौदह वर्षीय किशोरी के सलज्ज उत्साह से अपरिचित। (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ४९)

इसी प्रकार का प्रारम्भ प्रत्येक संस्मरण में हमें देखने को मिलता है। लेखिका की तूलिका इतनी सधी हुई है कि वह कहीं नहीं चूकती। इसी संस्मरण का अन्त भी देखिये—

''कई दिन बिन्दा के घर झाँक-झाँककर जब मैंने माँ से उसके ससुराल से लौटने के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब पता चला कि वह तो अपनी आकाशवासिनी अम्माँ के पास चली गई है। उस दिन से मैं प्रायः चमकीले तारे के आस-पास फैले छोटे तारों में बिन्दा को ढूँढ़ती रहती, पर इतनी दूर से उसे पहचानना क्या सम्भव था ? तब से कितना समय बीत चुका है, पर बिन्दा और उसकी नई अम्माँ की कहानी शेष नहीं हुई। कभी हो सकेगी या नहीं, इसे कौन बता सकता है ?'' (महादेवी—अतीत के चलचित्र : पृ० ६०)

संस्मरण के इस अन्त में, प्रत्येक शब्द से, कितना ममत्व छलक रहा है और नियति की क्रूरता का चित्र कितना भास्वर हो उठा है, यह सहज ही उल्लेखनीय है। अन्त में प्रश्न पूछकर लेखिका अपने पाठक एवं पाठिकाओं को भी अपनी समवेदना का सम-भागी बना लेती है और तब संस्मरण की परिसमाप्ति अत्यन्त ही करुण हो उठती है।

सबिया पर महादेवी जी ने जो संस्मरण लिखा है, उसका पतिव्रत-धर्म, सौत की उपस्थिति में भी अडिग है। वर्तमान-युग में नर-नारी के बीच जो भयंकर प्रतियोगिता चल रही है, उसके सन्दर्भ में सबिया का पातिव्रत्य कितना महिमापूर्ण है, यह निम्न उद्धरण से स्पष्टतः प्रकट हो जाता है—

''वह उन महिलाओं में नहीं है, जो पति के हल्केपन को, उसके बंगले, कार, वैभव आदि के पासंग में रख-रखकर, भारी कर सकती है। उसकी गणना न उनमें हो सकती है, जिनके यातना-मन्दिर के द्वार पर स्वयं धर्म कठोर और सजग पहरेदार है, और न उनमें, जिनके उद्भ्रान्त मस्तकों पर समाज की नंगी तलवार लटकती रहती है। वह तो सब प्रकार से निकृष्टतम प्राणी कही जायगी। फिर इस पारस की उपस्थिति, जिसके स्पर्श से, कैसे भी लोहे का आवरण सोना हो सकता है, किस प्रकार समझाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाये !" (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृ० ७५)

लेखिका की करुणा केवल नारी-जाति के लिए ही सुरक्षित नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर घीसा जैसा विद्यार्थी भी उनकी करुणा का बहुत बड़ा अंश पा जाता है। यह विद्यार्थी आधुनिक एकलव्य से कम नहीं है। उसकी ज्ञान-पिपासा का चित्र देखिए—

"पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी ! वे निरन्तर घड़ी की तरह खुलीं मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्याबुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था !" (अतीत के चलचित्र—महादेवी वर्मा, पृष्ठ ११७)

घीसा के साथ-ही-साथ लेखिका ने उसकी माँ के व्यक्तित्व को भी बड़ी मार्मिकता से संवारा है। उसकी माँ के सम्बन्ध में जो प्रवाद प्रचलित था, उसका निराकरण घीसा की माँ का निम्न आत्माभिमानपूर्ण वाक्य भली-भाँति करता है—

"हम सिन्ध के महरारू होइके का सियारन के जाब ?"

घीसा जैसे शिष्य से लेखिका को गुरु-दक्षिणा के रूप में भक्ति से लबालब मिला एक तरबूज ! इस गुरु-दक्षिणा पर महादेवी की यह टिप्पणी बड़ी मार्मिक बन पड़ी है—

"उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।"

महादेवी जी की मानवीयता का एक बड़ा ही हार्दिक चित्र हमें अलोपी के रूप में मिलता है। अलोपी का भक्ति-भाव हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की वैमनस्यपूर्ण आग में सलिल जैसी शीतलता का काम देता है। वर्तमान युग के इस सनातन वैमनस्य के सन्दर्भ में अन्धे अलोपी के स्नेह को लेखिका ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में अंकित किया है—

"एक बार जब अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब अलोपी पहले से दुगुनी बड़ी डलिया में न जाने क्या-क्या भरे और एक बड़ी गठरी रग्घू की पीठ पर भी लादे सुनसान रास्ते से आ पहुँचा। उसके दुस्साहस ने मुझे विस्मित न करके क्रोधित कर दिया। 'तुम हृदय के भी अन्धे हो, ऐसी अँधेरी गलियों में प्राण देकर कुछ स्वर्ग नहीं पहुँच जाओगे।' आदि-आदि स्वागत वचनों के उत्तर में अलोपी बैंगन-लौकी टटोलने लगा। मेरे आँगन में तरकारियों का टीला निर्माण कर वह वैसे ही मूक भाव से छात्रावास की ओर चल दिया। वहाँ से लौटकर जब वह सूखी आँखें पोंछता और ठिठकता-सा सामने आ खड़ा हुआ, तब मेरा क्रोध बरस कर मिट चुका था और मन में ममता की सजलता व्याप्त थी।"

प्रस्तुत उद्धरण में मानवीय सम्बन्धों का बड़ा ही विचित्र माधुर्य एक सर्वथा विचित्र व्यंजना के साथ छलक रहा है। अलोपी की ममता और लेखिका की सजलता अब विगत युग की वस्तु भले ही रह गई हों, पर अब भी स्वार्थों की परिधि में घिरा हुआ मानव-जीवन इस प्रकार के व्यवहार से एक ताज़गी अनुभव करता है। अतीत के चल-चित्र में अन्तिम संस्मरण है लछमा पर, जो उनकी परिचायिका, सखी और संरक्षिका है—ये सब व्यक्तित्व लछमा के व्यवहार के अभिन्न अंग बन गये हैं। लछमा एक पहाड़ी युवती है, जिसका व्यक्तित्व पहाड़ की वेगवती नदी के समान उच्छृंखल एवं विद्रोही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका व्यक्तित्व इस्पाती अवयवों से विनिर्मित हुआ है, उसकी एक ही झलक काफ़ी होगी—

"यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है, उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दराँती के साथ वह अँधेरी-से-अँधेरी रात में भी मार्ग ढूँढ़ लेती है, उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर-से-घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।" (अतीत के चल-चित्र—पृष्ठ २०९)

ऐसी विद्रोहिणी लछमा लेखिका के सम्मुख मोम-सी मुलायम और आषाढ़ के मेघों के समान समर्पणशील है। इसे लेखिका के व्यक्तित्व की विजय कहें या लछमा के विद्रोही व्यक्तित्व की ममता ?

सामान्य विशेषताएं—"अतीत के चलचित्र" में जो संस्मरण संकलित किये गए हैं, उनकी सामान्य विशेषताओं की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य दृष्टव्य हैं—

(१) कवित्व की माधुर्यपूर्ण भावना से उनका गद्य झिलमिल है और इसका आधार है—करुण-रस। रहस्यवादी एवं छायावादी कवयित्री, गद्य में मानवतावादी हो गई हैं और उनका मानवतावाद अत्यन्त ही उच्चकोटि का है। उसमें रामा, अलोपी, लछमा, घीसा, बिट्टू आदि पात्र उनके ममतालय के अभिन्न अंग हैं। **ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने वैयक्तिक परिवार के अभाव को सामूहिक परिवार के रूप में पूर्ण कर रही हैं।**

(२) उनकी करुणा उस समय आक्रोश का रूप ले लेती है, जब उनके किसी आत्मीय पात्र पर कोई अत्याचार होता है, पर तब उनका आक्रोश व्यंग का रूप धारण कर लेता है और उसकी साहित्यिक छटा निराली होती है।

(३) इन संस्मरणों में व्यक्तियों के रेखाचित्र ऐसे विविध-रूप में बिखरे पड़े हैं कि हम लेखिका की सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति एवं सम्वेदनापूर्ण चित्रण के कायल हो जाते हैं।

(४) इन संस्मरणों में कथा की रोचकता भी है और लेखिका ने इन्हें जो संस्मरण-कथा कहा है, वह समीचीन है। किसी संस्मरण को आरम्भ करने पर पाठक का कौतूहल बढ़ता जाता है और वह जब तक उसे समाप्त नहीं कर लेता, तब तक उसे चैन नहीं। उसकी रुचि निरन्तर रूप से बनी रहती है, जैसे वह करुणा के सरोवर में कल्पना की नौका पर आसीन होकर विचरण कर रहा हो।

(५) जहाँ इन संस्मरणों के ऐसे उज्ज्वल पक्ष हैं, वहाँ उनका एक कृष्ण पक्ष भी है और वह है—लेखिका का क्लिष्ट साहित्यिक गद्य। जो मार्जित-रुचि के हैं, उन्हें तो इसमें आनन्दानुभूति ही होती है, पर साधारण पाठक के हाथ के तोते उड़ जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लेखिका का साहित्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उसका आधार जन-जीवन की क्रूर वास्तविकतायें हैं। इन संस्मरणों में लेखिका का समाज-दर्शन एवं व्यक्ति-दर्शन दोनों ही इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि वे अनायास ही अमूल्य मणि-रत्नों को प्राप्त कर लेते हैं।

"अतीत के चलचित्र" की लोकप्रियता ने महादेवी जी को अपनी 'स्मृति की रेखायें' अंकित करने के लिये प्रेरणा दी। इन दोनों संस्मरण-पुस्तकों के शीर्षकों में शाब्दिक दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भले ही अन्तर हो, पर भावना की दृष्टि से इन दोनों पुस्तकों की अन्तर्धारा एक जैसी ही है। रामा, अलोपी और घीसा पर लिखने वाली लेखिका ही भक्तिन, बिंदिया, गुंगिया, ठकुरी बाबा आदि पर लिख सकती है। विविधता हमें मिली—'चीनी' व 'दो भाई' के चित्रण में। इन दो संस्मरणों में लेखिका की सहानुभूति का एक छोर जहाँ दो पर्वत-पुत्रों को स्पर्श करता है, वहीं वह अपनी भावना की बाँहों में एक विदेशी का भी आलिंगन करता है, जिसके होठों से सदा-सर्वदा 'सिस्तर' शब्द की झड़ी लगी रहती थी और जो केवल रेशमी वस्त्रों का विक्रेता ही नहीं है, अपितु लेखिका का भाई बनने का भी दावा करता है। अपनी पूर्व-पुस्तक की तरह इन संस्मरणों का आधार भी करुणा एवं मानवता है।

'स्मृति की रेखाओं' में पहली रेखा है 'भक्तिन' पर, उसका व्यक्तित्व बड़ी आड़ी-तिरछी रेखाओं में अंकित हुआ है, पर फिर भी उसकी व्यंजना लेखिका के कौशल की द्योतक है। प्रारम्भ में भक्तिन की पारिवारिक एवं मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी गई है, तब लेखिका ने अपने सम्बन्धों की कहानी बड़ी लाघवता के साथ अंकित की है। किस प्रकार उन्होंने अपने भोजन की परिभाषा बदली, किस प्रकार वह इधर-उधर भूल से पड़े हुए रुपयों को ठिकाने लगाती है और किस प्रकार वह लेखिका के साहित्य-कला-सृजन एवं परीक्षण-कार्य में योग देती है, यह सब कहानी बड़े मनोरंजक रूप में अंकित की गई है। मुहावरों के प्रयोग ने महादेवी जी के संस्मरण-लेखन के स्तर को एक नई दिशा दिखायी है और हमें प्रेमचन्द जी का मुहावरेदार गद्य याद आने लगा। सोचता हूँ कि प्रेमचन्द जी मुहावरेदानी के सम्राट् थे, तो क्या देवी जी को मुहावरेदानी की साम्राज्ञी कहूँ? मुहावरों के सार्थक प्रयोग की कुछ बानगी देखिये :

(१) दुख से शिथिल और अपमान से जलती हुई वह उस घर में **पानी भी बिना पिये उल्टे पैरों** ससुराल लौट पड़ी। सास को **खरी-खोटी सुनाकर** उसने विमाता पर आया हुआ क्रोध शान्त किया और पति के ऊपर गहने फेंक-फेंककर उसने पिता के चिर-विछोह की मर्म-व्यथा व्यक्त की। (स्मृति की रेखाएँ : पृष्ठ ७)

(२) जब उसने गेहुएँ रंग और बटिया जैसे मुखवाली **पहली कन्या के दो संस्करण** और कर डाले, तब सास और जिठानियों ने ओठ बिचकाकर उपेक्षा प्रकट की। (वही)

(३) इस दंड-विधान के भीतर कोई ऐसी धारा नहीं थी, जिसके अनुसार **खोटे सिक्कों की टकसाल-जैसी पत्नी** से पति को विरक्त किया जा सकता।

(४) उसके ससुर, पितिया ससुर, अजिया सास आदि ने उसकी पाककुशलता के के लिए न जाने कितने **मौखिक प्रमाण-पत्र** दे डाले हैं। (वही, पृष्ठ ११)

(५) भक्तिन की कंजूसी के प्रमाण पुंजीभूत होते-होते पर्वताकार बन चुके थे, परन्तु इस **उदारता के डाइनामाइट** ने क्षण भर में उन्हें उड़ा दिया। (वही, पृष्ठ १६, १७)

उद्धरण-संख्या एक में रेखांकित अंश परम्परागत मुहावरों की बानगी प्रस्तुत करते हैं, तो उद्धरण-संख्या दो, तीन चार और पाँच के रेखांकित अंशों में नये मुहावरों की सृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गई है। इनका व्यंग्य-विनोद लेखिका के व्यक्तित्व की चाशनी में घुलकर एक सशक्त गद्य का रूप धारण कर सका है। 'कन्या के दो संस्करण', 'खोटे सिक्कों की टकसाल', 'मौखिक प्रमाण-पत्र' 'उदारता के डाइनामाइट'—ये लेखिका की अनुभूति की टकसाल में ढले हुए नये मुहावरे हैं। इन मुहावरों ने एक ओर तो लेखिका की अभिव्यंजना को वक्रता प्रदान की है, तो दूसरी ओर उनकी आलोचनात्मक-शैली सहृदय पाठकों को पुष्कल पौष्टिक पदार्थ भी परोसती रही है।

'भक्तिन' का व्यक्तित्व-चित्रण कमाल का है। इसकी पृष्ठभूमि के रूप में जिठानियों और देवरानियों का जो विभेद-चित्रण है, वह लेखिका की संस्मरण-कला की ऋजुता का अद्भुत उदाहरण है। निम्नलिखित अनुच्छेद को पढ़ते हुए हमें भ्रम होता है कि हम महादेवी को पढ़ रहे हैं या प्रेमचन्द को। अपने कथन की पुष्टि में, मैं उस अनुच्छेद को अविकल रूप में उद्धृत करता हूँ : "जिठानियाँ बैठकर लोक-चर्चा करतीं और उनके कलूटे लड़के धूल उड़ाते, वह मट्ठा फेरती, कूटती, पीसती, राँधती और उसकी नन्हीं लड़कियाँ गोबर उठाती, कंडे पाथतीं। जिठानियाँ अपने भात पर सफेद राब रखकर गाढ़ा दूध डालतीं और अपने लड़कों को औटाते हुए दूध पर से मलाई उतारकर खिलातीं। वह काले गुड़ की डली के साथ कठौती में मट्ठा पीती और उसकी लड़कियाँ चने-बाजरे की घुघरी चबातीं।" (वही, पृष्ठ ७)

उपर्युक्त उद्धरण लेखिका के समाज-दर्शन का एक कलात्मक आकलन है और मानवीय मनोवृत्ति को बड़े ही सबल व्यंग्यपूर्ण शब्दों में प्रकट करता है। इसमें कुछ देशज एवं देहाती शब्दों का भी बड़ा मार्मिक प्रयोग हुआ है, कलूटे, राँधती, कंडे थापती, राव, घुघरी चबातीं और कठौती में हमें न केवल स्थानीय रंग ही मिलता है, बल्कि ग्रामीण वृत्ति का एक सहज चित्र भी सुलभ होता है।

लेखिका ने एक स्थान पर भक्तिन और उसके पति के सम्बन्धों की घनिष्ठता और उसके परिणाम की निम्नलिखित शब्दों में अत्यन्त ही सटीक व्याख्या की है : "इसके अतिरिक्त परिश्रमी, तेजस्विनी और पति के प्रति रोम-रोम से सच्ची पत्नी को वह चाहता भी बहुत रहा होगा, क्योंकि उसके प्रेम के बल पर ही पत्नी ने अलगौझा करके सबको अँगूठा दिखा दिया।" (वही, पृष्ठ ८)

यहाँ 'अलगौझा' शब्द और 'अँगूठा दिखा देना' मुहावरा कितना सप्राण है और उसकी तीक्ष्ण व्यंग्यमयी भंगिमा अपनी बाँकी चितवन से पाठक के मन को हर लेती है। भक्तिन की युवती-पुत्री का विवरण भी व्यंग्य-विनोद से परिप्लावित है : "तीतरबाज युवक कहता था, वह निमन्त्रण पाकर भीतर गया और युवक उसके मुख पर अपनी पाँचों उँगलियों के उभार में इस निमन्त्रण के अक्षर पढ़ने का अनुरोध करती थी। अन्त में दूध-का-दूध, पानी-का-पानी करने के लिये पंचायत बैठी और सबने सिर हिला-हिलाकर इस समस्या का मूल कारण कलियुग को स्वीकार किया।" (वही, पृष्ठ ९-१०)

भक्तिन की पुत्री का व्यक्तित्व भी अपनी माँ से किसी क़द्र कम न था, किन्तु उस आक्रोशमयी युवती के जीवन की अन्तिम परिणति बड़ी करुणापूर्ण है, क्योंकि उस तीतरबाज को युवती पुत्री के गले मढ़ दिया गया था, जिस पर 'अपमानित बालिका ने ओठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काटकर लहू निकाल लिया और माँ ने आग्नेय नेत्रों से गलेपड़ू दामाद को देखा।' (वही, पृष्ठ १०) इस वाक्य में ओठ काटकर लहू निकाल लेने का मूक विद्रोह और भक्तिन के आग्नेय नेत्र गलेपड़ू दामाद को भस्मासुर की तरह जला न सके, यही क्या कम है ! इस दामाद ने किस प्रकार भक्तिन की समृद्धि में आग लगा दी, और किस प्रकार जमींदार ने उसे कड़ी धूप में खड़ा कर अपमानित किया, इसी यातना के परिणामस्वरूप ही, वह कमाई के विचार से शहर आ जाती है। ऐसी स्थिति में उसका जो शब्द-चित्र लेखिका ने अंकित किया है, वह अनेक दृष्टियों से एक सफल रेखाचित्र का उदाहरण प्रस्तुत करता है : "घुटी हुई चाँद को मोटी मैली धोती से ढाँके और मानों सब प्रकार की आहट सुनने के लिये एक कान कपड़े से बाहर निकाले हुए भक्तिन जब मेरे यहाँ सेवक-धर्म में दीक्षित हुई, तब उसके जीवन के चौथे और सम्भवतः अन्तिम परिच्छेद का जो अर्थ हुआ, उसकी इति अभी दूर है। भक्तिन की वेश-भूषा में गृहस्थ और वैरागी का सम्मिश्रण देखकर मैंने शंका से प्रश्न किया—'क्या तुम खाना बनाना जानती हो ?' 'उत्तर में उसने ऊपर के ओठ को सिकोड़ और नीचे के अधर को कुछ और बढ़ाकर आश्वासन की मुद्रा के साथ कहा—'कउन बड़ी बात आय ! रोटी बनाय जानित है, दाल रांध लेइत है, साग-भाजी छउंक सकित है, अउर बाकी का रहा !' (वही, पृष्ठ १०)

प्रस्तुत पंक्तियों में भक्तिन के व्यक्तित्व की रेखाओं और उसकी उपाधियों का विज्ञापन बड़ा मार्मिक बन पड़ा है। उसका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही पूर्णतः प्रकट हुए हैं। उसके प्रगाढ़ स्नेह और मैत्री की भावना इतनी प्रबल है कि लेखिका चाहने पर भी उसे अपनी सेवा से मुक्त नहीं कर सकती। उसकी रूढ़प्रियता, छुआछूत और उसकी प्रबल स्वामि-भक्ति उसके व्यक्तित्व को एक निराली धजा में प्रकट करते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति के सम्बन्ध में लेखिका की टिप्पणी इस प्रकार है : 'किसी भी परिस्थिति में, किसी भी समय, कहीं भी जाने के लिये प्रस्तुत होते ही मैं भक्तिन को छाया के समान साथ पाती हूँ।" (वही, पृष्ठ १६) पर यही भक्तिन युद्ध के प्रति बड़ी डरपोक है, इसीलिए वह लेखिका के साथ गाँव जाने का प्रस्ताव करती है। इस अवस्था में उसका स्नेह, अपनी स्वामिनी की आवश्यकता के प्रति सजगता और आत्मीयता का बड़ा ही मार्मिक चित्र निम्नलिखित अनुच्छेद में प्राप्त होता है। प्रत्येक शब्द से उसका स्नेह छलका पड़ रहा है : "जब गत वर्ष युद्ध के भूत ने वीरता के स्थान में पलायन-वृत्ति जगा दी थी, तब भक्तिन पहली ही बार सेवक की विनीत मुद्रा के साथ मुझसे गाँव चलने का अनुरोध करने आई। वह लकड़ी रखने के मचान पर अपनी नई धोती बिछाकर मेरे सोने का प्रबन्ध करेगी। मेरे रंग, स्याही आदि को नई हँडियों में संजोकर रख देगी और कागज-पत्रों को छीकों में यथाविधि एकत्र कर देगी।" (वही, पृष्ठ १६)

'सम्भवतः ऐसी भक्ति-भावना राम के प्रति हनुमान की भी न रही होगी, क्योंकि कौड़ी-कौड़ी करके इकट्ठा किया हुआ जो पाँच बीसी और पाँच रुपया उसके पास गड़ा रखा है, उसको वह लेखिका पर न्यौछावर करने के लिये प्रस्तुत है। इतना सब होने पर भी लेखिका उसे सेवक-स्वामी सम्बन्धों के बीच नहीं लेना चाहतीं। उनकी दृष्टि में 'भक्तिन को नौकर कहना उतना ही असंगत है, जितना अपने घर में बारी-बारी से आने-जाने वाले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे-उजाले और आँगन में फूलने वाले गुलाब और आम को सेवक मानना। वे जिस प्रकार एक अस्तित्व रखते हैं, जिसे सार्थकता देने के लिये ही हमें सुख-दुख देते हैं, उसी प्रकार का भक्तिन का स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने विकास के परिचय के लिये ही मेरे जीवन को घेरे हुए है।' इस उद्धरण से हम महादेवी जी और भक्तिन के सम्बन्धों को स्पष्टतः समझ सकते हैं। उसकी स्वामि-भक्ति का एक दिव्य उदाहरण तब मिलता है, जब किसी 'साहित्यिक-बन्धु के आने पर भक्तिन के सम्मान की मात्रा, मेरे प्रति उनके सम्मान की मात्रा पर निर्भर है और सद्भाव उनके प्रति मेरे सद्भाव से निश्चित होता है। इस सम्बन्ध में भक्तिन की सहज बुद्धि विस्मित कर देने वाली है।' जिन दिनों भारत में स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये राजनीतिक आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों किसी भी साहित्यिक का कृष्ण-मन्दिर में जाना उतना ही सम्भावित था, जितना कि बसन्त में गुलाब की कलियों का चटकना और उनके सौरभ का उन्मुक्त विस्तार! इस संदर्भ में लेखिका की जेल जाने की बात सुनकर भक्तिन पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि उसके 'संस्कार' ऐसे हैं कि वह कारागार से वैसे ही डरती है, जैसे यमलोक से—उसकी यह कमजोरी इतनी प्रसिद्धि पा चुकी है कि लोग मेरे जाने की सम्भावना बता-बताकर उसे चिढ़ाते रहते हैं। 'किन्तु लेखिका के साथ वह कारागार की यमपुरी में भी जाने को तैयार है और इसके लिये उसकी जिज्ञासा बड़ी सजगतामयी है। वह किसी भी रूप में अपनी स्वामिनी से अलग नहीं होना चाहती। यदि स्वामिनी को जेल में ठूँस दिया गया और भक्तिन को उनके साथ न रहने दिया गया, तो वह बड़े लाट तक लड़ने का इरादा रखती है। प्रस्तुत संस्मरण का अन्त बड़ा मार्मिक है और लेखिका का जो भक्तिन के प्रति ममत्व है, उसका दर्शनीकरण (फिलॉस्फाईजंग) संस्मरण के अन्त में बड़े स्पष्टरूप में देखा जा सकता है : "मैं प्रायः सोचती हूँ कि जब ऐसा बुलावा आ पहुंचेगा, जिसमें न धोती साफ करने का अवकाश रहेगा, न सामान बाँधने का, न भक्तिन को रुकने का अधिकार होगा, न मुझे रोकने का, तब चिरविदा के अन्तिम क्षणों यह देहातिन वृद्धा क्या करेगी और मैं क्या कहूँगी ?" (वही, पृष्ठ १९)

प्रस्तुत संस्मरण का इतने विस्तार में विश्लेषण इसीलिये किया है कि हम महादेवी जी की कला को समग्र रूप में समझ सकें। यही विशेषताएँ कुछ रूपान्तर के साथ अन्य संस्मरणों में भी प्रकट हुई हैं। 'शाश्वत चीनी' दुःख और यातनाओं से भरे हुए एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो चीन, बर्मा और भारत में अपनी जीविका के लिये खाक छानता फिरा और जिसने अपनी खोई हुई बहिन को लेखिका में पाया। माँ, बाप और फिर बाद में दुःखिता एवं छीजती हुई बहिन किस प्रकार उसे यातनाओं की भट्टी में जलते हुए छोड़ गये और किस प्रकार उसने गिरहकटों के चंगुल से अपने-आपको बचाकर 'सिल्क विक्रेता फेरी वाला चीनी' का रूप लिया, इसी की करुणा के आँसुओं में डूबी हुई यह कहानी है। एक उदाहरण लीजिये : "पर, एक रात उसने बिछौने पर लेटकर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह, मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे ओठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेरकर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सजी हुई मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई।'' (वही, पृष्ठ १५) इन पंक्तियों में संकेतात्मकता अपनी नयी करुणा, व्यंग्यपूर्ण अर्थवत्ता को कैसे मूक, पर सटीक शब्दों में व्यक्त करती है। आज के नये संदर्भ में हम चीन की भुखमरी और राजनीतिक विकृतियों को 'शाश्वत चीनी' के माध्यम से भलीभाँति समझ सकते हैं। सारा वर्णन कितना सजीव और चित्रात्मक है।

'स्मृति की रेखाओं' की तीसरी रेखा दो भाइयों—दो पर्वत-पुत्रों से हमें परिचित करवाती है। इनकी स्वाभाविक मानवीयता इतनी सजल और संवेदनशील है कि हृदय में करुणा और वात्सल्य के सोते फूट पड़ते हैं। वस्तुतः महादेवी जी की स्मृति करुणा का अक्षय आगार है, जिसमें पलकर रामा, घीसा, अलोपी, लछमा, चीनी दो भाई जैसे दर्जनों पात्र और पात्रियाँ एक विलक्षण साहित्यिक व्यक्तित्व प्राप्त कर सके हैं। घनिया का संकोच में लिपटा चेहरा और जंगिया का कर्तव्य-सजग मुखड़ा क्या कभी भुलाये जा सकते हैं : 'सबेरे झरने से हाथ-मुँह धोकर लौटने पर मैंने चट्टी के नीचे वाले खण्ड में जंगबहादुर को दो नये कुलियों के साथ प्रतीक्षा करते पाया और ऊपर धनसिंह को कपड़े की पट्टी से सिर कसकर बोझा सँभालते देखा। 'क्या तुम अच्छे हो गये ?' सुनकर उसने थकावट से उत्पन्न पसीने की बूँदें पोंछते हुए बताया कि वह चल सकेगा। उसके न जाने से भाई का भी नुक़सान होगा।' (वही, पृष्ठ ४१, ४२)

इस संस्मरण के अन्त में उन पर्वत-पुत्रों की लेखिका को विदाई 'शकुन्तला की विदा' से कम महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे क्षणों में मानवीय स्नेह अनन्त अश्रु-कणों में किस प्रकार छलक-छलक पड़ता है, इसका एक मार्मिक चित्र देखिये : ''जंगवीर ने आँसू रोकने का प्रयास करते-करते कहा—'माँ जी जीता रहना फिर आना, जंगिया के नाम चिट्ठी भेजना।' 'घनिया सदा के समान पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाये, बीच-बीच में टपकते आँसुओं की भाषा में विदा दे रहा था। आज वे दोनों पर्वत-पुत्र कहाँ होंगे सो तो मैं बता नहीं सकती, पर उनको माँजी होकर मुझे जो सम्मान मिला, वह भी बताना सहज नहीं।' (वही, पृष्ठ ४६) भावनाओं की शब्दावलि कितनी संक्षिप्त, तार-शैली के समान अर्थपूर्ण और हृदयवेधी होती है, इसकी स्पष्ट झाँकी हमें उपर्युक्त उद्धरण में मिलेगी।

चौथी रेखा का सम्बन्ध अटल की 'मुन्नू की माई' से है। यहाँ भी कर्कशा और मधुर आतिथ्यशील का विभेद-चित्रण इस मानवीय विचित्रालय का एक हृदय-स्पर्शी उदाहरण है। लोग कहते हैं कि सुन्दरता आँख को पकड़ लेती है, पर यहाँ तो दरिद्रता, कुरूपता इतनी आकर्षक बन गई हैं कि हम शब्द-शिल्पी लेखिका की नवीन उपलब्धि के सम्मुख श्रद्धानत हो जाते हैं : ''बेवाइयों से भरे छोटे पैरों में काँसे के कड़े घिसते-घिसते चपटे और तंग हो गये हैं, अतः बचपन से अब तक बदले न जाने की घोषणा करते हैं। कड़ी उँगलियों वाले हाथों की चपटी कलाई को घेरने वाली मैलभरी घिसी चूड़ियाँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानों हाथ के साथ ही उत्पन्न हुई हैं।'' (वही, पृष्ठ ४९) इसे स्वभावोक्ति अलंकार का नया संस्करण कहें या जन-साहित्य का एक दिव्य चित्र, कुछ समझ में नहीं आता। लेखिका की कला मैक्सिम गोर्की के चित्रण से होड़ करती है। तथाकथित 'प्रगतिशीलों' ने ऐसे कितने चित्र अंकित किये हैं, यह उनके लिए एक ज्वलन्त चुनौती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचम रेखा 'ठकुरी बाबा' के व्यक्तित्व को सँवारती है। वे वास्तव में लोककवि अथवा जन्मजात निसर्ग-कवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन-वृत्त किसी काव्य से कम वैविध्यपूर्ण नहीं है। उनकी चेष्टाओं एवं प्रवृत्तियों में कविता-कामिनी छूम-छनन···नन नृत्य करती है और तब लेखिका उन्हें अत्यन्त ही गौरवमयी श्रद्धांजलि अर्पित करती है : "अर्थव के जो गायक अपने-आपको धरती का पुत्र कहते थे, ठकुरी बाबा उन्हीं के सजातीय कहे जा सकते हैं। इनके लिए जीवन धरती का वरदान, काव्य उसके सौंदर्य की अनुभूति, प्रेम उसके आकर्षण की गति और शक्ति उसकी प्रेरणा का नाम है। ऐसे व्यक्ति मुक्ति की ऊँची-से-ऊँची कल्पना को दूब में खिले नीचे-से-नीचे फूल पर न्यौछावर कर दें, तो आश्चर्य नहीं।" (वही, पृष्ठ ९९) प्रकृति-चित्रण के अत्यन्त सुललित, वैशिष्ट्यपूर्ण, रुद्र एवं सौम्य रूप हमें इस संस्मरण में मिले, जिन्हें निबन्ध की कलेवर-वृद्धि के कारण हम नहीं दे पायेंगे। थूहर, भटकटैया से लगाकर मक्का के भुट्टों तक का यहाँ सजीव वर्णन है और इसके साथ-ही-साथ ठकुरी बाबा के विचित्र परिवार की झलक कितनी मनोरम है : "बेला ने बचपन के साथी को छोड़ना नहीं चाहा और इस प्रकार ठकुरी बाबा वचन-भंग के पातक से बच गये।" (वही, पृष्ठ ८५)

छठी रेखा 'बिबिया' की पृष्ठभूमि में पहले बाँकी अदावाले दमड़ीलाल का चित्र उपस्थित करती है, जो कि भक्तिन के हाथ की बनी चाय को सागर-मन्थन में निकले अमृत से कम नहीं समझता और 'नाश्ते' के लिए भी आग्रह करता है। इसे अपनी माँ के साथ देखकर लेखिका को 'बिबिया' धोबिन की याद आ गई, जिसकी कहानी निम्न जातियों में नारी के यातनामय जीवन का एक रोमांचकारी वृत्त है। सुन्दरी, परिश्रमी, और बुद्धिमती, पर अभिमानिनी बिबिया को जीवन में कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े, यह संस्मरण उसी की करुणाभरी कहानी है। कभी न बुझने वाला बिबिया का व्यक्तित्व किस प्रकार समाज की रूढ़ियों और भ्रान्त धारणाओं के कारण तार-तार हो गया, यह सब पढ़कर पाठक के आँसू जम जाते हैं और उसका विद्रोह-भाव वाचाल हो उठता है। उसके परिश्रमी जीवन की एक झलक : "सबेरा होने पर कर्तव्य की पुरानी पुस्तक का नया पृष्ठ खुला ही रहता था।" (पृष्ठ १११) झनकू के मुक्त जीवन और वैवाहिक सम्बन्धों पर निम्न वाक्य में कितना तीव्र व्यंग्य है : "इस प्रकार अपने मन को मुक्त रखकर भी झनकू बिबिया को दाम्पत्य-बन्धन में बाँध लाया।" (पृष्ठ १११) पुरुष द्वारा नारी पर किये गए अत्याचार का एक चित्र : "बिबिया के शरीर पर घूँसों के भारीपन के स्मारक गुम्मड़ उभर आए थे, लकड़ी के आघातों की संख्या बताने वाली नीली रेखाएँ खिंच गई थीं और लातों की सीमा नापने वाली पीड़ा जोड़ों में फैल रही थी।" (पृष्ठ ११६) यह संस्मरण धोबी-मनोविज्ञान और उनकी दुष्ट प्रवृत्तियों पर एक संस्मरणात्मक प्रबन्ध कहा जा सकता है।

सप्तम् रेखा में 'गुंगिया' की मूक व्यथा की भूमिका के रूप में पत्र-लेखन और अपढ़ लोगों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का विशद चित्र है। 'गुंगिया' का स्नेह-तरल वात्सल्य और हुलासी की अवज्ञा मानवीय चरित्र के अद्‌भुत अध्याय हैं। हुलासी को खोकर गुंगिया उसके खिलौने में ही रम गई और उसकी अन्तिम श्वास उन्हीं के बीच टूटी :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वह हुलासी के खिलौनों की खुली पिटारी और कपड़ों से भरे बक्स के बीच में मरी पाई गई। रुपये उसके तकिये के नीचे ज्यों-के-त्यों धरे मिले।" (पृष्ठ १४६) हम लेखिका के इस मन्तव्य से अक्षरशः सहमत हैं : "जीवन में मैंने जितने विचित्र व्यक्ति और जैसे रहस्यमय इतिवृत्त देखे-सुने हैं, उनके सामने कल्पना के सभी निर्माण फीके पड़ सकते हैं, पर गुंगिया मेरे हृदय में जो करुणा विस्मय जगा सकी थी, वह फिर नहीं जागा।"

इन दोनों पुस्तकों के विश्लेषण के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महादेवी जी की स्मृति एक ऐसा अनाथालय है, जिसमें मानवता के इन उपेक्षित अंशों के प्रति अथाह करुणा है, इसी कारण इन्हें अनाथालय न कहकर ममतालय कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनकी दृष्टि में चित्रकार की सर्वग्राहिता, कवि की मार्मिकता और नारीत्व की संवेदनशीलता है। निजी जीवन के इतने रोचक और प्रभावपूर्ण संस्मरण और किसी ने नहीं लिखे।

महादेवी जी की तीसरी संस्मरण-पुस्तक 'पथ के साथी' अपनी दो अग्रजाओं ('अतीत के चलचित्र' 'और स्मृति की रेखायें') से भिन्न है, यद्यपि इन संस्मरणों का भी मूल उत्स लेखिका का भावना-तरल हृदय ही है। **ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कविता की भावुकता गद्य में पारा बनकर पिघल गई है और इसे उनके कवि का ही रूपांतर कहा जा सकता है।** एक बात में भिन्नता अवश्य है और वह है उनके व्यंग्य-विनोद का बौद्धिक धरातल। ऐसे मार्मिक एवं कलात्मक व्यंग्य, हिन्दी-साहित्य की एक अनहोनी घटना है। स्व० गुलाबराय के हास्य-विनोद से इनका पृथक् स्वाद है—जहाँ गुलाबराय स्वयं अपनी सीमाओं और त्रुटियों का कार्टून बनाते हैं, वहीं महादेवी कोई तेज फुलझड़ी छोड़कर पाठक के मन को बिद्ध कर देती हैं। तुलना के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। गुलाबराय के 'नर से नारायण' का व्यंग्य-चित्रण देखिये : क्रॉस-वैन्टीलेशन की शान ही बवाले-जान बन गई। सौंदर्य-प्रिय होते हुए भी तहखानों के झरनों के पुष्टमांसल सौंदर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता, तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखने वालों को कम प्रकाश की तो जरूरत नहीं होती।"

उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना में **गुप्त जी की काव्य-साधना** का प्रारम्भिक रूप महादेवी जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है : "पत्थर के चबूतरे पर कविता लिखने के लिए रक्खी हुई दो-तीन स्लेटें और एक छोटा डैस्क देखकर गाँव की प्राथमिक पाठशाला की भ्रांति हो जाना स्वाभाविक है। उनकी काव्य-साधना के लिए वह कच्चा घर उपयुक्त ही है, पर स्लेट, पेंसिल देखकर भ्रम होता है कि वे असमय स्कूल छोड़ने का स्मरण कर रहे हैं। जिसका सफेद फर्श सबकी धूल ग्रहण कर साम्य की उपासना करता है, वह बैठकखाना और जिसकी गोबर से लिपी धरती सब के चिन्ह मिटाकर एकता की बात कहती है, वह आँगन-कचहरी भी है और जन्तुशाला भी। वहाँ शिखाधारी पंडित जी भी विराजमान होंगे और दाढ़ी वाले मियाँ जी भी। (पथ के साथी : पृष्ठ ३३७) इन दोनों उद्धरणों के अन्तर पर ग़ौर दीजिए। एक ओर तो गुलाबराय जी ने अपनी मूर्खता का इज़हार करके हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है, वहाँ महादेवी जी ने गुप्त जी के व्यक्तित्व की विचित्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बानगी अपनी समग्रता में अंकित की है। गुलाबराय जी में कुछ अतिरंजना रहती है, जब कि महादेवी जी यथातथ्य चित्रण में विश्वास करती हैं। उनका व्यंग्य गुलाबराय की तुलना में अधिक नुकीला रहता है। साहित्यिक-हास्य के ऐसे उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल हैं। 'पथ के साथी' के प्रारम्भ में लेखिका ने **गुरुदेव रवीन्द्र** को श्रद्धांजलि अर्पित की है, चूँकि लेखिका का गुरुदेव से वैयक्तिक घनिष्ट सम्पर्क न था, इसलिए उसमें अमूर्त्त भावनाओं की प्रधानता है। कहीं-कहीं रवीन्द्र का व्यक्तित्व उद्भाषित अवश्य हुआ है, पर वह भी श्रुत-ज्ञान पर आधारित है। अतः उसमें वह मार्मिकता सम्भव नहीं है जो कि घनिष्ट सम्पर्कों के परिणामस्वरूप हुआ करती है। अनेक स्थानों पर लेखिका ने आधुनिक कवि-कुल गुरु का अत्यन्त ही वायवी विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं-कहीं तो यह विवरण इतना क्लिष्ट एवं तर्क-संकुल हो जाता है कि पाठक का मन ऊबने-सा लगता है। फिर भी गुरुदेव के प्रति जो उन्होंने 'प्रणाम' निवेदित किया है, उसमें लेखिका के व्यक्तित्व के संस्पर्श के कारण एक प्रकार की आर्द्रता आ गई है : "तो क्या वह उसी वीणा का भस्मशेष है, जिसके तारों पर दीपक राग लहरता था ?" (वही पृष्ठ १३) यह ठीक है कि 'प्रणाम' में लेखिका के भाव निष्ठा के साथ उमड़े-घुमड़े हैं, पर फिर भी उसके सूक्ष्म विवरणों में पाठक का उत्साह दम तोड़ने लगता है। गुरुदेव के विराट जीवन की अनेक झाँकियाँ प्रस्तुत करने के बाद लेखिका इस संस्मरण का अन्त बड़े ही मार्मिक रूप में उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करती है : "दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंपकर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना हीं उसका जाने वाले को प्रणाम है।" (वही पृष्ठ १३)

उपर्युक्त उद्धरण की पहली पंक्ति में साहित्यकार-अग्रज ने अनजान में ही हमारे छोर में अपने उत्तराधिकार की जो गाँठ बाँधी है, वह कितनी मार्मिक एवं स्वाभाविक है। सूर्य के द्वारा दीपक को अपना उत्तराधिकारी बनाना, यद्यपि एक परम्परागत सत्य है, पर इस बात की ओर कितनों का ध्यान जाता है। प्रकारांतर से लेखिका के द्वारा आलोक-पुंज रवीन्द्र और दीपक के समान टिमटिमाने वाले समसामयिक साहित्यकारों की घनिष्टता एवं उत्तराधिकार-दान की अत्यन्त ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

'पथ के साथी' की प्रथम रेखा में गुप्त जी का तपोधनी एवं कर्मठ व्यक्तित्व उजागर हो उठा है। लेखिका का उनके साथ जो सम्बन्ध है, वह साहित्यिक परिवार के नेता दद्दा के प्रति एक गौरवपूर्ण श्रद्धांजलि है। दद्दा के साथ-साथ लेखिका का व्यक्तित्व भी प्रकीर्ण रूप से अंकित हुआ है, जिससे उनके मधुर सम्बन्धों की एक दिव्य झलक सहज ही उपलब्ध हो जाती है। गुप्त जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का बड़ा ही सुघर परिचय इस संस्मरण-रेखाचित्र में अत्यन्त ही कलापूर्ण शब्दावलि में मुखर हो उठा है : "अपने रूप और वेष दोनों में वे इतने अधिक राष्ट्रीय हैं कि भीड़ में मिल जाने पर शीघ्र ही खोज नहीं निकाले जा सकते !—उनके चौड़े ललाट पर क्रोध और दुश्चिन्ताओं की क्रूर लिखावट नहीं है। सीधी भृकुटियों में असहिष्णुता का कुन्चन नहीं है, ऊँची नाक पर दम्भ का उतार-नहीं है और ओठों में निष्ठुरता की वक्रता नहीं है। जो विशेषताएं उन्हें सबसे भिन्न कर देती हैं, वे हैं उनकी बँधी दृष्टि और मुक्त हँसी।" (वही पृष्ठ २०-२१) यहाँ पर गुप्त जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के व्यक्तित्व का न केवल नकारात्मक विधान ही है, बल्कि उनके व्यक्तित्व की सर्वप्रधान मुखर विशेषता को लेखिका ने रेखांकित कर दिया है। इस परिचय में हमारे राष्ट्र-कवि का कितना सहज एवं प्रभावकारी रूप शब्द-चित्र में उभर आया है।

राष्ट्र-कवि के व्यक्तित्व का अन्तरंग विवरण देते हुए लेखिका ने निम्न निष्कर्ष निकाले हैं: "कभी-कभी तो उनका देखना और हँसना इस तरह साथ चलता है कि दृष्टि हँसती-सी लगती है और हंसी से दृष्टि का आलोक बरसता जान पड़ता है। वे स्वभाव से प्रसन्न और विनोदी हैं, पर इस प्रसन्नता और विनोद की चंचल सतह के नीचे गहरी सहानुभूति और तटस्थविवेक का स्थायी संगम है, जिस पर सबकी दृष्टि नहीं जाती। केवल विनोदी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पैनी नहीं होती कि जीवन के बाह्य आवरणों को भेद कर तथ्य तक पहुँच सके और कवि के लिए यह पैनापन अनिवार्य है।" (वही, पृष्ठ २१) "बिजलीके पाजिटिव और नेगेटिव तारों के समान दो कोमल कठोर तार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साथ-साथ फैले हुए हैं। उनके जीवन और साहित्य में उन तारों के ही संयोग का उजाला है।"(वही पृष्ठ २३) "साधारणतः परीक्षा के हथौड़े के नीचे प्रतिमा नहीं गढ़ी जाती, उल्टे उसके चूर-चूर हो जाने की सम्भावना रहती है। गुप्त जी उस हथौड़े के नीचे से निकल न भागे होते, तो हिन्दी को तिलक-कण्ठीधारी राष्ट्र-कवि न प्राप्त होता। (वही पृष्ठ २४)।

अब उनके **कृतित्व की रेखाएँ** पढ़िये: "साहित्य में उन्हें ऐसी कथाएँ चाहिएँ, जो लोक-हृदय में प्रतिष्ठा पा चुकी हों, पर उस परिधि के भीतर हर चरित्र का कुछ नया निर्माण उनका अपना है। वे रामायण को नहीं भूलते, पर रामायणकार जिन्हें भूल गया, उन चरित्रों को अपने ढँग से स्मरण करते हैं। वे महाभारत के स्थान में कोई अन्य कथा नहीं खोजेंगे, पर महाभारत के भीतर खोये किसी साधारण पात्र को खोज लेंगे। ये कथाएँ अनेक युगों की लम्बी यात्राओं का आँधी-पानी, धूप-छाया सहते-सहते धूमिल हो गई हैं, पर जिन्हें ये वहन करके लाई हैं, वे पात्र गुप्त जी के आँसुओं में घुल-धुलकर नये रंगों में उद्भाषित आज के प्राणी बन चुके हैं। उनके साहित्य में जो नया है, उसका मेरुदण्ड पुराना है और जो पुराना है, उस पर रँग नया है। (पृष्ठ २६)—पुरातन संस्कारों का घेरा उन्हें वंश-परम्परा से मिला है, पर उसमें नये आलोक को लाने वाले झरोंखों का निर्माण उनका अपना है।" (पृष्ठ २६) गुप्त जी के कृतित्व के नवनीत को लेखिका ने इतने सहज भाव से वाणी दी है कि ऐसा करना उनके निकटस्थ अन्तरंग सहयात्री या सहयात्रिणी द्वारा ही सम्भव था। समकालीन साहित्यिक बन्धुओं का ऐसा दिव्य आकलन हिन्दी साहित्य में और किसी ने नहीं किया और मुझे विश्वास है कि विश्व-साहित्य में भी ऐसे उदाहरण कम ही होंगे। लेखिका ने अपनी आत्मानुभूतियों को ही पिघला-पिघला कर संयम एवं विवेक की तूलिका द्वारा कुछ ऐसे मार्मिक चित्रों का निर्माण किया है कि हिन्दी साहित्य उन पर गर्व कर सकता है। इन संस्मरणों में राशि-राशि सूक्तियाँ एवं सुविचारित तथ्य बिखरे पड़े हैं। समीक्षक दुविधा में पड़ जाता है कि किसे उद्धृत करे और किसे छोड़ दे।

महादेवी जी ने **गुप्त जी और निराला जी की स्नेह-मैत्री** का विवरण इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है : "थोड़ी देर बात करने वाले भी जिनका रुख देखते रहते हैं, उन्हीं निराला से गुप्त जी आधी रात तक सुख-दुख की कथा कहते-सुनते रहे और उन्हें समझाते-बुझाते रहे।" (पृष्ठ ३५) तात्पर्य यह कि गुप्त जी के जीवन का कोई भी पक्ष लेखिका के द्वारा अछूता नहीं रहा है। उनके अर्थ-कवच का सूक्ष्म विवरण देते हुए देवी जी कहती हैं : "अपने पितृव्य अग्रज की व्यवस्था के कारण ही गुप्त जी अर्थ-संकट के उस बवंडर में स्थिर रह सके हैं, जिसने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई में गिराकर और कभी पर्वतों पर पटककर चूर कर दिया है।" (पृष्ठ ३०) इसी प्रसंग में महादेवी जी ने 'रंग में भंग' कृति के सन्दर्भ में लेखक और प्रकाशक के संबंध पर भी आँखें खोल देने वाला विवरण प्रस्तुत किया है। विस्तार-भय से अब मैं **सुभद्रा जी के सखी-सुलभ संस्मरण** पर आता हूँ। हिन्दी साहित्य की इन दोनों कवयित्रियों के बीच कितना स्नेह-सौहार्द्र था, किस प्रकार वे बचपन और किशोरावस्था के आँगन में अठखेलियाँ करती थीं और किस प्रकार प्रौढ़ावस्था तक यह स्नेह-सम्बन्ध अभिन्न-अन्तरंग बना रहा, इसका अत्यन्त ही सूक्ष्म विवरण हमें प्रस्तुत संस्मरण में मिलता है। बचपन के सम्बन्धों में कैसे-कैसे मनोरम प्रसंग रहते हैं, इसकी एक दिव्य झलक लीजिए : "नित्य व्यवहार में आने वाली गणित की कापी को छिपाना सम्भव नहीं था, अतः उसके साथ अंकों के बीच में अनधिकार सिकुड़कर बैठी हुई तुकबन्दियाँ अनायास पकड़ में आ गईं। इतना दण्ड ही पर्याप्त था। पर इससे संतुष्ट न होकर अपराध की अन्वेषिका ने (सुभद्रा) एक हाथ में वह चित्र-विचित्र कॉपी थामी और दूसरे में अभियुक्ता की उँगलियाँ कसकर पकड़ीं और वह हर कैमरे में जा-जाकर इस अपराध की सार्वजनिक घोषणा करने लगी।" (पृष्ठ ३८)ये झगड़ने वाली बालिकायें और कोई नहीं स्वयं लेखिका और सुभद्रा जी हैं। महान् लेखिका, कवयित्री, प्रिंसिपल और संपादिका का यह रूप कितना प्रेरणाकारी एवं सजीव है। देवी जी ने सुभद्रा जी के मोहक व्यक्तित्व, बाल-सुलभ चेष्टाओं और बाद में उनके दाम्पत्य जीवन की भी बड़ी अन्तरंग झलक दी है : "पत्नी की, अनुगामिनी, अर्धांगिनी आदि विशेषताओं को अस्वीकार कर उन्होंने भाई लक्ष्मणसिंह जी को पत्नी के रूप में ऐसा अभिन्न मित्र दिया, जिसकी बुद्धि और शक्ति पर निर्भर रहकर, जिसका अनुगमन किया जा सके।" (पृष्ठ ४५) सुभद्रा जी के पारिवारिक और कारागार-जीवन की अत्यन्त मोहमयी झाँकियाँ लेखिका ने प्रस्तुत की हैं।

'पथ के साथी' में तृतीय स्थान पर **निराला जी** विद्यमान हैं। उनका और लेखिका का मधुर सम्बन्ध तो हिन्दी साहित्य की एक जानी-मानी बात है। आरम्भ में ही लेखिका ने घोषणा की है : "एक युग बीत जाने पर भी मेरी स्मृति से एक घटाभरी अश्रुमुखी सावनी पूर्णिमा की रेखाएँ नहीं मिट सकी हैं। उन रेखाओं के उजले रंग न जाने किस व्यथा से गीले हैं कि अब तक सूख भी नहीं पाये, उड़ना तो दूर की बात है। (पृष्ठ ५१) रक्षा-बन्धन में बँधा इन साहित्यिक भाई-बहिन का सम्बन्ध हिन्दी साहित्य की एक रोचक एवं अत्यन्त मानवीय घटना है। "मेरा प्रयास किसी जीवन्त बवन्डर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम के तटों में सीमित करने के समान, यह सोचने-विचारने का तब अवकाश नहीं था। पर आनेवाले वर्ष निरालाजी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष के ही नहीं, मेरी परीक्षा के भी रहे हैं।''(पृष्ठ ५१) हिन्दी साहित्य का समसामयिक इतिहास साक्षी है कि किस प्रकार लेखिका ने निराला के संकट के क्षणों में एक बहिन का स्वाभाविक स्नेह प्रदान किया और किस प्रकार वे यहाँ भी ''विद्रोही भाई'' प्रमाणित हुए।

निराला के अन्तरंग जीवन की एक झलक :''आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता, तो वह निश्चय ही हमें, मिट्टी के तेल की दूकान पर लगी भीड़ में सबसे पीछे खड़े, पर सबसे बालिश्त भर ऊँचे गृहस्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीक्षा की कहानी सुना सकता। रसोईघर में दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूँटी से लटकती हुई आटे की छोटी-सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।'' (पृष्ठ ५४) अन्तिम निष्कर्ष देखिये : ''साहित्य के नवीन युगपथ पर निराला जी की अंक संसृति गहरी और स्पष्ट उज्ज्वल और लक्ष्य-निष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण का चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।'' (पृष्ठ ६५) ऐसे शत-शत उदाहरण इन संस्मरणों में बिखरे पड़े हैं और अपनी निरुपम आभा से साहित्य के सहृदय पाठक के मन को मोह लेते हैं।

'पथ के साथी' की चौथी रेखा **प्रसाद**, पाँचवीं **पन्त** और छठी **सियारामशरण गुप्त** पर है। इन सभी संस्मरणों में हम लेखिका की अनुभूति और अभिव्यक्ति को अपने उच्च धरातल पर पाते हैं। अपने मन की मधुरिमा से और तत्वदर्शिनी बुद्धि से लेखिका ने ऐसे शब्द-चित्रों का निर्माण किया है कि इनकी आभा कभी धूमिल नहीं पड़ सकती, अपितु इसके उज्ज्वलतर से उज्ज्वलतम ही होने की संभावना है। दोनों साहित्यकारों के प्रथम और अन्तिम मिलन की एक झलक : ''मेरी हँसी देखकर या मुझे मेरे भारी-भरकम नाम के विपरीत देखकर प्रसाद जी ने निश्छल हँसी के साथ कहा—आप तो महादेवी जी नहीं जान पड़तीं। मैंने वैसे ही प्रश्न में उत्तर दिया—आप ही कहाँ कवि प्रसाद लगते हैं, जो चित्र में बौद्ध-भिक्षु जैसे हैं।'' (पृष्ठ ७०)

पन्त जी के निकट सम्पर्क में आने का लेखिका को पुनः-पुनः अवसर मिला है। इसीलिए उसके विवरण में एक आत्म-विश्वास एवं दृढ़ता मुखरित होती है : ''सुमित्रा-नन्दन जी का स्वभाव आज भी कोमल है और शरीर आज भी सुकुमार है, अनुभवों ने इस कोमलता और सुकुमारता पर एक आर्द्रता का पानी ही फेरा है—जिस प्रकार आकाश की ऊँचाई से गिरनेवाला जल किशलयों और फूलों पर स्वच्छता के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं छोड़ता, उसी प्रकार संघर्षों ने उनके जीवन पर अपनी रूक्षता और कठोरता का इतिहास नहीं लिखा है।'' (पृष्ठ ८५) इसी प्रकार व्यंग्य-विनोद की एक साहित्यिक झलक : ''परिग्रह की दृष्टि से वे चिरकुमार सभा के आजीवन अध्यक्ष हो सकते हैं। आरम्भ में उनकी गृहस्थी के लिए परिस्थितियाँ बाधक रहीं और जब परिस्थितियों ने अनुकूलता दिखाई, तब उनकी मानसिक सन्ततियों की अनन्तता ने उनका मार्ग रोक दिया।'' (पृष्ठ ८७-८८) साहित्यिक व्यंग्य का ऐसा निरुपम उदाहरण हिन्दी साहित्य में विरल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करुणा के कवि सियारामशरण का सम्पूर्ण जीवन रोगों के प्रति अनन्त संघर्ष का एक यातनामय इतिहास है : ''फर्श पर एक ओर पुस्तकों की पंक्तिबद्ध सेना और दूसरी ओर चीन की दीवार की तरह शीशियों और डिब्बों के प्राचीर के बीच में कभी बैठे, कभी लेटे हुए भाई सियारामशरण जी का चित्र देना सहज नहीं है। उस चार फुट चौड़े और ६ फुट लम्बे आयतन में, जीवन और व्याधि के कितने ही संघर्ष होते हैं, कितने ही हर्ष-विषाद के क्षण आते-जाते हैं, कितने ही एकान्त और कोलाहल बनते-मिटते हैं और कितने ही तर्क और विश्वास के संगम होते रहते हैं।'' (पृष्ठ ९४) उनके कृतित्व का सार-गर्भित परिचय एक पंक्ति में देखिये : ''उनका साहित्य पंक का कमल न होकर उनके दुग्धोज्ज्वल चरित्र का स्वच्छ परिचय है।'' और यही बात हम महादेवी जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में कह सकते हैं। 'पथ के साथी' के मार्मिक तूलिका-चित्र भी इन शब्द-चित्रों से कम महत्व के नहीं हैं। ऐसी कला-स्नात एवं विमल संस्मरण-सृष्टि, हिन्दी साहित्य के एक गौरवपूर्ण अध्याय की आधारशिला रखेगी, इसमें मुझे किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसिक बिहारी

रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी : एक विवेचन

प्रत्येक साहित्यकार का अपना एक जीवन-दर्शन होता है। जगत और जीवन के सम्बन्ध में उसकी अनुभूति और धारणा धीरे-धीरे उसके मन में इस दर्शन को गढ़ती है। फिर साहित्यकार का अपना एक दृष्टिकोण बनता है। अपनी सृष्टि में वह इसी जीवन-दर्शन के आधार पर सब-कुछ का मूल्यांकन करता है। रवीन्द्रनाथ में यह बात हम विशेष रूप से पाते हैं। और रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन की जितनी सुन्दर अभिव्यंजना उनकी कहानियों के नारी-चरित्रों में हुई है इतनी उनकी किसी अन्य साहित्यिक विधा में नहीं हुई है। इस दृष्टि से उनकी तुलना कुछ हद तक डी० एच० लॉरेन्स से की जा सकती है। लॉरेन्स के जीवन-दर्शन की अभिव्यंजना भी उनके नारी-चरित्रों में ही विशेषरूप से हुई है।

रवीन्द्रनाथ ने अपने परिणत जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के द्विविध रूप का प्रत्यक्षीकरण किया है। इनमें एक वर्ग प्रधानतः माँ का है, और दूसरा प्रिया का :

'एक जनो उर्वशी, सुन्दरी,
विश्वेर कामना राज्ये रानी,
स्वर्गेर अप्सरी,
अन्यजना लक्ष्मी से कल्याणी,
विश्वेर जननी तारे जानि,
स्वर्गेर ईश्वरी।'

—'दुई नारी' (बलाका)

सामान्यतः सम्पूर्ण रवीन्द्र-साहित्य इन दो प्रकार की नारी-सत्ताओं की कल्पना से ओत-प्रोत है। रवीन्द्रनाथ की कहानियों में नारी मुख्यतया इन्हीं दो रूपों में अपनी सारी भलाई और बुराई को लेकर हमारे सामने उपस्थित होती हैं। वे कभी हँसती-रोती हैं, कभी प्यार-डाह करती हैं, या नीचता-स्वार्थपरता और महानता-उदारता के भावों का प्रदर्शन करती हैं। उन्हें हम दो परस्पर विरोधी लहरों पर उतरते-डूबते देखते हैं। उनके हृदय-समुद्र में चलते हुए तूफान को भी हम देखते हैं।

यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में विशेष रूप से नारी की यही द्वैतसत्ता प्रकट हुई है, तो भी उनकी कहानियों का अगर विश्लेषणात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो नारी के चार रूप हमारे सामने आते हैं। वे हैं :

(क) संसार, समाज और व्यक्तिविशेष की वेदी पर आत्म-विसर्जिता नारी का रूप—नारी विरोधी शक्ति के सामने नत-मस्तक होकर अधीनता, हार और अवमानना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार कर लेती है। यदि उसने प्रतिवाद किया है तो वह मुखर नहीं नीरव होता है। उसकी मृत्यु ही जैसे यह प्रतिवाद होता है।

(ख) मर्यादा में सुप्रतिष्ठित और उग्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य से प्रकाशित नारी का रूप—नारी कुसंस्कार और पराधीनता के खिलाफ बगावत करती है। उन्नीसवीं शताब्दी में स्त्री-स्वतन्त्रता की जो लहर संसार के उन्नत देशों में प्रवाहित हुई थी नारी का यह रूप उससे प्रभावित प्रतीत होता है।

(ग) नारी का माधुर्यमय कल्याणी रूप, और

(घ) नारी का स्वार्थ-संकुल और कामना-कुटिल दानवी रूप।

पहले प्रकार के नारी-चरित्र की मिसाल हैं 'देना-पावना', 'कंकाल', महामाया', 'हैमन्ती', 'शास्ति' और 'प्रगति-संहार' आदि कहानियों की नायिकायें। इन कहानियों की नायिकाओं का जीवन 'ट्रेजेडी' से भरपूर है। किसी भी स्त्री का कोई कसूर नहीं है। लेकिन फिर भी वे अपने जीवन की सार्थकता का रसास्वादन करने से पहले ही समाज के निष्ठुर आघात और अत्याचार द्वारा असमय ही कुचल दी जाती हैं। वे सब चुपचाप तरह-तरह के अवांछित अत्याचार सहती हैं। अन्त में मृत्यु को भी। थोड़ा भी प्रतिवाद नहीं करतीं। यह नीरवता ही जैसे उनका प्रतिवाद है। तभी हम 'देना-पावना' में निरुपमा की बेवस खामोशी के साथ ससुराल के लोगों के बेहिसाब ताने और दुर्व्यवहार को सहते हुए पाते हैं। हालाँकि उसका कोई कसूर नहीं है। शादी के समय निरुपमा के पिता कन्या-धन की पूरी रकम अदा नहीं कर पाये थे। अन्त में जब वे सब तरह से तबाह होकर अपने मकान को बेचकर बाकी रुपया अदा करने आये तब निरुपमा ने वह रुपया नहीं देने दिया। ससुराल वालों ने जब यह बात सुनी तो उस पर जुल्म की मिकदार और बढ़ गई। अनेक आघात और अपमान का बोझा ढोते हुए चुपचाप आत्मनिग्रह के पथ का अनुसरण करके वह मृत्यु की शीतल और शान्तिमयी गोद का आश्रय ढूंढ़ने लगी। निरुपमा मर गई।

दूसरी कहानी 'कंकाल' की नायिका रूपवती और 'सेल्फ-काम्प्लेसेन्ट' आत्म-प्रेम-मुग्धा है। बहुत कम उमर में विधवा हो गई है। यौवन में उसने अपने बड़े भाई के मित्र शशिशेखर से प्यार किया। शशिशेखर भी उसे चाहता है। लेकिन उनके मिलन में सामाजिक विधि-निषेध ने एक दुर्लंघ्य बाधा की सृष्टि की। वह विधवा थी। इस विधि-निषेध के दायरे से निकलकर वह एक बार भी शशिशेखर को अपने मन की बात नहीं कह सकी। सामाजिक संस्कार के सामने उसने अपना सिर झुका दिया। अन्त में उसने कायरों की तरह चोरी से शशिशेखर को ज़हर दिया, और खुद भी ज़हर खाकर मर गई।

इस कोटि की तीसरी कहानी में महामाया अपने प्रेमास्पद राजीव से यह वायदा करके कि वह उसके पास आएगी, अपने स्वाभाविक स्वरूप में उसके पास नहीं आती। एक अवगुंठन के अन्तराल में अपने प्रकृत रूप को छिपाकर एक रहस्यात्मक ढंग से राजीव के पास आती है। इस महामाया को राजीव नहीं जानता। उसके इस रूप की वह कल्पना भी नहीं कर सकता। महामाया की यह दुर्दशा हुई है सामाजिक अंधविश्वास को बिना प्रतिवाद किये मान लेने के कारण। राजीव के पास आने से पहले ही सामाजिक कुप्रथा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के खड्गाघात से उसकी आत्मा की मृत्यु हो जाती है। केवल एक चलता-फिरता शव ही राजीव के पास आता है।

"हेमन्ती" की नायिका हेम की स्थिति भी बहुत कुछ 'देना-पावना' की निरुपमा की तरह है। वह सब समझती है, सब जानती है। सत्य के सहारे ही जीना वह चाहती है। पर समाज उसे वह मौका नहीं देता। ससुराल के जुल्म के खिलाफ सिर उठाकर अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने का चारित्रिक बल उसमें नहीं है। यह भीरुता ही अन्त में उसका काल बनती है। मृत्यु में ही उसके जीवन का स्वाभाविक पर्यवसान होता है।

पाँचवीं कहानी की नायिका चन्दरा पूरी तरह निरपराध होने पर भी समाज के अन्धे न्याय से खूनी साबित होती है। वह एक बार भी इसके विरोध में सवाक् प्रतिवाद बिना किए फाँसी की रस्सी अपने गले में पहन लेती है। उसका प्रतिवाद नीरव घृणा के माध्यम से हुआ है। चन्दरा की यह घृणा है अपने पति के प्रति, समाज के प्रति। लेकिन यह घृणा बाहर नहीं प्रकट होती। अन्त में पूरा समाज ही ज़हर की तरह कड़वा हो जाता है उसके लिए। फिर भी समाज को त्याग कर जीने की कल्पना नहीं कर सकती वह। यही चन्दरा के चरित्र की दुर्बलता है। इसीलिए वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करती है और बिना किसी हिचक के अपने ऊपर आरोपित झूठे इल्ज़ाम को मान लेती है।

इस पर्याय की आखिरी कहानी, 'प्रगति-संहार' (जो रवीन्द्रनाथ की अन्तिम कहानी है) की नायिका सुरीति अपने प्रेमी नीहार पर सब-कुछ निछावर कर देती है। पर नीहार की सर्वग्रासी लोलुपता में उसके आत्म-विलयन का कोई भी तर्कसंगत कारण हम नहीं ढूँढ़ पाते।

दूसरी तरह के नारी रूप का स्पष्ट चित्रण हुआ है, 'दीदी' 'मानभंजन', 'स्त्रीर-पत्र', 'पयला नम्बर', 'बदनाम' आदि कहानियों में। इन कहानियों के नारी-चरित्र पहली कोटि के नारी-चरित्रों के मुकाबले में बहुत ज्यादा स्वतंत्र और प्रबल हैं। सत्य की प्रतिष्ठा के लिए, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए, प्राप्य वस्तु की उपलब्धि के लिए ये स्त्रियाँ अन्याय, झूठ और अन्ध-विश्वास के विरोध में सवाक् प्रतिवाद करती हैं। अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए ये संसार, समाज, अपने-पराये—किसी की परवाह नहीं करतीं। सब-कुछ तहस-नहस कर देने को हमेशा तैयार रहती हैं। ये नारी-पात्र अपने व्यक्तित्व को सर्वोच्च आसन पर स्थापित करना चाहती हैं। उसकी अप्रतिष्ठा उन्हें किसी भी हालत में मान्य नहीं है। इस व्यक्तित्व-स्थापना की आकांक्षा के सामने सब-कुछ तुच्छ है—मृत्यु भी।

'दीदी' कहानी की नायिका शशिकला के चरित्र में हमें भाई के प्यार के सन्दर्भ में उसके सुस्थिर व्यक्तित्व और सत्यनिष्ठा का परिचय मिलता है। इसलिए वह भारतीय नारी की तथाकथित पति-भक्ति का परिहार करके मजिस्ट्रेट के पास पति के विरुद्ध अभियोग लेकर उपस्थित होती है और भाई की रक्षा की आतुर कंठ से प्रार्थना करती है। पति के क्रोध और प्रतिहिंसा से तनिक भी नहीं डरती। अन्त में उसकी मृत्यु हो जाने पर भी उसका नारीत्व और व्यक्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है।

दूसरी कहानी में गिरिबाला पति द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होकर सचेतन हो उठती है। अपना मूल्य समझकर अपने व्यक्ति की प्रतिष्ठा में सचेष्ट हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिबाला की सार्थकता के मूल में है उसका दृढ़ चरित्र—तेजस्वी व्यक्तित्व। पति उसका निरादर करता है, उसे नहीं चाहता, इसलिए वह अभिमानवश चन्दरा—'शास्ति' की नायिका की तरह मरना नहीं चाहती। बल्कि ज़िद करके, आत्मविश्वास का सहारा लेकर सीधे खड़े होने की कोशिश करती है; और आखिर में कामयाब भी होती है।

'स्त्रीर पत्र' में मृणाल अपने एकरस गार्हस्थ्य जीवन के पिंजरे से आजिज़ आकर अपने वधुत्व को ही केवल अस्वीकार नहीं करती, मुक्ति की घोषणा करती है। नारी के लौह-कठोर व्यक्तित्व का स्फुरण हुआ है इस चरित्र में। मृणाल किसी भी तरह चुपचाप जुल्म सहने के लिए राजी नहीं। स्त्री-जाति पर समाज द्वारा आरोपित पाषाण-भार को अपने तीव्र व्यक्तित्व के प्रबल आघात से फेंककर चकनाचूर कर देना चाहती है। मुक्ति के आलोक-स्वप्न ने मृणाल के मन-प्राण को चंचल बना दिया है।

'पयला नम्बर' की अनिला अपने नारीत्व की मर्यादा को बनाये रखने के लिए समाज और पति—दोनों को त्याग देती है। अनिला के गृह-त्याग का कारण उसकी प्रबल मुक्ति-कामना है। वह मुक्ति चाहती है संकीर्णता से, हीनता से।

'बदनाम' शीर्षक कहानी में सौदामिनी ने नारी के सम्बन्ध में प्रचलित सतीत्व की धारणा के मूल में कुठाराघात किया है। एक तरफ़ तो वह पति की सेवा करती है जी जान से, दूसरी तरफ उसे धोखा भी देती है। वह व्यक्तिगत भावनाओं से अधिक महत्त्व मुल्क की आज़ादी को देती है। हुब्बेवतनी का जज़्बा ही उसके व्यक्तित्व में एक निखार ला देता है। इस श्रेणी के स्त्री-पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी चरित्रगत बलिष्ठता। ये ही गौरव के साथ कह सकती हैं—

आमी नारी, आमी महीयसी,
आमार सुरे सुर बेंधे ज्योत्सना-वीणाय निद्राविहीन शशि।
आमी नइले मिथ्या हतो सन्ध्या तारा उठा,
मिथ्या हतो कानने फूल फोटा।'

—'मुक्ति'—'पलातका'।

नारी के माधुर्यमण्डित कोमल और कल्याणी-रूप के प्रसंग में 'मेघ ओ रौद्र' की गिरिबाला, 'समाप्ति' की मृण्मयी, 'ताराप्रसन्नेर कीर्ति' की दाक्षायणी और 'रविवार' की विभा की याद आती है। ये सब की सब नम्र, मधुरभाषिणी, धीर, शान्त और संयत हैं। गिरिबाला अपने हृदय की समस्त माधुरी का अर्घ्य सजाकर जेल से लौटे शशिभूषण का स्वागत करती है। मृण्मयी भी अपने नवोन्मेषित मधुर प्रेम से अपूर्व को निवेदन करती है। तीसरी कहानी में यद्यपि दाक्षायणी मर जाती है, तो भी पति के प्रति उसके अकृत्रिम अनुराग का सलज्ज-मधुर-कल्याणमय चित्र हमेशा के लिए हमारे मन में घर कर जाता है। और 'रविवार' की नायिका विभा की शान्त, संयत, प्रेममयी मूर्ति ही अमीक को आत्म-प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा देती है।

चौथी श्रेणी के नारी रूप के दृष्टान्त स्वरूप मणिमाला ('मणिहारा'), किरणलेखा (हालदार गोष्ठी), कलिका (संस्कार) अमिया (नामंजूर कहानी) आदि नाम उल्लेखनीय हैं। नारी-चरित्र के तमसावृत अंश का दिग्दर्शन कराया गया है इनके माध्यम से। इनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
से हर एक अपने हीन-कुटिल स्वार्थ की पूर्ति में ही रमी हुई है। यह स्वार्थसिद्धि ही उनके जीवन की एक मात्र काम्य वस्तु है। मणिमाला पति के प्रेम को नहीं समझती, सिर्फ गहना समझती है। गहनों का स्पर्श उसे अच्छा लगता है। अपनी पेटी में बड़े करीने से सजाकर के रखती है उन्हें। उसके लिए प्रेम अर्थहीन है, आभूषण ही सब कुछ है।

किरणलेखा में किसी महत्व की बात को समझने की लियाकत नहीं है। अपने संकीर्ण मन के कारण कुलीनता का झूठा चेहरा पहने बैठा रहना पसन्द करती है। दूसरों की तकलीफ में हमदर्दी जाहिर करना वह नहीं जानती। इसीलिए अपने पति के नेक काम में किसी तरह की दिलचस्पी तो उसे है ही नहीं, उलटे उसमें अड़ंगा लगाया करती है। बड़ी 'टिपिकल' औरत है। कलिका बड़ी-बड़ी बातें करने वाली है। देश सेवा, समाजसुधार और अछूतोद्धार सम्बन्धी सभा सोसाइटियों में जाती है। पर उसका मन उदात्त भावों से बिल्कुल अछूता है। अन्त्यजों से वह घृणा करती है। असल में उसका संकुचित मन ही आफत की जड़ है जो किसी भी प्रगतिशील विचार को ग्रहण नहीं कर सकता। और अमिया भी बहुत कुछ ऐसी ही है। अपने स्वार्थ के लिए देश-प्रेम की बात करती है। पर उसके मुँह की बात मन की बात नहीं होती।

उल्लिखित चरित्र-विश्लेषण में रवीन्द्रनाथ की कहानियों में चित्रित चार प्रकार के नारी-चरित्रों का परिचय मिलता है। लेकिन इसके अलावा रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें कुछ विचित्र प्रकार के नारी-चरित्रों की भी मिसाल मिलती है। जैसे 'लेबोरेटरी' नामक कहानी की सोहिनी। डॉक्टर श्रीकुमार बन्दोपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा' में सोहिनी के विषय में लिखा है—'सोहिनी भविष्य की नारी का एक अस्पष्ट रेखा-चित्र है, जिसमें उसका चेहरा साफ-साफ नहीं उभर पाया है।'

लेकिन सोहिनी किसी 'टाइप' का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह पूर्णतया एक विच्छिन्न और स्वतन्त्र चरित्र है। वह एक वृन्तहीन पुष्प की तरह है जो अपने आप विकसित हो उठा है। न वह जाया है न जननी। प्रचलित अर्थ में उसे एक सती-साध्वी नारी भी नहीं कहा जा सकता। सोहिनी एक बेजोड़ मिसाल है। रवीन्द्रनाथ के किसी अन्य नारी-चरित्र से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उसके व्यक्तित्व में जो चमक है वह उसे दूसरे चरित्रों से बिल्कुल अलग कर देती है। सोहिनी बंगरमणी नहीं है। उसका अपना कोई भी समाज नहीं है। वह 'आइडियेलिस्टिक रियेलिस्ट' है। रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों में सोहिनी का चरित्र विच्छिन्नता 'एक्सक्लूसिवनैस' का एक उपयुक्त उदाहरण है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण तथा विचार किया है। दुनिया में न कुछ बिल्कुल अच्छा होता है न बिल्कुल बुरा। अच्छे-बुरे के मेल से ही दुनिया बनी है। रवीन्द्रनाथ ने नारी-चरित्र की सृष्टि किसी एक पूर्व-निश्चित धारणा के सहारे नहीं की है। अनुभूति-लब्ध जीवन-दर्शन के प्रकाश में नारी के जिन विभिन्न रूपों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव था, उनको ही अपनाया है उन्होंने। और फिर वे प्रकट हुई हैं रवीन्द्रनाथ की कथा-कृतियों और नाटकों में। उनकी कहानियों में नारी की सृष्टि उनकी वास्तव अनुभूति के आधार पर हुई है इसका सबसे बड़ा प्रमाण उनकी अपनी उक्ति है: 'मैं कहूँगा, मेरी कहानियों में वास्तव का अभाव कभी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। (मैंने) जो कुछ लिखा है खुद देखा है, अन्तर में अनुभव किया है, वह मेरी प्रत्यक्ष अनुभूति है।'[1] गल्पकार रवीन्द्रनाथ द्वारा सृजित सब प्रकार के नारी-चरित्रों में पारिवारिक सम्पर्क-निरपेक्ष नारी के रूपांकण और उसके वैयक्तिक चित्त के उद्बोधन में उनका कृतित्व सर्वाधिक है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में हमें आदर्श नारी की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं मिलती फिर भी उसका इंगित जरूर मिलता है। विभा (रविवार) में और नवयौवना मृण्मयी (समाप्ति) में। उनकी दृष्टि में आदर्श नारी सम्भवतः वही है जिसमें प्रकाश-अन्धकार एक साथ सम्मिश्रित हुआ है—जिसमें तेजस्विता के साथ माधुर्य का भी सायुज्य है।[2]

ना० रामसुब्रमण्यन्

राष्ट्र-कवि सुब्रमण्य भारति

भारतीय राष्ट्र-कवियों में, मद्रास के श्री सुब्रमण्य भारति का ऊँचा स्थान है। यद्यपि, आज के राजनीतिज्ञ, एवं जनसाधारण भारतीय एकता के बारे में, धूम-धाम से रंगमंचों में आवेगपूर्ण शब्दों से चिल्लाते रहते हैं, आज से तैंतालिस वर्ष पहले, दक्षिण में एक साधारण धोती पहने हुए एक कवि के, ओज पूर्ण, स्नेहमय, भावपूर्ण शब्दों की धारावली की ओर यदि मुड़कर देखें, तो पता चलेगा कि अंग्रेज़ शासन के बीच में एक सिंह गरज रहा था। भक्ति से लेकर राष्ट्रीयता विषयों तक वह घनघोर बादल अंग्रेज़ी साम्राज को चेतावनी देते हुए, कविता की वर्षा कर रहा था। ये कविताएँ न तो अटपटी भाषा में थीं, न पुराने साहित्य से नकल की गई थीं। ये कविताएँ आत्मा को भाव-विभोर करते हुए सारे मनुष्यों के शरीर में कम्पन पैदा करती थीं। आनन्द, धैर्य, वीरता, एवं माधुर्य की भावनाओं को जगाने में ऐसी शक्ति शायद ही अन्यत्र थी। यह कविता प्रवाह केवल बीस-पच्चीस साल के एक युवक के वागिन्द्रियों से उत्पन्न होता था। वह था श्री सुब्रमण्य भारति।

सन् अठारह सौ बयासी में मद्रास के एट्टयपुरम् नामक स्थान में इनका जन्म हुआ। पिता श्री चिन्नस्वामी अय्यर थे। माता थी, श्रीमति लक्ष्मी अम्माल्। भारति

१. रवीन्द्र रचनावली, खण्ड १४ (ग्रन्थ परिचय, पश्चिम बंग सरकार द्वारा प्रकाशित संस्करण)
२. संदर्भ-ग्रन्थों की सूची (मूल बंगला में)
   १. रवीन्द्रनाथ : गल्प गुच्छ (४ खण्ड)
   २. प्रमथनाथ बिशो : रवीन्द्रनाथेर छोट गल्प
   ३. श्रीकुमार बन्दोपाध्याय : बंग साहित्ये उपन्यासेर धारा
   ४. पुलिनविहारी सेन (सम्पादित) : रवीन्द्रायण (२ खण्ड)
   ५. रवीन्द्रनाथ : संचयिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरुनेलवेली के हिन्दू कालेज में पाँचवीं कक्षा तक पढ़ा था। ग्यारहवें साल में एट्टयपुरम् के समस्थान विद्वानों ने इनको 'भारति' की उपाधि दे दी।

सन् १८९७ में कुमारि चेल्लाम्माल से इनकी शादी हुई। १८९८ में पिताजी स्वर्गवास हुए। उसी साल इन्होंने काशी पहुँचकर, चार साल तक संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओं को सीख लिया। उसके बाद मदुराई की 'विवेक भानु' नामक पत्रिका में इन की पहली कविता छपी थी। मदुराई में सेदुपति हाईस्कूल में कुछ समय तामिल पढ़ाते थे।

सन् १९०८ में जब वे 'इण्डिया' दैनिक में काम करते थे, तब राज्य की ओर से उन्हें कैद करने की आज्ञा हुई। वे मद्रास छोड़कर, पुतुच्चेरी (आज का पाण्डिचेरी) पहुँच गये जो फ्रैंच शासन के अधीन था। उसके बाद कई जगह घूमते रहे। आखिर मद्रास में १९२१ में इन का देहावसान हो गया।

तामिल साहित्य में भारति ने एक नया युग प्रारम्भ कर दिया। समाज की विभिन्न स्थितियों को गौर से देखकर जनसाधारण के लिए ही इन्होंने कविताएँ लिखीं। ये कविताएँ इतनी सरल एवं प्रवाहमयी थीं कि हर एक बच्चा आसानी से दुहरा सकता था। इनकी कविताओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं :—

१. राष्ट्र सम्बन्धी—५३ कविताओं में इनकी राष्ट्रीय भावनाओं को देख सकते हैं। भारत के जन समाज की दयनीय स्थिति, भारत माँ को स्वतन्त्र रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, राष्ट्रीय झंडा, भारत समाज, स्वतन्त्रता की महिमा, इत्यादि। शिवाजी, गोखले, तिलक, लाजपत राय, दादाभाई नौरोजी, चितम्बरनाथ, गुरु गोविन्द, आदि कई राष्ट्रीय पुरुषों के बारे में सरल सुबोध एवं ओजपूर्ण, लेकिन जनरंजक गीत गाए। "भारत का समाज एक है, तीस करोड़ आत्माओं का संघ है, वह महान है, इनमें किसी एक को रोटी न मिली तो, सारे जगत को जला देंगे।" इन शब्दों में कितनी महान योजनाओं की भावनाएँ तरंगित होती हैं। "एक ही समाज" की कल्पना, उन्होंने पहले ही कर डाली। आज उसकी प्रतिध्वनि ही सुनाई देती है। इन सारी कविताओं में वह शक्ति है, जो फ्रांस में, रूसो, वालटेर के शब्दों में थी। इतना ही नहीं भविष्यवाणी के रूप में भी एक कविता रची है। वह है 'आडुओं मे पल्लु पाडुओ मे' इसमें कहते हैं," आनन्द स्वतन्त्रता मिल गई, इसलिए, नाचेंगे, गाएँगे। खेतीबाड़ी और उद्योगों की वन्दना करेंगे। इस भूमि में हम किसी के दास नहीं हैं, आदि। सन् १९४७ में हमें जो स्वतन्त्रता मिली, इस की कल्पना, सन् १९२१ में ही हो गई थी। इसके साथ ही, "नया रूस" नामक कविता में 'ज़ार' कैसे मारा गया, 'वहाँ' विद्रोह कैसे हुआ आदि का वर्णन है। अतः ज़ार के अत्याचारों का सांगोपांग वर्णन है। इसके द्वारा अंग्रेज़ों को चेतावनी देते हैं। इस प्रकार सारी कविताएँ वास्तविकता का एक जीता जागता चित्र हैं। अतः निश्चय ही राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने की इनमें अवर्णनीय शक्ति थी। "स्वर्ण-राशि-भारत, हमारा राज है," इत्यादि इसका उदाहरण हैं।

२. भक्ति सम्बन्धी कविताएँ—एक नये युग के कवि होने पर भी सुब्रमण्यम भारति भारतीय परम्परा की भक्ति को खुले दिल से प्रोत्साहन देना चाहते हैं। अतः विनायक, कार्तिकेय, शिव-शक्ति, महाशक्ति, महाकाली, श्री कृष्ण, आदि कई देवताओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की महिमा का यशोगान करते हैं। कृष्ण के साथ उनका अपार प्रेम था। नन्दलाल का जन्म, उनकी मुरली, उनके पैर का सौन्दर्य आदि के बारे में भक्तिपूर्ण वर्णन किया है। राधा का प्यार, प्रेमी-प्रेमिका की रीतियों पर प्रकाश डालता है। ईसा, अल्ला, सूरज, चाँद और न जाने कितने ही देवताओं का उन्होंने आत्मीयता के साथ समान रूप से वर्णन किया है।

उनका विशाल हृदय सबकी ओर आकृष्ट हुआ है। भक्ति सम्बन्धी गीतों में, प्रार्थना, प्रेम आदि के साथ-साथ, राष्ट्र-भावना का भी संयोग हुआ है।

३. वेदान्त सम्बन्धी कविताएँ—आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में भारति की भावनाएँ पक्की थीं। वे यमराज को भी धमकी देते हैं। सिर पर आसमान टूटकर गिरने पर भी डर नहीं है। माया को फटकारते हैं, बुद्धि को ईश्वर मानते हैं। मन को वश में रखना, दूसरों को प्यार करना, विरोधियों को भी करुणा से देखना आदि भावनाओं को कई अमूल्य कविताओं में भर लिया है। उनका विचार है, कि भगवान मनुष्य में बुद्धि बन कर रहते हैं। अतः बुद्धि की अवहेलना, परमात्मा की अवहेलना है।

४. स्त्री सम्बन्धी कविताएँ—वे भारतीय नारियों को रसोई घर में मरते हुए नहीं देख सकते थे। भारतीय महिलाएँ ताली बजाते हुए गाती हैं कि पुस्तकों को स्त्रियों द्वारा छूना, पाप समझने वाले, मर गए। घर में स्त्रियों को बन्द रखने वाले विचित्र मनुष्य आज सिर नीचा करते हुए जा रहे हैं। हम तालियाँ बजाकर गाएँगी। इन्होंने नारियों का पुनरुद्धार, उनकी शिक्षा, उनकी उन्नति के बारे में कई कविताएँ रची हैं।

बच्चों को भी इन्होंने नहीं छोड़ा। "हे बच्चो, दौड़कर खेलो। शान्ति से मत बैठो। सबसे मिलकर खेलो। किसी भी बच्चे को दुःख मत दो। मुर्गी, कौआ, गाय, कुत्ता, घोड़ा, बकरी आदि सब तुम्हारे ही मित्र हैं। उनसे प्यार करो। सुबह पढ़ो, फिर गीत गाओ। शाम को खेलो। यही तुम्हारी आदत होनी चाहिए। झूठ मत बोलो। ईश्वर हमारे साथी हैं। अतः कोई दुःख नहीं होगा।" ये उपदेश हैं, लेकिन साथ ही नन्हें-नन्हें मुन्नों को वशीभूत करने वाले गीत हैं। गेय पद हैं, फिर भी एक झनझनाहट है। पूरी-पूरी मिठाइयाँ हैं।

५. प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ—प्रकृति और भारति में एक अपूर्व सम्बन्ध था। सुबह, शाम, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, वर्षा, अग्नि, धूमकेतु, अन्धेरा और रोशनी, शब्द कविता-नायिका, कविता-प्रेमिका, मधु आदि कई प्राकृतिक विषयों पर इन्होंने, कविता रची हैं। इनमें सरलता, एवं माधुर्य है। भाव पूर्ण हैं, और मनोरंजक भी हैं।

६. आत्म-कहानी—अपने बचपन, अंग्रेज़ी शिक्षा, शादी, पिता की गरीबी, पैसे की महिमा, आदि पर भी इनकी वाणी का स्पर्श है। साथ ही, मरण पर विजय, कोप की कहानी, शान्ति की महिमा, प्रेमिका की श्रेष्ठता, स्वतन्त्रता से प्रेम, सर्व धर्मों की समानता आदि पर भी रसीली कविताएँ रची हैं।

७. कृष्ण सम्बन्धी गीत—कृष्ण मेरा मित्र है, मेरी माँ है, मेरा पिता है, मेरा सेवक है, मेरा राजा है, मेरा शिष्य है, मेरा सतगुरु है, मेरा बच्चा है, मेरा प्रेमी है, कृष्ण की खोज, दूत भेजना, विमुक्त होने पर दुख प्रकट करना, कृष्ण मेरा कुलदेवता है, आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्‌भावों से कृष्ण के साथ अपना अटूट सम्बन्ध स्थापित करते हैं वे। यह ऐसा है, मानो सूरदास ही ने दक्षिण में जन्म लेकर और एक बार नन्दलाल को गीतों से सजाया है। देखिए : "कृष्ण खेलों का बच्चा है, गली की लड़कियों के लिए हमेशा का दर्द है, खाने के लिए फल लाएगा, हमारे खाते समय झपट कर छीन लेगा। मेरे नन्दलाल, हे दुलारे, मेरे नाथ, आदि कहने पर उस को झूठा करके, आधा काटकर, दे देगा, वेणी को पीछे से खींचेगा। पकड़ने के पहले ही गायब हो जाएगा। नई साड़ी पर धूल फेंक देगा। मुरली बजाएगा। अमृत की वर्षा करेगा।" भक्ति, प्रेम-युक्त गालियाँ, वेदान्त, जीवात्मा परमात्मा सम्बन्धी विचार आदि सब इनमें देखने को मिलते हैं।

८. पांचाली शपथ—"भारत" की कहानी एक अमूल्य अक्षय भंडार है। भारति ने भी इसका उपयोग किया है। पांचाली शपथ इसका उदाहरण है। यह ब्रह्म स्तुति से आरम्भ होता है। पांडवों का वैभव देखकर ईर्ष्या के वशीभूत दुर्योधन की जलन, शकुनी से सलाह लेना, जुआ खेलना आदि का वर्णन है। अन्त में, पांचाली की शपथ का वर्णन है। चार सर्गों में सरल शैली में प्रवाहमयी भाषा में इसकी रचना हुई है।

९. कोयल के गीत- –एक कोयल, उसकी प्रेम कहानी, प्रेम ही प्रेम, कोयल और बन्दर, अँधेरा और प्रकाश, कोयल और बैल, चौथा दिवस, कोयल का पूर्व-जन्म आदि शीर्षकों में कोयल की कहानी की रचना हुई है।

इन कविताओं में प्रेम, प्रेम से वंचित होना, प्रेमी को ढूँढ़ कर दुनिया की सैर करना आदि विचारों के साथ-साथ, वेदान्त विचारों का परिपाक हुआ है। जैसा ही भारति ने स्वयं ही कहा है, कि हे, पंडितगण, शाम के नशे में मन में हुई कल्पना ही है, फिर भी यदि वेदान्त की दृष्टि से कुछ अर्थ निकाल सकते हैं, तो मुझे भी ज़रा बता दीजिए।

कविताओं के अलावा, लेख आदि भी लिखे हैं।

राष्ट्र-कवि और युग-प्रवर्तक—ऊपर जो लिखा जा चुका है, उनसे स्पष्ट है, कि आज के छायावाद, रहस्यवाद, आदि कई नवीन दृष्टिकोणों का परिपाक इनमें हुआ है। युग-प्रवर्तक के रूप में इन्होंने, हर गीत में युग का संदेश दिया है। इनसे सामाजिक उन्नति, जाति-पांति निषेध, उद्योगों की आवश्यकता स्त्रियों की स्थिति में सुधार, स्त्री शिक्षा की आवश्यकता, आदि कई सन्देश हमें मिलते हैं। गांधीवाद की छाप स्पष्ट ही है। अतः सुब्रमण्य भारति को राष्ट्र-कवि कहने में भारत गौरव प्राप्त करता है।

सहायक ग्रन्थ सूची : १. भारतियार गीत- भारतीय प्रेस, मद्रास, १९६३।
२. तमिल इलक्किय यात्तिरै—लेखक, जे. पार्थ सारथी, मद्रास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य रामनरेश मिश्र

मगही का नया साहित्य

मगही का नया साहित्य से मेरा अभिप्राय १५ अगस्त '४७ के बाद के मगही साहित्य से है।' ४७ ई० के पूर्व भी प्रकाशित एवं अप्रकाशित साहित्य मगही में पुष्कल मात्रा में विद्यमान है जिसकी अंशतः चर्चा हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास १६वें भाग एवं मगही संस्कार गीत प्रभृति पुस्तकों में हो चुकी है। फिर भी इतना सत्य है कि मगही-साहित्य भारतीय-स्वातन्त्र्य-सूर्य के दिव्य आलोक के साथ ही पुष्पित, पल्लवित एवं फलित तीव्र गति से हुआ है। तबसे अद्यावधि मगही का मनोहर मयंग अपनी पूर्व छटा के साथ शुभ्र-ज्योत्स्ना विकीर्ण करता हुआ बिहारकी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ समानान्तर गति से पदक्षेप में समर्थ हो रहा है। मगही के इसी नये साहित्य का परिचयात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत निबन्ध का विषय है।

सर्व प्रथम मगही के पद्य-साहित्य को लें। इसे लोक-साहित्य और उच्चतर साहित्य में विभक्त किया जा सकता है। लोक-साहित्य गीतों में उपलब्ध है। लोक-साहित्य-सर्जकों में सर्वप्रथम श्रीधरप्रसाद मिश्र जी का नाम आता है। मिश्र जी संस्कृत-साहित्य के गम्भीर अध्येता एवं लोक जीवन के सच्चे पारखी हैं। अतः इनकी रचनाओं में दोनों का मणि-काञ्चनयोग है। इनकी बीसों पुस्तकें प्रकाशित हैं और विद्यापति के गीतों की भाँति जन-जन का कंठहार बनी हुई हैं। गिरिजा-गिरीश-चरित चरित-काव्यों में विशिष्ट स्थान रखता है। गांधी-बिरह-लहरी में महात्मा गांधी के प्रति श्रद्धाभक्ति एवं राष्ट्रीयता से सराबोर भावुकता के दर्शन होते हैं। उमाशंकर विवाह संकीर्तन गीति-काव्य का अनुपम उदाहरण है। कवि ने संस्कृत-साहित्य का परिश्रमपूर्वक मंथन कर लोक-जीवन की कसौटी पर अपनी अनुभूति को शाणित कर काव्यों में उपस्थित किया है। 'तपहई कठिन तोरा तन सुकुमार गउरा कई से पयबड पार' आदि गीतों में कालिदास के कुमार-संभव के 'तपः क्व वत्से क्व च तावकं वयुः' की विस्तृत समाख्या है तो शिवपार्वती-संवाद में सामान्य पति-पत्नी के विवाद की मनोहर झलक भी। पार्वती ने शिव को कंगाल कह दिया तो शिव ने भी पार्वती को आड़े हाथों लिया। कहने लगे—

देख अयली गउरा तोहर नइहर के चाल, काहे कहह कंगाल।
कोदो के भात मिलल, फुरथी के दाल,
बथुआ के साग देखि, ठोकलूँ कपाल।
साग में न नून भेंटल, जियरा बेहाल,
तीन चार कवर खाके, थारी देली टाल॥

चन्द्रशेखर पाठक का 'पार्वती-विवाह' १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके गीत गीतिमयता के विचार से विभिन्न रागों एवं तालों में गेय हैं। पाठक जी लोकप्रियता के विचार से श्रीधर जी से बहुत ही पीछे हैं। पाठक जी की पार्वती केशों में क्रीम और सेन्ट लगाने वाली अप-टू-डेट किस्म की किशोरी है। तपस्या को जाती है तो अगरबत्ती, कपूर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीतल की थाली आदि लेकर ही। शिव जी यहाँ गेरुआ वस्त्रधारी ढोंगी साधू के रूप में ही पार्वती के परीक्षार्थ आते हैं, ब्रह्मचारी वेश में नहीं। बारात का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है। अन्यत्र काल दोष एवं रसाभास के ही दर्शन होते हैं।

रामप्रसाद सिंह पुण्डरीक की कविताएँ संवत् २००७ में पुण्डरीक-रत्नमालिका के तृतीय खण्डों में प्रकाशित हुईं। इस खण्ड में मगही कविताएँ केवल १३ हैं। 'भारत-वसिया' में भारतवासियों को गांधीमार्गानुगमन के लिए प्रेरित किया गया है एवं ग्रामराज्य की स्थापना का सन्देश दिया गया है। 'स्त्री-कर्तव्य' और 'भारत-रमणी' कविताओं में नारी-जाति को सीता और अनसूया आदि के पवित्र पथ का अनुगमन कर देशोन्नति में हस्तान्तरण के लिए आह्वान है। गार्गी की ज्ञान-साधना का स्मरण कराकर कवि ने नारी की वर्तमान अशिक्षा पर अश्रुपात किया है। 'बारहमासा' में पं० नेहरू के त्याग, सेवा आदि की चर्चा है। 'छात्र-कर्त्तव्य' में छात्रों को अपने सद्गुण एवं अध्यवसाय पूर्ण जीवन द्वारा देशोद्धार के लिए आह्वान है। ये गीत विचार की दृष्टि से नवीन हैं पर श्रीधर जी का भावगांभीर्य यहाँ नहीं।

मगही के सिद्धहस्त कवि योगेशदत्त पाठक जी की ६ कविताएँ लोकगीत की श्रेणी में आती हैं। इनके गीतों में मगध-संस्कृति-दर्शन, मगह-माहात्म्य, मगह के प्राचीन इतिहास के मनोहर चित्र हैं। मगहो की समुन्नति के लिए मगहवासियों को अग्रसर करने के लिए ललकार भी है। गांधी, बुद्ध आदि का मार्गानुसरण कर मानवता के त्राण हित पुकार भी है। 'भैया सुनलऽहमर एक गाना' में मगही की प्राचीन महिमा का संकेत है और मैथिली और भोजपुरी बन्धुओं की मगही के प्रति उपेक्षा को मिटाने का आग्रह भी है। 'भईया कविता कउन सुनाऊँ मगही बोली में' में मगही के साहित्यिक जागरण का सुन्दर चित्र है। 'मगहिया शब्द रहत का सिरिफ पान के ढोली में' जैसी पंक्तियों में हास्य और व्यंग्य भी है। 'भईया अपन गाँव के सब कोई सुलभ बनावई जा' में ग्रामराज्य की स्थापना का स्वर मुखरित है।

पं० अंशुमान शर्मा जी के १०-१२ गीत लोक गीतों की कोटि में हैं। भिखारी ठाकुर के बटोहिया के ढंग पर इन्होंने सजनियाँ लिखा है जो बटोहिया का सुन्दर जवाब तो है ही, पुरुष द्वारा पुरुषहृदय के प्रेम-विह्वल विविध चित्रों का सरस एवं मनोहर अंकन भी है। एक बानगी लें—

तू ही हमर कविता हें, तू ही हें फेहनिया से,
मन प्राण तू ही हें हमार गे सजनियाँ।
पतियाँ के छतिया में छने छने साटी साटी,
बिलखी तोहार सुधि साले गे सजनियाँ॥

मगही के नवोदित कवि रामनरेश प्र० वर्मा के पचीसों गीत लोकगीत की श्रेणी में हैं। इनकी कविता में देश की वर्त्तमान समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। कविता के मुख्य विषय हैं शृंगार और राष्ट्रीयता। सर्वत्र सहज भावुकता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय गीत चीनी आक्रमण, जापानी खेती, भ्रष्टाचार-उन्मूलनादि से सम्बन्धित हैं। शृंगारिक कविताओं में वसन्त, वर्षा एवं शरद्-ऋतु के सुन्दर सरस चित्र हैं। गीत अक्सर होली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैता और कजरी लय में हैं। 'नेफा ललकारत हुई गोरी' में एक भारतीय का वीरत्व जाग पड़ा है और निम्नांकित पंक्तियों में धान रोपने वाली स्त्रियों का स्वाभाविक एवं सुन्दर चित्र है।

कादो तैयार गोरी घर से निकल चले, खेतवा रोपेला गुजरिया।
बरसे गगन होके मन में मगन, गोरी देवे किसनमा के गरिया।।

रामविलास 'रजकण' की 'वासन्ती' भी इसी १९६५ के वासन्तिक वातावरण में लोगों में नव वसन्त का नवोपहार लेकर उपस्थित हुई है। इसमें कुल ३५ गीत हैं। गीतों में शृंगारिक वातावरण के बीच भी राष्ट्रीयता के स्वर मुखरित हुए हैं। जनमानस को उद्वेलित करने वाली राष्ट्रीय भावना कहीं तरंगित हुई है तो कहीं विद्यापति एवं जयदेव के गीतों के चित्रण एवं माधुर्य के भी दर्शन होते हैं। भाव गांभीर्य की दृष्टि से 'रजकण' जी स्वर्ण कण तथा मगही के प्रतिनिधि कवि सिद्ध हुए हैं।

'सुश्री अरुणमोहिनी मिश्र 'गिरिजा' के चैता गीत तथा हलधर कवि के मान्दर-गीत में भी वर्तमान महँगी, हरिजनों की दुरन्त समस्याओं एवं दुरवस्थाओं के कारुणिक चित्र विद्यमान हैं। कपिलदेव प्र० सिंह 'मुनि' की कविताओं में राष्ट्रीयता का नवल स्वर मुखरित हुआ है।

कुछ गीत ऐसे हैं जो अत्यन्त लोकप्रिय हैं पर कवि अज्ञात हैं। ये गीत खाद्य समस्या, अनावृष्टि तथा किसानों की वर्तमान दशा के चित्र उपस्थित करते हैं। बेटी का विवाह करने वाले किसान की असमर्थता की बानगी लें—

धनमा रोपि रोपि आशा हम कर हलिओ,
करेलागि कन्या के दान हो साजन, पानी बिना मरगेलई धान।।

कहीं-कहीं छायावादी चित्र भी—

बदरिया गावऽहई कजरिया झूम गगन के आँगना।
रात के समईया में, गगन के तलैया में,
खिलल फूल तरेगना के रंग बिरंगना।।

उच्चतर साहित्य से मेरा अभिप्राय उच्चकोटि के भावों से परिप्लावित रहस्य-वादी, प्रगतिवादी, राष्ट्रीयतावादी प्रगीत रचनाओं से है। मगही में प्रबन्ध काव्य का प्रायः अभाव है। १९६३ ई० में प्रकाशित पं० योगेशदत्त पाठक के खण्डकाव्य 'जरासंध' ने इस कलंक का परिमार्जन अवश्य किया है। पुराणों एवं महाभारत का गम्भीर मंथन कर कवि ने अपने काव्य में जरासंध को परम धार्मिक, अतिथि-सेवी, कर्त्तव्यपरायण वीर राजा के रूप में चित्रित किया है। जरासंध को विश्वविजेता एवं आदर्श महामानव सिद्ध किया है। मगध का सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व 'पहिलका किआरी' में द्रष्टव्य है तो अन्य किआरियों में मगध के राजनैतिक एवं धार्मिक गौरव का नये ढंग से निदर्शन है। सूक्तियों का यत्रतत्र सुन्दर संयोग है।

मगही की मुक्तक काव्य-परम्परा में श्रीकान्त शास्त्री, रुद्र, सदय, सरस, पं० अंशु-मान शर्मा, आचार्य हरगोविन्द शास्त्री, पं० योगेशदत्त पाठक, प्रो० रामप्रसाद सिंह, रामनरेश पाठक, रामनरेश प्र० वर्मा, सूर्य नारायण शर्मा, प्रो० रामनन्दन, हरिश्चन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रियदर्शी, जयराम जी तथा रामवृक्ष वरिष्ठ के नाम आते हैं। श्रीकान्त शास्त्री जी की कविताओं में मानवीय तथा भौतिक प्रकृति के सुन्दर चित्र हैं। इनकी कविता के विषय विभिन्न हैं। उनमें विविध रसों का परिपाक है पर श्रृंगार की प्रधानता है। 'एगोमस्त मगहिया' के छद्मनाम से इनके द्वारा किए गए अनुवाद भी अत्यन्त सरस तथा मूलभाव की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ सिद्ध हुए हैं। शास्त्री जी मगही के भारतेन्दु हैं। मगही की उन्नति एवं प्रसार में शास्त्री जी, प्रो० रामनन्दन एवं शिवनन्दन प्रसाद जी का अद्भुत अपूर्व योग रहा है। रुद्र जी के गीतों एवं अन्य कविताओं में देश की पीड़ित आत्मा की करुण पुकार है। सदय जी कवि हैं, गीतकार नहीं। इनकी कविता में सर्वत्र नवीन कल्पना के साथ देश की वर्तमान स्थिति की झलक प्राप्य है। 'आवऽकुछ तस्वीर देखईओ' कविताएँ देश के वर्तमान युवकों पर गहरा व्यंग्य है—

जे अप्पन बाजू के बल से, अचरज करदे छन में छल से।
दुनिया भर के नाच नचा दे, घिरल घटा में जोत जगा दे।
अईसन धरती के पुत्तर के, कईसन हौ तकदीर देखईओ॥

सरस जी की कविता में रस का उद्दाम प्रवाह है। ग्राम्य प्रकृति एवं जनजीवन के विविध-चित्रों से इनकी कविता-कामिनी समलंकृत हुई है। हास्य एवं व्यंग्य से पूर्ण होने के कारण इनकी कविता जन-जन के कंठ का श्रृंगार वन चुकी है।

पं० अंशुमान शर्मा जी की कविताएँ विभिन्न विषयों की वीथि में चली हैं। 'हे शास्ता ! हे विश्वमान परल' 'हिन्द हम्मर हे' प्रभृति रचनाओं में राष्ट्रीयता पूर्ण भावुकता उमड़ पड़ी है। 'चमकत हे चाँद गगन देखऽ', 'तार लवली वीण के हम', 'मेघ गगन में जब घिर जाहे' आदि में रहस्यवादी भावुकता के दर्शन होते हैं। 'हिमहास घनो पीड़ा ई' में छायावाद का स्वर मुखरित है। 'जग में ई कईसन विषमताप', 'ले ली हम जग के नया पीर' आदि में कवि विश्व की पीड़ा से पीड़ित हो कराह उठा है। शर्मा जी मगही प्रगीत-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। 'हम्मरकाका', रबर छन्द का अन्यतम उदाहरण है जिसमें बूढ़े विवाहेच्छू विधुर पर करारा व्यंग्य है।

पं० यागेशदत्त पाठक के प्रगीतों में मगह, मगहिया से अतिशय प्रेम की सुन्दर अभिव्यंजना है। 'हम ही मगही मगहीन सदा' में विश्व को मगध की देन का अच्छा खुलासा है। 'मगहनिवासी' कविता में देश की अन्यक्षेत्रीय भाषाओं पर व्यंग्य तथा मगही की विशेषताओं का सुन्दर निदर्शन है। प्रो० रामप्रसाद सिंह की 'भोर' कविता में प्रातः का सरस चित्र है तो 'विरहिणी' में मानवीकरण की सुन्दर योजना। भाषा की स्वाभाविक सरसता, शुद्धता एवं भाव की सुबोधता में इनकी कविताएँ बेजोड़ हैं। रामनरेश प्र० वर्मा जी प्रकृति के सिद्धहस्त कवि हैं। 'आसीन के चन्द्रवा' में शरदृतु एवं एक कृषक की भावुकता का मणिकाञ्चन योग है। रामनरेश पाठक, सू० ना० शर्मा आदि गीत के कवि हैं जिनमें कवित्व का प्रौढ़ रूप विद्यमान है। प्रियदर्शी की कविता में वियोग श्रृंगार के सुन्दर चित्र अंकित हैं। लोकप्रियता के विचार से जयराम जी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। किसी भी गोष्ठी का अनुरञ्जन एवं नियंत्रण कर सकने में इनकी सरस रचनाएँ पूर्ण समर्थ हैं। इनकी कविता के विषय कृषि, योजना, देहाती जीवन तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान सभ्यता है। शृंगार तथा हास्य का इनकी रचनाओं में विशेष परिपाक है। अपनी भी १०-१२ कविताएँ तथा ट्युशन पुराणम्, इलेक्शन पुराणम्, कार्डदूतम् नाम्नी लघु पुस्तिकाएँ हैं। नाम से ही विषयवस्तु स्पष्ट है। आलोचना तो सुधी पाठक ही करेंगे।

१९६२ में बि० रा० परिषद् ने 'मगही-संस्कार-गीत' प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के जन्म से मृत्युपर्यन्त विविध संस्कारों के गीत संकलित हैं जो चिरकाल से लोकवाणी के शृंगार रहे हैं।

मगही में व्यंग्यगीत भी पुष्कल मात्रा में विद्यमान हैं। बकलोलदास 'गड़बड़िया', गदहरेंक जी, सोंसदास आदि की रचनाएँ बहुत उत्तम हुई हैं। अपने राम ने भी सोंटादास तथा व्यंग्यविनोदी मिश्र 'मगहिया' के छद्मनाम से कई पैरोडियाँ लिखी हैं।

मगही का पद्य-साहित्य जितना सम्पन्न है उतना गद्य-साहित्य नहीं। इधर ५-७ वर्षों से मगही लेखकों का ध्यान इस ओर गया है और व्यंग्य-स्केच, नाटक, एकांकी, टेली-फोनिक वार्ता, निबन्ध, शोधप्रबन्ध तथा उपन्यास धड़ाधड़ लिखे जा रहे हैं। गद्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा उपन्यास के क्षेत्र में रचनाएँ एकदम् नगण्य हैं। उपन्यास की मात्र ३ कृतियाँ प्रकाशित हैं। सू० ना० शर्मा का 'हलवाहा' किसानों की वर्त्तमान दशा का यथार्थ कारुणिक चित्र उपस्थित करता है। चक्रधर शर्मा का 'शाकल्य' और 'हायरे ऊ दिन' आ० द्विवेदी एवं डा० रा० राघव के औपन्यासिक कृतियों का स्मरण दिलाता है। 'शाकल्य' में महर्षि शाकल्य की जीवनी, उनका युग एवं उनकी देन की सुन्दर शोधपूर्ण चर्चा है। उनके दीप की संस्कृति का पर्याप्त मूल्यांकन है। 'हायरे ऊ दिन' में भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति के गौरवमय चित्र एवं वैदिक-संस्कृति के क्रमिक पतन की कहानी है। शर्मा जी सांस्कृतिक उपन्यास के सिद्धहस्त कलाकार हैं।

नाटककारों में प्रो० रामनन्दन, डा० श्रीकान्त शास्त्री, प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह, श्री उदय, प्रो० शत्रुघ्न प्र० शर्मा, मुन्नी प्रसाद, श्री शम्भुनाथ जायसवाल प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्री जी के नाटकों में 'नया गाँव' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ है। प्रो० रामनन्दन जी का 'कौमुदी महोत्सव' संस्कृत का अनुवाद है। 'खईनी' भी सफल अभिनेय रचना है। लेखक मगध की संस्कृति एवं समाजसुधार का बड़ा प्रेमी है। प्रो० वीरेन्द्र प्र० सिंह जी का 'थारी परसाल हुई' वर्तमान दहेज-प्रथा पर सुन्दर व्यंग्य है और जायसवाल के 'चलनी दुसलक बढ़नी के' ध्वनि रुपक में 'परोपदेशे पाण्डित्यं' का सुन्दर चित्र है। श्री उदय की 'सेनुरादान', प्रो० शर्मा की 'गुरुदक्षिणा' श्री मुन्नी प्रसाद जी की 'कुबेर के भण्डार', और 'ओकील के परवाना तक' श्रेष्ठ अभिनेय रचनाएँ हैं। 'मगरू महतो' नाम से अपने भी कई प्रहसन हैं।

नवोदित कलाकारों में रामवृक्ष वरिष्ठ, सुग्रीव प्रसाद, गजानन मिश्र, निजा-मुद्दीन अंसारी, जितेन्द्र यादव, एवं वसन्तराम के नाम उल्लेख्य हैं। जिनकी क्रमशः 'नेफा के मोरचा', 'नकलोल-बकलोल-युद्ध', 'मुखदीपमिलन', 'बड़े मियाँ', 'कंचनवन के शेर' तथा 'चन्दामामा' सफल अभिनेय रचनाएँ हैं। वरिष्ठ के 'नेफा के मोरचा' को छोड़कर शेष एकांकी बालोपयोगी हैं। 'नेफा के मोरचा' में चीनी आक्रमण की भारतीय बालकों एवं युवकों पर प्रतिक्रिया एवं राष्ट्रीयता-संचार का सुन्दर चित्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानीकारों में राधाकृष्ण, तारकेश्वर भारती, जयेन्द्र, रामनरेश पाठक, पुष्पा आर्याणी, रवीन्द्र कुमार, सुरेश प्र० सिंह, शिवेश्वर प्र० आष्ठ एवं राम वृक्ष वरिष्ठ के नाम उल्लेख्य हैं। पाठक जी की 'ठार कनकन' तथा राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' मगही की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। राधाकृष्ण की 'ए नेऊर तू गंगा जा' तथा वरिष्ठ की 'भुकुर-भुकुर कई से' कहानियाँ लोकवृत पर आधृत हैं। अपनी भी 'भद्दा या भला', 'आत्मदीपोनव', 'उपसर्प मातरं भूमिम्', 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' चार कहानियाँ शिक्षा-विषयक हैं।

वैयक्तिक निबन्धकारों में डा० शिवनन्दन प्रसाद एवं प्रो० रामनन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यं० वि० मिश्र 'मगहिया' ने भी 'होली हो गेलई।' 'हम्मर परीक्षा हो गेलई।' आदि ४-५ व्यक्तित्व व्यंजक लेख लिखे हैं।

मगही में 'शोधकार्य' अत्यन्त प्रगतिशील है। श्री मुगेश्वर पाण्डेय का 'मगही भाषा और साहित्य,' श्री राजेन्द्र सिंह यौधेय का 'मगही वेआकरण' सुश्री सम्पत्ति आर्याणी का 'मगही व्याकरण कोश' एवं 'मगही भाषा और साहित्य, एक अध्ययन', सुश्री कल्याणेश्वरी वर्मा का 'मगही लोक गीतों का अध्ययन' श्री कान्त शास्त्री का 'पटना और गया की मगही' का स्वरूप: एक अध्ययन' इस दिशा में प्रशंसनीय हैं। 'मगही का ध्वनि-विज्ञान' पर श्री सरयु प्रसाद, 'मगही कहावतों का अध्ययन' पर तथा 'मगही लोक कथाओं का अध्ययन' पर श्री कैलाश प्रसाद जी शोधकार्य कर रहे हैं। प्रो० अवधबिहारी पाठक जी ने 'मगही के विविध रूपों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन' एवं प्रो० कृष्णनारायण जी ने 'परिनिष्ठित मगही का भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण' विषय शोध-कार्य के लिए चुने हैं। स्वतन्त्र रूप से 'मगही सूक्तियाँ : एक अनुशीलन' पर चक्रधर शर्मा जी शोध-प्रबंध लिख रहे हैं।

स्वतन्त्रता के बाद मगही में 'मगही', 'विद्वान', 'महान मगध' तथा 'मगही-सनेस' पत्रिकाएँ निकली हैं और मन्थर गति से गतिशील रही हैं। 'मगही' और 'महान मगध' बन्द हो चुकी हैं। शेष दो चल रही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मगही के नये साहित्य की गंगा अब प्रगति की विविध धाराओं और उपधाराओं में बहकर उन्नति के महासमुद्र की ओर उद्दामवेग से प्रवहमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधा माहेश्वरी

ब्रॅख्त : आधुनिक यूरोपीय साहित्य का एक महान् व्यक्तित्व

बर्तोल्त ब्रॅख्त का जन्म १८९८ में ओगसबर्ग (Aughshburg) नामक नगर में हुआ था। वह अन्तर्जातिय विवाह की सन्तान था। उसके पिता रोमन कैथोलिक और माता प्रोटेस्टेन्ट थी। इसीलिए अपने बाद के जीवन में उसका ईसाईयत से विश्वास उठ गया। उसके पिता एक कागज मिल के प्रबन्धक थे और माँ एक राज्याधिकारी की पुत्री थी। उसने सन् १९०४ से १९०८ तक एक पब्लिक स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। उसके बाद १९१७ में उसने म्यूनिख विश्वविद्यालय में औषधिविज्ञान और प्राकृतविज्ञान का अध्ययन किया। ब्रॅख्त ने कुछ समय तक सेना में भी सेवा की। सैनिक अस्पताल के भयानक वातावरण का प्रभाव उसकी रचनाओं पर भी पड़ा है। सैनिक सेवा से मुक्त होने पर वह जर्मनी लौटा। १९२८ में उसका 'थ्रीपेनी ऑपरा' नामक नाटक अभिनीत किया गया। अब तक उसके आधे दर्जन से ज़्यादा नाटक निकल चुके थे, जिनमें तीव्र घृणा भाव था। थोड़े ही समय में वह बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसके नाटक के कुछ नारे जैसे 'खाओ पहले, आचरण बाद में' लोगों की जबान पर रहने लगे। यही इसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना थी। 'थ्रीपेनी ऑपरा' ने ब्रॅख्त को कुछ समय के लिए जर्मनी के नाटककारों की प्रथम पंक्ति में ला खड़ा किया। सन् १९२७ में 'डोमेस्टिक ब्रेवीरी' (domastics brevirry) के प्रकाशन के साथ ब्रॅख्त एक कवि के रूप में भी विख्यात हो गया।

ब्रॅख्त का विचार था कि हिंसा की आवश्यकता होने पर हिंसा का प्रयोग भी करना चाहिए, इसीलिए शान्त भाव छोड़कर वह उन लोगों के साथ मिल गया जिनका सिद्धान्त था, शक्ति का सामना शक्ति से करो। इसी कारण जर्मनी के कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख उसने रूसी क्रान्ति को एक आदर्श के रूप में रखा। नाज़ियों के हाथ में शक्ति आ ज़ाने पर उसके 'द महागोनी' (The Mahagony) नामक नाटक पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इसके बाद वह स्थाई रूप से डेन्मार्क में बस गया। १९३३ से १९३९ तक वह डेन्मार्क में रहा। और इसी बीच वह पेरिस और न्यूयार्क भी गया। इसके बाद वह मास्को से निकलने वाली रिफ्यूजी पत्रिका Daswart का सहायक सम्पादक बन गया।

युद्ध प्रारम्भ होते ही ब्रॅख्त ने डेन्मार्क को छोड़ दिया और वह स्कॉटहोम में चला गया। इसके बाद १९४० में वह फिनलैण्ड गया, और वहाँ से उसने अमेरिका के लिए वीसा माँगा और वह उसे मिल भी गया। इसका प्रयोग उसने १९ जुलाई १९४१ को केलीफोर्नियाँ से अमेरिका जाते समय किया। १९४७ में उस पर अमेरिका विरोधी कार्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाहियों के लिए मुकदमा चलाया गया। १९४८ में वह पूर्व जर्मनी की साम्यवादी सरकार के आमन्त्रण पर स्वदेश लौट आया। १९५१ में उसे पूर्व जर्मनी सरकार का राष्ट्रीय पुरस्कार और १९५४ में स्तालिन शान्ति पुरस्कार दिया गया। १४ अगस्त १९५६ को बर्लिन में उसका देहान्त हो गया।

विश्व के नाटककारों में ब्रॅख्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रथम नाटक 'द मेजरस् टेकन' था। इसकी विषयवस्तु साम्यवादी है। सन् १९३७ से १९४१ तक उसने जो नाटक लिखे और जिनसे उसकी प्रसिद्धि विदेशों में हुई वे 'मदर करेज', 'द लाइफ ऑफ गेलीलिओ', 'द गुड वुमन ऑफ सेटज्अन्', 'हरपनटिला एण्ड हिज़ मनटनाटि' हैं।

नाटककार के रूप में ब्रॅख्त की सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'महाकाव्यात्मक रंगमंच' (Epic theater) है। ब्रॅख्त ने इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है। उसके अनुसार 'एपिक थियेटर' किसी ऐसे अभिनेता को रंगमंग पर प्रस्तुत करता है जो उसके किसी पात्र की भूमिका निभाते हुए भी अपने व्यक्तित्व को बनाए रखता है। ब्रॅख्त के गैलीलियो नाटक को जब खेला गया, तब एक अभिनेता को एक वैज्ञानिक की भूमिका में दिखाया गया, लेकिन उस अभिनय में अभिनेता ने अपने व्यक्तित्व को पूर्णत: विलीन नहीं कर दिया, उसका अपना व्यक्तित्व भी बना रहा। 'एपिक' की मूल विशेषता को ब्रॅख्त ने जर्मन शब्द Zeigen के द्वारा व्यक्त किया।

'एपिक थियेटर' में नाटक लेखन की पद्धति ही मुख्य तत्त्व है। यही ब्रॅख्त की रचनाओं में एक बेगानापन (एलियनेशन) ला देती है। इसमें गीत, संगीत, नृत्य और दृश्य-चित्र का एक ऐसे विशिष्ट रूप में प्रयोग किया जाता है, जो चलने वाली कथा को सहयोग देने की जगह उसके विपरीत जाता है। ब्रॅख्त के नाटक के ये ही तत्त्व, साधारण स्वाभाविक, प्राकृत, और विश्वसनीय घटनाओं को असाधारण, आश्चर्यजनक, अद्भुत् और अजीब बना देते हैं। शैली की यह विशेषता उसके पूरे नाटक पर प्रभाव डालती है। यह निश्चित रूप से घटित होने वाली घटनाओं को चुनौती देती चलती है। इससे नाटक अलग-अलग टुकड़ों में विभाजित हो जाता है और उसकी बनावट में जोड़ स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। Ewin Piscatar नामक नाटक निर्माता ने एक बार ब्रॅख्त के एक नाटक के अभिनय को रोककर बीच में लेनिन की आवाज़ का एक रिकार्ड सुनाया था। यह भी एलियनेशन का प्रभाव डालने के लिए ही किया गया था। ब्रॅख्त अपने इस बेगानेपन के कारण चिर-स्मरणीय रहेगा।

ब्रॅख्त ने थियेटर की एपिक विशेषता को अतीत की धारणाओं से ही ग्रहण किया। कलात्मक भ्रम, जिसका प्रयोग साधारणत: सभी परम्परागत कलाएँ करतीं हैं ब्रॅख्त की दृष्टि में ठीक नहीं है। उल्टे वह तो कलात्मक भ्रम को तोड़कर अपनी कला को व्यक्त करता था। Martin Esslin के अनुसार ब्रॅख्त दर्शकों को यह अनुभूति देना चाहता है कि वे जो कुछ देख रहे हैं, वह वास्तविक घटना घटित नहीं हो रही, बल्कि वे किसी थियेटर में बैठे हैं और किसी ऐसी घटना का वर्णन सुन रहे हैं जो एक विशेष समय में विशेष स्थान पर अतीत में हो चुकी है।

उसके एपिक थियेटर में कलात्मक भ्रम का कोई स्थान नहीं है। उसमें दर्शक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सजग रहते हैं। कलात्मक भ्रम बुद्धिजीवी की विश्लेषणात्मक योग्यता को नष्ट करके उसे वायवी आलोचक बना देता है। लेकिन एपिक थियेटर (जिसकी टेकनीक पर मॉर्क्स-वाद का प्रभाव है) मनुष्य को गम्भीर शान्तचित्त और विश्लेषणवादी बनाता है।

इस थियेटर का अनोखापन यह है कि घटित होने वाली घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों को एक नए रूप में प्रकाशित किया जाता है। ये घटनाएँ यह बताती हैं कि संसार परिवर्तनशील है। यह प्रणाली राजनैतिक घटनाओं के प्रति भी दर्शक को सजग रखती है।

ब्रॅख्त निम्नस्तर की भावात्मकता को महत्त्व नहीं देता। जैसे-जैसे ब्रॅख्त कम्यूनिस्ट आन्दोलन के निकट आया उसके नाटक शिक्षण मंच (Educational theater) और 'एपिक ड्रामा' की ओर झुकते गए।

'एपिक थियेटर' की प्रथम विशेषता यह है कि उसे 'एपिक' होना चाहिए। 'एपिक थियेटर' घटनाओं का वर्णन कर देता है और दर्शक पर इस बात के लिए ज़ोर डालता है कि वह उन्हें समझे। जबकि परम्परागत रंगमंच में यह बात नहीं होती। परम्परागत रंगमंच दर्शक को कलात्मक भ्रम से आवृत कर भावना में बहाता है जबकि एपिक थियेटर में दर्शक पूरी तरह सजग बना रहता है। ब्रॅख्त के अनुसार थियेटर को दर्शक की बुद्धि का स्पर्श करना चाहिए। ब्रॅख्त यह अधिक पसन्द करता है कि विचारों और मूल्यों में द्वन्द्व दिखाया जाए, उनमें संघर्ष हो, तथा साथ ही संसार के पाखण्ड और विद्रूपताओं का स्पष्ट रूप से उद्घाटन हो। वह इस बात को बिल्कुल पसन्द नहीं करता कि देर तक भावनाओं में बहने के बाद कहीं दर्शक को पता चले कि क्या ख़राब है और क्या अच्छा।

परम्परागत रंगमंच में स्टेज पर तर्क वितर्क को अच्छा नहीं समझा जाता था। इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता था कि नायक का तर्क सही है या ग़लत, केवल उसका व्यक्तित्व आकर्षक और भाव में बहाने वाला होना चाहिए। परम्परागत थियेटर में तीव्र इच्छाओं का संघर्ष पात्रों के आधार पर चलता है न कि मूल्यों के संघर्ष के आधार पर।

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए ब्रॅख्त ने एक सीमा-रेखा खींची, और एक चार्ट प्रकाशित कर बताया कि प्रत्येक थियेटर में कौन-सा स्थान सबसे अधिक आकर्षक है। परम्परागत नाटक वर्गों की प्रवृत्तियों को चित्रित करते हैं, लेकिन ब्रॅख्त चाहता है कि वर्ग-प्रवृत्तियों के संघर्ष को सामाजिक चेतना के रूप में परिवर्तित हो जाना चाहिए। जिससे पूरे संसार के लोग उसे जान सकें।

ब्रॅख्त ने स्वयं ही परम्परागत और एपिक रंगमंच का अन्तर इस रूपरेखात्मक सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है।

परम्परागत रंगमंच	महाकाव्यात्मक रंगमंच
क्रिया व्यापार	विवरण
दर्शक को रंगमंचीय कार्यों के साथ तादात्म्य देकर उसकी अपनी कर्मेच्छा को समाप्त कर देता है	दर्शक को केवल दर्शक रहने देता है और इस तरह उसमें कर्मेच्छा जागृत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शकों के रागात्मक पक्ष को छूता है	दर्शकों के विचारों और दृष्टिकोणों को प्रभावित करता है
सुझाव	तर्क
दर्शक में रागात्मक समानुभूति जगाता है।	दर्शक को सिखाया और पढ़ाया जाता है।
मनुष्य को एक ज्ञेय वस्तु की तरह चित्रित किया जाता है	मनुष्य को अनुसन्धान का विषय बनाया जाता है।
क्रिया व्यापार के परिणाम में दर्शकों को रुचि रहती है	क्रिया व्यापार में रुचि रहती है।
प्रत्येक दृश्य दूसरे दृश्य से सुसम्बद्ध रहता है	प्रत्येक दृश्य स्वतन्त्र है
अनुभूति	बुद्धि

ब्रॅख्त का वास्तविक और प्रथम एपिक ड्रामा 'माँ' है। यह नाटक प्रचार के लिए लिखा गया। क्रान्तिकारी संघर्ष में अपनाये गए तरीकों की यह एक प्रचारात्मक पुस्तक है। इसमें बताया गया है कि व्यक्ति को संघर्ष में कैसे काम में लाया जाता है, अनभिज्ञ लोगों के सामने से और पीछे से होने वाले आक्रमणों से कैसे वाकिफ किया जा सकता है, दुश्मनों को कैसे धोखा दिया जा सकता है, किस तरह विदेशी संस्कृति का प्रयोग किया जा सकता है, और कैसे अनुशासन को लागू किया जा सकता है।

ब्रॅख्त के अनुसार कला अध्यापन विद्या की ही एक शाखा है, जिसका उद्देश्य पढ़ाना है। पूँजीवाद शिक्षा को कुरूप और वीभत्स बना देता है। इससे लोग शिक्षा देने के ढंग से अपने को अपमानित अनुभव करते हैं। ब्रॅख्त एक बौद्धिक रंगमंच के पक्ष में है। उसका खयाल है कि विरोधी दृष्टिकोणों का संघर्ष भी दर्शकों का उतना ही ध्यान आकर्षित कर सकता है, जितना कि विरोधी संवेगों का संघर्ष। उसके मतानुसार दर्शक को विरेचित करके छोड़ना कला का वास्तविक उद्देश्य नहीं है। वास्तविक उद्देश्य तो उसे बदलकर रखना है। या कम से कम उसमें परिवर्तन के बीज बो देना है, जो बाद में जाकर उसके जीवन में फलें। उदाहरण स्वरूप सेन्ट जोन में मरती हुई नायिका कहती है :

अपने जीवन का लक्ष्य
यह मत बनाओ
कि मरते समय तुम
बेहतर बनकर मरो
बल्कि यह बनाओ
कि मरने की घड़ी में
तुम एक बेहतर दुनिया छोड़ सको।

Domastic Brevirry के प्रकाशन के साथ ही ब्रॅख्त कवि के रूप में भी विख्यात हो गया। एक कवि के रूप में भी ब्रॅख्त का दायरा काफी विस्तृत है और उसमें पर्याप्त विभिन्नताएँ हैं। उसने बहुत से लोकगीत (Ballad) गीत (Lyric) सहगान (chorus)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और व्यंग कविताएँ लिखीं, जिनका विषय अधिकतर क्रान्तिकारी ही रहा है। ब्रेख्त के बैलेड, लीरिक और व्यंगों के इस संग्रह को एक रोमन कैथोलिक आलोचक ने 'डेविल्स प्रेयर बुक' कहा था।

ब्रेख्त की कविताओं में भी नाटकों की तरह ही व्यक्तिवादिता का कोई स्थान नहीं है। अल्पायु में ही उसने यह निश्चय कर लिया था कि वह अपनी तुलना में समय और समाज के दुर्भाग्य को अधिक महत्त्व देगा, चाहे उसकी व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझ सकें या नहीं। जिस प्रकार ब्रेख्त रंगमंच से अपने पात्रों को दूर रखता है उसी प्रकार वह अपनी कविता में व्यक्तिगत मन:स्थितियों को दूर रखता है। उसके बैलेड में घटना मुख्य होती है उसके नायक प्राकृतिक और मानव-निर्मित आपत्तियों को सहन करके महानता प्राप्त करते हैं। ये बैलेड मनुष्य के गुणों का, उनकी निर्भीकता का, उनके गर्व का, और उनकी अदम्य उत्सुकता का, ध्वन्सकारी और भयानक परिस्थितियों के बीच प्रदर्शन करते हैं। ब्रेख्त ने बैलेड को गली कूचों का गीत बना दिया। वह उसमें प्रथम विश्वयुद्ध के अनुभवों को, उसकी निस्सहायता और विवशता को सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्ति दे सका है।

ब्रेख्त का परम्परा के प्रति दृष्टिकोण उसकी शास्त्रीय कविताओं और पैरोडियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए उसके कुछ समूहगान St. Joan of the 'Stockyards अथवा 'Liturgy of breath' और गेटे की पैरोडी 'Over all the preak's lies peace' आदि रचनाएँ ली जा सकती हैं। गेटे की कविता का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया कि शान्ति का एक अन्य अर्थ सब वीभत्सताओं को शान्त भाव से देखना भी है। जबकि एक बूढ़ी औरत भूखी मर रही हो, जंगल में सब पक्षी शान्त हैं। यहाँ शान्ति एक ऐसे मनुष्य के खून का प्रतीक है जो कभी शान्त और मौन नहीं रहा था। इन पैरोडीज़ में उसका परम्परा के प्रति आकर्षक स्पष्ट हो जाता है।

उसकी मूल कटुता संसार की उस विजय और पराजय के प्रति थी, जिसके इतिहास से पराजय के कारण को मानव स्मृति से निकाल दिया जाता है और विजेताओं का इतिहास लिखा जाता है। गरीबी, दमन और शोषण के कारण उसे इतना क्रोध नहीं आता जितना इस बात से कि गरीब, शोषित और दलित अपनी आवाज को ऊँचा उठाने में समर्थ नहीं हैं और इसके कारण उपेक्षित होकर दु:ख सहन करते हैं।

ब्रेख्त बैलेड को सबसे अधिक पसन्द करता था, इसका कारण यह था कि परम्परा से ही बैलेड अलिखित रहकर भी उपेक्षित और भूले हुए इतिहास को याद करता है। यही एक काव्य-रूप है जिसमें कई पुराने महाकवियों ने अपनी कृतियों का निर्माण किया है और अमरता प्राप्त की है।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी ब्रेख्त की कविता कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह गीति की अपेक्षा नाटकीयता और वर्णनात्मकता का आश्रय लेती है उसका नाटककार भी एक कवि के रूप में ही सामने आता है, उसके काव्य में भी नाटकीयता ही प्रधान है। Volker Klotz के शब्दों में ब्रेख्त की कविता की मुख्य विशेषता उसका 'ऑब्जेक्टिव फॉर्म' है।

ब्रेख्त के समय तक वस्तुस्थिति यह थी कि साहित्यिक जर्मन ही नहीं बल्कि रंग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंचीय जर्मन भी निश्चित रूप से एक कृत्रिम और मृत भाषा थी। स्टैन्डर्ड जर्मन, स्टैन्डर्ड अँग्रेज़ी और फ्रैंच की तरह यह बोली नहीं जाती थी, वह तो केवल कागज पर या रंगमंच पर ही प्रयोग में लाई जाती थी। लेकिन Peter Demetze द्वारा सम्पादित 'Brecht : A Collection of Critical Essays नामक पुस्तक में ब्रॅख्त की भाषा के बारे में लिखा है कि उसने अपनी कविताओं और नाटकों में जिस भाषा का प्रयोग किया, वह साहित्यिक या कृत्रिम न होकर उसकी अपनी स्वाभाविक भाषा थी। उसने अपने काव्य में एक ऐसी भाषा को महत्त्व दिया जो किसी भी निश्चित प्रान्त की भाषा नहीं है, पर जो एक वास्तविक भाषा लगती है। यद्यपि वास्तव में आज भी उसकी यह भाषा किसी के द्वारा नहीं बोली जाती, केवल ब्रॅख्त ही इसका प्रयोग करता है। वह एक कृत्रिम सम्वाद (Synthesis) है, ऐसी मौलिक और कृत्रिम रचना है जो विभिन्न परम्पराओं से बद्ध है। यही कारण है कि यह एक वास्तविक भाषा लगने लगती है।

ब्रॅख्त की भाषा का एक दृढ़ आधार आधुनिक जर्मन भाषा के मुख्य स्रोत भी है। एक बार एक पत्रकार ने ब्रॅख्त से प्रश्न पूछा कि उसके जीवन पर सबसे अधिक साहित्यिक प्रभाव किसका पड़ा तो उसने उत्तर दिया था : शायद आप हँसेंगे पर यह सच है कि मेरे साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव बाइबिल का पड़ा है। उसने अपनी रचनाओं में भी बाइबिल की वाक्य रचनाओं का मुख्य रूप से प्रयोग किया है। जैसे विरोधी अर्द्धवाक्यों का सामीप्य, समानान्तरता, पुनरुक्ति आदि।

गलियों में गाये जाने वाले बैलेड ने भी ब्रॅख्त के जीवन को बहुत प्रभावित किया। खास तौर से The Morality नामक बैलेड ने जो उसके नगर के मेले में बैलेड गायकों द्वारा गाया जाता था।

Peter Demetze के अनुसार ब्रॅख्त पद्य लिखने में सरलता का अनुभव करता था। उसने कोमल और लययुक्त गीतों से दूर जाने का प्रयत्न किया। 'मुझे एक उच्च-स्तरीय भाषा की आवश्यकता थी लेकिन परम्परागत 'आरंभिक पेन्टामीटर' की कोमलता के कारण मैंने उसके प्रति विकर्षण अनुभव किया।' "On Unrhymed Verse with Irregular Rhythms" नामक निबन्ध में वह एक ऐसी शैली का वर्णन करता है जो लयहीन होने पर भी काव्यात्मक बना रहे, और समाज की विषमताओं और विद्रूपताओं को वाणी दे सके।

ब्रॅख्त ने सांकेतिक भाषा का प्रयोग भी किया है। कहीं कहीं उसने बाइबिल से उद्धृत सूक्तियों का प्रयोग भी किया है। वह एक ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो उसमें वर्णित क्रिया को मूर्तित कर सके। राजनीतिक प्रयाण-गीतों और नाटकों में आये हुए उसके गीतों के अतिरिक्त ब्रॅख्त का अधिकांश काव्य मुक्त छन्द में लिखा गया है।

ब्रॅख्त की कविता उसके अपने जीवन और उसके समय के जीवन की विषमताओं, विद्रूपताओं और संघर्षों का दर्पण है। ब्रॅख्त की विशेषता यह है कि एक ओर तो वह इलियट, पाउण्ड, रिल्के आदि की परम्परा का आधुनिक भाव-बोध का साहित्यकार है पर दूसरी ओर वह मायकोवस्की, अरागाँ, नाज़िम हिकमत और पाब्लो नेरूदा की क्रान्तिकारी परम्परा का कवि भी है। वह उन तथाकथित आधुनिकतावादियों की तरह निराशा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ अपने युग की विद्रूपताओं को अभिव्यक्त करके ही चुप नहीं रह जाता। उसका साहित्य इन विद्रूपताओं के विरुद्ध जूझ रही जीवन शक्तियों का भी प्रतिबिम्ब है। अपने युग के त्रास को उसने इन शब्दों में व्यक्त किया है।

सचमुच मैं अँधेरे युग में रहता हूँ
झूठ से रहित शब्द जहाँ अनर्गल कल्पना हैं
शान्त मस्तिष्क उसी का हो सकता है, जिसका दिल पत्थर हो
जिसके चेहरे पर मुस्कान है : वह अभी ख़ौफ़नाक खबरों से परिचित
नहीं हुआ
आह, कैसा अजीब युग है !
जब पेड़ पौधों तक की बात करना लगभग अपराध है
क्योंकि सर्वव्यापी है अन्याय के प्रति एक चुप्पी।

अपने युग की अराजकता और उसके ख़िलाफ चलने वाले संघर्ष को इस तरह याद किया :

मैं शहरों में आया अराजकता के दिनों में
जब भूख का साम्राज्य था
मैंने लोगों को देखा विप्लव के जमाने में
और उनके साथ विद्रोह किया···
मैंने क़त्लेआम के बीच अपनी रोटियाँ तोड़ीं
हत्याओं की छाया मेरी गोद में लेटीं···
मेरे युग में हर सड़क रेतीले दलदल में से गुजरती है
और हर शब्द बधिक के दरवाज़े पर ले जाता है

लेकिन ब्रॅख्त ने जितनी अपने युग की विद्रूपताओं और उनके विरुद्ध संघर्ष को वाणी दी है उतनी ही उस के दर्द को भी। काल के लम्बे सन्दर्भ में यह दर्द मानवीय हो उठता है :

तुम जो इस जल-प्रलय में बच रहोगे
जिसमें हम डूब रहे हैं
जब हमारी कमज़ोरियों पर सोचो
ता इस अन्धकार भरे युग पर भी सोचना
जिसने इन कमज़ोरियों को जन्म दिया
क्योंकि जितने हम जूते बदलते हैं
उससे ज्यादा देश इस वर्ग-युद्ध में बदलते गए हैं
जिसमें केवल अन्याय था और प्रतिरोध नहीं।
ध्यान रखना
कि कूड़े करकट के प्रति घृणा भी
भृकुटि को कठोर बना देती है
अन्याय के प्रति क्रोध भी वाणी को कर्कश बना देता है
आह ! हम जो करुणा और कोमलता की नींव रखना चाहते थे
खुद करुण और कोमल नहीं हो सके !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटेलाल दीक्षित

तुलसीदास के सौंदर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्व

प्रगतिवाद यहाँ उस संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया गया है जिस अर्थ में यह तथाकथित आधुनिक युग के प्रगतिवादी साहित्य में प्रयुक्त हुआ है। राजनैतिक मत के संकीर्ण प्रतिमानों को व्यक्त करने वाले अर्थ में प्रगतिवाद को लेकर, उसके आधार पर प्राचीन साहित्य का विश्लेषण करना भ्रामक और उस साहित्य के साथ अन्याय करना होगा। संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों से युक्त प्रगतिवाद के भीतर जीवन की समग्रता और वैविध्य को नहीं स्वीकारा जा सकता। प्रगति शब्द का अर्थ आगे बढ़ाने वाला या उच्चता प्रदान करने वाला है। प्रगतिशील साहित्य भी वही है जो जनहित का साधक और समाज को आगे बढ़ाने वाला है। प्रगतिशील साहित्य मनुष्य के विकास में सहायक होता है। वह मानवीय संवेदना और सच्चे कर्म की चेतना जगाता है और व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर नैतिक आदर्शों की प्रेरणा देता है तथा उसकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होता है। ऐसे साहित्य में व्यक्ति के सुख, दुःख और भावनाओं का जिनका मूल सामाजिक व्यवस्था में है, चित्रण होता है। प्रगतिशील साहित्य में उन सभी विचारधाराओं का विरोध किया जाता है जो सामाजिकता का विरोध करके व्यक्ति को एकांगी बनाने का प्रयत्न करती हैं। ऐसे साहित्य में श्रद्धा और आस्था की अभिव्यक्ति होती है जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अविनाशी और व्यापक तत्व हैं और मानव प्रगति की सूक्ष्मता-मूलक दिशाओं का निदर्शन करती हैं। प्रगतिशील साहित्य व्यक्ति के भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाता है जो मानव विकास को आगे ले जाकर जीवन के सार्थक तत्वों की प्रेरणा देता है। तुलसी के काव्य में प्रगतिशील साहित्य की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। उनके काव्य को सच्चे अर्थों में प्रगतिशील कहा जा सकता है।

प्रगतिशील साहित्य को व्यापक अर्थ में न लेकर संकीर्ण राजनैतिक प्रतिमानों के अर्थ में लेने वाले और तुलसी के काव्य को युग के परिप्रेक्ष्य में न देखने वाले व्यक्ति तुलसी पर प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाते हैं। उन्हें सामंती-संस्कृति के पोषक, ब्राह्मणवादी समाज को पीछे खींचने वाली, मनुष्य और मनुष्य में घृणा फैलाने वाली विचारधारा का समर्थक मानते हैं। डॉ० ताराचन्द ने अपने इतिहास ग्रन्थ में इसी भ्रामक दृष्टिकोण को सामने रखकर रामानन्द के शिष्यों को कन्ज़र्वेटिव और रेडिकल दो वर्गों में विभाजित किया है। उन्होंने कन्ज़र्वेटिव (प्रतिक्रियावादी) के अन्तर्गत तुलसीदास और उनकी परम्परा के भक्तों को और रेडिकल (प्रगतिशील) के भीतर कबीर और उनकी परम्परा के भक्तों को लिया है। प्रश्न यह कि जो कवि स्वयं कहे :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना; सिर धुनि गिरा लागि पछताना

अथवा

मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरो कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को ।।

उसे सामंती संस्कृति का समर्थक अथवा ब्राह्मणवादी परम्परा का पोषक कैसे माना जाय । तुलसीदास सच्चे अर्थों के जनवादी कवि हैं । उनका सौंदर्य-बोध जागरूक प्रगतिशील चेतना का व्यापार है ।

सौन्दर्यानुभूति हमारी सहज अन्तर्दृष्टि और सौन्दर्य-बोध हमारी प्रबुद्ध मनः-स्थिति का व्यापार है । सौन्दर्य वह है जो बिना किसी प्रयोजन के आनन्दित करता है । सौन्दर्य वस्तु में भी होता है और दृष्टि में भी । वह आत्म-निष्ठ भी है और वस्तु-निष्ठ भी । सौन्दर्य को पूर्णतः व्यक्ति-निष्ठ मानने वाले चिन्तकों के अनुसार सौन्दर्य व्यक्ति की भावनाओं में होता है वस्तु में नहीं । वस्तु तो केवल हमारे भीतर विद्यमान सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत करती है । यह कथन आंशिक सत्य है । क्योंकि यदि वस्तु में सौन्दर्यानुभूति जाग्रत करने की क्षमता न होगी तो सौन्दर्यानुभूति जाग्रत कैसे होगी । वस्तु की यही क्षमता उसका सौन्दर्य है । आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में जैसे वीर कर्म से अलग वीरता कोई शब्द नहीं है, वैसे ही सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य का अस्तित्व नहीं है ।

सौन्दर्य-बोध के प्रसंग में जब हम प्रगतिशील तत्वों की चर्चा करते हैं तब हमारा अभिप्राय सौन्दर्य के साथ शिव की अभिन्नता की ओर संकेत करना होता है । सौन्दर्य की स्थिति मात्र रूप में ही नहीं होती । सौन्दर्य भौतिक होने के साथ-साथ नैतिक और मानसिक भी होता है । भौतिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य पर आधारित होता है और मानसिक सौन्दर्य नैतिक सौन्दर्य को रूप देता है । कलाकार के सौन्दर्य-बोध का विश्लेषण करते समय उसके द्वारा व्यक्त रूप सौन्दर्य को ही नहीं लिया जा सकता । रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व उसके भाव, विचार, कर्म और अभिव्यक्ति-सौन्दर्य का है । सौन्दर्यानुभूति की दृष्टि से रूप की पूर्णता कला की विशिष्टता नहीं है । कला का लक्ष्य भावना और रूप की अभिन्नता या भावना की पूर्ण अभिव्यंजना के रूप में सुन्दर के लिए प्रयास या उसकी उपलब्धि है । निकोलाई ग्राविलोविच—चर्नोशिव्स्की के शब्दों में कलाकार के मस्तिष्क में एक मात्र रूप-सौन्दर्य की रचना करने की आकांक्षा से कलात्मक-सृष्टि के विचार का उदय नहीं होता । कलाकार यदि वह वास्तव में कलाकार है तो अपनी कृतियों के द्वारा मुख्य रूप से अपने विचारों. मतों और भावनाओं को हम तक पहुँचाना चाहता है । मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार सौन्दर्य की भावना मनुष्य के अन्दर ऐतिहासिक परिस्थितियों के प्रभाव से उसकी उत्पादन-क्रिया के विकास के दौरान और उसमें से उत्पन्न कला और संस्कृति के बीच पैदा होती है । विषयी-गत के विपरीत मार्क्सवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रकृति-सौन्दर्य की भावना शुद्ध रूप में चेतना की विषयी-गत अवस्था ही नहीं है बल्कि प्रकृति की वस्तुओं में और मनुष्य के सामाजिक जीवन में प्राप्त निश्चित विषय-गत वस्तुओं के कारण होती है । भारतीय सौन्दर्य-भावना को धर्म और दर्शन से अलग, करके नहीं देखा जा सकता । हमारे यहाँ सौन्दर्य में आदर्श की प्रधानता रही है । सौन्दर्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिव्यंजन में व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक पक्ष के महत्व को स्वीकारा गया है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पवित्र, धार्मिक कार्य माना गया है। उसमें उचित अनुचित, अच्छे बुरे, हितकर अहितकर की तीव्र चेतना अवश्य विद्यमान रही है। कलाकार रचना करते समय आत्माभिव्यक्ति नहीं करता, वरन् अपने अनुभव को समाज के अनुभव में लीन कर देने का एक उपक्रम मात्र करता है अतः उसके द्वारा व्यंजित भाव सामान्य भूमि के होते हैं। काडवेल के शब्दों में कलाकार अपनी रचना में सौन्दर्य और सत्य की अभिव्यक्ति करता है। उस सौन्दर्य और सत्य के सच्चे स्वरूप का निर्णय सामाजिक चेतना से सम्पन्न मनुष्य ही करता है। कर्मशील मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में निहित रागात्मक सत्ता ही सौन्दर्य-भावना का उद्रेक करती है। अतएव सौंदर्य का स्वरूप लोक-स्वीकृत होना चाहिए। सौन्दर्य इन्द्रिय-बोध तक ही सीमित नहीं है। उसकी सत्ता मनुष्य के भाव-जगत और उसके विचारों में है। व्यक्ति के भाव-जगत का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। दोनों कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। अतएव सौन्दर्य की चेतना सामाजिक चेतना से भिन्न नहीं हो सकती।

तुलसीदास के सौन्दर्य-बोध में प्रगतिवादी तत्वों का विश्लेषण करते हुए, हमें तुलसी के काव्य में व्यक्त भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य के उन सभी पक्षों की ओर संकेत करना होगा जिनकी अभिव्यक्ति लोक-मंगल की कामना और समाज के भीतर न्याय-वृत्ति जाग्रत कर व्यक्ति के सांस्कृतिक और धार्मिक अभ्युत्थान के लक्ष्य को सामने रखकर की गई है। जिनके द्वारा व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध तेज और पैना होता है, जिससे जो असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए असह्य हो जाता है। तुलसी के काव्य में व्यक्त रूप, भाव विचार, कर्म तथा अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सर्वत्र प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। उनकी दृष्टि आराध्य-देव के रूप, नाम, लीला और धाम के दिव्य सौन्दर्य के चित्रण में निरन्तर लोक-मंगल की ओर रही है। वे जैसे कर्म से हीन ज्ञान के समर्थक नहीं हैं वैसे ही शिव या लोक-मंगल की भावना से रहित सौन्दर्य, जो निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु है, को भी नहीं स्वीकारते।

सौन्दर्य-विधान की प्रक्रिया के चार स्तर होते हैं। सर्व प्रथम रचनाकार के मन में सुन्दर वस्तु के माध्यम से सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति (एस्थटिक इन्टूइशन) के होने या सौन्दर्य के संस्कारों के जाग्रत होने की प्रक्रिया है। द्वितीय स्तर में सौन्दर्यात्मक ईक्षावृत्ति की भीतरी व्याख्या या सौन्दर्य के प्रति रचनाकार का दृष्टिकोण बनना आता है। इसी को सौन्दर्य की सच्ची सर्जना कह सकते हैं। तृतीय स्तर में भाषा, रंग, रेखा आदि वाह्य चिह्नों के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जाता है। चतुर्थ स्तर का सम्बन्ध रचनाकार से न होकर पाठक, दर्शक, श्रोता या अभिभावक से होता है जिसके भीतर पुनः उसी सौन्दर्य की रचना होती है। रचना में व्यक्त सौन्दर्य का महत्व रचना-प्रक्रिया के इसी चतुर्थ स्तर से आँका जा सकता है। जिस कवि के काव्य में व्यक्त सौन्दर्य पाठक, श्रोता या अभिभावक के भीतर निष्क्रिय-सौन्दर्य की रचना न कर शिवत्व से युक्त सौन्दर्य की रचना करता है, उसी का सौन्दर्य-बोध प्रगतिशील माना जाएगा। तुलसीदास के काव्य में वर्णित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम का दिव्य रूप-सौन्दर्य दर्शक को आनन्दित करने के साथ ही उसे लोक के अमंगल कार्य से विरत होने की प्रेरणा देता है। मिल्टन ने 'ईव' की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उसे देखकर स्तब्ध-सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरे का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उमा के सौन्दर्य के वर्णन के प्रसंग में पाप-वृत्ति न जाग्रत होने की बात कही है। 'रामचरित मानस, में भी खर-दूषन और अन्य राक्षस राम के दिव्य सौन्दर्य को देख कुछ देर के लिए अधार्मिक युद्ध में प्रवृत्त होना भूल जाते हैं।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी ।।
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृप बालक नर-भूषन ।।
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम तेते ।।
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुन्दरताई ।।
जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।।

तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के सौन्दर्य में गत्यात्मक और परिवर्तनशील तत्वों की योजना की है। उनका काव्य आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्य का नायक लोक-धर्म का संस्थापक होता है। ऐसे काव्य में सौन्दर्य का उद्घाटन असौन्दर्य का आवरण हटाकर किया जाता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामंजस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है। लोकनायक होने के कारण ही राम के सौन्दर्य में दीप्ति, माधुर्य और कोमलता के साथ ही दृढ़ता से पराक्रम, साहस और सहिष्णुता जैसे गुणों की योजना भी की गई है। बिना इन तत्वों के राम के सौन्दर्य की कल्पना ही संभव नहीं है।

राम काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन ।।
मरुत कोटि सत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सो सीतल, समन सकल भव त्रास ।।

× × ×

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहु चाहि।

× × ×

विष्णु कोटि सम पालन करता। रुद्र कोटि सत सम संहरता ।।

हमारे यहाँ धीरोदात्त नायक के सौन्दर्य वर्णन में ऐसे ही विरोधी गुणों की चर्चा की गई है। क्योंकि धीरोदात्त नायक लोक-व्यवस्था का संस्थापक होता है। तुलसी ने राम के रूप-वर्णन में निष्क्रिय स्थिर सौन्दर्य की योजना नहीं की है जैसा कि सूरदास या रसिक सम्प्रदायों के भक्त कवियों के द्वारा वर्णित आराध्य के सौन्दर्य में किया गया है, जहाँ दीप्ति, कान्ति, माधुर्य और कोमलता की ही प्रधानता है।

सुन्दर चित्र या सुन्दर विचार का एक लक्ष्य होता है, लोक-मंगल की ओर सब का ध्यान दिलाना। परात्पर ब्रह्म राम का दिव्य मानवीय रूप अद्वितीय आनन्द प्रदान करते हुए, व्यक्ति को लोक-मंगल की ओर तो प्रेरित करती ही है, उनका नाम भी अमं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गल से पृथक कर आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देता है। अतएव रूप-सौन्दर्य से अधिक महत्व राम के सौन्दर्य का है।

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।।
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू।।

तुलसी के सौन्दर्य-बोध का मूल आधार उनकी लोक-जीवन के प्रति निष्ठा और जीवन के प्रति प्रेम है। उन्होंने जिस सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह जीवन का है, जीवन से कटा हुआ या कल्पित नहीं है। तुलसी ने अपने इष्टदेव राम की लीला के सौन्दर्य के माध्यम से जिस जीवन-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है, वह समाज को आगे बढ़ाता है। व्यक्ति की सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना को विकसित करता है। उनके इष्टदेव की लीला का सौन्दर्य प्रगतिशील है। क्योंकि उसमें गति है। उसका लक्ष्य असत् का विनाश कर सत् की प्रतिष्ठा करना है। उनकी लीला का सौन्दर्य हमारे भीतर सत्य और शिव के प्रति श्रद्धा और आस्था जाग्रत करता है जो वैयक्तिक और सामाजिक चेतना को समृद्ध करते हैं। तुलसीदास ने राम की लीला के साथ जिस कर्म-सौन्दर्य का चित्रण किया है वह भोग पक्ष का न होकर प्रयत्न पक्ष का है। उसका विकास विषमता और अव्यवस्था के बीच होता है जो अधर्म और अमंगल विनाश कर धर्म और लोक-व्यवस्था की स्थापना करता है।

तुलसीदास के काव्य में व्यक्त मनोभावों का सौन्दर्य हमारे भाव जगत का विकास करता है। हमारे भीतर जीवन के उन रूपों के प्रति निष्ठा जाग्रत करता है जो हमारे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की प्रगति में सहायक हैं। राम का शील, भरत का अनन्य त्याग और प्रेम, लक्ष्मण की सेवापरायणता हमारे भीतरी भाव-जगत को विकसित करती है। राम हनुमान के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहते हैं, मैं आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकता, आप महाजन हैं ऋण-पत्र लिखवा लीजिए। स्वामी का सेवक के प्रति यह कथन कृतज्ञता की उदात्त मनोवृत्ति का प्रतीक है और भारतीय संस्कृति की महान परम्पराओं के अनुकूल है।

देबो को न कछू रिनियाँ त। धनिक तु पत्र लिखाऊ।

राम को लौटाने भरत राम से मिलने गए। राम ने भरत पर ही सब कुछ छोड़ दिया। भरत का निर्णय ही अन्तिम होगा। पर, जो स्वामी को संकोच में डाल अपने हित का सम्पादन करता है वह बुद्धिहीन है, इस नैतिक आदर्श ने भरत को राम की इच्छा के विरुद्ध जाने ही नहीं दिया।

जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहै तासु मति पोची।

संकीर्ण राजनैतिक मत में आबद्ध व्यक्तियों को तुलसी की रचना के ऐसे प्रसंग सामन्ती-प्रथा के पोषक प्रतीत होंगे। परन्तु सच्चे अर्थों में ऐसा उदात्त नैतिक सौन्दर्य और भव्य-मनोवृत्तियाँ शाश्वत रूप से मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था की पोषक रही हैं और रहेंगी। वह व्यवस्था चाहे पूँजीवाद पर आधारित हो या साम्यवाद पर अथवा प्रजातांत्रिक समाज-वाद पर। तुलसी की कृतियों में कर्म, मनोवृत्ति और विचार-सौन्दर्य के ऐसे अनेक स्थल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढूंढे जा सकते हैं जो सामाजिक चेतना को सांस्कृतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा देने वाले हैं।

तुलसी का सौन्दर्य-बोध लोक-मंगल विधायिनी जाग्रत मनःस्थिति का व्यापार है। वे निरन्तर औचित्य में सौन्दर्य को देखते हैं। कर्म, भाव, व्यवहार, विचार, वाणी और अभिव्यक्ति में जहाँ कहीं भी औचित्य है, मर्यादा है, वहीं उन्हें सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। औचित्य का सौन्दर्य लोक-स्वीकृत होता है। सामाजिक चेतना-सम्पन्न मनुष्य ही औचित्य के सौन्दर्य के स्वरूप का निर्णायक होता है। औचित्य-सम्पन्न सौन्दर्य-भावना हमारे भीतर विवेकवादी सामाजिक नैतिकता जगाती है। वाणी का औचित्य मृदुता और सार्थकता में है। वाणी की मृदुता का सौन्दर्य और भी द्विगुणित होता है यदि विरोधी के समक्ष भी उसमें अन्तर न आए। राम विरोधी परशुराम के समक्ष भी विनीत मधुर वचन ही बोलते हैं।

अति बिनीत मृदु सीतल बानी, बोले रामु जोरि जुग पानी।
सुनहु नाथ तुम सहज सुजाना, बालक बचन करिअ नहिं काना।

तुलसी के काव्य में, संवाद योजना में सर्वत्र मर्यादा, नैतिकता और औचित्य विद्यमान है। उन्होंने सम्वाद का सौन्दर्य वाक्-पटुता में नहीं देखा है जैसा कि केशव के काव्य में मिलता है। उनकी सम्वाद-योजना में मानव-हृदय की सम्पूर्ण उदात्त वृत्तियों का प्रतिबिम्ब अथवा भारतीय शिष्टता और सभ्यता के अमूल्य रत्नों को एक साथ देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए चित्रकूट में भरत, राम, जनक और वशिष्ट के बीच के सम्वाद को लीजिए। राम अपने निवेदन को लेकर वशिष्ट के पास जाते हैं। वशिष्ट राम का निवेदन जनक के समक्ष रखते हैं। जनक के मन में विचार आता है—

आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं।

जनक भरत के पास गए। भरत ने सब भार जनक के कन्धे पर छोड़ दिया। अन्त में पुनः राम से निवेदन किया गया। राम ने प्रत्युत्तर दिया—

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥

पुनः सभी भरत की ओर देखने लगते हैं। भरत शिष्टाचार के अनुकूल सभा को सम्बोधित करते हैं—

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहहुँ बदनु मृदु बचन कठोरा॥

यह समस्त सम्वाद भारतीय-मर्यादा के अनुकूल है।

तुलसी ने कथा-योजना या प्रबन्ध-विधान में उन्हीं प्रसंगों का विस्तार किया है जहाँ विषम संघर्षों के मध्य से मंगल की किरण फूटती है अथवा जिनके द्वारा मनुष्य का भाव-जगत व्यापक एवं उदात्त बनता है। सूरदास और केशव के प्रबन्ध-काव्यों में कथानक के प्रसंग विस्तार का जो लक्ष्य रहा है। उसके साथ तुलसी के प्रबन्ध-काव्य के प्रसंग-विस्तार के लक्ष्य को रखकर तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ सूरदास का लक्ष्य दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, प्रफुल्लता और केशव का चमत्कार की अभिव्यक्ति देना रहा है वहाँ तुलसी का लक्ष्य निरन्तर व्यक्ति के भाव-जगत को समृद्ध कर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सौन्दर्य-बोध को तेज और पैना बनाना रहा है। जिससे उसमें सुन्दर, असुन्दर, भद्र, अभद्र के विश्लेषण का सच्चा विवेक जाग्रत होता है। तुलसी ने निरन्तर समग्रता में सौन्दर्य को देखा है और अपनी रचनाओं में मनुष्य की इसी समग्रता को अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही तुलसी की इसी सौन्दर्य-दृष्टि ने अपने युग की जनता को, जो अन्याय, शोषण, अव्यवस्था, अमानवीयता से त्रस्त थी, अभूतपूर्व शक्ति दी जिससे वह अपनी सांस्कृतिक चेतना की रक्षा कर सकी।

तुलसी के इष्टदेव के धाम के सौन्दर्य-वर्णन में भी प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। कृष्ण-भक्त या रसिक सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने आराध्य के धाम का जैसा वर्णन किया है तुलसी का उससे भिन्न है। कृष्ण-भक्तों ने आराध्य-धाम के वर्णन में दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, वर्ण-वैचित्र्य, शीतल छाया, कलकंठ स्वर, सुगन्धित पवन, चपल भ्रू विलास, हास-परिहास, संगीत-सज्जा के साथ निरन्तर आनन्द की वर्षा होने का चित्रण किया है। तुलसी के इष्टदेव का धाम अयोध्या है। जहाँ राम-राज्य है। राम-राज्य का सौन्दर्य उनके इष्टदेव के धाम का सौन्दर्य है, जहाँ आनन्द की प्रतिष्ठा बाह्य-उपादानों से नहीं, समाज की आन्तरिक व्यवस्था और लोक-मंगल के माध्यम से कराई गई है। धाम का सौन्दर्य कल्पना से नहीं, जीवन के बीच से लिया गया है जिसमें मनुष्यता के समस्त श्रेष्ठ आदर्श एक साथ संयुक्त दिखाए गए हैं।

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई ।।

× × ×

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहि स्व धर्म निरत श्रुति नीती ।।

× × ×

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुधन लच्छन हीना ।।

× × ×

सब गुनाय पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी ।।

इष्टदेव के धाम का प्राकृतिक-सौन्दर्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही निरन्तर लोक-हित में लगा दिखाई देता है—

फूलहि फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन ।।
लता विटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं ।।

× × ×

सरिता सकल बहहि बर वारी। सीतल अमल स्वाद सुख कारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटहिं नर लहहीं ।।

× × ×

विधु महि पूर मयूरवह्नि, रवि तप जेतनेहि काज।
मागे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज ।।

तुलसी की रचना में अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में भी प्रगतिशीलता है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में प्रगतिशीलता का समर्थन उनके ही द्वारा व्यक्त लोक मंगल में भनिति के सौन्दर्य को देखने का आदर्श प्रस्तुत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुर सरि सम सब कहँ हित होई ।।

उन्होंने रचना की सरलता में सौन्दर्य देखा है, काठिन्य में नहीं । क्योंकि सरलता के अभि-भावक सम्पूर्ण जन होते हैं विशेष वर्ग नहीं ।

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान ।।

तुलसी की भाषा का सौन्दर्य उसकी सरलता और सीधेपन (डाइरेक्टनेस) में है, दुरूहता या आलंकारिकता में नहीं । उन्होंने अपनी भाषा में जिन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है वे निम्नवर्गीय ग्रामीण जनता के बीच से ली गई हैं—

आजु कि कालि परों कि नरों,
जड़ जाहिंगे चाटि दिवारि को दीयो ।

× × ×

फल फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल पल,
खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है ।

× × ×

तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तो
धोबी कैसो कूकरु न घर को न घाट को ।

तुलसीदास ने सौन्दर्य-विधान के लिए जिन उपमानों और बिम्बों का प्रयोग किया है वे नागरिक या ग्रामीण जीवन के परिवेश से लिए गए हैं, शुद्ध काल्पनिक नहीं हैं । उनको छन्द, लय और संगीत में भी वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा है जहाँ वह सामान्य जन के अनुकूल पड़ा है । उन्होंने विशिष्टता में नहीं, सामान्यता में सौन्दर्य देखा है । उनके काव्य में प्रयुक्त विविध छन्द और संगीत की राग-रागिनी इसका प्रतीक है ।

तुलसी की भक्ति-भावना मानव मात्र की साम्य-भावना की प्रतिपादक है । उन्होंने भक्ति-भावना को उस उच्च भूमि पर ले जाकर प्रतिष्ठित किया है जहाँ उसने अक्षय सौन्दर्य और मंगल की मूर्ति ग्रहण कर ली है । वस्तुतः तुलसी सच्चे अर्थों में जन-वादी कवि हैं । उनका सौन्दर्य-बोध एकान्तिक मनःस्थिति का व्यापार न होकर, सत्, असत्, मंगल, अमंगल का सच्चा ज्ञान रखने वाली, उदात्त सामाजिक न्याय-वृत्ति से युक्त, विवेकवादी सामाजिक नैतिकता से परिपूर्ण जागरूक चेतना का व्यापार है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके सौन्दर्य-बोध को तेज और पैना बनाना रहा है। जिससे उसमें सुन्दर, असुन्दर, भद्र, अभद्र के विश्लेषण का सच्चा विवेक जाग्रत होता है। तुलसी ने निरन्तर समग्रता में सौन्दर्य को देखा है और अपनी रचनाओं में मनुष्य की इसी समग्रता को अभिव्यक्ति दी है। निश्चय ही तुलसी की इसी सौन्दर्य-दृष्टि ने अपने युग की जनता को, जो अन्याय, शोषण, अव्यवस्था, अमानवीयता से त्रस्त थी, अभूतपूर्व शक्ति दी जिससे वह अपनी सांस्कृतिक चेतना की रक्षा कर सकी।

तुलसी के इष्टदेव के धाम के सौन्दर्य-वर्णन में भी प्रगतिशील तत्व विद्यमान है। कृष्ण-भक्त या रसिक सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने आराध्य के धाम का जैसा वर्णन किया है तुलसी का उससे भिन्न है। कृष्ण-भक्तों ने आराध्य-धाम के वर्णन में दीप्ति, माधुर्य, कोमलता, वर्ण-वैचित्र्य, शीतल छाया, कलकंठ स्वर, सुगन्धित पवन, चपल भ्रू विलास, हास-परिहास, संगीत-सज्जा के साथ निरन्तर आनन्द की वर्षा होने का चित्रण किया है। तुलसी के इष्टदेव का धाम अयोध्या है। जहाँ राम-राज्य है। राम-राज्य का सौन्दर्य उनके इष्टदेव के धाम का सौन्दर्य है, जहाँ आनन्द की प्रतिष्ठा बाह्य-उपादानों से नहीं, समाज की आन्तरिक व्यवस्था और लोक-मंगल के माध्यम से कराई गई है। धाम का सौन्दर्य कल्पना से नहीं, जीवन के बीच से लिया गया है जिसमें मनुष्यता के समस्त श्रेष्ठ आदर्श एक साथ संयुक्त दिखाए गए हैं।

बयरु न करु काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।।

× × ×

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहि स्व धर्म निरत श्रुति नीती।।

× × ×

नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुधन लच्छन हीना।।

× × ×

सब गुनाय पण्डित सब ज्ञानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी।।

इष्टदेव के धाम का प्राकृतिक-सौन्दर्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही निरन्तर लोक-हित में लगा दिखाई देता है—

फूलहि फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक संग गज पंचानन।।
लता विटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं।।

× × ×

सरिता सकल बहहि बर वारी। सीतल अमल स्वाद सुख कारी।
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटहिं नर लहहीं।।

× × ×

विधु महि पूर मयूरवह्नि, रवि तप जेतनेहि काज।
मागे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज।।

तुलसी की रचना में अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में भी प्रगतिशीलता है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य में प्रगतिशीलता का समर्थन उनके ही द्वारा व्यक्त लोक मंगल में भनिति के सौन्दर्य को देखने का आदर्श प्रस्तुत करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुर सरि सम सब कहँ हित होई ।।

उन्होंने रचना की सरलता में सौन्दर्य देखा है, काठिन्य में नहीं। क्योंकि सरलता के अभिभावक सम्पूर्ण जन होते हैं विशेष वर्ग नहीं।

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान ।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान ।।

तुलसी की भाषा का सौन्दर्य उसकी सरलता और सीधेपन (डाइरेक्टनेस) में है, दुरूहता या आलंकारिकता में नहीं। उन्होंने अपनी भाषा में जिन मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग किया है वे निम्नवर्गीय ग्रामीण जनता के बीच से ली गई हैं—

आजु कि कालि परों कि नरों,
जड़ जाहिंगे चाटि दिवारि को दीयो ।

× × ×

फल फूलैं फैलैं खल, सीदैं साधु पल पल,
खाती दीपमालिका ठठाइयत सूप है ।

× × ×

तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तो
धोबी कैसो कूकरु न घर को न घाट को ।

तुलसीदास ने सौन्दर्य-विधान के लिए जिन उपमानों और बिम्बों का प्रयोग किया है वे नागरिक या ग्रामीण जीवन के परिवेश से लिए गए हैं, शुद्ध काल्पनिक नहीं हैं। उनको छन्द, लय और संगीत में भी वही सौन्दर्य दिखाई पड़ा है जहाँ वह सामान्य जन के अनुकूल पड़ा है। उन्होंने विशिष्टता में नहीं, सामान्यता में सौन्दर्य देखा है। उनके काव्य में प्रयुक्त विविध छन्द और संगीत की राग-रागिनी इसका प्रतीक है।

तुलसी की भक्ति-भावना मानव मात्र की साम्य-भावना की प्रतिपादक है। उन्होंने भक्ति-भावना को उस उच्च भूमि पर ले जाकर प्रतिष्ठित किया है जहाँ उसने अक्षय सौन्दर्य और मंगल की मूर्ति ग्रहण कर ली है। वस्तुतः तुलसी सच्चे अर्थों में जनवादी कवि हैं। उनका सौन्दर्य-बोध एकान्तिक मनःस्थिति का व्यापार न होकर, सत्, असत्, मंगल, अमंगल का सच्चा ज्ञान रखने वाली, उदात्त सामाजिक न्याय-वृत्ति से युक्त, विवेकवादी सामाजिक नैतिकता से परिपूर्ण जागरूक चेतना का व्यापार है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
डॉ० सुबोध चन्द्र

राहुल की उपन्यास कला—एक मूल्यांकन

राहुल जी के उपन्यास उनके युग की देन हैं; उस युग की, जो मार्क्स के दर्शन से प्रेरित, अनुप्राणित एवं प्रभावित रहा है। राहुल जी की प्रतिभा भी उनके युग की ही उपज थी; वह प्रतिभा, जो अपने युग के आर्थिक-सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन से सम्बद्ध रही थी और जो अपने युग की महान क्रान्तियों—सत्याग्रह-आन्दोलन, किसान-आन्दोलन, स्वतन्त्रता-संग्राम, वर्ग-संघर्ष और भौतिक एवं सांस्कृतिक उत्तराधिकार के उन्नयन आदि से परिचालित थी। अपनी प्रतिभा के संस्पर्श से उन्होंने युगीन मनोधाराओं को आत्मसात् कर उन्हें एक साधारणीकृत अभिव्यक्ति दी। यह अभिव्यक्ति साहित्य के विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना, नाटक इत्यादि के माध्यम से हुई है। राहुल जी की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को इतिहास की सुदृढ़ भित्ति प्रदान की। उनके प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास ('सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न'), प्रमुख ऐतिहाषिक कहानियाँ ('वोलगा से गंगा') और दोनों सामाजिक उपन्यास ('बाईसवीं सदी' और 'जीने के लिए') इस तथ्य के परिचायक हैं। इतिहास के कालखण्डों से अपनी मनोधारा की अभिव्यक्ति के अनुरूप ऐतिहासिक प्रसंग खोज कर उनका समुचित कलातमक अथवा रचनात्मक उपयोग कर पाना भी कोई साधारण बात नहीं, इसके लिए रचनात्मक प्रतिभा के अतिरिक्त काल-भेदिनी सुविस्तीर्ण ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता है; राहुल जी के पास वही पारदर्शिनी दृष्टि थी, जिसके सामने अतीत के ऐतिहासिक काल-खण्ड अपने समस्त गुण-दोषों सहित भली-भाँति प्रत्यक्ष हो गए थे। और उन्होंने अपने प्रतिपाद्य की सामग्री लेकर अपनी विचारधारा को अभिव्यक्ति दी।

राहुल जी की कला सोद्देश्य कला है। वे 'कला के लिए कला' (आर्ट फार आर्ट्स सेक) वाले शुद्ध कलावादी सिद्धात के समर्थक नहीं हैं, वरन् कला के उपयोगितावादी सिद्धान्त को ही वे महत्व देते हैं। उनकी कला, इसीलिए, अपनी विशिष्ट सीमाओं में 'शिवं' तत्व पर अधिक बल देती है, 'सत्यं' और 'सुन्दरम्' उसके बाद की वस्तुएँ हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राहुलजी 'सत्यं' और सुन्दरम्' के साथ 'शिवं' का सम्यक् समन्वय नहीं कर सके हैं, और उनकी कृतियों में कलात्मकता को क्षति पहुँची है; फिर भी रचनाकाल की दृष्टि से उनके ऐतिहासिक उपन्यास कई दृष्टियों से मौलिकता लेकर हिन्दी साहित्य-जगत के सामने आए थे। यह मौलिकता प्रतिपाद्य एव प्रतिपादन शैली दोनों में ही निहित थी। राहुल जी के लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि उपन्यास-क्षेत्र के न होते हुए भी उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में नए क्षितिजों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिनसे प्रेरित हो रांगेय राघव जैसे उपन्यासकार आगे आए और आचार्य चतुरसेन शास्त्री तक जिनसे प्रभावित हुए। शैली में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने राहुल जी का रास्ता अपनाया। ऐसी स्थिति तब है, जब कि राहुल जी अपने उपन्यासों को ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास न कहकर 'औपन्यासिक इतिहास' कहा करते थे।[1]

राहुल का यह कथन है कि उनके उपन्यास 'औपन्यासिक इतिहास' थे, उनकी उपन्यास कला के वैशिष्ट्य की ओर सम्यक् संकेत करता है। वास्तव में उनके उपन्यासों में इतिहास अधिक है (राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक) और कला कम। इसीलिए यदि राहुल जी के उपन्यासों में कला की न्यूनता हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

राहुल जी का कथा-शिल्प अविकसित एवं अप्रौढ़ है; इनमें कथा कहने का वह अन्दाज नहीं है, जो पाठक को अभिभूत कर, उसे चमत्कृत कर अपने साथ बहाए लिए चलता है, वह उपन्यास को अधूरा छोड़ना चाहे, तो नहीं छूटता, उत्सुकता और कौतूहल उसे बाध्य करते हैं, कि वह आगे बढ़े, आगे पढ़े, सम्भवतः अब रहस्योद्घाटन हो, शायद अब सच्चाई सामने आए, और इस तरह वह भ्रमित-सा कथा-प्रवाह के साथ अन्त तक बहा चला जाता है, खाना-पानी-नींद सब कुछ हराम हो जाता है। राहुल जी के कथा-शिल्प पर उनकी सोद्देश्यता बहुधा हावी हो जाती है; वे कथा कहना छोड़कर बीच-बीच में स्वयं या पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से अपनी विचारधारा एवं दृष्टिकोण को पाठकों के ऊपर बरबस आरोपित करने लगते है, जिससे कथा की गति अल्पकाल के लिए रुद्ध हो जाती है और उसके साथ ही पाठक को भी कथा के साथ चलते हुए अपने मन को भी रोकना पड़ता है और अपनी प्रज्ञा को सचेष्ट कर उस विचार-सरणि को आत्मसात् करने का बलपूर्वक प्रयास करना पड़ता है। इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाओं में गति का अभाव है और रहस्य एवं कौतूहल की कमी। लेखक ने अपने सभी उपन्यासों में प्रत्येक परिच्छेद का शीर्षक विषयानुसार दे दिया है। इससे भी हानि पहुँची है, पाठक की उत्सुकता को वह पहले ही खत्म कर देता है।

अपने उपन्यासों में उसने संघर्ष के तत्व को अवश्य रक्खा है, पर उसमें भी सर्वत्र अपेक्षित क्रमबद्धता या एक क्रमिक विकास नहीं दृष्टिगोचर होता। कथाओं में कौतूहल की सृष्टि करने वाले मनोवैज्ञानिक क्षणों की न्यूनता है। जो कुछ उसे कहना है, वह अत्यन्त स्पष्ट ढँग से कह देता है, गोपनीय ढंग से धीरे-धीरे रहस्य का पर्दा नहीं हटाता है, दृश्य पर धीरे-धीरे प्रकाश नहीं डालता, बल्कि एकदम सर्च-लाइट के प्रकाश में सत्य को हमारे सामने उजागर कर देता है। लेखक के सुस्पष्ट-सीधे व्यक्तित्व की छाप है, उसके सीधे-सादे कथा-शिल्प पर।

इस प्रकार राहुल जी के उपन्यासों की कथाएँ सीधी-सादी हैं, उनमें कथात्मक मोड़ों, घटना-प्रवाहों, उतार-चढ़ावों का प्रायः अभाव है; मनोवैज्ञानिक क्षणों और भावपूर्ण या संवेदनात्मक प्रसंगों की भी कमी है; फिर भी उनमें एक सुस्पष्ट एवं सशक्त जीवन-दर्शन है और मानव जीवन का सजीव चित्रण भी। ये तत्व ऐसे हैं, जो हमें कुछ प्रेरणाएँ दे सकते हैं। एक स्थल पर भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने लिखा है—"राहुल जी के दिल में भारत की नंगी-भूखी जनता के लिए जो असीम वेदना है, उसी ने राहुल जी की लेखनी की नोंक को कुछ इतना तीखा बना दिया है कि वह कुछ लोगों को इस बुरी तरह चुभती

---

१. राहुल जी की पत्नी डा० श्रीमती कमला सांकृत्यायन के कथनानुसार।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि वह सोते रह ही नहीं सकते।"[1]

साहित्य की अन्य विधाओं के समान राहुल जी ने अपने उपन्यासों में भी उसी नंगी-भूखी मानवता को जीवन देने का प्रयास किया है। उसे अपने स्वार्थों की रक्षा करने की चुनौती दी है। 'जीने के लिए' में जनता ने उसकी वह चुनौती स्वीकार की है और 'बाईसवीं सदी' में उन्होंने इसके परिणाम के विस्तृत लाभ को चित्रित किया है। ऐतिहासिक उपन्यासों मूलतः 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' के माध्यम से भी उन्होंने 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है। ऐसी मानवता, जिसकी आवश्यकता प्रजातन्त्र को है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को विकास की पूरी संभावनाएं रहती हैं। प्राचीन भारतीय गणतन्त्रों को हमारे सामने प्रकाशित कर लेखक हमें दिशादृष्टि देता है कि रक्त-शुद्धता सम्बन्धी जिस अनुदारता के कारण वे कूपमंडूक होकर नष्ट हुए, हम अब उसी की पुनरावृत्ति न करें। हम संघबद्ध होकर कार्य करें अवश्य पर हमारा दृष्टिकोण उदार हो और हम किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, जाति को आत्मसात् कर सकें। 'विस्मृत यात्री' में उन्होंने भारतीय युवकों को कुशल पर्यटक बनने की प्रेरणा दी है, जिससे हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में विश्व की अन्य उन्नतिशील जातियों से पिछड़े न रहें।

अपनी कथाओं में मानवीय तत्व की प्रतिष्ठा के लिए प्रयुक्त अन्य साधनों में उन्होंने सम्भवतः फ्रायड के यौनवाद से प्रभावित हो 'सेक्स' का उपयोग एक सीमा तक आधिक्य से किया है। 'सिंह सेनापति' में यह अपने अतिरेक पर है, 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', 'विस्मृत यात्री' और 'जीने के लिए' में वह प्रायः संयमित रहा है और 'बाईसवीं सदी' तथा 'दिवोदास' में इसका प्रायः अभाव है। इस सम्बन्ध में डा० देवराज उपाध्याय का मत द्रष्टव्य है—"राहुल जी ने ऐतिहासिक उपन्यासों में 'जय यौधेय', 'सिंह सेनापति' तथा मधुर स्वप्न' में जिस मुक्त और स्वच्छन्द विलास का महोत्सव मनाया है, वह इतिहास की रक्षा मात्र ही नहीं है, उसमें इस युग का भी प्रभाव है। इसको द्विवेदी युग की उपदेशात्मक लज्जाशीलता के वाह्य और झूठे आडम्बर के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र कह कर ही संतोष नहीं किया जा सकता। यह निश्चित रूप से फ्रायड के लिबिडो वाले सिद्धांत का परिणाम है, जो यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य के अवचेतन की सारी प्रवृत्तियाँ काममूलक होती हैं, हमारे सारे आन्तरिक संघर्ष के मूल में काम भावना है।"[2]

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी ये उपन्यास बहुत सफल नहीं कहे जाएँगे, फिर भी उसने हमारे सामने कुछ सशक्त चरित्रों को उभारा है, जिनमें देवराज (जीने के लिए), जय (जय यौधेय), तथा मज्दक (मधुर स्वप्न) मुख्य हैं। हेनरी जेम्स ने लिखा है कि चरित्र-निर्माण का वृहद् स्रोत लेखक स्वयं है, किसी न किसी रूप में काल्पनिक चरित्र में उसके व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है।[3] राहुल जी के चरित्र-निर्माण का उद्गम भी

१. जो लिखना पड़ा; पृ० १०५।

२. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (१९५६), पृ० ३४५.

३. The great source of character creation is of course the novelist's own self. Some form of self-projection must always take place, of reincarnation, in the fictional character.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका निजी व्यक्तित्व है। देवराज के व्यक्तित्व में तो वे पूर्णतः उतरे हैं; जीवन-परिस्थितियों, विचारों एवं प्रकृति में ही नहीं, वरन् कार्यों में भी। क्योंकि देवराज भी बीसवीं सदी का है, उन्हीं भावों-विचारों से अनुप्राणित-परिचालित, जिनसे लेखक ने स्वयं जीवन-दिशा ग्रहण की। गेटे का एक उपन्यास है 'विल्हेम मीस्टर्स अप्रेन्टिसशिप' (जर्मन शीर्षक—Wilhelm Meisters Lehrjahre), जिसका नायक है विल्हेम मीस्टर। उसके सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है कि उसमें गेटे के अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, और उसके विकास में उसके स्रष्टा के जीवन के अनेक प्रसंग आए हैं।[1] यही बात देवराज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, बल्कि इससे आगे भी अनेक बातों में देवराज और राहुल के काल्पनिक एवं वास्तविक जीवन में सादृश्य है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में जय लेखक के विचारों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है, और 'विस्मृत यात्री' में बुद्धिल तथा 'सिंह सेनापति' में सिंह उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि लेखक सशक्त नारी पात्रों की सृष्टि नहीं कर सका है, क्योंकि उसके सामने उसकी इच्छा के अनुकूल कोई आदर्श नहीं था। केवल 'जीने के लिए' की जेनी में ही एक सशक्त चरित्र प्रस्तुत हुआ है। वह भी इसीलिए कि वह लेखक के विचारों एवं दृष्टिकोण का वहन करती है। बाकी सब नारी पात्र—रोहिणी, भामा, सुनन्दा, नन्दा, वसुनन्दा, वासन्ती, भद्रा, सम्बिक्, वर्दक आदि प्रायः एक से लगते हैं। वे केवल प्रेमिकाएँ, पत्नियाँ या भाभियाँ हैं; माएँ कोई नहीं। इस प्रकार नारीत्व का जो चित्रण राहुल जी ने किया है, उसमें केवल प्रेयसीत्व ही प्रमुख है, मातृत्व गौण। उनकी नायिकाएँ युद्ध का संचालन भले ही कर लें, माँ के कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्वाह करने में वे अक्षम हैं और इसलिए उनका चित्रण अधूरा है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र की उक्ति उल्लेख्य है—"नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा, 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही साँचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकन सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो आता है।"[2] नारी जीवन की गुत्थियों एवं पहेलियों का भी उनमें अभाव है। गृहस्थ-जीवन की समस्याओं का तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं उठता; उनके सामने मूल समस्या रहती है मनोरंजन की। नारियों के इस प्रकार चित्रण असंयत, अपूर्ण एवं अस्वाभाविक हैं। नारी पात्रों में केवल 'जेनी' और 'राधा' का ही चित्रण सफल है। ये दोनों ही 'जीने के लिए' की पात्रियाँ हैं। प्रश्न उठता है, 'जीने के लिए' के बाद के सभी उपन्यासों में लेखक का नारी-चित्रण के प्रति ऐसा एकांगी भाव क्यों है ? उनके सामने केवल वाह्य संसार ही क्यों है ? घर में उनका कोई महत्व नहीं रहता ? सम्भवतः राहुल जी उन्हें घर की लक्ष्मी न बनाकर रूस की स्वतन्त्र नारी के रूप में चित्रित करना चाहते हैं; पर स्वतन्त्र नारी के तो समाज के प्रति और भी

---

१. George Lukacs; "As such a figure Wilhelm Meister bears many personal traits of Goethe himself and his development contains innumerable episodes from the life of his creator." (The Historical Novel, 1962, P. 303

२. विचार और विवेचन, पृ० १२८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्त्तव्य बढ़ जाते हैं, अपने प्रति भी बढ़ जाते हैं, फिर ऐसी उच्छृंखलता किस प्रकार शोभनीय हो सकती है ?

पुरुष पात्रों के चरित्र-चित्रण में सबसे सफल चित्रण देवराज का हुआ है। उनके चित्रण में लेखक ने उनके नामों का भी उपयोग किया है, जैसे देवराज नाम से उसके सशक्त व्यक्तित्व का पता चलता है। सिंह और जय नामों से भी पात्रों की वीरता, साहस, निडरता आदि गुणों का प्रकाशन होता है, बुद्धिल से उसके बुद्धिवादी होने का पता चलता है, शान्तिल से शान्त प्रकृति का ज्ञान होता है। इस प्रकार अनेक पात्रों के नामकरण के द्वारा उनके चरित्र-चित्रण का प्रयास किया गया है। पर यह बात केवल कल्पित पात्रों के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है। स्त्री पात्रों का सामान्यतः स्वाभाविक नामकरण हुआ है, केवल एक-आध को छोड़कर, जैसे वर्दक (गुलाब) से उसकी सुन्दरता, कमनीयता आदि का बोध होता है। पर जहाँ नामकरण पात्र के स्थान, वर्ग, शिक्षा आदि के अनुसार हुआ है, वहाँ वह अधिक स्वाभाविक रहा है, जैसे लौटूसिंह, मंगरू, मैकूसिंह, लक्ष्मी, मुंगिया आदि निम्न अशिक्षित या अल्पशिक्षित वर्ग के बड़े सहज नाम हैं। इसी प्रकार बौद्ध भिक्षुओं के लिए बुद्धिल, संघिल आदि नाम अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

कहीं-कहीं अध्यायों के शीर्षकों द्वारा भी नायक के चरित्र पर प्रकाश पड़ा है, जैसे, शिकार और उपकार, प्रेम और आदर्श, स्वयंसेवक को सजा, सत्याग्रही (जीने के लिए), बुद्ध का अनुयायी (सिंह सेनापति), प्रेम या त्याग (जय यौधेय), संकल्प (मधुर स्वप्न), महाचीन की ओर, व्यस्त जीवन (विस्मृत यात्री), अतिथि ग्रह (दिवोदास) आदि।

पर चरित्र-चित्रण अधिकतर घटनाओं, पात्रों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं या उनके कथोपकथन के द्वारा किया गया है; विश्लेषणात्मक पद्धति का आत्मकथात्मक शैली वाले उपन्यासों में तो उपयोग भी नहीं हो सकता था, पर 'जीने के लिए', 'मधुर स्वप्न' और 'दिवोदास' में भी कहीं-कहीं ही चरित्रों पर लेखक को टीका-टिप्पणी मिलती है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र पात्रों के अनुभाव-चित्रण के द्वारा भी उनके चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है। एक-आध स्थल पर पत्रों के माध्यम से भी चरित्र-चित्रण किया गया है, जैसे 'जीने के लिए' में जेनी का अपूर्ण पत्र एनी ब्लंट पूरा करती है, और जेनी और एनी दोनों के अंशों से जेनी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। अज्ञेय के पात्रों की 'उद्धरण शैली'[1] का राहुलजी में अभाव है, पर 'दिवोदास' में पुरूरवा-उर्वशी के गीत की टीका-टिप्पणी से पौरवी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है।

जहाँ तक चरित्रों में अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न है, लेखक ने इसका उपयोग यदा-कदा ही किया है। अन्तर्द्वन्द्व की स्थितियों के अधिक समावेश न होने का कारण यह है कि राहुलजी के पात्र भी उन्हीं के अनुरूप सशक्त एवं सक्रिय चरित्र वाले तथा जीवन और जगत् के सम्बन्ध में सुस्पष्ट भाव या विचार रखने वाले हैं, इसलिए उनके मन में द्वन्द्व की स्थिति नहीं आती; जो कुछ वे करना चाहते हैं, वही वे करते हैं, और जो वे करते हैं, वही उन्हें

१. अज्ञेय के औपन्यासिक पात्र स्थान-स्थान पर विभिन्न कवियों-लेखकों के उद्धरण देते हैं, जिनसे उनके चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। चरित्र-चित्रण की इस शैली को डा० रणवीर रांग्रा ने 'उद्धरण शैली' नाम दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके जीवन-दर्शन के अनुसार करना भी चाहिए।" अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं पात्रों के भीतर छिड़ा करता है, जिनके निकट जीवन और जगत् के मूल्य सुस्पष्ट नहीं होते, जो यह निश्चय नहीं कर पाते कि किसको किस पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए।···जिन पात्रों की आत्मा में बल होता है और जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है तथा जिनके निकट सामाजिक मूल्य सुस्पष्ट होते हैं, उनमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं उठ पाता। वे भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते और धैर्य से अपने पथ पर बढ़ जाते हैं।"[१]

इस प्रकार चरित्र-चित्रण में राहुलजी का ध्यान अधिकतर चरित्र के वाह्य रूप पर ही केन्द्रित रहा है। यदि डा० रांग्रा की उपमा ग्रहण करें, तो हिमनग (आइसबर्ग) के जल के ऊपर के भाग के समान वे चरित्रों के वाह्य, दृष्ट रूप को पकड़ने तक ही सीमित रहे हैं, हिमनग के जल के नीचे छिपे अधिकांश अदृष्ट अंश के समान चरित्र के अदृश्य, अप्रकाशित अन्तर्मन के चेतन एवं अवचेतन पक्षों को पकड़ने की उन्होंने कोशिश नहीं की है। अन्तर्मन के चेतन भाग को कभी-कभी छूने की चेष्टा उन्होंने अवश्य की है, पर अत्यधिक कम। यों ऐतिहासिक चरित्रों का निर्माण करने में लेखक के सामने सबसे बड़ी कठिनाई यह रहती है, कि उसके सामने कोई आदर्श नहीं होता। सुदूर अतीत के ऐतिहासिक चरित्र कभी हमारी आँखों के सामने न तो आते ही हैं और न विकसित होते हैं जब भी वे जन-साधारण के बीच से (अथवा अभिजात्य से) समय की आवश्यकतानुसार इतिहास में भी प्रकट होते हैं, तो अपने विकसित रूप में। इसलिए उनके चरित्र का विकास किस प्रकार हुआ, यह जानना कठिन है।[२] लेखक उनके पूर्व जीवन या चरित्र विकास के सम्बन्ध में केवल अनुमान लगा सकता है। अतः सिंह सेनापति, जय यौधेय, चन्द्रगुप्त, मज्दक, कवात्, नरेन्द्रयश, दिवोदास, राम्बर आदि के चरित्र चित्रित करते समय भी लेखक के सामने इसी प्रकार की इतिहास सम्मतता सम्बन्धी कठिनाइयाँ रही होंगी। उनकी (पात्रों की) ऐतिहा-

१. रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, पृ० ७५।

२. George Luckacs—"With the classics and their conception the historical figures practically never develop before our eyes. The genesis and development of the 'world historical individual' take place among the people. The great figures appear, as Balzac showed in the case of Scott, only at such points where the objective necessity of the popular movements imperatively requires their appearance. And then they appear as complete characters, as concentrations, as supreme forms of expression of this development. They are great because they possess this concentrating power, because they are able to answer the problems most deeply affecting the life oft he people at this moment. Like the Homeric heroes physically, they are intellectually taller than the people by a head. But their historical greatness lies in the fact that they are taller only by a head and that they give the socially-historically possible and necessary concrete answer to the concrete questions of the people." (The Historical Novel, p. 312.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिक महत्ता तो इस बात से सिद्ध होती ही है, कि अपने समय की समस्याओं का उन्होंने अपने ढंग से हल करने का प्रयास किया। अस्तु, हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासों की अपेक्षा राहुलजी के सामाजिक उपन्यास 'जीने के लिए' में उनकी चरित्र-चित्रण की कला अधिक विकसित हुई, परिमाण एवं सूक्ष्मता दोनों ही दृष्टियों से। ऐतिहासिक उपन्यासों में सबसे सुन्दर चरित्र-चित्रण 'मधुर स्वप्न' में हुआ है और उसके बाद 'जय यौधेय' में।

जहाँ तक ऐतिहासिक उपन्यासों में वातावरण के सृजन का प्रश्न है, लेखक ने उसके लिए पर्याप्त उद्योग किया है और इसमें उसे सफलता भी मिली है। वातावरण-निर्माण के साधनों में उसने कल्पित कथा, ऐतिहासिक शब्दावली, ऐतिहासिक वस्तु-वर्णन आदि साधनों का साहाय्य लिया है।

जहाँ तक राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशील तत्वों का प्रश्न है, उनके उपन्यासों में प्रगतिशील एवं प्रगति विरोधी—दोनों कोटियों के तत्व विद्यमान हैं। प्रगतिशीलता एवं प्रगतिशील साहित्यकारों के सम्बन्ध में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—"प्रगतिशीलता जीवन के हर एक अंग—ज्ञान और कर्म दोनों—से सम्बन्ध रखती है और जरूरी है कि उनके प्रति प्रगतिशील साहित्यिक अपने दृष्टिकोण को साफ-साफ समझें।...प्रगतिशीलता कभी अपने को अपनी पूर्वगामी संस्कृति-धारा की विरासत से महरूम नहीं कर सकती...प्रगतिशील लेखकों के बारे में कभी-कभी आक्षेप सुना जाता है कि वह नग्नता, अश्लीलता और यौन दुराचार को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। दरअसल यदि कोई प्रगतिशील लेखक ऐसा करता है, तो वह भारी गैर-जिम्मेवारी दिखलाता है और प्रगतिशील कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं हो सकता।"[1] परन्तु, स्वयं राहुलजी अपने उपन्यासों में इन दोषों से बच नहीं सके हैं। उन्होंने अनेक स्थलों पर पूर्वगामी भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकार को झुठलाते हुए वाल्मीकि, वेदव्यास और कालिदास को चाटुकार घोषित कर (जय यौधेय) भारतीय जनता की श्रद्धा-भावना को ठेस पहुँचाई है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर उन्होंने नग्न, अश्लील एवं अशोभन चित्रण कर (सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न, जय यौधेय), पाठकों की वासना को उभाड़कर, उनकी वृत्तियों को अधोमुखी करने की चेष्टा कर एक बड़े अनुत्तरदायित्व का कार्य किया है। वे भूल जाते हैं कि प्रगतिशील साहित्य में नारी का चित्रण उसके सम्मान एवं उसकी स्वाधीनता का पक्षपाती है, न कि उसकी नग्नता का।

इन कमियों के बावजूद राहुलजी के उपन्यासों में प्रगतिशीलता के जिन तत्वों की संगति पाई जाती है, उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं :—

१. जन-शक्ति के स्रोत का आह्वान और उपयोग—'जीने के लिए', 'बाईसवीं सदी', 'सिंह सेनापति' 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

२. प्राचीन भारतीय परम्परा से दिशा-निर्देश—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' से गणतांत्रिक प्रणाली के गुण-दोषों का दिग्दर्शन।

३. प्राचीन भारत के पर्यटकों का दृष्टांत देकर हमें संसार देखने की प्रेरणा देना—'विस्मृत यात्री' से।

---

१. आज की समस्याएँ (लेख—प्रगतिशीलता का प्रश्न), पृ० ४४-४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. सामन्तवाद के दोष दिखाकर जनतन्त्रवाद में हमारी आस्था बढ़ाना—'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' और 'मधुर स्वप्न' में।

५. अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना—'जीने के लिए' और 'मधुर स्वप्न' में।

६. अपने आदर्शों के लिए बलिदान हो जाना—देवराज, जेनी, जय यौधेय और मज्दक।

७. नारी को दायित्वपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देना—जेनी और रोहिणी।

इस प्रकार इन उपन्यासों से हमें सामंती शोषण-चक्र हटाकर जन-जागरण, जन-स्वातंत्र्य, नारी स्वातंत्र्य एवं आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक रूढ़ियों से मुक्त होने और 'प्रजातांत्रिक मानवतावाद' की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा मिलती है और अतीत की सुन्दर-श्रेय परम्पराओं से सम्बन्ध स्थापन करने की भी।

अन्त में, यदि हम राहुलजी की उपन्यास-कला के विकासात्मक अध्ययन का प्रयास करें, तो हमें निराश होना पड़ता है, क्योंकि उनकी उपन्यास-कला का विकास वक्र-गति से हुआ है, अर्थात् उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'बाईसवीं सदी' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण—दोनों दृष्टियों से एक असफल रचना है, 'जीने के लिए' हर दृष्टि से एक सफल सामाजिक उपन्यास है, तीसरी कृति 'सिंह सेनापति' कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सामान्य है, उसके बाद 'जय यौधेय' में इन दोनों ही दृष्टियों से एवं कलात्मक नियंत्रण की दृष्टि से पर्याप्त विकास हुआ है, 'मधुर स्वप्न' में कथा-शिल्प और चरित्र-चित्रण की कला पुनः विकसित हुई है, पर भाषा सम्बन्धी कृत्रिमता आ गई है, 'विस्मृत यात्री' फिर उपन्यास के रूप में खपती नहीं, 'दिवोदास' पुनः सामान्यतः एक सफल लघु उपन्यास है। ऐतिहासिक वातावरण-चित्रण की दृष्टि से 'सिंह सेनापति' एवं 'मधुर स्वप्न' के प्रयास प्रशंसनीय हैं। ऐतिहासिक आधार की प्रामाणिकता की दृष्टि से 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सर्वाधिक प्रौढ़ कृतियाँ हैं। समष्टिगत रूप से 'जय यौधेय' राहुलजी का सर्व-श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है और 'सिंह सेनापति', 'दिवोदास' और 'मधुर स्वप्न' सामान्यतः सफल ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'सिंह सेनापति' के साथ ही हिन्दी के ऐति-हासिक उपन्यासों की एक नई परम्परा का और 'जीने के लिए' के साथ सामाजिक उपन्यासों की समाजवादी धारा का प्रवर्तन हुआ, यह कहने में तो कोई अत्युक्ति ही नहीं। निस्संदेह सभी उपन्यास सामाजिक सोद्देश्यता से अनुप्राणित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रकांत वांदिवडेकर

चित्रलेखा : एक पुनर्मूल्यांकन

चित्रलेखा एक बहुचर्चित उपन्यास है और हिन्दी उपन्यास की विकास रेखा में इस महत्वपूर्ण बिन्दु की उपेक्षा प्रायः नहीं की जा सकती। हिन्दी आलोचना की एक कमी यह है कि आलोचना जितनी कलाकृति की समस्या एवं सामाजिक, आर्थिक परिवेश को लेकर की जाती है, उतनी कलात्मक मूल्यों को लेकर नहीं की जाती। फलतः किसी उपन्यास को उसके कलाबाह्य मूल्यों के कारण अत्यधिक महत्व दिया जाता है अथवा किसी सुन्दर उपन्यास की उपेक्षा भी हो जाती है। प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही मन्तव्य है कि 'चित्रलेखा' का मूल्यांकन उसकी समस्यामूलकता को लेकर किया गया है, परिणामतः उसकी कलात्मकता की उपेक्षा भी हुई है। समस्या के विवेचन में भी अनेक मत प्रस्तुत किए गए हैं। किसी ने, पाप-पुण्य की समस्या वस्तु के अन्तरंग से प्राणवत् जुड़ गई है और आरोपित नहीं की गई है, इसलिए लेखक की सराहना की है।[1] तो किसी ने समस्या की एकांगिता के लिए लेखक को दोष भी दिया है।[2] कोई आलोचक प्रवर इसलिए भी खीझे हुए हैं कि वर्माजी ने भारतीय साधना एवं संस्कृति का मज़ाक उड़ाने का प्रयत्न किया है। इन सब चर्चाओं के बीच चित्रलेखा के कलात्मक मूल्यों की प्रायः उपेक्षा ही हुई है।

चित्रलेखा का आलोचक इस बात को स्वीकार करता है कि यह कुल मिलाकर एक सफल कलाकृति है परन्तु उसके विचारों से असहमति प्रकट करने को विवश-सा हो जाता है। वैसे श्रेष्ठ रचना की आवश्यक शर्त इसमें अवश्य पूर्ण होती है—शर्त यह है कि पाठक उसके विचारों से भले ही असहमत हो, उसके प्रभाव से अपने को अस्पृष्ट नहीं रख सकता। प्रश्न यह है कि क्या 'चित्रलेखा' में यह असंगति इतनी प्रकट है या इसका कोई दूसरा समाधान उपलब्ध हो सकता है? जहाँ तक 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' की बात है, चित्रलेखा पाप-पुण्य की समस्या से सम्बन्धित उपन्यास है, यह लेखक ने स्वयं ज़ोर देकर कहा है और बीच-बीच में उपन्यास के अन्तर्गत उसके लिए छुटपुट वाक्यों में प्रमाण भी मिलते हैं। परन्तु कभी यह भी होता है कि लेखक का अपना मन्तव्य कुछ और होता है और उपन्यास की वस्तु कुछ और बात का संकेत करती है। सम्भवतः ऐसे प्रसंग में यह किसी उपन्यासकार ने कहा है कि पात्र उपन्यासकार की उंगली पकड़कर उसको अपने साथ घसीट ले जाते हैं। 'चित्रलेखा' में कुछ ऐसा ही हुआ है। चित्रलेखा की 'उपक्रमणिका' और 'उपसंहार' को छोड़कर इस उपन्यास को पढ़ा जाय तो सम्भवतः पाठक पर पड़ने वाला प्रभाव और उसकी समस्या-विषयक धारणा के बीच की असंगति बहुत दूर हो सकती है।

पर्सी ल्यूबक का उपन्यास के रूप में संबंध में एक मन्तव्य बहुत रोचक है : "A subject, one and whole and irreducible—a novel cannot begin to take

---

१. देखिए : डा० सुरेश सिन्हा—'हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास' पृ० ३६८।
२. देखिए : शिवनारायण श्रीवास्तव—'हिन्दी उपन्यास', पृ० २२६—३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

shape till it has this for its support. It seems obvious; yet there is nothing more familiar to a novel-reader of to-day than the difficulty of discovering what the novel in his hand is about, what was novelist's intention, in a phrase. If it cannot be put into a phrase it is no subject for a novel; and the size or the complexity of a subject is in no way limited by the assertion. It may be the simplest anecdote or the most elaborate concatenation of events, it may be a solitary figure or the widest network of relationships; it is anyhow expressible in ten words that reveal its unity. The form of the book depends upon it, and until it is known there is nothing to be said of the form."

'चित्रलेखा' उपन्यास का रूप 'पाप और पुण्य की समस्या' को मूलाधार मानकर मूर्त किया जा सकता है ? सम्भवतः नहीं। तो फिर चित्रलेखा का सुन्दर रूप किस बिन्दु से व्याख्यायित किया जा सकता है ? 'चित्रलेखा' कुमारगिरि या बीजगुप्त की कथा नहीं है, वह मुख्यतः 'चित्रलेखा' की कथा है और जीवन के भौतिक धरातल पर वासना के माध्यम से प्रेम की उदात्त भावभूमि पर आरोहण करने का चित्रलेखा का प्रयत्न इस उपन्यास का मुख्य विषय है। इसी को पर्सी ल्यूबक के शब्दों में 'मास्टर मोटिव' कहा जा सकता है। चित्रलेखा की कथा, उसके चरित्र तथा रसात्मक प्रसंगों की पृथक विवेचना सुविधाजनक हो सकती है परन्तु उपन्यास के रूप की अथवा शिल्प की प्रतीति उससे नहीं आ सकती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उपन्यास के विविध अंगों की स्वतन्त्र चर्चा न करते हुए उपन्यास के मुख्य विषय को दृष्टिगत रखते हुए विश्लेषण किया जाय।

उपन्यास के पहले परिच्छेद में जीवन का सुख 'मस्ती' में और यौवन का सार 'उल्लास विलास' में देखने वाली चित्रलेखा को 'वर्तमान' में जीने का प्रयत्न करने वाली 'मादकता' के साकार प्रतिरूप में हम देखते हैं। उसका अतीत ही ऐसा है कि जिसको याद करते रहने से टीस और निराशा के सिवाय कुछ हाथ आने वाला नहीं था। विधवा का संयम उसने किया था, कृष्णादित्य के द्वारा उस तपस्या का भंग भी हुआ था और उसकी मृत्यु के बाद फिर उसने संयम का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न किया, परन्तु बीजगुप्त के रूप में नियति ने उसे यह करने नहीं दिया। जिस संयम के रास्ते में दो बार उसको डिग जाना पड़ा, उस पर फिर से चलने का प्रयास बुद्धिमती और स्वाभिमानी चित्रलेखा के लिए अपमानजनक और अतार्किक था। कोई आश्चर्य नहीं, अप्रतिरुद्ध जीवन शक्ति से भरी-पूरी चित्रलेखा भूत और भविष्य का विचार न करते हुए वासना-प्यास-तृप्ति के मार्ग पर बेतहाशा दौड़े और वर्तमान के क्षण में जितना सुख सिमटकर आ जाये. उतना कसकर पकड़ने का प्रयत्न करे। पाप का पता लगाने के लिए ऐसे स्थान पर कोई आ जाय तो वासना को पाप का पर्याय समझने वाले भारतीय मन को उसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

वासना और यौवन की मस्ती की इस पार्श्वभूमि पर दूसरे परिच्छेद में वासना को दमित ही नहीं, उसको उत्पन्न न होने देने का प्रयास करता हुआ, शान्ति और संयम की साधना करने वाला शून्यसाधक कुमारगिरि हमारे सामने उपस्थित होता है। लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी चतुराई से संकेत करता है कि संयम, दमन और समाधि के बावजूद इस व्यक्ति का 'अहम्' अभी जीवित ही नहीं, मजबूती से खड़ा है। इसीलिए उसके मत में निश्चितता भी है और असहिष्णुता भी। चित्रलेखा और बीजगुप्त के ठीक विपरीत वह अत्यन्त निस्सं-दिग्ध शब्दों में कहता है—"वासना पाप है, जीवन को कलुषित बनाने का एकमात्र साधन है।" इसीलिए विशालदेव का यहाँ सहज स्वागत नहीं है जो श्वेतांक को बीजगुप्त के यहाँ मिला।

ब्रह्मचारी, अनुभवहीन, तरुण श्वेतांक चित्रलेखा के मस्ती से भरे कथनों का शिकार हो जाता है। उसके द्वारा अपमानित किया जाता है और अनजान में एक अबोध बालक को चित्रलेखा अपने यौवन की मादकता का शिकार भी बनाती है। जीवन का सच्चा स्वरूप दिखाने के बहाने चित्रलेखा उसे अपने हाथों शराब भी पिलाती है जिसको इन्कार करना श्वेतांक के लिए असम्भव है, क्योंकि चित्रलेखा के मादक व्यक्तित्व का नशा उस पर पहले से ही चढ़ा हुआ है। यहीं पर बीजगुप्त के प्रति पाठक के मन में सहानु-भूति का भाव पैदा होता है। चित्रलेखा के प्रति अपने अनधिकार प्यार की स्वीकृति ही श्वेतांक नहीं देता, बल्कि यह भी बता देता है कि अगर चित्रलेखा समर्पण करती तो सम्भवतः वह अपने विश्वासघात की सूचना भी बीजगुप्त को न देता। बीजगुप्त अपने सहज औदार्य के कारण श्वेतांक को क्षमा ही नहीं करता, बल्कि जीवन की जटिलता और उनका जानकार बीजगुप्त उसको आत्म-परीक्षा के लिए सदैव उद्यत रहने का उप-देश भी देता है।

कुमारगिरि और बीजगुप्त—जीवन के प्रति परस्पर विभिन्न दृष्टिकोण रखने वाली इन दो समानान्तर रेखाओं का अकस्मात् मिलन भी संयोगवशात् हो जाता है जो चौथे परिच्छेद का प्रारम्भ है। नर्तकी चित्रलेखा का मोहक स्वर-संगीत और सौन्दर्य, कवित्व और वासना की मस्ती के अहंकार से परिपूर्ण व्यक्तित्व में अद्भुत विचार-शक्ति और प्रतिभा भी थी। वासना और विरक्ति का यह सामना न केवल तर्क या विचार-विमर्श की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि मनोविज्ञान का भी एक अध्याय है। प्रायः विचार या दर्शन-चर्चा से परिपूर्ण वार्तालाप कथा की कला को नुकसान पहुँचाते हैं परन्तु यहाँ ये तर्क-प्रतितर्क कुमारगिरि और चित्रलेखा के व्यक्तित्वों को उभार देने और विशिष्टता देने में सहायक हो जाते हैं, फिर लेखक की चिन्तनशील मुद्रा के अनुसार इन चिन्तनशील पात्रों का संयोजन कथा की अनिवार्यता भी है। बौद्धिक घात-प्रतिघात, व्यंग्य, वाग्बाण एवं उपहास से जीवन्त इन सम्वादों द्वारा दोनों के दृष्टिकोण ही नहीं प्रकट होते, बल्कि दोनों के विरोध की तीव्रता के नीचे आकर्षण का अजस्र प्रवाह भी बहने लगता है। "योगी ने नर्तकी में ज्ञान देखा और नर्तकी ने योगी में सौन्दर्य। एक विचित्र बात थी। दोनों एक-दूसरे से सन्तुष्ट न थे; पर प्रभावित अवश्य थे। दोनों ने एक-दूसरे में आकर्षण देखा, योगी ने ज्ञान का और नर्तकी ने सौन्दर्य का···" चित्रलेखा की तीव्र वासना अब एक नये आलम्बन को चाह रही है और सम्भवतः उसकी अप्राप्यता की सम्भावना ने उसके अभि-मान को तीव्र ठोकर देकर उसे योगी की ओर अधिक उन्मुख किया है। प्रौढ़ वयस्क के इस आकर्षण ने चित्रलेखा को अधिक चतुर भी बनाया है—वह एक और बीजगुप्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गले लगकर अपने प्रणय की दुहाई भी दे सकती है और उसी समय मन-ही-मन यह भी कहती है—'पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है'। उपन्यास की कथा का यह बीज है या संघर्ष का मूलारम्भ है।

कुमारगिरि के दर्शन की कसौटी तर्क नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभव है और जड़वादी चाणक्य के साथ तार्किक वाग्युद्ध में पराजित कुमारगिरि को ईश्वर के दर्शन कराने के सिवाय विजय का कोई दूसरा रास्ता नहीं रहा। अपमानित चित्रलेखा को योगी पर विजय प्राप्त करने का खासा अवसर भी मिला और उसने योगी के माया-जाल का भण्डाफोड़ कर विजय का मुकुट स्वयं प्राप्त किया। योगी के अपमान पर नमक छिड़कने के बहाने द्रव्य के रूप में मुकुट योगी के सिर पर रखकर नर्तकी ने नृत्य आरम्भ किया, परन्तु सहृदय से छिपा नहीं रहता कि यह भी उस वासना से तड़पती हुई नारी की विलास-लीला का ही एक बड़ा ही विचित्र एवं गहन-गूढ़ मनोवैज्ञानिक अस्त्र था। नृत्य की परिसमाप्ति के तुरन्त उपरान्त चित्रलेखा अपमानित और क्रुद्ध योगी के पीछे दौड़कर यह स्वीकार करती है—"मैं तुमसे पराजित हुई।" यह पराजय की झूठी स्वीकृति भी योगी के निकट पहुँचने का एक नारी जनोचित साधन-मात्र था। क्योंकि चित्रलेखा का अपने हाथों मुकुट पहनाना कुमारगिरि को नहीं खलता। रात के उस उद्दीप्त वातावरण में चित्रलेखा की वासना ने एक विचित्र रूप धारण किया—उसने कहा, "मैं आई हूँ, अपने ऊपर विजय पाने वाले से दीक्षित होने के लिए।" इसका परिणाम यह हुआ—"आज तक कुमारगिरि ने सौन्दर्य की ओर ध्यान न दिया, प्रेम और वासना का क्षेत्र उसके लिए नया था। उस सौन्दर्य से योगी के हृदय में एक हल्का-सा कम्पन हुआ। प्रथम बार योगी ने इस कम्पन से युक्त सांसारिक सुख का अनुभव किया।" कुमारगिरि अपनी दुर्बलता को पहली बार अनुभव करता है परन्तु उसका 'अहम्' इतना प्रबल है कि वह इसकी स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं है। पर विचार करने के लिए समय देकर लौटने वाली नर्तकी को कुमारगिरि देखता है—"वह उस अतृप्त शराबी की भाँति चित्रलेखा को देख रहा था, जिसको संज्ञाहीन हो जाने का भय हो और जिसके सामने सुगन्धित मदिरा बह-बहकर धूलमें मिली जारही हो।" फिर उसने चित्रलेखा का शृंगार देखा और शृंगार-भार से पुलकित सौन्दर्य देखा; उसने मदिरा देखी और मादकता देखी। उसने इच्छा का अनुभव किया, और इच्छा की मनोहरता का भी अनुभव किया। एकाएक उसके हृदय में यह प्रश्न उठा—"स्त्री क्या है, और सौन्दर्य क्या है? भगवान् ने इन चीजों की रचना क्यों की है? प्रश्न अनुचित था, वर्षों की चिर-संचित विचारधारा ने कहा—क्या मैं अपने मार्ग से विचलित हो रहा हूँ? आखिर योगी को हारकर अपनी दुर्बलता की स्वीकृति ही देनी पड़ी। योगी के दीक्षा देने से इन्कार करने पर चित्रलेखा की निराशा में उसकी वासना ने एक ही रूप लिया—निराशा, वेदना, याचना, विवशता, विनम्रता तथा शालीनता अनेक भावों के अद्भुत रसायन से अपने भाषण को भरापूरा बनाकर अन्तिम शस्त्र—शारीरिक स्पर्श से वह योगी को अपनी ओर खींचना चाहती है—कुमारगिरि चौंक उठा। वह इस प्रकार से चित्रलेखा के पास से हट गया, जिस प्रकार वह मनुष्य चौंक कर हटा हो, जो सर्पिणी के पास तक उसे बिना देखे हुए पहुँच जाता है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी समय जब सर्पिणी उसे डसना चाहती है, कोई दूर खड़ा हुआ व्यक्ति उसे सचेत कर देता है !"—'हाय रे भाग्य' कहती हुई चित्रलेखा ने कुमारगिरि को पूर्णतः विचलित कर दिया था और अब उसके स्वर में वह दीनता और याचना नहीं, बल्कि 'मृदुल गम्भीर स्वर में आज्ञा देने वाली स्वामिनी का गुरुत्व था"—वह गुरुदेव से कहती है—"तुमको मुझे दीक्षा देनी ही होगी !"—उसके चले जाने पर संयम और मानसिक शान्ति का साधक कुमारगिरि विशालदेव का हाथ जोर से पकड़कर कहता है—'तुम मूर्ख हो।' चित्रलेखा की कुमारगिरि को पाने की लालसा या वासना की ये विभिन्न अभिव्यक्तियाँ फ्रायड की 'नियति' की शक्ति का बोध करा देने में समर्थ हैं।

कुमारगिरि और चित्रलेखा के परस्पर तीव्र वासनात्मक आकर्षण के विभिन्न रूपों को कंपित करने के उपरान्त लेखक पाठक को बीजगुप्त के पास ले जाता है जिसने पहचाना है कि चित्रलेखा और कुमारगिरि दोनों ही अहंभाव से भरे हुए ममत्व के दासों का यह मिलन दोनों के नाश का बीज है। वह एक अजीब-सा अकेलापन महसूस करता है और अपनी व्यथा का भार श्वेतांक के सामने हलका करना चाहता है। परन्तु उसका सहज आभिजात्य उसे अधिक मुखर होने से रोकता है। चित्रलेखा के पास आए हुए श्वेतांक को वह भोजन खिलाती है, मदिरा पिलाती है और अपने स्नेह का आभास देकर उससे प्रतिज्ञा भी करवाती है कि वह कुमारगिरि से सम्बन्धित उसका राज छिपाकर रखे। वह उससे कहती है—'मेरा और कुमारगिरि का युग-युगान्तर का सम्बन्ध है।' कुछ ही दिन पहले उसने बीजगुप्त के सम्बन्ध में भी इसी दृढ़ता से बात कही थी। अपनी शक्ति से भलीभाँति परिचित वह नारी आत्म-विश्वासपूर्वक श्वेतांक का हाथ पकड़कर उसे आज्ञा देती है कि वह इस रहस्य को अभी गुप्त रखे। उन्माद, मस्ती, वासना को जीवन का सार-सर्वस्व समझानेवाली यह प्रमदा बीजगुप्त को तब तक छोड़ना नहीं चाहती, जब तक कुमारगिरि की ओर से आश्वस्त नहीं हो जाती—यह व्यावहारिक चतुराई है। इस दुःख को बीजगुप्त झेलता है—मदिरा के पात्र के आधार पर और उससे भी अधिक अपने जीवन विषयक दृष्टिकोण के बल पर—परिस्थितियों का चक्र और पूर्वजन्म के कर्मों के फल का विधान। वासना के रास्ते पर सरपट दौड़नेवाले कुमारगिरि और चित्रलेखा के बीच बीजगुप्त का यह गंभीर व्यक्तित्व अधिक निखर उठता है।

चित्रलेखा की दोलायमान अवस्था में उसकी बीजगुप्त के प्रति उदासीनता या किंचित तनाव स्वाभाविक था और फलतः दोनों के व्यवहारों में कुछ औपचारिकता, कुछ रूखापन और कुछ अविश्वास पैदा हो गया है (आठवाँ परिच्छेद)। एक-दूसरे के अधिकार की; स्वामित्व की बड़े व्यंग्यात्मक रूप में पूछताछ हो रही है। कहीं अपने सन्देह को सैद्धान्तिक रूप देकर व्यक्त किया जा रहा है तो कहीं सिद्धान्तों की आड़ में अपने मन की गुत्थियों एवं वास्तविकता को छिपाकर रखने का प्रयास है। बीजगुप्त अपने प्रेम की व्याकुलता को सैद्धान्तिक आवाज में बाँधकर व्यक्त करने को विवश है। यहाँ पर बीजगुप्त एक नये रूप में हमारे सामने आता है वह एक बहुत बड़ा सत्य जान गया है और वह यह कि चित्रलेखा केवल उसकी वासना तृप्ति का सुन्दर, मादक साधन-मात्र नहीं है, वह उसको प्यार करता है। अब वासना और प्रेम में वह स्पष्ट अन्तर कर सकता है—प्रेम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सम्बन्ध आत्मा से है, प्रकृति से नहीं । जिस वस्तु का सम्बन्ध प्रकृति से है, वह वासना है, क्योंकि वासना का सम्बन्ध बाह्य से है । वासना का लक्ष्य वह शरीर है जिस पर प्रकृति ने कृपा करके उसको सुन्दर बनाया है । प्रेम आत्मा से होता है, शरीर से नहीं । परिवर्तन प्रकृति का नियम है, आत्मा का नहीं । आत्मा का सम्बन्ध अमर है ।'' बीजगुप्त की इन मान्यताओं से मतभेद निस्सन्देह हो सकता है, परन्तु यह इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि वासना, उन्माद, मादकता इत्यादि के परे ऊपर उठकर कुछ स्थायी, कुछ उदात्त, कुछ आत्मिक (चाहे वह शरीर का ही सूक्ष्मतम रूप हो) सम्बन्धों की अनुभूति वह अपने हृदय में कर रहा है । वासना के धरातल से प्रेम के धरातल पर उसका यह आरोहण सम्भवतः चित्रलेखा के योगी की ओर आकर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली पीड़ा का परिणाम है । परन्तु चित्रलेखा अभी भी बीजगुप्त के गले में हाथ डालकर उन्माद की पूर्ति करना चाहती है ।

बीजगुप्त को अपने प्रेम की कड़ी परीक्षा देनी है और चित्रलेखा को भी बीजगुप्त को त्याग के आवाज में छोड़कर कुमारगिरि के निकट आना है—यशोधरा का उपन्यास में प्रवेश इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करता है । बीजगुप्त अपनी परीक्षा में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होता है, क्योंकि समाज के सामने अपने और चित्रलेखा के सम्बन्ध को विवाह से कम महत्व नहीं देता । उससे उत्पन्न सन्तान औरस नहीं होगी और उसकी सम्पति की अधिकारी नहीं होगी, इस तथ्य को जान लेने पर भी वह अपने निश्चय से विचलित नहीं होता । यशोधरा के विवाह के प्रश्न को लेकर लेखक ने बीजगुप्त, चित्रलेखा और कुमार-गिरि के आन्तरिक गहन-गूढ़ भावों को बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है । कुमारगिरि चित्रलेखा को याद दिलाकर कि वह विराग के जीवन को अपनाने का निश्चय कर चुकी थी, उसे बीजगुप्त से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रहा है और कुमारगिरि की ओर आकृष्ट चित्रलेखा बीजगुप्त को यशोधरा से विवाह करने का आग्रह करती है—बीजगुप्त के चले जाने पर वह मृत्युंजय को विश्वास भी दिलाती है । यह प्रेम नहीं है, वह त्याग भी नहीं है, पर केवल कुमारगिरि की ओर ठेलनेवाली वासना ने एक नया रूप लिया है । कुमारगिरि इस मर्म को भलीभाँति जानता है……"बहुत सम्भव है चित्रलेखा स्वयं ही बीजगुप्त को छोड़ देने पर प्रस्तुत हो…''

लेखक ने चित्रलेखा के प्रेम (१) के विविध स्थित्यंतरों को दिखाया है (ग्यारहवाँ परिच्छेद) जिसमें विधवा जीवन का ताप और संयम, प्राकृतिक प्रेम, पिपासा, उग्र इच्छा, आत्म-विस्मरण, मादकता, अधिकाधिक तीव्र सम्वेदनाओं के लिएउ त्तेजक मदिरा, एक प्रेमी के होते हुए दूसरे के प्रति तीव्र आकर्षण इत्यादि अवस्थाएँ क्रमशः आ गयीं । इसका एक ही अर्थ है—वासना कभी तृप्त नहीं होती, वह अधिकाधिक आहुति चाहती है । चित्रलेखा की सारी जीवन यात्रा वासना की तृप्ति को मिटाने की सामग्री जुटाने का प्रयत्न है । वह केसरिया वस्त्र पहनकर कुमारगिरि की कुटी में चली जाती है और उससे स्पष्ट शब्दों में कहती भी है—"योगी ! अपनी विजय और पराजय की अवहेलना करके एक बार तुम मुझसे सच बोले थे, मैं भी तुमसे सच ही कहूँगी—मैं तुमसे प्रेम करने आई हूँ ।'' फिर यह प्रेम (?) सेवा, भक्ति इत्यादि का भी स्वांग भरने लगता है कि योगी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्ध प्रेम (?)—वासनारहित प्रेम की सम्भावना मानकर और ईश्वर की इच्छा समझकर चित्रलेखा को दीक्षा देना स्वीकार करता है। "भगवान् की इच्छा है कि मैं संसार-स्थित वासनाओं से युद्ध करूँ—तो फिर ऐसा ही हो।" स्पष्ट है कि यह योगी की वासना ही है जो भगवान की इच्छा के रूप में अपना समर्थन करती है। योगी की इस कमजोरी पर विशालदेव की मुस्कराहट योगी के अभिमान को उभाड़कर उसे क्रुद्ध करती है और वह निश्चय कर लेता है कि चित्रलेखा उसी की कुटी में रहेगी।

मुख्य कथा से यशोधरा की उपकथा इस तरह जुड़ी हुई है कि इसे उपकथा भी कहना ठीक नहीं जान पड़ता। यशोधरा को लेकर श्वेतांक के जीवन में भी एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। बीजगुप्त भी चित्रलेखा की उदासीनता के कारण यशोधरा की ओर किंचित उन्मुख है। वह देखता है कि उसका सेवक श्वेतांक भी यशोधरा को देखकर मादक क्षणों का अनुभव कर रहा है। परन्तु उदारचेता बीजगुप्त इस बात को सहज हास्य के बल पर सह लेता है—"यही जीवन है।" बीजगुप्त मन-ही-मन चित्रलेखा और यशोधरा की तुलना भी करने लगा परन्तु चित्रलेखा से प्रेम करता था; चित्रलेखा को छोड़ देना उसके लिए असम्भव था। चित्रलेखा का छोटा-सा पत्र जो 'मनोविज्ञान का एक सम्पूर्ण ग्रन्थ था' पाकर बीजगुप्त की प्रतिक्रिया देखिए······"पढ़ते-पढ़ते उसके हाथ काँपने लगे। उसका मुख पीला पड़ गया। उसका हृदय धड़कने लगा। उसने पत्र श्वेतांक को दिया और अपना मुख ढाँपकर वह अपने शयनगृह में चला गया।" उस गहरी आत्मिक पीड़ा से वह अनुभव करता है कि—"वह केवल एक स्त्री से प्रेम करता था—वह चित्रलेखा थी।" वह चित्रलेखा को योगी की कुटी से ले आने का अन्तिम प्रयत्न करता है। उसमें किसी प्रकार की भावुकता नहीं, यद्यपि प्रेम का अनुरोध अवश्य है। वह चित्रलेखा के बीजगुप्त को सुखी करने के सतही उद्देश्य का पर्दा भी खोल देता है और एक गंभीर व्यक्ति की भाँति चित्रलेखा को सूचना देकर लौट आता है—"जो कुछ कहना था, कह चुका, मानना और न मानना तुम पर निर्भर है। जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही सही; पर थोड़े दिनों के बाद ही तुमको स्पष्ट हो जाएगा कि तुम ग़लती कर रही हो।"—जाते समय चित्रलेखा राजमार्ग पर बीजगुप्त का चुम्बन लेती है। कुमारगिरि के प्रति आकर्षित यह नारी बीजगुप्त के प्रति क्षमा-निवेदन भी करती है—"बीजगुप्त! संभवतः मैं अनुचित कर रही हूँ—उसके लिए क्षमा करना।" फिर उसी सांस में कुमारगिरि से यह भी कहती है कि मैं आपको धोखा नहीं दे रही हूँ—इतना विश्वास रखिए गुरुदेव! बहुत सम्भव है कि मैं बीजगुप्त को धोखा दे रही हूँ या अपने ही को।" फिर साधना या तपस्या के नाम पर एक बड़ा झूठ पनपने लगता है।

चित्रलेखा का अभाव भूलने के लिए बीजगुप्त काशी यात्रा पर जा रहा है परन्तु उसकी अनिच्छा के बावजूद उसे यशोधरा को साथ ले जाना पड़ता है। लेखक सम्भवतः यशोधरा के साथ बीजगुप्त को रखकर उसे अपने प्रेम की परीक्षा करने के लिए बाध्य-सा बना देता है। यशोधरा को भी जीवन में न आने देना एक प्रकार से पलायन है जोकि बीजगुप्त के विचारों से (जैसा कि लेखक ने उसको रखा है) प्रतिकूल है। दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी होते हैं और फलस्वरूप—उधर श्वेतांक का मन अपने स्वामी के प्रति ईर्ष्या,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रोध, मत्सर, खीझ इत्यादि भावों से भरकर बीच-बीच में विस्फोटित भी होता है।

इधर कुमारगिरि के साथ चित्रलेखा को रखकर चित्रलेखा के असली व्यक्तित्व की परीक्षा भी लेखक कर रहा है। वह वासना से प्रताड़ित होकर कुमारगिरि के समीप अवश्य आयी है परन्तु उसकी वासना के मूल में कुछ अन्य भाव भी रहते हैं। चित्रलेखा के व्यक्तित्व में दूसरे को आकर्षित कर दबा देने की प्रवृत्ति बहुत अधिक थी (सोलहवाँ परिच्छेद) जिसका उपयोग वह अनजाने करती रहती थी। कुमारगिरि अब न समाधि में मन लगा सकते हैं, न समाधि लगाना ही चाहते हैं। वे जीवन के बीच भँवर में पड़कर जान गये हैं कि "विराग मनुष्य के लिए असम्भव है, क्योंकि विराग नकारात्मक है।" कुमारगिरि को अपने प्रति आकर्षित ही नहीं, उत्तेजित और आक्रामक रूप में देखकर चित्रलेखा के मन में परिवर्तन आने लगा। उसने अपनी प्रवृत्तियों का अधिक बारीकी से निरीक्षण किया। कुमारगिरि से वह प्रेम करने आई थी परन्तु उनसे वह प्रेम नहीं कर सकती थी, न उनसे कुछ सीख सकती थी। कुमारगिरि के साथ रहकर वह उसको साधना से च्युत कर रही थी। जिस कुमारगिरि को जीतने की, उसके विरक्ति-मार्ग का मजाक उड़ाने की और कुमारगिरि द्वारा किये गये अपमान का बदला लेने की तीव्र इच्छा उसके अन्तःकरण में सम्भवतः प्रारम्भ से गहरे घुस गयी थी, वह साध पूरी हो गयी—अब अपने अहं को तुष्ट करने के लिए उसे कुमारगिरि की आवश्यकता नहीं थी, अतः उसके प्रति वासना भी क्षीण होने लगी। उसके मन में बीजगुप्त के पास जाने की इच्छा उत्पन्न हो गयी। लेखक को चाहिए था कि इस समय चित्रलेखा के मन में बीजगुप्त के प्रति छिपे हुए प्रेम को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराये। यह भी आवश्यक था कि कुमारगिरि के प्रति उसकी वासना के क्रमशः लुप्त होने का अधिक विश्लेषण सम्वेदनाओं के धरातल पर वह करता। यहाँ लेखक ने कभी संकेत से या वर्णन से काम लिया है। फलतः एक ऐसा प्रभाव पाठक पर पड़ने लगता है कि जैसे लेखक कहानी के सूत्रों को शीघ्रातिशीघ्र समेटने का प्रयास कर रहा है। चित्रलेखा कुमारगिरि से स्पष्ट शब्दों में कहती है : "मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे प्रेम करते हो; पर मैं तो तुमसे प्रेम नहीं करती! एक क्षण के लिए मेरी इच्छा तुम पर आधिपत्य जमाने की हुई थी, और मैंने उसका प्रयत्न किया।··· यहाँ मैं स्वामिनी हूँ, तुम दास हो। मैंने तुम पर आधिपत्य जमा लिया है, तुमने आत्म-समर्पण कर दिया है।"···कुमारगिरि को अपनी कमजोरी, दुर्बलता एवं पराजय का भान होता है और उसका अहं फूटकर चित्रलेखा पर विजय प्राप्त करना चाहता है और इस आत्मिक विजय में चित्रलेखा का योग चाहता है। एक अद्भुत रसायन योगी के मन में पैदा होता है : वह चित्रलेखा पर किसी प्रकार जबर्दस्त प्रहार करना चाहता है और आत्मा और साधना के आवरण में उसके लिए शक्ति संचित कर रहा है। विरक्ति मार्ग की यह परिणति कहाँ तक होगी, इसके लिए पाठक के मन में अतीव जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है।

उधर बीजगुप्त, यशोधरा और श्वेतांक का भी एक प्रेम-त्रिकोण उत्पन्न हो रहा है। श्वेतांक के मन में बीजगुप्त के प्रति क्रोध और ईर्ष्या तीव्र रूप ले रही है और वह असहनशील एवं उद्दण्ड बनता जा रहा है। बीजगुप्त भी यशोधरा के प्रभाव में आ रहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की माँग उससे विवाह करने के लिए प्रेरणा दे रही है परन्तु चित्रलेखा के प्रति प्रेम उसको यह करने नहीं देता। पशोपेश में पड़ा हुआ बीजगुप्त काशी से पाटिलीपुत्र लौट आता है।

इधर कुमारगिरि के मन में बीजगुप्त के प्रति प्रबल ईर्ष्या उत्पन्न होती है क्योंकि वह जानता है कि चित्रलेखा उसी के कारण कुमारगिरि से कुछ खिंची हुई है। तपस्या और विरक्ति मार्ग का साधक यह योगी चित्रलेखा से झूठ कहता है कि बीजगुप्त और यशोधरा का ब्याह हो चुका है। कुमारगिरि के निम्नांकित वाक्य चित्रलेखा की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हैं जो इस लेख की भूमिका के रूप में स्वीकृत हैं :"…तुमने वासना के आवेश में आकर पवित्र प्रेम को ठुकरा दिया था—तुमने मुझमें कुछ देखा और तुम मेरी ओर आकर्षित हो गयीं। उस समय तुममें पशुता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी थी—तुमने मनुष्यता को तिलांजलि दे दी थी ! तुम बिना बीजगुप्त की इच्छा के बीजगुप्त का जीवन भार बना कर मेरे पास चली आयी…।" इन वाक्यों की सत्यता से चित्रलेखा इन्कार नहीं कर सकी जो उसके आवेश से प्रकट है : "चित्रलेखा चिल्ला उठी—बस करो ! बस करो !" चित्रलेखा कुमारगिरि के वाक्यों में अपनी मनोदशा का पर्दाफाश देखकर सचमुच बौखला उठी। वह जान गयी कि बीजगुप्त को वह भी कितना प्यार करती थी, परन्तु उसकी वासना ने उसके बीजगुप्त को छीन लिया। बीजगुप्त के खोने का दुःख वह सहन नहीं कर सकी और इस दुःख और निराशा के तीव्र दंशन में उसने कुमारगिरि को शरीर समर्पण कर दिया। सब कुछ लुट जाने के बाद वह अपने पतन को सच्चे अर्थों में अनुभव कर सकी। विशालदेव से यह ज्ञात होने पर कि कुमारगिरि ने उसे बड़ा धोखा दिया था, वह चोट खाई हुई नागिन की तरह कुमारगिरि को डसना चाहती है। इस समय की चित्रलेखा का मन्तव्य सम्भवतः विरक्ति मार्ग और प्रेम के सम्बन्धों पर सबसे यथार्थ टिप्पणी है : "वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ? तुम अपने लिए जीवित हो, ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है—तुम प्रेम करना क्या जानो ? प्रेम बलिदान है, आत्मत्याग है, ममत्व का विस्मरण है। तुम्हारी तपस्या और तुम्हारा ज्ञान—तुम्हारी आराधना—यह सब भ्रम है, सत्य से कोसों दूर है। तुम अपनी तुष्टि के लिए गृहस्थ आश्रम की बाधाओं से, कायरतापूर्वक संन्यासी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुख मोड़ सकते हो—तुम अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए मुझे धोखा दे सकते हो—और फिर भी तुम प्रेम की दुहाई देते हो ?"

कुमारगिरि और चित्रलेखा को पतन की चरमसीमा तक ले जाकर और जीवन के सत्य से परिचित कराकर लेखक बीजगुप्त की ओर आ जाता है। चित्रलेखा कुमारगिरि की वासना तृप्ति की पार्श्वभूमि पर बीजगुप्त का यशोधरा की ओर आकर्षण और उस पर नियंत्रण का प्रयास अधिक स्वस्थ एवं संयत जान पड़ता है। बीजगुप्त यशोधरा से विवाह करने का अपना प्रस्ताव लेकर मृत्युंजय के यहाँ चला तो जाता है परन्तु चित्रलेखा के प्रति सच्चा प्रेम अनुभव करने वाले उसके अन्तर्मन ने उसके द्वारा यह प्रस्ताव नहीं रखने दिया। प्रत्युत्तर अपनी सम्पत्ति एवं सम्मानित पद श्वेतांक को देकर वह यशोधरा से उसके पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखकर चला आता है। मृत्युंजय के शब्दों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठक भी बीजगुप्त के बारे में यही कहता है—"आप मनुष्य नहीं, देवता हैं।" देवता बनने की कामना करने वाला कुमारगिरि विरक्ति मार्ग से चलकर मनुष्य भी नहीं रह पाता, पशु बन जाता है और भोग के मार्ग से चलने वाला बीजगुप्त मनुष्य से ऊपर उठकर देवता बन जाता है।

वियोग के बाद चित्रलेखा भी अनुभव करती है कि बीजगुप्त के प्रति उसके मन में कितना गहरा प्रेम था। बीजगुप्त के सर्वसम्पत्ति का त्याग कर भिखारी की भाँति पैदल चल पड़ने के समय चित्रलेखा भी उसके साथ चल पड़ती है। बीजगुप्त उसके प्रेम में उसके कुमारगिरि के प्रति आत्मसमर्पण की बात भूल जाता है—सहज क्षमा कर देता है। कहता है : "प्रेम के प्रांगण में कोई अपराध ही नहीं होता ! फिर क्षमा कैसी ! प्रेम स्वयं एक त्याग है, विस्मृति है, तन्मयता है।"···अन्त में "प्रेम और केवल प्रेम हमारा आधार हो ! मेरे देवता ! मैं अपनी सम्पत्ति आज ही दान किए देती हूँ—रात में हम दोनों ही अथाह संसार में प्रेम की नौका पर बैठकर चलें।"—अन्त में बीजगुप्त ने चित्रलेखा का चुम्बन ले लिया —"हम दोनों कितने सुखी हैं।"

पहले परिच्छेद में चित्रलेखा और बीजगुप्त का चुम्बन, परिरम्भण, आलिंगन, मदिरा, प्यास, यौवन की मस्ती, मादकता और वर्तमानकाल की सर्वसत्यता के साथ उपन्यास के अन्त में यह पवित्र चुम्बन कितना अनोखा, कितना आत्मिक और कितना तन्मयतापूर्ण है ! वासना और प्रेम के बीच हचखोले खाती हुई चित्रलेखा अन्त में सच्चे प्रेम के स्वरूप को जान पाई—'चित्रलेखा' इस प्रेम-यात्रा की सुगठित और प्रभावपूर्ण कहानी है।

'चित्रलेखा' को पाप-पुण्य का विश्लेषण एवं समाधान करने वाली कथा मानकर आलोचना करने पर किसी का मन सिहर उठा है क्योंकि इसमें पाप और पुण्य की कल्पनाओं को झुठला दिया गया है या मनुष्य को परिस्थितियों का दास बनाकर या नियति का शिकार बनाकर उसके कर्म के प्रति प्रत्येक स्थिति में सहानुभूति से देखा गया है। आलोचक प्रवर नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी इसी प्रकार का अपना मत प्रकट किया है—"चित्रलेखा मनोवैज्ञानिक आधार पर एक नैतिक प्रश्न उठाती है।—चित्रलेखा दो पुरुष पात्रों के बीच घूमती हुई केवल कौतूहल की सृष्टि कर पाती है। वे नैतिकता को नया मनोवैज्ञनिक आधार देना चाहते हैं, अथवा यों कहें कि नये मनोविज्ञान पर नई नैतिकता का निर्माण करना चाहते हैं। पर इतने बड़े प्रश्नों को इतनी हल्की कलम से सम्भाल पाना सम्भव नहीं। कदाचित् इसलिए चित्रलेखा एक प्रश्न बनकर रह गई है।"

साहित्य का और सामाजिक नीति का सीधा सम्बन्ध मानकर चलने से इस प्रकार की मान्यताओं का स्थापित किया जाना स्वाभाविक है। इससे भी अधिक उपन्यास को सतही दृष्टि में पढ़कर अथवा लेखक के कथा-बाह्य मन्तव्य को कुछ अधिक महत्त्व देते हुए चलने पर इस उपन्यास का मूल्यांकन कुछ दूषित-सा हो गया है।

चित्रलेखा की कथा पर लेखक की कलात्मकता या कुशलता का उद्घाटन करते हुए जो आलोक डाला गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्माजी मनुष्य की अस्वस्थ प्रवृत्तियों पर प्रहार कर रहे हैं। बीजगुप्त को इस उपन्यास में प्रारंभ से जो एक सहानुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से देखा गया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है। चित्रलेखा और बीजगुप्त का क्रमशः मस्ती और मादकता के जीवन से त्याग और प्रेम की ओर प्रस्थान अन्धकार से प्रकाश की ओर संचरण है। कुमारगिरि के विरक्ति मार्ग की असफलता का संकेत कर लेखक यही कहना चाहता है कि जीवन की स्वस्थ-प्रवृत्तियों की उपलब्धि इस पलायन के मार्ग से सम्भव नहीं। जीवन के भौतिक धरातल पर जीवन का उन्नयन करना हो तो गृहस्थाश्रम का संयत भोग आवश्यक शर्त है। यशोधरा और श्वेतांक का गृहस्थाश्रम में प्रवेश और बीजगुप्त का उसके लिए आशीर्वाद इस बात का द्योतन करता है। कुमारगिरि का विरक्ति मार्ग प्रकारान्तर से पलायन का मार्ग है जिसका केन्द्र ममत्व की भावना है। इस मार्ग के केन्द्र में 'अहम्' की पुष्टि है। प्रेम-मार्ग में अहं का विलयन हो जाता है। कबीर का दोहा कुमारगिरि के चरित्र का आधार है--

माया तजी ता का भया, जब मान तजा नहिं जाई।
मान सबै मुनिवर ठगै, मान सबन को खाई॥

चित्रलेखा उपन्यास की कथा की घटनाएँ और पात्रों की स्वभाव-विशेषताएँ इतनी घुल-मिल गई हैं कि ऐसी घटना या प्रसंग अलग नहीं किया जा सकता, जो कथा के विकास एवं मोड़ की दृष्टि से अनावश्यक हो। ऐसा एक प्रसंग नहीं है जो पात्रों के स्वभाव वैशिष्ट्य से मेल न खाता हो। प्रसंग और पात्र-वैशिष्ट्य की यह एकात्मकता उपन्यास के रूप को सौष्ठव और सौन्दर्य प्रदान करने में समर्थ हुई है। वस्तुतः चित्रलेखा और कुमारगिरि के आकर्षण में और उसके क्रमशः घनीभूत होने वाले रूप के चित्रण में लेखक ने संयम से काम लिया है, यह संयम नैतिक दृष्टि से लक्षणीय नहीं है—कभी-कभी भोग के प्रत्यक्ष चित्रण में भी कलाकार का संयम दृष्टिगोचर होता है। वह संयम कला की आवश्यकता है। कथा की विस्तृत चर्चा के प्रकाश में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की चर्चा या विश्लेषण करने के लिए उपन्यास के पात्र या प्रसंग समर्पित नहीं हैं, प्रत्युत् जीवन में मनोविज्ञान की गुत्थियों का जितना अस्तित्व लक्षित होता है और जितना उनका महत्त्व है, उतना ही संकेत इसमें मिलता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों एवं कुंठाओं को जीवंत पात्रों और सरस प्रसंगों के माध्यम से पाठक के समक्ष रखते हुए लेखक ने पाठक को जीवन-रस से परिचित कराया है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की दुर्बलता की पृष्ठभूमि पर 'चित्रलेखा' का मनोवैज्ञानिक स्पर्श-पुनर्मूल्यांकन करते समय अधिक आकृष्ट करता है।

उपन्यास की एक विशेषता उसकी नाट्यात्मकता भी है। नाट्यात्मकता का प्राण विरोध या संघर्ष है। भोगी चित्रगुप्त और योगी कुमारगिरि के बीच झूलती हुई 'चित्रलेखा' नाट्यात्मकता का केन्द्र है। क्षत्रिय श्वेतांक और ब्राह्मण विशालदेव का विरोधी परिस्थितियों में पड़कर विषम दृष्टियों को उपलब्ध करना भी इस नाट्यात्मकता अंग है। मूलतः विरक्ति और आसक्ति के बीच झोंके खाता हुआ यह पेंडुलम प्रेम के मध्यबिंदु पर स्थिर हो जाता है। बीच की विरोधात्मक स्थितियों में कितने ही नाटकीय प्रसंगों की निर्मिति लेखक कर सका है। मस्ती और मादकता में डूबे हुए चित्रलेखा और बीजगुप्त के पास मध्यरात्रि में रत्नाम्बर प्रभु और ब्रह्मचारी श्वेतांक का पाप का पता लगाने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्द, कुमारगिरि की कुटिया में चित्रलेखा का प्रकाश को अन्धकार का प्रणाम करना, मौर्य की भरी सभा में योगी और नर्तकी का बौद्धिक वाग्युद्ध, अहं से तने हुए कुमारगिरि के सामने स्वाभिमानी चित्रलेखा की अनुनयपूर्ण दीक्षा-याचना, नर्तकी और योगी का साधना के क्षेत्र में एकान्तवास, विशालदेव का नाट्यपूर्ण प्रवेश, मृत्युंजय के घर में कुलीन घराने की स्त्रियों के बीच चित्रलेखा का आगमन, मादकता और क्रान्ति की प्रतिरूप चित्रलेखा और शान्ति और संयम की प्रतिरूप यशोधरा, बीजगुप्त का क्रमशः देवत्व की ओर उर्ध्वगमन और कुमारगिरि का अधोगमन—ऐसे कितने ही नाट्यपूर्ण प्रसंगों की ओर संकेत किया जा सकता है। कभी नाट्यपूर्ण पात्रों और प्रसंगों की रचना का मोह लेखक को इतना आविष्ट करता है कि कृति में यांत्रिकता और अविश्वसनीयता उत्पन्न होती है—परन्तु 'चित्रलेखा' के उपन्यासकार ने प्रायः सफलता से इस परीक्षा में अपनी कलात्मकता का परिचय दिया है। एकाध स्थान पर अवश्य यह मोह दुर्निवार हो गया है। मृत्यंजय के द्वारा चित्रलेखा को निमंत्रण (बीजगुप्त द्वारा समर्थन किए जाने पर भी) अस्वाभाविक लगता है और नाट्यपूर्णता के मोह में पकड़कर इस अवसर पर लेखक कुमारगिरि को भी ले आया है !! संयम, विरक्ति और एकान्त कुटिया में रहने वाले इस योगी का गृहस्थ के घर में आकर विवाह जैसी बातों में रस लेना कथा की नाट्यात्मकता को भले ही बढ़ाए. परन्तु सुधी पाठक की दृष्टि में आरोपित-सा लगता है।

उपन्यास में एक-दो ऐसी घटनाएँ भी हैं जिनको टाला जाता तो उपन्यास की कला में कुछ अधिक निर्दोषता आ जाती। कुमारगिरि और चाणक्य के बीच जो ईश्वर के अस्तित्व-अनस्तित्व को लेकर बौद्धिकवाद चल रहा है, उसकी आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उपन्यास के पात्रों के जीवनविषयक दृष्टिकोण एवं उनकी दार्शनिक मुद्रा के अनुकूल भी वह है। चर्चा एक ऐसे बिन्दु पर आ जाती है जबकि ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की माँग की जाती है। यह पूर्णतः तर्कयुक्त है। यहाँ आकर कुमारगिरि का यौगिक शक्ति के बल पर धोखा देना और चित्रलेखा का उसको पराजित करना उतना कलात्मक नहीं प्रतीत होता। एक तरह से कुमारगिरि को कुछ नीचे गिराया गया है—लगता है वह कोई जादूगर हो। कुमारगिरि को ही परास्त करवाना था तो लेखक चाणक्य के अन्तिम तर्कों को उसके मुख से प्रकाशित कर सकता था या किसी अन्य मार्ग से यह कार्य सम्पन्न हो सकता था। फिर उपन्यास के अन्त में कुमारगिरि की ओर से चित्रलेखा का विकर्षण दिखाते समय भी कुछ जल्दबाजी हुई है। बीजगुप्त के प्रति उसके अन्तर्मन की गहरी प्रेम-भावना को अधिक तीव्रता से सम्वेदित कराया जाता और कुमारगिरि की वासना का अधिक उग्र चित्रण किया जाता तो सम्भवतः उपन्यास में अधिक कलात्मकता आ जाती। विशालदेव जो कि कुमारगिरि के निकट महत्त्वपूर्ण समय पर आ पहुँचता है—(उसका आगमन अत्यन्त नाटकीय है—आवश्यकता से अधिक) वह एक ऐसा लगाम है जो वासना के मार्ग पर फिसलने वाले घोड़े को खींचता रहता है। वह परिस्थितियों से पूर्णतया परिचित है—उसका समय-समय पर मुस्कराना लम्बे विवादों या तर्कजाल से भी अधिक प्रभावपूर्ण और व्यंग्यपूर्ण लगता है। वह चित्रलेखा से प्रार्थना भी करता है कि उसके कारण कुटी की संयत और शान्तिपूर्ण जीवन नष्ट हो रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, इसलिए वह कुटी छोड़कर चली जाए। विशालदेव का श्वेतांक की तुलना में कम मुखर व्यक्तित्व अधिक मर्मज्ञ का रूप लेकर उपस्थित होता है। इस सबकी पृष्ठभूमि पर उसका अपने गुरु के प्रति अन्तिम आदर कुछ विचित्र अवश्य लगता है—सौभाग्य इतना है कि यह 'उपसंहार' में होने के कारण विशेष खटकता नहीं है। बल्कि उपन्यास को 'उपसंहार' की पूँछ अनावश्यक है, इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है।

'चित्रलेखा' विद्रोही विचारों के लिए, अपनी व्यक्तिवादी दृष्टि के लिए और मनोविज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण कृति समझी गई है। वस्तुतः 'चित्रलेखा' में किसी विशिष्ट आग्रह को लेकर लेखक नहीं आता। जीवन के भौतिक धरातल के बीच उसने विरक्ति और आसक्ति या वासना की परीक्षा कर दोनों को आत्यन्तिक ठहरा कर स्वस्थ जीवन के लिए दोनों के बीच की स्थिति—गार्हस्थ्य प्रेम और उसके माध्यम से आत्मसंहार को उपादेय समझा। ये विचार चित्रलेखा के प्रकाशन-काल तक (१९३४) विचारकों के मन में प्रायः स्थापित थे। लेखक की विशेषता यह है कि इन मान्यताओं को उसने सुन्दर कलात्मक रूप प्रदान कर हिन्दी पाठकों के समक्ष रखा। प्रेमचन्द की समाजोन्मुख कृतियों में नैतिक मान्यताओं को प्रश्नांकित दृष्टि से नहीं देखा गया था। परन्तु 'परख' और 'सुनीता' के माध्यम से जैनेन्द्र ने कुछ प्रस्थापित मान्यताओं की परीक्षा करने का साहस जरूर किया था। 'चित्रलेखा' में अपेक्षाकृत अधिक साहस एवं स्पष्टता से हमारी पूर्व स्वीकृत धारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लगाया गया है। वैवाहिक जीवन की पवित्रता के लिए सामाजिक विधि-विधान की आवश्यकता बीजगुप्त ने नहीं समझी। विवाह और प्रेम के बीच व्यवधान उत्पन्न होने पर प्रेमचन्द विवाह के सामाजिक विधान को महत्त्व देने के पक्ष में थे जबकि 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त विवाह और प्रेम के बीच सरल सम्बन्ध आवश्यक मानता है। विवाह और प्रेम में यौन-पवित्रता को प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे, अपवादात्मक स्थितियों में भी प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में अधिक सहिष्णु या उदार नहीं हो सकते थे। जैनेन्द्र में इस सम्बन्ध में बड़ी झिझक, अस्पष्टता और बचाव की प्रवृत्ति थी। 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त ने चित्रलेखा के पूर्व-जीवन को महत्त्व देता है, न कुमारगिरि के प्रति उसके शारीरिक समर्पण को। यौन सम्बन्धों की आकस्मिकता और परिस्थितिवशता ज्ञात होने के कारण वर्माजी इस सम्बन्ध में अधिक उदार हैं—स्पष्ट शब्दों में वे सच्चे प्रेम और यौन विषयक पवित्रता का अभेद्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करते। यह निस्सन्देह प्रगतिशील दृष्टिकोण था। विरक्ति के मार्ग की अधिक विस्तार से परीक्षा कर वैयक्तिक अथवा सामाजिक दोनों दृष्टियों से उसकी हानिकारकता सिद्ध की गई है। वासना को पाप अथवा घृणित वस्तु न समझकर उसका स्वस्थ जीवन के विकास की दृष्टि से आवश्यक उपयोग भी स्वीकार किया गया है—मनुष्य-जीवन की संस्कृति वह न हो, खाद अवश्य है। इस दिशा में समाज को सोचने के लिए विवश किया गया है। यह कृति अनाखोले फ्रांस की 'थाया' से कितनी प्रभावित है, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु पाश्चात्य विचारों का प्रभाव लेखक ने आत्मसात् अवश्य किया है। यह दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है : श्वेतांक और यशोधरा का सहभोजन, हाथ पकड़कर बोलना, नाव पर घूमने जाना, काशी यात्रा से लौटने के पूर्व बाजार जाकर चीज़ों को खरीदना, वाटिका में यशोधरा के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीजगुप्त का भ्रमण, पर्यटन, जलपान की प्रतीक्षा, यशोधरा से बीजगुप्त की बौद्धिक चर्चा इत्यादि बातों को पढ़ते समय यह अवश्य लगता है कि यह चन्द्रगुप्त मौर्य का समय नहीं होगा। कहीं लेखक अति सामयिक वस्तु को पौराणिक रूप तो नहीं दे रहा है? परन्तु यह उपन्यास न पूर्णत: ऐतिहासिक है, न सामयिक। उपन्यास की वस्तु कुछ अधिक चिरन्तन है, अत: यह काल-विपर्यय या समाज-विपर्यय विशेष नहीं खटकता। दूसरे, भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति के अन्तर्बाह्य विरोध की परिकल्पना कर एक को आध्यात्मिक और दूसरी को भौतिक बताने वाले विद्वानों के सामने दोनों के स्वस्थ समन्वय की सम्भावना बताकर उपन्यास को दो संस्कृतियों के मिलन-बिन्दु पर खड़ा किया है। 'चित्रलेखा' के लेखक की प्रशंसा इसलिए भी की जानी चाहिए कि उसने किसी पूर्व-स्वीकृत धारणा को लेकर पात्रों और प्रसंगों की दृष्टान्त के आधार पर रचना नहीं की, बल्कि प्रचलित मान्यताओं की जीवन की गर्मी और ऊष्मा के बीच अनाग्रहपूर्वक जाँचकर कुछ प्रश्न-चिह्न लगा दिए हैं। लेखक कोई समाधान नहीं दे जाता, इसीलिए सम्भवत: इस कृति का सौन्दर्य-मूल्य अधिक बढ़ गया है। प्रेमचन्द के युग में इसको लिखकर भी लेखक ने वस्तु की गठन, कसाव, संक्षेप, पात्रों और प्रसंगों की एकात्मता, कलात्मक संयम इत्यादि को एक जागरूक कलाकार के रूप में महत्त्व दिया है। प्राय: लेखक समस्या को लेकर सामने आता है तब उपन्यास या तो दृष्टान्त रूप बन जाता है अथवा पात्र प्रतीक बनकर जीवन्तता खो देता है। वर्माजी समस्या लेकर आए जरूर हैं परन्तु उनके कलाकार ने उन्हें पात्रों को प्रतीक-मात्र बना देने से और उपन्यास को दृष्टान्त बना देने से बचाया। पाप-पुण्य के विरोध को लेकर निर्मित किये गए पात्रों में प्रतीकात्मकता के साथ एकांतिक विरोध के आने की भी सम्भावना थी। परन्तु ऐसा यहाँ नहीं हो पाया है: बीजगुप्त के विरोध में कुमारगिरि के प्रति अन्याय नहीं किया गया है, न बीजगुप्त को अतिरिक्त सहानुभूति दी गई है। उपन्यास में यांत्रिकता आने का भी खतरा प्राय: विरोधी पात्रों की योजना से रहता है, सौभाग्य की बात है कि यह यांत्रिकता इसमें नहीं आ पाई, क्योंकि लेखक समस्या को लेकर अन्त तक नहीं बैठा है—वह उपन्यासकार या कलाकार पर दार्शनिक को हावी नहीं होने देता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिभा अग्रवाल

बंगला का रंगमंच : एक आरोप एवं निराकरण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों की तरह भारतीय नाट्य जगत में भी एक नव-जीवन एवं स्फूर्ति का दर्शन होता है। आत्माभिव्यक्ति के इस माध्यम ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के स्तर पर ही नहीं, नाट्यालोचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त हलचल दृष्टिगत होती है। दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आनेवाली इस विधा की आलोचना आमतौर पर साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही पाठ्य मान कर ही की जाती रही है। पिछले दिनों इसकी महत्वपूर्ण विशेषता "अभिनेता" को नाटक का अनिवार्य अंग मानते हुए नए मानदण्ड स्थिर किए गए तथा किसी नाटक की आलोचना उसके साहित्यिक लेखन तक ही सीमित न रहकर उसके प्रस्तुतीकरण की नाना सम्भावनाओं तक विस्तृत हुई। साथ ही रंग आलोचक भी सामने आया जो किसी भी प्रस्तुत कृति के प्रस्तुतीकरण तथा अभिनेयता की दृष्टि से सूक्ष्म विवेचना एवं आलोचना करने लगा। इस महत्वपूर्ण कार्य ने नाना क्षेत्रों में होने वाली नाट्य-गतिविधियों से दूसरों को परिचित कराया तथा उसके गुण-दोषों एवं उपलब्धियों की ओर इंगित किया। आज यह आलोचना केवल-मात्र किसी शहर, प्रान्त या भाषा-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती वरन् सम्पूर्ण भारतीय रंगमंच या कम-से-कम उत्तर-भारतीय रंगमंच की पृष्ठभूमि में की जाती है। बंगाल नाट्य-गतिविधियों में दीर्घकाल से संलग्न रहा है। अतः इन चर्चाओं में बंगला रंगमंच का उल्लेख बराबर ही होता रहता है। किन्तु अनेक बार ऐसा लगता है कि बंगाल के रंगमंच के साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। एक बहुत बड़ा आरोप जो बंगला रंगमंच पर लगाया जाता है वह है उसकी भावुकतापूर्ण अतिनाटकीयता एवं चमत्कारप्रियता। किसी भी रंगमंच, रंगकर्मी या नाट्य-प्रेमी की दृष्टि में यह आरोप पर्याप्त गुरु हैं और स्वाभाविक है कि असंतोष उत्पन्न करें। बंगला रंगमंच की ये दुर्बलताएँ उस तक ही सीमित नहीं मानी जातीं वरन् उनका प्रक्षेपण बंगाल में प्रस्तुत अन्य भाषा-भाषी प्रस्तुतियों तक भी होता है, ऐसा भी माना जाता है। नवीन प्रयोगों के क्षेत्र में बंगला मंच अधिक पुराणपंथी और आत्म-सीमित है, ऐसी ध्वनि भी इन चर्चाओं और लेखों से आती है। मुझे ऐसा लगता है कि केवल इतना कहकर बंगला मंच की आलोचना करना उचित नहीं। अतिनाटकीयता एवं आलोक-प्रभाव द्वारा चमत्कार सृष्टि ही बंगला रंगमंच का सब कुछ नहीं। कुछेक प्रदर्शनों में अवश्य ही इन प्रवृत्तियों को महत्व मिला है किन्तु उनसे कहीं बड़ी संख्या उन प्रदर्शनों की है जिनमें न तो भावुकतापूर्ण अति-नाटकीयता है न किसी भी प्रकार का चमत्कार। दीर्घकाल से मैं कलकत्ता में रह रही हूँ (और कलकत्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा बंगाल के रंगमंच में अन्तर करने का कोई विशेष कारण नहीं क्योंकि लोक-नाट्य-परम्परा को छोड़कर नाट्य-जगत में जो कुछ होता है वह अधिकतर कलकत्ता तक ही सीमित है) और नाट्य-जगत से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है। यहाँ के अधिकांश प्रदर्शनों को देखने का अवसर मिलता रहता है अतः इस सम्बन्ध में अपने अनुभवों के आधार पर कुछ कहना संगत ही नहीं आवश्यक भी प्रतीत होता है। नाट्य-लेखन एवं प्रस्तुतीकरण के अन्य पक्षों को छोड़कर प्रस्तुत चर्चा में मैं अपने को केवल उन प्रदर्शनों तक सीमित रखूँगी जो या तो अति-नाटकीयता एवं चमत्कारप्रियता की दृष्टि से बहु-चर्चित रहे हैं अथवा इसके प्रतिकूल मनोवृत्ति को लेकर चले हैं तथा बंगला रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रहे हैं। यों इसी प्रसंग में कलकत्ते में अबंगलाभाषी प्रदर्शनों की चर्चा भी उचित होगी क्योंकि विभिन्न भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी में यहाँ बराबर नाटक खेले जाते रहते हैं। उनमें से कई एक प्रदर्शन रंगमंच के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना रहे हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बंगला नाटकों की तरह यह चर्चा भी उन आरोपों की सीमाओं का परिचय देने तक ही सीमित रहेगी।

बंगला के रंगमंच पर नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत करने वाले दलों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे जो व्यावसायिक हैं एवं नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन या चार या उससे भी अधिक प्रदर्शन करते हैं। दूसरे वे अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से या समय-असमय बराबर नाटक प्रस्तुत करते हैं। रंगमंच के विकास और योगदान में इन दोनों ही प्रकार के नाट्य-दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम प्रकार के प्रदर्शन लोकप्रियता को दृष्टि में रखकर चलाने के लिए काफी दूर तक बाध्य होते हैं और अधिक से अधिक दिन तक बड़ी संख्या में दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के इच्छुक होते हैं। स्वाभाविक है कि इनके लिए नित नए प्रयोग करना या ऊँचे स्तर की चीज को उठाना, नई विचारधारा और प्रस्तुतीकरण के सर्वथा नए मानदण्डों को लेकर चलना सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि इनके सभी प्रदर्शन सस्ते और असंगतियों से भरे हों। कलकत्ते में विश्वरूपा, मिनर्वा, रंगमहल, स्टार, मूनलाइट, मुखांश, थियेटर सेन्टर के तत्वावधान में नियमित रूप से नाटक खेले जाते रहे हैं। इनमें से मूनलाइट को छोड़कर सभी बंगला में व्यावसायिक स्तर पर नाटक प्रस्तुत करते हैं। गिरीशचन्द्र घोष तथा अमृतलाल बसु का सम्बन्ध इन्हीं रंगमंचों से रहा। अभी पिछले दिनों तक शिशिर भादुड़ी एवं अहीन्द्र चौधरी जैसे कलाकार भी इन्हीं रंगमंचों पर काम करते रहे हैं एवं अपनी कला के श्रेष्ठ प्रदर्शन द्वारा दर्शकों को मुग्ध करते रहे हैं। इनमें से विश्वरूपा, स्टार, रंगमहल व मिनर्वा थियेटर पर्याप्त पुराने हैं एवं बरसों से नियमित रूप से नाटक प्रस्तुत कर रहे हैं। बंगला के श्रेष्ठ नाटकों का प्रस्तुतीकरण इन रंगमंचों पर हुआ है। कुछेक दिनों के लिए कलकत्ते में बाहर से आनेवाले नाट्यप्रेमी आमतौर पर इन थियेटरों में खेले जाने वाले नाटकों को ही देख पाते हैं। इनमें प्रस्तुत होने वाले नाटकों में से कुछ में दृश्य-विधान या आलोक-प्रभाव के विशेष चमत्कार द्वारा जनता को चमत्कृत करने का प्रयत्न अवश्य किया गया है किन्तु ऐसे नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही है। इस दृष्टि से श्री उत्पल दत्त के निर्देशन में "लिटल थियेटर ग्रुप" द्वारा मिनर्वा थियेटर में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत होने वाले नाटक विशेष उल्लेखनीय हैं। "अंगार" में कोयले की खान के ऊपरी भाग एवं उसके भीतरी भाग, जिसमें पानी भर आने के दृश्य को दिखलाया गया है, की बहुत चर्चा हुई है और इसमें श्री तापस सेन के आलोक-प्रभाव ने अवश्य ही दर्शकों को चमत्कृत किया है। इसी ग्रुप के दूसरे नाटक "फ़रारी फ़ौज" में जहाज का डूबना और कल्लोल में जहाज के डेक के ऊपर नाटक के अधिकांश का प्रस्तुत किया जाना, दृश्य-विधान एवं आलोक-प्रभाव का चमत्कार प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से "विश्वरूपा" में प्रस्तुत "सेतु" नाटक ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की। मंच के ऊपर बिछी हुई रेल की लाइन, उस पर दूर से रेल का आना और रेल की पटरी पर खड़ी आत्महत्या के लिए प्रस्तुत महिला को बचाने के प्रयत्न में ड्राइवर का लाइन बदलकर गाड़ी को दूसरी लाइन पर ले जाने का सारा दृश्य केवल मात्र आलोक के प्रभाव के परिणामस्वरूप इतना यथार्थ एवं सजीव हो उठा था कि देखकर आश्चर्य हुआ था। पिछले १५-२० वर्षों में कलकत्ते के व्यावसायिक रंगमंच पर प्रस्तुत नाटकों में चमत्कार के प्रदर्शन की प्रवृत्ति का परिचय इन चार-पाँच नाटकों को छोड़कर अन्यत्र नहीं-सा है। केवल इन कतिपय नाटकों के आधार पर यह मानना कि बंगला का रंगमंच चमत्कार-प्रिय है और प्रदर्शन की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चलता है, बंगला रंगमंच के साथ अन्याय होगा। इन्हीं रंगमंचों पर सैकड़ों ऐसे नाटक प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें चमत्कार या प्रदर्शन का कोई आग्रह नहीं रहा है। बंगला के श्रेष्ठतम नाट्यकारों की कृतियाँ, उपन्यासों के नाट्य-रूपान्तर एवं विदेशी नाटकों के अनुवाद या भारतीय रूपान्तर विभिन्न शैलियों में बराबर प्रस्तुत किये गए हैं जिनमें से किसी को भी चमत्कार और प्रदर्शन को प्रमुखता देने वाला नहीं कहा जा सकता। लिटल थियेटर ग्रुप के ही दूसरे नाटकों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। मैक्सिम गोर्की के "लोअर डेप्थ" का रूपान्तर "नीचेर महल" और "तिताश नदीर नाम" (लेखक का नाम स्मरण नहीं) अत्यन्त सशक्त नाटक थे जिन्हें सीधे-सादे यथार्थ वातावरण में अत्यन्त सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया। ये नाटक विश्व की किसी भी भाषा में प्रस्तुत होने वाले श्रेष्ठ नाटकों की तुलना में रखे जा सकते हैं। बंगला के रंगमंच के सम्बन्ध में आमतौर पर लोगों का—विशेषकर बंगाल के बाहर वाले आलोचकों का—जो यह मत देखने में आता है कि बंगला रंगमंच प्रदर्शन और चमत्कार की विशेष प्रवृत्ति को लेकर चल रहा है, उसका एक और, सम्भवतः एकमात्र कारण यह प्रतीत होता है कि बाहर से आने वाले व्यक्ति जब दो-चार दिनों के लिए कलकत्ता पधारते हैं तो वे एकाध नाटक देख पाते हैं जो उन दिनों किसी थियेटर में चल रहे होते हैं। चूंकि सेतु और अंगार की बहुत चर्चा हुई थी अतः आने वाला हर व्यक्ति इन्हें अवश्य देखता था। समय और अवकाश सीमित होने के कारण बाहर से आने वाले के लिए प्रवासकाल में चलने वाले कई एक नाटकों को देखना सम्भव नहीं हो पाता अतः उसकी धारणा का आधार वही दो-एक नाटक हो पाते हैं जो वह उस समय में देख पाता है अतः उसके मत की कितनी सीमाएँ हैं, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यों बंगला के रंगमंच की चर्चा करते हुए केवल इन व्यावसायिक रंगमंचों की उपलब्धि के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि इस दिशा में व्यावसायिक दलों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतर काम करने वाले दलों का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा। पिछले कई वर्षों से "मुखांश" और अब "थियेटर सेंटर" के तत्वावधान में नाटककार-निर्देशक-अभिनेता श्री तरुणराय बराबर नाट्य-साधना में रत रहे हैं एवं अपने अनेक नाटकों को सफलतापूर्वक मंचस्थ करते रहे हैं।

व्यावसायिक स्तर पर मूनलाइट थियेटर कलकत्ते का एकमात्र थियेटर है जहाँ सप्ताह में छः दिन हिन्दी नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं। पारसी शैली में प्रस्तुत होने वाले मूनलाइट थियेटर के नाटक अवश्य आज के पढ़े-लिखे एवं नवीनता प्रेमी दर्शकों के लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते किन्तु सामान्य जनता के बीच इनकी लोकप्रियता का प्रमाण इन नाटकों का नियमित रूप से खेला जाना एवं इसके अभिनेताओं को अच्छा पारिश्रमिक मिलना है। अवश्य ही ऐसे थियेटरों से नवीन प्रयोग या उच्च स्तर के नाटकों के प्रदर्शन की आशा करना व्यर्थ है। यों एक बात मैं कह दूँ कि सन् १९६४ में अनामिका द्वारा आयोजित नाट्य-महोत्सव में मूनलाइट थियेटर द्वारा प्रस्तुत "सीता-बनवास" नाटक ने जहाँ धर्मनिष्ठ महिलाओं को हर तीसरे मिनिट भगवान् राम और सीता को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया वहीं पढ़े-लिखे अनेक नवीनता प्रेमी व्यक्तियों को भी अपने बचपन की मधुर स्मृतियों में डुबा दिया जब वे अपने शहर या गाँव में सारी रात बैठकर, भूख-प्यास भूलकर ऐसे प्रदर्शन देखा करते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बंगला रंगमंच के विकास में व्यावसायिक दलों के अतिरिक्त अर्द्धव्यावसायिक या शौकिया नाटचदलों का बड़ा महत्वपूर्ण हाथ है जो नियमित रूप से भी समय-असमय अनेक नवीन प्रयोग करते रहते हैं एवं श्रेष्ठ नाटक प्रस्तुत करते रहते हैं। इनमें अग्रणी हैं श्री शंभुमित्र का "बहुरूपी" नाटच-दल। इस दल को अर्द्धव्यावसायिक कहना ही उचित है क्योंकि अन्य व्यावसायिक दलों की भाँति "बहुरूपी" सप्ताह में तीन दिन अपने नाटकों का प्रदर्शन नहीं करता किन्तु इसके अधिकांश कलाकारों, विशेषकर मित्रा दम्पति की जीविका का आधार नाटच प्रदर्शन ही है। शंभुमित्र नियमित रूप से किसी भी थियेटर में अपने नाटक नहीं प्रस्तुत करते किन्तु कलकत्ते एवं उसके आसपास तथा अन्य शहरों में बराबर अपना नाटच-दल लेकर जाते हैं और सालभर में अपने विभिन्न नाटकों के ४०-५० प्रदर्शन प्रस्तुत करते हैं। बहुरूपी के नाटकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "रक्तकरबी", "विसर्जन", "राजा" और "चार अध्याय" (इस नाम के उपन्यास का नाटच रूपान्तर), इब्सन के "एन एनेमी ऑफ दी पीपुल" तथा "डॉल्स हाउस" के भारतीय रूपान्तर क्रमशः "दशचक्र" एवं "पुतुल खैला" तथा सोफोक्लीज़ का "राजा इडिपस" विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में विषय-वस्तु के अनुरूप मंचसज्जा या आलोक का विधान अवश्य ही किया गया है किन्तु चमत्कार या प्रदर्शन के लिए कहीं भी कोई गुंजाइश नहीं रही है। ये सभी नाटक अपनी विषय-वस्तु, प्रस्तुतीकरण-कौशल एवं अभिनय की दृष्टि से श्रेष्ठ रहे हैं। अभी पिछले वर्ष अपनी अमरीका एवं योरोप की यात्रा के दौरान मुझे अनेक नाटकों के देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ और मैं यह निस्संकोच कह सकती हूँ कि बहुरूपी के प्रदर्शन और शंभु बाबू की व्यक्तिगत उपलब्धि एवं कला विश्व के श्रेष्ठतम प्रदर्शनों तथा अभिनेताओं की तुलना में उन्नीस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं पड़ेगी। तकनीकी सुविधाओं की बात हम जाने दें क्योंकि उस क्षेत्र में विदेशी रंगमंच अधिक समृद्ध है और उस दृष्टि से बहुरूपी ही नहीं भारतवर्ष के किसी भी नाट्य-दल की बड़ी सीमाएँ हैं किन्तु यह भी सत्य है कि किसी भी अच्छे नाट्य-प्रदर्शन के लिए तकनीकी-कौशल अनिवार्य नहीं हैं और आज विदेशों में भी तकनीकी-कौशल के आधार पर सफलता प्राप्त करना हेठी समझा जाता है। मैंने जिन नाटकों को देखा उनमें से अधिकांश दृश्य-विधान एवं तड़क-भड़क को कम-से-कम महत्त्व देकर चले थे। अधिकतर नाटक ऐसे थे जिनमें अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों द्वारा प्रतीकात्मक प्रभाव उत्पन्न किया गया था।

इसी प्रकार के दलों में "शौभनिक" का उल्लेख भी उचित है। अपने स्वरूप में अधिक शौकिया होते हुए भी शौभनिक अपने नाटकों का प्रदर्शन अधिक व्यावसायिक रूप में करता है। पिछले आठ-दस वर्षों में इस नाट्य-दल ने बंगला रंगमंच को कई श्रेष्ठ नाटक दिए हैं एवं नवीन प्रयोग किए हैं। नीले आकाश के नीचे खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने का प्रयोग शौभनिक ने किया। मैक्सिम गोर्की के "माँ" उपन्यास का नाट्य-रूपान्तर एवं इब्सन के "घोस्ट" का अनुवाद (इसी के साथ एक और बंगला नाटक भी प्रस्तुत किया था, जो मैं नहीं देख पाई थी) खुले में प्रस्तुत किया। इसमें तीनों ओर दर्शक बैठे थे एवं बीच के खुले मंच पर अभिनेता अभिनय कर रहे थे। "घोस्ट" का तो घटना-स्थल एक ही है, किन्तु "माँ" में विभिन्न स्थलों का आभास अत्यन्त सामान्य परिवर्तनों के द्वारा दिया गया था। "माँ" के घर की खिड़की का चौखटा और बैठने की मेज़-कुर्सियों को हटाकर दो स्टूल एवं दरवाज़े के पास एक गट्ठा रखकर मिल के फाटक का आभास दे दिया गया था। सादगी एवं बिना तड़क-भड़क के प्रस्तुत ये दोनों ही नाटक सफल रहे। कालांतर में शौभनिक को खुले रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत करने के प्रयोग को स्थगित करना पड़ा क्योंकि कलकत्ते में मौसम की अनिश्चितता नियमित रूप से ऐसे प्रयोगों को दीर्घकाल तक नहीं चलने दे सकती। अतः इन्होंने एक प्रकार का समझौता कर लिया है और अब एक मैदान में स्थायी रूप से बनाए अस्थायी रंगमंच एवं त्रिपाल तने प्रेक्षागृह में दर्शकों को बैठाकर नाटक दिखाते हैं। इन्होंने पिछले कई वर्षों में अच्छे प्रयोग किए हैं और इनका पिछला नाटक "एवम् इन्द्रजीत" विशेष सराहनीय प्रयोग है। श्री बादल सरकार द्वारा लिखित यह नाटक अनाटकीय नाटक का बड़ा सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है। नाट्य-लेखन तथा प्रस्तुतीकरण दोनों में ही नवीन प्रयोग किये गए हैं। प्रस्तुतकर्त्ताओं को प्रारंभ में इस बात की बड़ी शंका थी कि यह नाटक आम जनता ग्रहण कर पायेगी या नहीं किन्तु आश्चर्य हुआ दर्शकों द्वारा इसके स्वीकार को देखकर। अभी तक वे साठ से अधिक बार इस नाटक को खेल चुके हैं और बिना किसी प्रचार के भी जिस प्रकार दर्शक उमड़े पड़ रहे हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें अभी बहुत रातों तक यह नाटक खेलना पड़ेगा। जीवन की बे-सिलसिलेवार अनेक घटनाओं एवं अनुभूतियों के खंडों में भी मिलने वाले सिलसिले एवं अखंडता को नाट्यकार ने जिस कुशलता के साथ एकसूत्र में पिरोया है, यथार्थता एवं सार्थकता प्रदान की है, उसे इसके प्रस्तुतकर्त्ता एवं मुख्य भूमिका में अभिनय करने वाले श्री गोविन्द गंगोपाध्याय एवं उनके साथी अभिनेताओं ने उतनी ही कुशलता के साथ मूर्तिमान किया है, सप्राण बनाया है। अभिनेताओं ने न केवल अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीत पात्रों के तीस वर्ष के जीवनकाल को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है वरन् एक साथ विभिन्न भूमिकाओं का भी निर्वाह किया है। कालेज के एक अठारह-उन्नीस वर्षीय युवक-छात्र के रूप में प्रस्थान करने के एकाध-मिनिट के अन्दर ही आगे की ओर लटकाकर बाल काढ़े, कन्धे पर चादर रखे, आँखों पर चश्मा चढ़ाए, प्राध्यापक के रूप में प्रवेश करके अभिनेताओं ने न केवल आश्चर्य-चकित किया वरन् अभिनय की सजीवता तथा व्यक्तित्व के सर्वथा रूपान्तर को मूर्त्त भी किया। अंग-संचालन एवं विभिन्न भाव-भंगिमाओं द्वारा कथोपकथन के अभाव में भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इतना सजीव अभिनय किया—पैंटोमाइम का इतना मार्मिक एवं विश्वसनीय रूप दिखलाया—कि अभिनेता के अभिनय-कौशल एवं निर्देशक की कल्पना की प्रशंसा किए बिना नहीं रहा गया। रंगमंच, दृश्य-विधान तथा आलोक प्रभाव इत्यादि की अत्यन्त सामान्य व्यवस्था होते हुए भी यह प्रदर्शन नाना दृष्टियों से श्रेष्ठ एवं सफल प्रदर्शन का गौरव पाने का अधिकारी है। "मुक्तांगन" (शौभनिक द्वारा अपने इस प्रेक्षागृह को दिया गया नाम) में ही तीन-चार वर्षों पूर्व एक नाटक देखा था "वैपिकी विदाय"। सन् ३० के आस-पास का लिखा यह सुखांत नाटक—चाहें तो प्रहसन कह सकते हैं—अपनी सहजता एवं जीवन की मार्मिकता के स्वाभाविक चित्रण के कारण ही मर्म को स्पर्श कर पाया था। उस युग में लिखे गए सुखांत नाटकों की समस्त दुर्बलताओं या सबलताओं और अति-नाटकीयता के बावजूद कोई भी नाट्य-प्रेमी इसको सफल नाटक मानेगा। इसकी सफलता का बड़ा श्रेय श्री सविताव्रत दत्त को है जिन्होंने एक ऐसे पात्र की भूमिका का निर्वाह किया था जो बात-बात में गाना गाता चलता है। ठुमरी, टप्पा, दादरा, आधुनिक बंगला गान, भजन, इन सबकी एक-एक दो-दो कड़ी सविताव्रत बाबू सारे नाटक में गाते गए हैं और बिना किसी वाद्ययंत्र की सहायता के सरस एवं सुमधुर कंठ से वे सारे वातावरण को रस-स्निग्ध करते रहे हैं। ऐसा अनुभव तथा रस प्राप्ति कभी-ही-कभी हो पाती है।

बंगला के रंगमंच की चर्चा के साथ ही इस प्रसंग में उन नाट्य-दलों का उल्लेख भी आवश्यक है जो इतर भाषाओं में बराबर नाटक खेलते रहते हैं तथा इस प्रकार अ-बंगाली भाषाभाषी व्यक्तियों के नाट्यानुराग का परिचय देते हैं। कलकत्ते में हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले विभिन्न शौकिया दल हैं जो नियमित रूप से प्रति सप्ताह तीन-चार प्रदर्शन तो नहीं करते किन्तु हर साल कम-से-कम दो-एक नाटक खेलते रहते हैं। इनकी अपनी दृष्टि एवं अपनी विशेषताएँ रही हैं। इस प्रसंग में हिन्दी एवं अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करने वाले नाट्य-दलों की चर्चा महत्वपूर्ण है क्योंकि इन भाषाओं में नाटक करने वाले कई नाट्य-दल हैं जिन्होंने रंगमंच की गतिविधियों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हिन्दी नाट्य-दलों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण "अनामिका" है। अपने दस वर्षों के जीवनकाल में अनामिका ने २५-३० नाटक एवं एकांकी प्रस्तुत किए हैं। सन् १९५९ में संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित अखिल भारतीय नाट्य-प्रस्तुतीकरण प्रतियोगिता में अनामिका द्वारा प्रस्तुत "नये हाथ" को प्रथम पुरस्कार मिला था। अनामिका द्वारा प्रस्तुत नाटकों में "नये हाथ", "जनता का शत्रु", "आषाढ़ का एक दिन", "घर-बाहर", "छपते-छपते" और "सुहाग के नूपुर"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी-न-किसी दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रयोग रहे हैं। इनमें से 'जनता का शत्रु', 'आषाढ़ का एक् दिन', 'सुहाग के नूपुर' एवं 'घर-बाहर' श्रेष्ठ नाट्य-कृति या रूपान्तर ही नहीं रहे हैं वरन् साहसपूर्ण प्रयोग भी। प्रयोगों की दृष्टि से एरीना थियेटर में प्रस्तुत मिहेल सिबेशियन के "स्टाप प्रेस" का भारतीय रूपान्तर "छपते-छपते" कलकत्ता, बंगाल या हिन्दी रंगमंच ही नहीं वरन् भारतीय रंगमंच का एक महत्वपूर्ण प्रयोग रहा है। इसकी सफलता भारतीय रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि रही है और इसका श्रेय इसके निर्देशक श्री श्यामानन्द जालान को है। चारों ओर बैठे हुए दर्शकों ने अपने बीच अभिनय करते कलाकारों को पाकर अद्भुत सामीप्य का अनुभव किया था। दिसम्बर १९६४ में आयोजित नाट्य-महोत्सव के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष से आए नाट्यविदों एवं कलाकारों द्वारा प्राप्त प्रशंसा ने "छपते-छपते" एवं एरीना थियेटर की सफलता पर एक और मुहर लगाई। अनामिका के इन सभी प्रदर्शनों में विषय एवं वातावरण के अनुकूल प्रभाव-सृष्टि ही परिचालक का मुख्य उद्देश्य था। दर्शकों ने यदि अनामिका के नाटकों को पसन्द किया तो उनके अन्तर्निहित ठोस गुणों के कारण, चमत्कार या प्रदर्शन के कारण नहीं। अनामिका द्वारा प्रस्तावित रिपर्टरी थियेटर की योजना हिन्दी रंगमंच के विकास की एक महत्वपूर्ण घटना होगी जबकि अच्छे स्तर के सुरुचि सम्पन्न नाटक नियमित रूप से प्रस्तुत किए जा सकेंगे। अभिनय-पाठ को भी अनामिका ने पर्याप्त लोक-प्रिय बनाया है और पिछले वर्षों में कई नाटकों का अभिनय-पाठ किया है।

गत चार वर्षों से संगीत-कला मंदिर साल में कम-से-कम एक नाटक प्रस्तुत कर रहा है। शीघ्र ही सम्पूर्ण होने वाला इसका निजी प्रेक्षागृह संगीत-कला मंदिर की नाट्य-गतिविधि को और विकसित करेगा, ऐसा विश्वास है। इन दो संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे दल हैं जो शौकिया स्तर पर बराबर नाटक खेलते रहते हैं। सम्भव है नवीन प्रयोगों की दृष्टि से इन विभिन्न नाट्य-दलों की उपलब्धियाँ विशेष महत्वपूर्ण न हों किन्तु नाटक के प्रति जनरुचि बनाने का बहुत बड़ा काम इन्होंने किया है, इसमें सन्देह नहीं।

कलकत्ते में कई ऐसे नाट्य-दल भी हैं जो अंग्रेजी में नाटक प्रस्तुत करते हैं। इनमें "ड्रैमेटिक क्लब ऑफ कैलकटा", "प्लेयर्स", "ऐमेचर्स" विशेष उल्लेखनीय हैं। विदेशी एवं भारतीय कलाकार सम्मिलित रूप से इन नाटकों में भाग लेते हैं और साल में दो-तीन नाटक बराबर प्रस्तुत करते हैं। अवश्य ही इनका स्तर काफी अच्छा होता है और रंगमंच की गतिविधियों में इनका भी योगदान है। ड्रैमेटिक क्लब का पिछले दिनों खेला गया नाटक "स्ट्रीटकार नेमड डिज़ायर" बहुत ही सफल प्रदर्शन रहा। कई एक वर्षों पूर्व "प्लेयर्स" द्वारा प्रस्तुत पिरांडेलो का नाटक "सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च ऑफ एन ऑथर" अंग्रेजी रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

इस प्रकार कलकत्ता में होने वाली विभिन्न नाट्य-गतिविधियों पर यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि नाना क्षेत्रों में अपने-अपने ढंग से यहाँ बराबर प्रयोग एवं प्रयत्न होते रहते हैं। इन प्रयोगों एवं प्रयत्नों के मूल में नाट्य के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण करने एवं उपलब्ध करने की प्रवृत्ति बराबर काम करती रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रणवीर रांग्रा

विकासशील मानव-चेतना का महाकाव्य : लोकायतन

आज मानव अपनी प्रगति पर फूला नहीं समाता। जल-थल पर तो उसका आधिपत्य था ही, आकाश को भी उसने मथ डाला है। अणु से लेकर अनन्त तक सब-कुछ अब उसकी पहुँच के भीतर लग रहा है। भूलोक को जीतकर अब वह चन्द्रलोक की ओर बढ़ रहा है। पर इन सब उपलब्धियों के बावजूद जितना दुखी और विषन्न वह आज है, उतना शायद पहले कभी नहीं था। कारण, बहिर्जगत में पूरी तरह खोकर वह अपने अन्तर्जगत को भूल गया है। उसके बाहर और भीतर के संसार का सन्तुलन बिगड़ चुका है; उसकी बहिर्चेतना और अन्तश्चेतना का सामंजस्य नष्ट हो गया है। जब तक इन दोनों में फिर से सामंजस्य स्थापित नहीं होता, मानव की भटकन अनन्त रहेगी।

'पल्लव' से लेकर लोकायतन' तक महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-साधना इसी सामंजस्य की शोध में लीन रही है। बीच में, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे मार्क्स-वाद की ओर झुककर कुछ देर के लिए अवश्य बहिर्मुख हो गए थे, पर शीघ्र ही वे 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण' में अपनी मूल जिज्ञासा पर लौट आए और उन्हें निश्चय हो गया कि "आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख", क्योंकि—"बहिर्चेतना जागृत जग में, अन्तर्मानव निद्रित; बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत।" पर एकान्त अन्तर्मुखी साधना की विकृतियों से भी पन्तजी अनभिज्ञ नहीं थे। इसलिए, दोनों के सन्तुलन पर बल देते हुए वे मानव-जीवन के सत्य की ओर बढ़े—

> **"वही सत्य मानव-जीवन का कर सकता परिचालन,**
> **भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,**
> **औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरन्तन।"**

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पन्तजी की यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अर्थ में धार्मिक नहीं, पर सूक्ष्मचेतना के 'धरातल पर मनोवैज्ञानिक अवश्य है। यह वह आध्यात्मिकता है जो भौतिकता का तिरस्कार नहीं करती, उसका परिष्कार करती है; जो जीवन से वियुक्त नहीं, संयुक्त है; जिसमें जीवन, ईश्वर का पर्याय है। 'लोकायतन' में यह आध्यात्मिकता चरम विकास को प्राप्त हुई है—"तुम जीवन-ईश्वर को पूजो," क्योंकि—

> **"अब भू-मंगल ही जीवन व्रत, जीवन रचना ही तप साधन।**
> **अर्पित मन का श्रम पूर्ण योग, भव शोभा मुख में प्रभु दर्शन॥"**

'लोकायतन' व्यष्टि-साधना का काव्य नहीं, समष्टि-चेतना का, सामूहिक कर्म का काव्य है : "रचना मंगल श्रम से ही जन के, सम्भव जीवन-ईश्वर का अर्चन।" पर इस कृति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय अध्यात्मवाद इतना निखरकर आया है कि उसे पहचानने में कठिनाई हो सकती है। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसके अनुभूति पक्ष के अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल होने के कारण हिन्दी-जगत् में इसकी प्रतिक्रिया विविध रूपों में व्यक्त हुई। इसलिए, बड़ी इच्छा थी कि पन्त जी से मिलकर उनके इस महाकाव्य पर चर्चा की जाए। एक दिन सुअवसर भी मिल गया।

मैंने चर्चा पन्त जी के प्रबन्ध-काव्य की ओर झुकने को लेकर ही शुरू की और पूछा : " 'लोकायतन' से पहले आपके काव्य-विकास से लगभग निश्चय हो गया था कि आपके कवि की प्रकृति प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक के अधिक अनुकूल है और वह महाकाव्य की अपेक्षा महान् काव्य की रचना में अधिक प्रवृत्त है। पर 'लोकायतन' के प्रकाशन से लगा कि महाकाव्य रचने की दिशा में आप बहुत पहले से और गम्भीरतापूर्वक सोच रहे थे। 'स्वर्णधूलि' और 'स्वर्णकिरण' की अनेक कविताओं में इनकी झलक मिलती है :

खुला अब ज्योति-द्वार,
उठा नभ प्रीति-द्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन -. करताऽभिसार,
धरा पर ज्योति भरण
हँसी लो स्वर्ण-किरण।

"कृपया बताएँ, ऐसी कौन-सी बाहरी एवं भीतरी प्रेरणाएँ थीं जिन्होंने आपको महाकाव्य की दिशा में प्रवृत्त किया ?"

प्रश्न को पूरी गम्भीरता से लेते हुए पन्त जी बोले : "आपके प्रश्न को मैं यदि एक-दूसरी प्रकार रखूँ तो शायद अपनी बात और अच्छी तरह व्यक्त कर सकूँगा। जीवन के प्रति मेरा जो दृष्टिकोण रहा है उससे मुझे लगता है कि कवि या सर्जक जो कुछ भी लिखता है उसमें युग की परिस्थितियों तथा युग की चेतना का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इस दृष्टि से देखें तो आज के युग में ऐसी बहुत-सी शक्तियाँ तथा मनोभावनाएँ कार्य कर रही हैं जो कि कहानियों अथवा मुक्तक कविताओं के रूप में अभिव्यक्ति पा रही हैं। लेकिन इन भावनाओं तथा शक्तियों का अतिक्रम कर इस युग में एक ऐसी व्यापक शक्ति अथवा चेतना कार्य कर रही है जो इस युग की बहुमुखी प्रवृत्तियों में एक सर्वांगीण संयोजन भरने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह तो आप स्वयं भी देखते होंगे कि इस युग में जहाँ एक ओर ह्रास और विघटन की शक्तियाँ कार्य कर रही हैं वहाँ विश्वजीवन के पुनर्निर्माण की एक गम्भीर आवश्यकता भी विश्व-मन में उदित हो रही है।

" 'पल्लव' के बाद, एक प्रकार से, मेरा काव्य विश्व-जीवन की गतिविधियों से युक्त रहा है और मैंने समय-समय पर उन प्रवृत्तियों को अपने काव्य-संकलनों में संजोने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उनमें एक विविधता वर्तमान रही है। किन्तु भीतर-ही-भीतर अपने मन में मैं भी विश्व-जीवन की इन गतिविधियों को एक व्यापक पट पर संजोने के लिए प्रयत्नशील रहा हूँ, जिससे इन विभिन्न लगने वाली गतिविधियों को एक समग्र दृष्टि से देखा जा सके। तो एक प्रकार से युग-जीवन ने ही मुझे बाध्य किया है कि मैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज के विश्व-मानस को एक प्रबन्ध-काव्य में बाँध सकूँ, जैसा कि मैंने 'लोकायतन' में भी कहा है—

छन्द ग्रथित कर खण्ड धरा-मानस को
जीवन रचना करो, तन्त्र में नूतन ।

'लोकायतन' अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों की परम्परा के लिए—और उस परम्परा के पाठकों के लिए भी—बहुत बड़ी चुनौती है। इस बात को उठाते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' न किसी महान् व्यक्ति के जीवन-चरित् को लेकर चलता है न अतीत के किसी स्वर्णयुग का गौरव-गान करता है और न ही पतितों-शोषितों के उद्धार का बीड़ा उठाता है। इसकी कथावस्तु नगण्य-सी है और पात्रों का चरित्र-चित्रण भी इसका ध्येय नहीं। विचार के धरातल पर भी इस कृति में क्रान्ति के दर्शन होते हैं। भारतीय अध्यात्म-वाद के विरुद्ध यह कृति बड़े ज़ोर की आवाज़ उठाती है : योगियों की काम्य अवस्था समरसता या समत्वयोग को आत्मबोध की निष्क्रिय स्थिति मानकर उसे व्यर्थ सिद्ध करती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से मुक्त होकर स्वतन्त्र मनन-चिन्तन की जो प्रवृत्ति 'लोकायतन' में मिलती है वह निश्चय ही स्वस्थ, अतः अभिनन्दनीय है। पर, जहाँ तक मेरी जानकारी है, मृत्यु से साक्षात्कार हुए बिना प्राचीन संस्कारों से मुक्ति पाना असम्भव है। लगता है, आपको भी मृत्यु से जूझना पड़ा है या अनेक बार मरण की यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ी हैं जो आपको यह दृष्टि मिल सकी। कृपया बताएँ, मेरा ऐसा सोचना कहाँ तक ठीक है ?"

मेरी बात को बड़े धैर्य से सुनने के बाद पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में किसी महान् व्यक्ति, चरित्र या व्यक्तित्व की स्थापना इसलिए नहीं मिलती है कि यह एक सर्वांगीण चेतना का काव्य है। महान् से महान् व्यक्ति इस चेतना-सिन्धु के एक विशिष्ट ज्वार या तरंग के रूप में कहे जा सकते हैं। प्राचीन काव्य चरित्र-प्रधान या नायक-प्रधान इसलिए हैं कि वे परम्परा पर आधारित मूल्यों के उपासक हैं और 'लोकायतन' एक समग्र उन्मुक्त विकासशील मानव-चेतना का काव्य है. जैसा कि मैंने इसकी भूमिका में भी कहा है : 'इसमें जो भी व्यक्ति या चरित्र आए हैं वे केवल मानव-चेतना को आगे बढ़ाने वाले पालकी-वाहक हैं।'

" 'लोकायतन' में विचारों के धरातल से भी अधिक चेतनामूलक क्रान्ति मिलेगी। यह भारतीय अध्यात्म के विरुद्ध न होकर मध्ययुगीन अध्यात्म के विरुद्ध है जिसमें ईश्वर को जगत् से विच्छिन्न कर दिया गया है और ईश्वर का स्पर्श जगत् और जीवन के भीतर से न पाकर, उसके लिए एकांगी और ऊर्ध्वमुखी, निवृत्तिमूलक पारलौकिक पथ पर जोर दिया गया है। योगियों अथवा द्रष्टाओं ने जिस समरस स्थिति के दर्शन केवल आत्म के स्तर पर प्राप्त करके सन्तोष ग्रहण कर लिया है, मैंने उसे जगत् और जीवन की ओर प्रेरित करने पर बल दिया है। और इस प्रकार उस निष्क्रिय आत्मबोध की स्थिति को सक्रियता प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

" 'लोकायतन' को मैं दूसरी दृष्टि से सिद्ध-काव्य मानता हूँ, क्योंकि उसके भीतर जो कुछ भी है, वह काल्पनिक नहीं, मेरा अनुभूत सत्य है, और वह किसी भी मनुष्य का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अनुभूत सत्य होने की क्षमता रखता है। मुझे इस बात का भी अनुभव हुआ है कि जिन पाठकों ने सहज दृष्टि से आस्थापूर्वक इसका बार-बार अध्ययन किया है, उन्हें भी उसी प्रकार सोचने की दृष्टि मिल सकी है, जैसा कि मुझे अनेक पाठकों के पत्रों से ज्ञात हुआ है। यह एक धार्मिक काव्य न होकर सांस्कृतिक काव्य है। इसलिए, इसके लिए धार्मिक आस्था नहीं, प्रत्युत् मानवमूल्य पर आधारित आस्था अपेक्षित है।

"मेरे भीतर 'लोकायतन' की चेतना का संघर्ष सन् १९२६ से ही प्रारम्भ हो गया था और उसके बाद मैंने जो कुछ भी लिखा है वह किसी-न-किसी रूप में उसी संघर्ष का द्योतक है। चेतनामूलक विभिन्न क्षेत्रों की अपनी जिन अनुभूतियों को मैं 'पल्लव' के बाद की रचनाओं में वाणी देता आया हूँ, उनका समग्र संयोजित रूप ही 'लोकायतन' में मिलता है। जैसा कि मैंने 'आधुनिक कवि' की भूमिका में भी लिखा है, जगत् तथा जीवन के प्रति मेरी विगत संस्कारगत दृष्टि की मृत्यु हो चुकी थी। नई दृष्टि को प्राप्त करने के लिए मुझे अविराम घोर संघर्ष करना पड़ा जिसका विनम्र दिग्दर्शन मैंने 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' में भी किया है। अपनी साधना के विषय में विस्तार से कहना अशोभन लगता है। इसीलिए जब भी उसकी आवश्यकता पड़ती है, मैं उस विषय में संकेत मात्र करके छोड़ देता हूँ।"

'लोकायतन' में पन्तजी ने जिस आध्यात्मिकता का प्रतिपादन किया है, उसका ज़िक्र करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' में भारतीय अध्यात्मवाद का बड़ी निर्ममता से खण्डन हुआ है, पर इस कृति में अन्ततः प्रतिष्ठित भी आध्यात्मिकता ही हुई है, यद्यपि यह आध्यात्मिकता ऐसी है जो दमन नहीं, उन्नयन को प्रश्रय देती है; प्रेम की प्रेरणाओं को काटती नहीं, पालती है। कृपया बताएँ, इस आध्यात्मिक चेतना की उपलब्धि में आपको किस व्यक्ति या दर्शन से सर्वाधिक प्रेरणा मिली ?"

अध्यात्मवाद की अपनी संकलपना को स्पष्ट करते हुए पन्त जी बोले : " 'लोकायतन' में मैंने मध्ययुगीन जीवन परम्पराओं तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों का खण्डन किया है और भारतीय अध्यात्म से जो कुछ मुझे अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की कसौटी में प्राप्त हो सका है, उसी की स्थापना मैंने इस लोकजीवन-सम्बन्धी काव्य में करने की कोशिश की है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि वही सच्ची भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि है जो लोक-जीवन के कल्याण में, मानव-प्रवृत्तियों के परिष्कार में और सर्वमंगलमय सन्देश में विश्वास रखती है। वह दृष्टि भौतिकता को आध्यात्मिकता की पदपीठ मानती आई है, जैसा कि हमें "पदभ्यां पृथ्वी" जैसे आर्षवचन में मिलता है।

"यह आध्यात्मिक क्रान्त-दृष्टि मुझे अपने युग की समस्याओं से ही मिली है। शैव तथा वैष्णव साहित्य के अध्ययन से, उपनिषदों तथा पुराणों के मनन से, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री अरविन्द आदि द्रष्टाओं तथा चेतना के साधकों के व्यक्तित्वों से मुझे अपने अंतःसंघर्ष को समझने तथा सुलझाने में सर्वाधिक प्रेरणा तथा सहायता मिली है। जैसा कि मैं पहले भी कह चुका हूँ, ये सब मनीषी तथा पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक तथा राजनीतिक चिन्तक भी केवल इस युग के विश्व-मर्न की देन हैं जिनका ठीक युगीन आवश्यकता की पूर्ति के लिए जन्म हुआ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लोकायतन' पढ़ते समय मुझे लगा था कि माधव और वंशी मानव की दो परस्पर-विरोधी दीखने वाली प्रवृत्तियों के परिचायक हैं—माधव निराला जी के निकट हैं तो वंशी स्वयं पन्त जी के। अपनी इस धारणा को व्यक्त करते हुए मैंने कहा : " 'लोकायतन' व्यष्टि का नहीं समष्टि का काव्य है, जिसमें वैयक्तिक मुक्ति को निरर्थक और सर्वमुक्ति को ही व्यक्ति-मुक्ति माना गया है। इसमें व्यष्टि का प्रतीक माधव बना है और समष्टि का वंशी। माधव में निराला जी की झाँकी मिल जाती है और वंशी में आपकी। मुझे लगता है, ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; विलोम दीखते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। माधव वंशी को बाँधता ही नहीं, खोलता भी है। स्वयं वंशी पर भी यह तथ्य प्रकट हो जाता है कि—'वंशी के ही थे विलोम माधव, जान सका, जिनसे वह अपने को'। इसी प्रकार, मैं समझता हूँ, व्यक्ति-मुक्ति सर्वमुक्ति का विलोम दीखे भले ही, पर है नहीं। 'स्व' की सीमा लाँघ बिना कोई 'पर' की—और उससे भी आगे 'सर्व' की—सोच ही कैसे सकता है और 'सर्वमुक्ति' का कामी आत्मकेन्द्रित कैसे हो सकता है? इस गुत्थी को सुलझाने की कृपा करें।"

मेरे इस प्रश्न से चर्चा व्यक्तिगत स्तर पर आ सकती थी और मुझे डर था कि कहीं बात बिगड़ न जाए। पन्त जी शान्त और संयत स्वर में बोले : "इसमें सन्देह नहीं कि 'लोकायतन' समष्टि का काव्य है, लेकिन यह समष्टि व्यष्टि-विरोधी समष्टि नहीं, जैसा कि आज के ह्रास-युग का व्यक्ति सोचता है। निर्माण के युग में सदैव व्यष्टि और समष्टि एक-दूसरे के पूरक रहते हैं और ह्रास के युग में वे एक-दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। यह इसलिए कि समष्टितः तो मानव-चेतना या विश्व-जीवन आगे बढ़ने की चेष्टा करता है और अप्रबुद्ध व्यक्ति पिछड़े या विगत सांस्कारिक जीवन का प्रतिनिधि होने के कारण समष्टि के पथ में विरोध उपस्थित करता है।

"मैं इस बात से पूरी तरह सहमत नहीं हूँ कि माधव में निराला जी की झाँकी मिलती है और वंशी में मेरी। इसमें माधव या माधोगुरु विगत सांस्कृतिक मूल्य अथवा विगत मानव अर्हता के प्रतीक हैं और वंशी विकासशील चेतना तथा भावी मानवमूल्यों का प्रतीक है। और लोगों ने भी मुझसे कहा है कि माधो में निराला जी की और वंशी में मेरी झाँकी मिल जाती है। लेकिन कोई ध्यानपूर्वक पढ़े तो शान्ति आश्रम के संचालक माधव निराला जी से बिल्कुल ही भिन्न व्यक्ति हैं और बहुत सम्भव है कि निराला जी के व्यक्तित्व का कुछ अंश वंशी में और मेरे व्यक्तित्व का कुछ अंश माधव में मिल जाए। इस समष्टिगत विकास के संचरण तथा युग-परिवर्तन में इस प्रकार की बाहरी-भीतरी बाधाएँ उपस्थित होना स्वाभाविक है क्योंकि किसी भी मूल्य या वस्तु का एक क्षण में रूपान्तरण नहीं हो सकता, इसलिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वंशी, एकदम विगत की पृष्ठभूमि से विच्छिन्न न हो सके और माधव आने वाली विकास-पीठिका की ओर चरण बढ़ाने में हिचके। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि माधव वृत्ति अतीतोन्मुखी है और वंशी की भविष्योन्मुखी। इस युग के संघर्ष को स्पष्ट करने के लिए इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का संघर्ष दिखाना 'लोकायतन' जैसे विश्व-भूमिका पर चलने वाले काव्य के लिए अनिवार्य था। माधो और वंशी एक-दूसरे के विलोम या पूरक इस अर्थ में हैं कि वे विश्व-विकास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक आवश्यक द्वन्द्व-परम्परा की पूर्ति करते हैं।"

अनुभूति-प्रधान काव्य होने के कारण 'लोकायतन' अपने पाठकों से विशेष आयास और पूर्ण मनोयोग की अपेक्षा करता है जो हर किसी से नहीं हो पाता। इसलिए अनेक स्थलों पर वह दुरूह लगने लगता है। पाठक की इस कठिनाई की चर्चा करते हुए मैंने कहा : "प्रथम सर्ग" 'पूर्वस्थिति' में आपने भारतीय लोकमानस के उपचेतन में व्याप्त जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों का बड़े सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढंग से दिग्दर्शन कराया है तथा 'उत्क्रान्ति' में अन्तःशुद्धि द्वारा नए संस्कार डालने के उद्देश्य से मानवचेतना को अनेक ज्योति-चक्रों से गुज़ारते हुए कई स्वर्णिम सोपानों पर चढ़ाया है। ये दोनों सर्ग बड़े भव्य बने हैं, पर गूढ़ इतने हैं कि इनमें आए प्रतीक साधारण पाठक की पकड़ से बाहर होने के कारण वह मन की ध्यानभूमियों, चेतना के विविध स्तरों की बारीकियों को समझ नहीं पाता और उसे अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति दीखने लगती है। आप 'लोकायतन की प्रतीक-योजना पर थोड़ा प्रकाश डाल दें तो बड़ी कृपा होगी।"

पन्त जी बोले—"इस युग में फ्रायड आदि के मनोविज्ञान के कारण मनश्चैतन्य के निचले उपचेतन, अचेतन स्तरों पर ही अधिक बल दिया जाता है, यहाँ तक कि कला, दर्शन और काव्य भी इन दृष्टिकोणों से अतिरंजित पाये जाते हैं। मैंने 'लोकायतन' में चेतनामूलक भारतीय दृष्टिकोण ही रखा है जो मुझे अधिक पूर्ण लगता है। हमारे यहाँ सप्त-सिन्धु आदि प्रतीकों द्वारा चेतना के सात स्तरों या लोकों की बात कही गई है और सात स्तर भू, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः, सत्य हैं—जिनको आप आधुनिक मानव के लिए अन्न, प्राण, मन, महतत्व, सत्, चित्, और आनन्द (सच्चिदानन्द भी कह सकते हैं। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने केवल प्राणचेतना के ही विभिन्न स्तरों को महत्व दिया है। इसीलिए, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा है। और मानव जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जितने भी समाधान दिए हैं, वे भी सब एकांगी रहे हैं। जो मूलगत भारतीय दृष्टिकोण है, मैंने उसके अनुरूप ही मानव-चेतना को विश्व-जीवन में संजोने की चेष्टा की है, क्योंकि प्राणों का या मन का स्तर व्यक्ति में सीमित न होकर एक विश्वव्यापी स्तर है। इसलिए व्यक्तिगत चेतना का संस्कार एक सामाजिक या विश्व धरातल से शक्ति संचय करने का प्रयत्न करता है और इसलिए उसके सामाजिक रूप को अधिक महत्व दिया गया है। इन चेतना-भूमियों को ध्यान में रखने से 'लोकायतन' में आई हुई प्रतीक-योजना को समझने में सहायता मिलेगी।"

'लोकायतन' के बौद्धिक-पक्ष पर चर्चा छेड़ते हुए मैंने पूछा—" 'लोकायतन' की स्थापना है—'रागचेतना का विकास ही, निखिल प्रगति का सार, न संशय।' पर 'लोकायतन' स्वयं, काव्य के रूप में, रागात्मक कम और बौद्धिक अधिक हो गया है. क्या इसे आज के बुद्धिवादी युग का प्रभाव माना जाए?"

प्रश्न एक प्रकार के आक्षेप के रूप में आया था, पर उसे शान्ति से झेलते हुए पन्त जी बोले—"आने वाले जीवन को समझने के लिए हमारी वर्तमान राग-भावना पर्याप्त नहीं है क्योंकि इस राग-भावना के मूल हमारे अतीत के जीवन में हैं। आने वाले युग को समझने के लिए जिस राग-भावना की आवश्यकता होगी, वह निश्चय ही बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आँच में जाकर सोने-सी निखरी भावना होगी। आज भी हमें intellectualised emotion या emotionalised intellect जैसी बुद्धि और भावना के लिए परिकल्पनाएँ देखने को मिलती हैं। 'लोकायतन' की चेतना को जो भावना व्यक्त कर सकती थी, उसमें निश्चय ही बुद्धि का एक अंश निहित है, इसलिए, 'लोकायतन' बाह्य दृष्टि से. बौद्धिक काव्य दीखने पर भी अन्ततः उपयुक्त अर्थ में भावना-प्रधान या रस-प्रधान काव्य है। मेरे कई पाठकों के मन में भी ऐसी ही प्रतिक्रिया हुई है। यह काव्य भावना मूलक इसलिए भी है कि यह मूलतः व्यापक से व्यापक अर्थ में मानव-प्रेम का काव्य है।"

फिर, चर्चा को समेटते हुए पन्त जी ने कहा—"अन्त में मैं आपसे यह भी कहना चाहूँगा कि 'लोकायतन' में मैंने किसी महत् स्वप्न की कल्पना नहीं की है। उसमें मैंने मानव-जीवन के महत् सत्य अथवा अन्तःसत्य को ही प्रबुद्ध पाठकों के सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है। वह ऊर्ध्व तथा समदिक् जीवन के असफल समन्वय का काव्य नहीं, मानव-चेतना के बहिरन्तर रूपान्तरण का काव्य है। ऊर्ध्व और समदिक् के समन्वय सम्बन्धी उसके कुछ समीक्षकों की कल्पना वैसी ही अर्थहीन तथा हास्यास्पद है जैसी कि हाईस्कूल तथा एम.ए. के पाठ्यक्रम के समन्वय की कल्पना हो सकती है। क्योंकि समदिक् संचरण मानव-जीवन-सत्य का एक निचला सोपान भर है, जिसे विकासक्रम में अपनी ऊर्ध्वा-स्थितियों की ओर प्रगति करना है। ऐसे भ्रामक समन्वय की कल्पना के कारण ही मन अपने को भूल-भुलैया में भटका हुआ पाता है और अन्तर्मूल्य सम्बन्धी ऐसे ही धुन्ध के कारण दृष्टि कला-शिल्प के भीतर भी प्रवेश नहीं कर सकती।

"दूसरी बात यह कि 'लोकायतन' के राग-चेतना उन्नयन से सम्बद्ध होने के कारण जैसा कि प्राचीन राम कृष्ण पर आधारित संस्कृतियाँ भी अपने स्तर पर रही हैं—उसमें रागभावना की साम्प्रत निम्न स्थितियों का चित्रण आवश्यक हो जाता है। वर्तमान जीवन-विकास की स्थिति में रामभावना के रथ को बादलों के ऊपर-ही-ऊपर ले जाना इस फ्रायड-युग में स्वाभाविक न होता। उसके चकों को युग-जीवन के कर्दम में धँसा हुआ दिखाना भी आवश्यक था। रूप सौन्दर्य के माध्यम से चेतना सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अनिवार्य होने के कारण—राधाकृष्ण के प्रतीक जिसके उदाहरण हैं--देह-शृंगार को मानव-मूल्य देना आवश्यक हो जाता है, उसका निपटारा केवल परदे की ओट में करना पर्याप्त नहीं। फिर भी इस प्रायः ७०० पृष्ठों के काव्य में स्थूल देह-शृंगार सम्बन्धी पद केवल एक-दो पृष्ठ तक सीमित हैं। यदि वे भी किसी को खटकें और काव्य में सर्वाधिक चर्चा-योग्य जान पड़ें तो इसका अवश्य ही कोई व्यक्तिगत मनो-वैज्ञानिक कारण हो सकता है। रीति-कालीन काव्य में यदि चैतन्य को देह यष्टि में सीमित कर दिया गया था तो 'लोकायतन' में देह की सीमा को चैतन्य के धरातल पर उठा दिया गया है, जो वर्तमान सामूहिक जीवन की एक अनिवार्य स्थिति तथा आवश्यकता है। यह मध्य-युगीन संस्कारों तथा खोखले नैतिक दिखावों में पोषित व्यक्ति को भले ही असम्भव प्रतीत हो, पर वह आज के जीवन-विकास की स्थिति में भी—जबकि स्त्री-पुरुष संयुक्त रूप से सामूहिक कार्य-कलापों की ओर अग्रसर हो रहे हैं—अधिकाधिक सम्भव होता जा रहा है। स्त्री-पुरुषों के बीच की राग-शृंखला को संकीर्ण देह-मूल्य में ही सीमित न रख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर उसे व्यापक सामाजिक, रागमूल्य में उठना ही होगा। इसमें असम्भव क्या है, यह समझ में नहीं आता। वही तो उसकी स्वस्थ परिणति है। वैष्णवों ने प्रेम का विश्लेषण जिन स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव, महाभाव के स्तरों पर किया है उसमें राग को सात्विक वृत्ति माना गया है, जिसका सामाजिक वितरण 'लोकायतन' में मिलता है। मैंने निष्क्रिय भाव को लोक-जीवन के महत अन्तर्दर्शन (vision) में, और महाभाव को महत विश्व-सृजन कर्म में क्रियाशील तथा परिणत किया है, जो उसकी स्वाभाविक विकासगति होनी चाहिए।

''लोकायतन' मध्य-युगीन, निर्गुण परक, निवृत्तिमूलक, ऊर्ध्वसाधना-पथ का काव्य न होकर आधुनिक युग के लिए उपयुक्त विश्वजीवन-मंगल की ओर उन्मुख काव्य है, जिसमें ब्रह्म तथा ईश्वर को जीवन से विच्छिन्न न मानकर वागर्थाविव सम्पृक्त माना गया है, जिसकी सूचना आरम्भ के मंगलाचरण से ही मिलने लगती है, और यही वास्तव में भारतीय आध्यात्मिक एवं औपनिषदिक दृष्टिकोण भी रहा है—''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्''। आज के इस बहिर्भ्रान्त वैज्ञानिक युग के लिए एवं मध्ययुगीन अध्यात्मवाद के अन्तर्भ्रान्त जागरण के युग के लिए मैं 'लोकायतन' की दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता तथा उपयोगिता मानता हूँ।''

मधुरेश

यशपाल : दो नवीन कथा-कृतियाँ

जब पहले- पहल मुझे पता चला कि यशपाल 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को आधुनिक दृष्टिकोण से उपन्यास के रूप में लिख रहे हैं तो मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था और साथ ही कुछ शंकायें भी मन में उठी थीं। 'दिव्या' और 'अमिता' पढ़ने के बाद यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अतीत उनके लिये श्रद्धा और विश्वास की अपेक्षा चिंतन और विश्लेषण की चीज ही अधिक है। यशपाल के साथ ही कोई विशेष बात हो ऐसा नहीं है। इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण और दायित्व की माँग ही इसके मूल में है। आवश्यकता पड़ने पर साहित्यकार बहुधा ही अतीत की ओर मुड़ता है। हिन्दी में भी लगभग हर विधा में साहित्यकारों ने ऐसे प्रयोग किये हैं परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन के चरम विकास की स्थिति में जहाँ साहित्यकार अपने अतीत को अतिशय महान और गौरवपूर्ण मानकर अधिकांश में भावुकता-जन्य श्रद्धा-भाव लेकर उधर देखता था, और प्रेरणा एवं स्फूर्ति के अवरुद्ध द्वारों को खोलने के लिए नयी संजीवनी प्राप्त करता था वहीं प्रगतिशील साहित्यकार या तो अपनी मान्यता के इतिहास-सम्मत समर्थन के लिए उधर मुड़ा या फिर वर्णाश्रम व्यवस्था और श्रेणी-विभाजन की स्थिति में दासी और स्त्रियों की करुण दशा एवं निर्दय शोषण के विरुद्ध चिंतन का एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने का आग्रह लेकर आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राहुल सांकृत्यायन यदि पहली कोटि में आते हैं तो रांगेय राघव और यशपाल दूसरी में। 'दिव्या' में जहाँ एक ओर वर्णाश्रम-व्यवस्था वाले समाज का यथार्थ रूप उद्‌घाटित हो सका था वहीं दूसरी ओर पुरुष-शासित समाज में स्त्री की वास्तविक स्थिति भी उभर कर आई थी। 'अमिता' का आग्रह किंचित् भिन्न था लेकिन वर्णाश्रम-व्यवस्था के अभिशापों के स्पष्ट संकेतों का अभाव उसमें भी नहीं है। परन्तु शकुन्तला की कथा के पुनर्लेखन में ऐसा क्या उद्देश्य हो सकता था समझ में नहीं आया। और फिर 'दिव्या' तथा 'अमिता' में उनकी परिवेशगत ऐतिहासिकता के बावजूद ऐसा कोई भय नहीं था कि सम्पूर्ण कथा को किसी एक जगह से ले लिया गया हो। वहाँ लेखक की कल्पना और मौलिकता के लिए पूरी स्वतन्त्रता थी और उसने उसका उपयोग किया था। लेकिन क्या शकुन्तला की कथा को लेकर भी ऐसा सम्भव था? या लेखक का उद्देश्य महज रूप-विधान में थोड़ा हेर-फेर करके मूल नाटक को ही कहानी की शक्ल दे देने का था?

पुस्तक की भूमिका में लेखक ने कुछ ऐसे संकेत दिये हैं जिनसे उसके प्रयोजन को समझने में सहायता मिल सकती है। उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि शकुन्तला की इस कथा की पुनर्रचना के मूल में, "कालिदास से कलात्मक स्पर्धा नहीं अपितु आधुनिक समाज पर कालिदास की महान कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के गहरे प्रभाव की स्वीकृति है।" (पृ० सं० १३०) आगे चलकर लेखक ने कालिदास-कालीन और अपने युग के भावक वर्ग के अन्तर की ओर संकेत किया है। कालिदास के समय की सामाजिक-साहित्यिक रूढ़ियों पर भी उसकी दृष्टि गई है। आज का साहित्यकार ऐसे किन्हीं बन्धनों को स्वीकार नहीं करता जो कालिदास के लिए किसी हद तक अनिवार्य थे। चाहकर भी कालिदास दुष्यन्त के प्रति अहृदय और कटु नहीं हो सकते थे, क्योंकि इसमें साहित्यिक रूढ़ियों और मान्यताओं से भी अधिक किसी राज दरबार से सम्बद्ध आश्रित कवि की स्वाभाविक सीमाओं का प्रश्न भी था। ऐसी किसी सीमा को स्वीकार न करके चलने के लिये आज का लेखक स्वतन्त्र है बल्कि उसके अस्वीकार की स्थिति में से ही उसके अपने समाज और काल के प्रति उसके दायित्व की चेतना उभर कर आने का अवसर पाती है। यशपाल की भूमिका के ही कुछ वाक्य और हैं: "आज का पाठक दुष्यन्त के समान व्यवहार करने वाले नायक को धीरोदात्त नहीं मानना चाहेगा। कालिदास की पतिव्रता शकुन्तला के प्रति चरम सहानुभूति उत्पन्न करके भी यह नहीं कहना चाहते थे कि उसके प्रति अन्याय हुआ। आज के लेखक का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। इस दृष्टि से 'अप्सरा का श्राप' के कथानक में दुष्यन्त के प्रति अन्याय नहीं केवल शकुन्तला के प्रति न्याय का प्रयत्न है। यह प्रयत्न दुष्यन्त को लांछित करने का नहीं अपनी परिणीता पत्नी की उपेक्षा करने वाले समर्थ सम्पन्न व्यक्ति के विचारों, भावनाओं तथा व्यवहार की ही कल्पना है।" (पृ० सं० १३१) अंतर और विरोध की इस स्वीकृति की स्थिति में ही लेखकीय प्रयास की सार्थकता और प्रयोजन अन्तर्निहित हैं। 'अप्सरा का श्राप' की कथा मूलरूप में कालिदास के नाटक की ही कथा है। लेकिन कदाचित इस स्वाभाविक सम्भावना के कारण कि लोग मौलिकता की ओर उँगली उठा सकते हैं अपने बचाव के लिए उसने यह बताना भी आवश्यक समझा है कि कहानी की यह तथाकथित मौलिकता तो कालिदास के यहाँ भी संदिग्ध है क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी कथा का मूल भारत की कथा में है। अपनी युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप कालिदास ने महाभारत की उस कथा में कुछ आवश्यक परिवर्तन किये हैं। 'अप्सरा का श्राप' में लेखक के आगे अपने युग की दशायें, समस्यायें और दृष्टिकोण रहे हैं। अपनी कहानी में यशपाल ने किसी अलौकिक तत्व आकाशवाणी या शाप आदि का सहारा नहीं लिया है। (यद्यपि सानुमती और मेनका की योजना को लेकर भी यही बात नहीं कही जा सकती क्योंकि कथा के जिस पौराणिक रूप को स्वीकार किया गया है वहाँ इसके अलावा और कोई रास्ता लेखक के आगे था ही नहीं। सम्भवतः इसीलिये पुस्तक का अन्त उसकी सारी चेतना के बावजूद अलौकिक होने से नहीं बचाया जा सका है) बल्कि सारी कथा को लौकिक धरातल पर कार्य-कारण परम्परा में ही विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया है। कण्व की अनुपस्थिति में हुए शकुन्तला और दुष्यन्त के गांधर्व विवाह के पश्चात् जब महाऋषि कण्व आश्रम में आते हैं तो सम्पूर्ण स्थिति की सूचना के लिये कालिदास ने आकाशवाणी के रूप में एक अलौकिक साधन का सहारा लिया है। यशपाल जानते हैं कि आज के पाठक के लिए ऐसी किसी अलौकिक एवं चमत्कारिक शक्ति में विश्वास नहीं रह गया है। अतः उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि अपने अनुभव के द्वारा ही महाऋषि कण्व ने सम्पूर्ण स्थिति का अनुमान लगा लिया। वह स्पष्ट देखते हैं कि शकुन्तला की आँखों में कौमार्य की लालसा और अतृप्ति नहीं, वैवाहिक जीवन के प्रारंभ की सूचना और तृप्ति उपस्थित है। इसी प्रकार दुर्वासा के क्रोधी स्वभाव को स्वीकारते हुए भी वे उनके शाप के अलौकिक तत्व को अस्वीकार कर देते हैं। लेकिन यह सारे परिवर्तन कथा की रोचकता या मौलिकता की दृष्टि से इतने नहीं हैं जितने लेखक के दृष्टिकोण और प्रयोजन की दृष्टि से। ऐसे परिवर्तनों में सबसे पहले हमारी दृष्टि दुष्यन्त के चरित्र की ओर जाती है। उसके चरित्र के संकेत लेखक ने भूमिका में दिये हैं और उस धरातल पर ही उसने अपनी रचना के प्रयोजन को ग्रहण करने की माँग की है। 'अप्सरा का श्राप' का दुष्यन्त धीरोदात्त आदर्श नायक नहीं है। प्रारम्भ में ही वह एक कामुक और विलासी राजा के रूप में सामने आता है। उसके व्यवहार में हर कहीं लम्पटता, क्षुद्रता और स्वार्थ की गंध है। सामान्य व्यक्ति की सहज शालीनता से भी उसे कुछ विशेष सरोकार नहीं है। निम्नलिखित कुछ उद्धरण उसके चरित्र को समझने में सहायक हो सकते हैं :

१. गौतमी के समीप खड़ी शकुन्तला के नेत्र झुके हुए थे परन्तु वह अपने शरीर पर अतिथि (दुष्यन्त) की दृष्टि का स्पर्श अनुभव कर रही थी। (पृ० सं० ३८)।

२. वृद्धा से वार्तालाप करते-करते उसकी (दुष्यन्त की) दृष्टि बार-बार कूप से जल के कलश ले जाकर वाटिका का सिंचन करती हुई शकुन्तला की ओर थी। (पृ० सं० ३०)।

३. बिना किसी विशेष परिचय और सम्बन्ध के ही एक स्थल पर वह शकुन्तला से कहता है, "यह भाग्यशाली शावक भद्रे के अंक में स्थान पाकर दूसरों के मन में ईर्ष्या जगाता है।" (पृ० सं० ४२)

४. कहावत है कि पुरुष का वास्तविक परिचय उसकी पत्नी को ही होता है। अतः उसकी पत्नी उसे क्या समझती है इसके संकेत भी एकाधिक स्थलों पर मिलते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानी लक्ष्णा कहती है, "स्वामी, तुम तो मधुप हो, सद्य-नव-पराग तथा नव मधुप के अभिलाषी। तुम्हें भुक्त पुरुषों से क्या अनुराग! तुम तो नित्य नवीन के कामी हो। तुम्हें तो वैचित्र्य से आकर्षण है। तुम्हारे विस्तृत राज्य में राजपुरुषों की भाँति तुम्हारी कृपा-पात्र उपपत्नियाँ भी फैली हुई हैं। सच बताओ प्रवास में नवीनताओं के रमण-विनोद से मन अघा गया कि नहीं। कितनी पार्वत्य तथा वन-हंसनियों का आखेट करके आये हो?" (पृ० सं० ८५)

इन बहुत से उद्धरणों के अतिरिक्त लेखक की कितनी ही टिप्पणियाँ हैं और उन सबको मिलाकर दुष्यन्त का जो रूप उभरता है उससे न सिर्फ यह कि वह कालिदास के दुष्यन्त से नितान्त भिन्न धरातल पर खड़ा है, वरन् पुरुष-शासित समाज और राजसत्ता की सारी बुराइयों को भी उसमें स्पष्ट देखा जा सकता है। यही दुष्यन्त जब ऋषि कश्यप से शकुन्तला को पाने के लिये पत्नी पर पति के नीति-विहित अधिकार का दावा करता है तो पुरुष शासित-समाज में पुरुष के मिथ्या दम्भ का रूप-उद्घाटन ही नहीं होता कश्यप ऋषि के माध्यम से नारी-पुरुष के स्वस्थ जीवन-सम्बन्धों का वास्तविक और यथार्थ रूप भी सामने आता है, जिससे लेखक के दृष्टिकोण को भी किसी हद तक समझा जा सकता है, "···पति-पत्नी का सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी अधिकार स्वत्व से नहीं पारस्परिक प्रेम से तथा अनुराग-जन्य अनुमति से होते हैं। नर-नारी के प्रेम में प्राकृतिक न्याय यही है। पति अनुराग से रक्षा तथा आश्रय देकर अधिकार प्राप्त करता है, स्कत्व से नहीं। निर्दयता, निरादर तथा अहंकार प्रेम के नहीं विरोध के भाव हैं। ऐसे भाव और व्यवहार प्रेम-भावना तथा पति-पत्नी सम्बन्ध को समाप्त कर देते है। पुरुष पत्नी के प्रति निर्दयता से स्वत्व का व्यवहार करने पर प्रेमी और पति नहीं रहता, शत्रु और अपराधी बन जाता है।" (पृ० सं० १२६)

दुष्यन्त के चरित्र को कालिदास से भिन्न जिस धातु से यशपाल ने गढ़ा है शकुन्तला के चरित्र के लिये वैसे किसी परिवर्तन की कोई आवश्यकता उन्हें नहीं जान पड़ी। यहाँ 'अप्सरा का श्राप' के लेखक की स्थिति 'यशोधरा जीत गई' के लेखक से थोड़ा अलग थी। रांगेय राघव की यशोधरा अपनी युग-सीमाओं से नियन्त्रित होकर भी नारी की स्वतन्त्रता और समानाधिकार की बात कह सकती थी, उसने कही है। परन्तु अपनी मान्यताओं और विचारों के स्पष्टीकरण के लिये यशपाल ने शकुन्तला को माध्यम नहीं बनाया है। यह कार्य उन्होंने विशेष रूप से सानुमती और मेनका की अवतारणा करके सम्पन्न किया है। यही नहीं इस दृष्टि से उनकी शकुन्तला कालिदास की शकुन्तला से इस धरातल पर थोड़ी भिन्न है। कालिदास की शकुन्तला में अहं की चेतना और आत्म-सम्मान का तीव्र भाव है। यशपाल ने उसे पतिव्रता के एक मॉडेल के रूप में प्रस्तुत करके उसके अपने व्यक्तित्व को बहुत-कुछ पंगु कर दिया है और इसका स्पष्ट कारण उनके माध्यम के चुनाव में खोजा जा सकता है। जब कण्व ऋषि के आश्रम के तापस-तपसियों के साथ शकुन्तला दुष्यन्त के यहाँ पहुँचती है तो वह उसे पहचानने का कोई भाव नहीं दिखलाता है। कालिदास ने इसके लिये उत्तरदायी कारणों में दुर्वासा के शाप और उसी के परिणामस्वरूप अँगूठी के खो जाने के प्रसंग की अवतारणा की है। परन्तु यशपाल के यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे कारण पूर्णतया राजनैतिक हैं। एक तापस कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करके, उसके पुत्र को उत्तराधिकारी बनाकर, वह अपनी तीन अन्य रानियों के पितृकुलों—मद्र, गौड़ और विदर्भ-से अपने राजनैतिक सम्बन्धों को कैसे बिगाड़ ले ? अतः माध्यम की सहायता से वह स्थिति का सामना करता है। शकुन्तला और उसके साथ आये अन्य व्यक्तियों को वह भला-बुरा कहता है। शकुन्तला को वह 'कपटी' और 'कुलटा' कहकर लांछित करता है। परन्तु इस असाधारण अपमान को सहकर भी शकुन्तला पतिव्रता का धर्म पूरा करती है "महाराज मुझ अभागी को आश्रय नहीं देना चाहते तो भी व्यंग से अपनी सती पत्नी पर असत्य और छल का आरोप कर अपना तथा उसका अपमान न करें। महाराज सती का अस्तित्व पति से पृथक नहीं होता, पति में ही समाहित रहता है। सती के अपमान से पति भी अपमानित होता है। मेरे सत्य के साक्षी अगोचर देवता हैं। मेरे गर्भ में स्थित स्वामी का अंश मेरे सत्य का साक्षी है। स्वामी द्वारा अंगीकार न की जाने पर भी मेरा पतिव्रत और सतीत्व अक्षुण्ण रहेगा।" (पृ० सं० १०३-१०४)

यहाँ स्थिति में अन्तर्निहित व्यंग अवश्य है जो लेखक के मन्तव्य को सार्थकता देता है। लेकिन कालिदास की शकुन्तला इतनी निर्जीव नहीं है कि अपमान से आहत न हो। लांछित होने पर जो रास्ता वह अपनाती है वह अपेक्षाकृत गौरवपूर्ण ही नहीं, मनोविज्ञान सम्मत भी है। जब पिछली बातें याद दिलाने पर भी दुष्यन्त को कुछ याद नहीं आता तो वह कहती है, "अनार्य ! तुम सबके हृदय को अपने ही हृदय के समान खोटा समझते हो। तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूँस से ढँके हुए कुँए के समान धर्म का ढोंग रचकर ऐसा खोटा काम कर सके।"[1] यही शकुन्तला यहीं तक सीमित न रहकर यह भी कहती है कि ऊँचे कुल के धोखे में आकर वह ऐसे नीच व्यक्ति के हाथों जा पड़ी जिसके मुँह में मधु और हृदय में विष भरा हुआ है।

बहुत से स्पष्ट और पूर्वचर्चित कारणों से कालिदास की पूर्ण सहानुभूति दुष्यन्त के साथ है। न केवल यह कि उसके बचाव का कोई भी सम्भव साधन वह हाथ से जाने देना नहीं चाहते हैं, वरन् विशेष रूप से उन्होंने उनकी अवतारणा की है। लेकिन फिर भी कालिदास का कलात्मक संस्कार उन्हें यह चेतना देता है कि आवश्यक नहीं कि एक को धक्का देकर ही दूसरे को दौड़ में जिताया जाए। दुष्यन्त के प्रति सदय होकर भी वह शकुन्तला के प्रति निर्दय नहीं हैं। यशपाल दुष्यन्त के प्रति निर्दय तो हैं ही परन्तु शकुन्तला के प्रति उनकी सम्पूर्ण सदाशयता के बावजूद वह न तो सजीव व्यक्तित्व ही पा सकी है और न ऐसा ही कुछ जो आधुनिक नारी के व्यक्तित्व निर्माण में कोई महत्वपूर्ण सहयोग दे सके। उनकी सम्पूर्ण उपलब्धि बहुत सीमित क्षेत्र की उपलब्धि बनकर रह गई है। पति के प्रति शकुन्तला की इस अनर्थकारी निष्ठा को वह न तो उचित ही समझते हैं न सामयिक ही। शकुन्तला के अपने चरित्र से ऐसा कोई संकेत ध्वनित हो सकता जैसा 'यशोधरा जीत गई' में यशोधरा के चरित्र से हुआ है तो उनकी उपलब्धि का धरातल अधिक सकारात्मक हो सका होता। लेकिन वैसा कुछ न करके कृति की उपलब्धि और सम्पूर्ण प्रयोजन को

१. शकुन्तला—(सरोषम्) अनार्यः आत्मभो हृदयानुमानेन किल सर्वं प्रेक्षसे। को नाम अन्योधर्मः यः कन्चुकव्यपदेशिनस्तृणच्छन्न कूपोपमस्य नवानुकारी भविष्यति ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट करने का भार उन्होंने मेनका को सौंप दिया है। शकुन्तला की पति-भक्ति को वह हेय और घृणित समझती है। वैसा न करने के लिए वह केवल शकुन्तला को समझाती ही नहीं है, प्रताड़ित भी करती है। वह शकुन्तला के निजी व्यक्तित्व की गरिमा चाहती है। लेकिन 'अप्सरा का श्राप' के अन्त में शकुन्तला फिर एक अतिरंजित स्थापना करती है। निश्चय ही कालिदास की शकुन्तला से यहाँ उसका कोई साम्य नहीं है "....माता, पतिव्रता नारी, व्यक्ति तथा मानव नहीं पतिव्रता मात्र होती है। (पृ० सं० १२८) और तब ऐसा ही होने का शाप देकर मेनका चली जाती है।

मेनका और सानुमती की योजना लेखक ने एक विशेष प्रयोजन से की है। कथा के बीच-बीच में उनकी टिप्पणियाँ गहरा अर्थ रखती हैं। कभी तो वे कथा के विकास में सहायक होती है और बहुधा ही वे लेखक के दृष्टिकोण और मान्यताओं को रेखांकित करती हैं। कृति की दुर्बलता का एक बड़ा कारण यह भी है कि मेनका और सानुमती का नियोजन एक अपार्थिक धरातल पर हुआ है। वे हमेशा ही साधन बनकर आई है—लेखक की मान्यताओं के प्रक्षेपण के लिए महज़ एक पीठिका भर।

यह आत्म-स्वीकृति भी सम्भवतः अप्रासंगिक न समझी जाए कि प्रयोजन की दृष्टि से ही पुस्तक का यह शीर्षक मुझे अधिक सार्थक जान पड़ा था।

'खच्चर और आदमी' में यशपाल की नौ कहानियाँ संग्रहीत हैं। हिन्दी कहानी के क्षेत्र में समय-समय पर जो चर्चाएँ होती रही हैं, वाद-विवाद का जैसा वातावरण रहा है, व्यक्तिगत रूप से किसी चर्चा में न फंसने पर भी उस सबकी पूरी चेतना और जानकारी यशपाल को रही है यद्यपि यह भी उतना ही ठीक है कि उस सबसे आक्रान्त वह नहीं दीखते। पुस्तक की भूमिका में इस जागरूकता का स्वागत तो वह करते हैं, लेकिन अपनी इन कहानियों का समर्पण वह 'सप्रयोजन कहानियों से रस पाने वाले पाठकों के लिए' ही करते हैं। अपनी कहानियों के लिए जैसा ढांचा और शिल्प यशपाल ने शुरू से ही निर्मित कर लिया है बिना किसी रद्दो-बदल के वह उसी से चिपके रहे हैं। कहानी में नयेपन के आग्रह का जहाँ तक सवाल है यशपाल की मान्यता रही है कि यदि वह मात्र बाहरी है तो उसका प्रभाव अधिक स्थायी और दूरगामी नहीं होगा। पिछले पच्चीस वर्षों से आज तक कहानी में कथ्यगत नवीनता पर ही उनका विशेष बल रहा है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का एक अलग रूप बन गया है और यदि कोई यशपाल की भाषा-शैली और विकारों से थोड़ा भी परिचय रखता है तो उसे उनकी कहानियों को पहचानने में दिक़्क़त नहीं होगी।

संग्रह की सारी कहानियों में यशपाल की सामाजिक जागरूकता और रूढ़ एवं विकृत के प्रति गहरा आक्रोश तथा विरोध-भाव देखा जा सकता है। संग्रह की कई कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें पढ़कर अपने समाज का वास्तविक परिचय पाने में सहायता मिल सकती है। जीवन में जो अस्वाभाविक और अस्वस्थ है, जो परिवर्तन की प्रक्रिया की प्रतीक्षा में है, लेखक मात्र निष्क्रिय रहकर उसका वर्णन नहीं करता है। वह पूरी गहराई और आवेश से उसका विरोध करता है जो वाकई बुरा और गलत है। अक्सर ऐसा मालूम पड़ सकता है कि कथ्य की दृष्टि से किसी कहानी में कोई विशेष बात नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे संग्रह की पहली कहानी विष्णवी में ऊपरी तौर पर पुनर्विवाह का समर्थन मालूम पड़ सकता है। लेकिन बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। यशपाल के यहाँ कथ्य की मौलिकता बहुधा ही अभिव्यक्ति के ढंग और उसे प्रस्तुत करने के कोण विशेष में निहित रहती है। 'वैष्णवी' में उनकी दृष्टि द्रौपदी के शारीरिक विकास एवं उसकी निजी आवश्यकताओं पर अधिक रहती है। उसका कथ्य बहुत-कुछ 'उत्तमी की माँ' के कथ्य जैसा है। उस कहानी में मात्र पुर्नविवाह का समर्थन नहीं है। बल्कि इस तथ्य की स्पष्ट ध्वनि भी उसमें है कि शारीरिक आवश्यकताओं और विकास की गति को जान-बूझकर झुठलाने के प्रयास कितने खतरनाक नतीजे छोड़ सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रकारान्तर से उन सामाजिक रूढ़ियों और मान्यताओं के प्रति भी आक्रोश पैदा होता है जो द्रौपदी को बिना किसी अपराध के वैसा करने के लिए विवश करते हैं।

संग्रह की नौ कहानियों में तीन कहानियाँ—'मक्खी या मकड़ी', 'जीव-दया' तथा 'खच्चर और आदमी'—ऐसी हैं जो एकदम बात-चीत की साधारण शैली में लिखी गई हैं। अपने दृष्टिकोण और मान्यताओं के समर्थन में लेखक ऐसी घटनाओं और अनुभवों को प्रस्तुत करता है जो उसके पक्ष की वकालत में उसकी सहायता कर सकते हैं। नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप यदि हम अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं करते तो वे अर्थहीन रूढ़ियाँ हमारी प्रगति में बाधा रहेंगी और हो सकता है कि एक दिन हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जाए। 'खच्चर और आदमी' में एक खच्चर और कर्म-काण्ड-निष्ठ वैष्णव ब्राह्मण को लेकर दो घटनाओं के रूप में यशपाल इसी सत्य का उद्घाटन बड़े कौशल से करते हैं। खच्चर जैसा जानवर भी अपनी नई आवश्यकताओं को समझ सकता है परन्तु वैष्णव ब्राह्मण समझकर भी परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाते। इसका जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ता है वह साधारण नहीं है। स्थितियों के चुनाव में किन्हीं विशेष स्थितियों के प्रति लेखक के अतिरिक्त मोह को लेकर भले ही शिकायत की जा सके, नियोजन में एक ऐसी सायासता भी हो सकती है जो चरित्रों की गति को कुण्ठित करती मालूम पड़ती है परन्तु अतिरंजित वहाँ कुछ नहीं है और यही कारण है कि प्रभाव की दृष्टि से ऐसी कहानियाँ बहुत सफल रहती है। 'मक्खी या मकड़ी' समाज में व्याप्त नैतिक स्खलन और भ्रष्टाचार को उभारती है और इस सत्य की ओर संकेत करती है कि इस विशाल आयोजन में तटस्थ रह पाना असम्भव-प्राय है। 'जीव-दया' का कथ्य 'खच्चर और आदमी' के कथ्य जैसा ही है। इसमें भी संस्कारवश मुर्गी के अण्डे से परहेज़ करने के कारण मास्टर साहब को अपने एकमात्र पुत्र को खो देना होता है। इन कहानियों में लेखक का आग्रह हमेशा ही कहानी में अन्तर्निहित प्रयोजन को विश्वसनीय ढंग से सम्प्रेषित कर सकने का है। ऊपरी तौर पर उनमें सपाटता और स्थूलता हो सकती है, ऐसा भी लग सकता है कि संकेतों से पैदा किए जाने वाले प्रभावों की ओर से लेखक उदासीन है परन्तु उसके उपलब्ध निष्कर्षों से असहमत होना हमेशा ही मुश्किल मालूम होता है। शेष कहानियों में 'सत्य का द्वन्द्व' और 'कलाकार की आत्म-हत्या' संग्रह की अच्छी और महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। जब अपनी कहानियों की रचना प्रक्रिया के सिलसिले में यशपाल कहानी के आधार-भूत विचार के महत्व पर बल देते हैं तो 'इसके यह अर्थ नहीं कि वह चरित्र को पूर्णतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरगुज़र करते हैं। उक्त दोनों ही कहानियों में क्रमशः सन्तजी और भवेश के चरित्र बहुत महत्वपूर्ण हैं और संग्रह की दूसरी कहानियों के चरित्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से उभरे हैं। 'सत्य का द्वन्द्व' जब लिखी जा रही थी, संयोग से मैं यशपाल जी के साथ ही था। व्यक्ति का नाम बताना यदि आवश्यक न समझा जाए तो मैं कहना चाहूँगा कि वह एक वास्तविक व्यक्ति को आधार बनाकर लिखी गई कहानी है—एक ऐसे व्यक्ति को लेकर लिखी गई कहानी जो कांग्रेस-पार्टी, राजनीति और राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत दूर तक सम्बद्ध था। लेकिन फिर भी कहानी का आधार-भूत कथ्य चरित्र के नीचे दब नहीं गया है। ऐसा नहीं होता कि कहानी-कहानी न होकर रेखाचित्र हो गई हो। कहानी के अन्तिम प्रभाव के विश्लेषण के लिए यदि कथ्य और चरित्र को अलग-अलग करके देखा जाए तो महत्त्व की दृष्टि से उसके कथ्य की ओर संकेत करना ही अनिवार्य होगा। यही बात 'कलाकार की आत्महत्या' को लेकर भी सच है जब कि उसके पीछे किसी वास्तविक चरित्र के आधार का कोई ज्ञान मुझे नहीं है। इन दोनों ही कहानियों में यशपाल का व्यंग कौशल खूब उभरकर सामने आता है। 'सत्य का द्वन्द्व' में एक अहिंसावादी कांग्रेसी नेता को लेकर व्यंग है और 'कलाकार की आत्महत्या' में एक ऐसे साहित्यकार को लेकर जो अपनी तथाकथित कला और कृतित्व के बल पर दूसरों का शोषण करता है। भवेश के प्रति कर्त्तार की जो प्रतिक्रिया है वह ऐसे साहित्यकार के प्रति किसी भी सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया हो सकती है। उसके मोह-भंग की स्थिति में एक बड़ी स्वाभाविक और पैनी कचोट है। 'चोरी और चोरी' यूँ एक साधारण कहानी है लेकिन जीवन की जिन विडम्बनापूर्ण स्थितियों को लेकर उसे गढ़ा गया है उनसे अन्तर्ध्वनित व्यंग उसे मात्र साधारण होने से बचा लेता है। 'अश्लील!' कहानी से अधिक 'दिव्या' के एक अंश-विशेष का ही किंचित परिवर्तन रूप है। इस संग्रह में उसको शामिल करने की कोई सार्थकता और स्पष्ट कारण नहीं मालूम पड़ता, भले ही कभी उसका सामयिक महत्त्व रहा हो।

कुल मिलाकर इन कहानियों में यशपाल ने अपनी निजी परम्परा की रक्षा का ही प्रयास किया है। उनकी इस बात से भी शायद सभी सहमत हों कि भले ही इन कहानियों को 'नई कहानी' के समकक्ष न रखा जा सके, लेकिन 'भाव तथा कथ्य की दृष्टि से इन्हें रूढ़िग्रस्त कोटि में नहीं गिना जायेगा'।...

---

१. अप्सरा का श्राप : उपन्यास : पृ० सं० १३२ (डिमाई आकार) मूल्य ४.००
२. खच्चर और आदमी : कहानी संग्रह : पृ० सं० १०६ (डिमाई आकार) मूल्य ३.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवतीशरण सिंह

चौरंगी—एक आधुनिक उपन्यास

पिछले महायुद्ध के बाद लोगों में परस्पर सहानुभूति और सेवा तथा मानवता की प्रगति के लिए सच्ची और दृढ़-निष्ठा का उदय तो हुआ पर मानव समता की स्थापना और आर्थिक विषमता और निराशाओं के निराकरण के उपाय फिर भी दूर रहे। स्वस्थ और सुखी जीवन की खोज तो प्रारम्भ हुई पर संस्कृति और सभ्यता के मूलाधार खो गए। जन साधारण का युग आया और साम्राज्यशाही भी नष्ट हुई। जन साधारण की सामाजिक स्थिति अच्छी हुई और उसमें आत्मसम्मान की भावना का भी उदय हुआ पर उसका बौद्धिक स्तर इसी के साथ-साथ न उठ सका। मानवता के कुछ बड़े पुराने और अनिवार्य तत्वों की पुनस्थर्थापना की बात भी कही गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना भी हुई, शान्ति को स्थाई रखने की बात भी कही गई। शिक्षा, आर्थिक सुरक्षा और मनोरंजन के साधनों को सर्वसुलभ करने का आश्वासन भी मिला। किन्तु यह सब थोड़े ही दिनों में लोगों की भूख बढ़ा कर कम पड़ने लगा। इसलिए कि इसकी व्यवस्था सबके लिए उस नियोजित संस्कृति द्वारा नौकरशाही के माध्यम से राष्ट्र की प्रभूत सम्पत्ति लगा कर भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी जो कुछ हुआ उससे कुछ लोगों का जीवन स्तर भले ही ऊपर उठा हो पर साहित्य का स्तर फिर भी अछूता रहा। वह जिस वातावरण में सांस ले रहा था वह घुटन पैदा करने वाला था। उसमें उसको सुख नहीं था। इतना ही नहीं एक तनाव का वातावरण भी पैदा हुआ उनमें जो कि सबको समान सुविधा देना चाहते थे और उनमें जो एक नई स्वतंत्रता और नए जीवन प्रवाह की कल्पना करना चाहते थे और अव्यक्त को व्यक्त करना चाहते थे। बावजूद इसके कि लेखकों में एक प्रकार की वैयक्तिक सनक समा रही थी फिर भी वे सार्वभौम उद्देश्य को पहचान रहे थे। उनकी यह एकता मनुष्य के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में प्रकट होने लगी थी। पर खेद है कि यह स्थिति भी बहुत आगे तक न गई और वह स्वयं अपने ही विश्लेषण और अपने को ही व्यक्त करने में जुट गए।

यह सब हो ही रहा था कि अंतरिक्ष युग की चादर खुली और वह सामने आया। साहित्य की विश्वजनीन प्रवृत्तियों ने एक नई करवट ली। कवि और लेखकों ने विज्ञान की उस नवीन उड़ान में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर दिया जिसके लिए वह बड़ी आतुरता से अपने पर तौल रहा था। जिन लोगों ने ऐसा किया उन्होंने न केवल वाह्य पर्यावरण के प्रति अपनी कल्पना को प्रखर किया वरन् यह भी अनुभव किया कि उनका अभ्यन्तर भी नया अर्थवहन करने लगा है। ऐसा करने के लिए उन्होंने विज्ञान की पोथियों में परीक्षा देना प्रारम्भ नहीं किया। यह जरूरी भी नहीं था। पर यह जरूर हुआ कि उनके अब तक के अनुभवों को—या यों कहें कि आत्मानुभव को—एक ज़बरदस्त धक्का लगा। व्यक्तित्व के नए रंग दिखने लगे, व्यक्ति का समाज की आर्थिक व्यवस्था में क्या स्थान रह गया है इसका नया अनुभव होने लगा। नई संवेदनाएं, नए लगाव, नई संभावनाएं सब उनको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोरों से प्रभावित करने लगीं। शक्ति के नए द्वार खुले। आध्यात्मिक और शारीरिक सुखों की परिकल्पना बहुत विस्तृत हुई और इन सब परिवर्तनों ने कवि-कल्पना को झकझोर दिया। नया साहित्य, नए परिधान और नए पर्यावरण को लेकर उतरने लगा। साहित्य का सारा समारम्भ ही बदल गया।

पर आश्चर्य इस बात का होता है कि यह सब कुछ प्रत्यक्ष और तेज़ी से हिन्दी लेखकों के दाएं-बाएं अगल-बगल हो रहा था फिर भी वह अधिकांश में इन प्रवृत्तियों से अछूता बने रहने में ही लगा रहा। एक ही समय में जब अन्यत्र यह सब कुछ हो रहा था हिन्दी का लेखक और पाठक अब भी उपदेशात्मक कथाओं, पुराने किस्म के हास-परिहासों और विगत पीढ़ियों के चरित्रों के चित्रण में रुचि ले रहा था। यद्यपि इसी समय लेखकों की एक नवीनतम पीढ़ी भी तैयार हो रही थी जो अपनी अद्भुत् रचना शैली के प्रयोगों में जुटी थी। माना कि उन्हें सफलता नहीं मिल पा रही थी, पर उनकी बेचैनी का पता अवश्य लग रहा था। लेकिन पुराने लोगों में अच्छे से अच्छे उपन्यासकार या तो अपने निजी अनुभवों को व्यक्त करने में लगे थे या कुछ सीमित प्रवृत्तियों का उद्घाटन अथवा पुरानी परम्पराओं का मज़ाक उड़ा रहे थे। बावजूद उन तमाम विघटनात्मक शक्तियों के जो समाज की नींव हिला रही थीं, पुरानी मान्यताओं को थोथा कर रही थीं, नया समाज और नई मान्यताएं बहुतों की पकड़ में नहीं आ रही थी। स्वानुभूति और आत्माभिव्यक्ति के महत्व को कम नहीं किया जा सकता पर आत्माभिव्यक्ति भी अधिक प्रकाशमयी हो जाती है अगर वह सम्पूर्ण मानवता का अंग बनकर आए, कृत और सत्य का उद्घाटन करे, और उसमें मनुष्य की शाश्वत और चिरंतन महिमा का उपाख्यान हो। लेकिन इन सबके स्थान पर हिंदी के बहुत से उपन्यासकार खोई हुई सभ्यता, बुझी हुई संस्कृति और हिली हुई रूढ़ियों के सहारे यांत्रिक और अमानवीय प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर रहे थे। उनका ध्यान मानव के पारस्परिक सम्बन्धों की नई स्थापनाओं के प्रति, और प्रत्येक व्यक्ति में जो एक अव्यक्त आध्यात्मिक आवश्यकता की नई प्रतीति हो रही थी उसके प्रति कम जा रहा था।

इस पृष्ठभूमि को देखने पर श्री मणिशंकर मुखर्जी का यह उपन्यास हिंदी में पिछले बीस वर्षों में लिखे गए उन इने-गिने उपन्यासों में स्थान रखता है जो साहित्य और समाज की बदलती हुई प्रवृत्तियों का सही चित्रण उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। इस उपन्यास के पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थायी और महत्वशाली साहित्य के लिए सामग्री की कमी नहीं है। आवश्यकता है इन विशाल कल्पनाओं को कला में प्रतीकात्मक ढंग से उतारने की। इस उपन्यास में व्यक्ति और समष्टि दोनों की अभिव्यक्ति जिस संतुलित ढंग से हुई है, विभिन्न स्वरों के तार जिस पूर्णता के साथ मिलाए गए हैं, और व्यक्ति और समाज का जैसा सुन्दर समन्वय हुआ है वह सब इसे आधुनिकतम उपन्यासों की कोटि में ला रखता है। इस उपन्यास की 'विचित्र अनुभूतियां,' 'आश्चर्यमय संसार', 'महानगरी का भयावनापन' और 'रात्रि का सुनसान' अंतरिक्ष युग की उन विशिष्टताओं से परिचय कराते हैं जो उसके प्रमुख अवयव हैं। सत्य सुन्दर और सुजाता मानव के शाश्वत महिमामय रूप के अतिरिक्त और क्या प्रकट करते हैं? इस उपन्यास के जितने पात्र हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें से कई पात्रों के जीवन में उस अव्यक्त अध्यात्म की आवश्यकता की नई प्रतीति का अनुभव हो रहा है जिसका ऊपर जिक्र कर चुका हूँ। उपदेशात्मक परिपाटी से बिल्कुल अलग हट कर जिस समाज का चित्रण हुआ है वह बलपूर्वक नई स्थापनाओं और मान्यताओं की आवश्यकता और योजना की ओर प्रेरित कर रहा है। समाज में साथ काम करने वालों का पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति ही मनुष्य को वास्तविक मनुष्य समाज के रूप में ग्रथित होने का मार्ग बता सकते हैं। आज वह समाज की आर्थिक समृद्धि से कहीं अधिक आवश्यक हो गए हैं। सत्य सुन्दर भी यही कहते हैं "आज अगर कोई मुझसे पूछे कि शाहजहाँ में सबसे अधिक ऐश्वर्य मुझे क्या मिला था, तो मैं किसी संकोच दुविधा के बिना उत्तर दूँगा—साथ काम करने वालों का स्नेह। एक साथ काम करने वालों में एक दूसरे के प्रति अनजाने में ही किस तरह स्नेह पैदा हो जाता है, कहना कठिन है। मगर अचानक एक दिन पता चलता है कि हम सभी एक ही धागे से बँधे हैं, और यह धागा तोड़ नहीं सकते।" यह सब में पिरोया एक धागा क्या है? अनेकता में एकता की यह प्रतीति बिना किसी प्रवचन के कैसे होती है? इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति सम्पूर्ण मानवता का अविच्छिन्न अंग बन कर ही हो सकती है, शंकर इसमें अत्यधिक सफल हुए हैं। समाज और जीवन यँत्रवत् चूल में चूल मिलाकर नहीं चलाया जा सकता। उसे इससे कुछ अधिक की आवश्यकता होती है। मार्कोपोलो यही बताते हैं।

चौरंगो—विश्व-जनीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का नवीनतम रूप लेकर बंगला और हिन्दी साहित्य में एक उत्तम कलाकृति के रूप में तब तक माना जाएगा जब तक कि दूसरे उपन्यास इसे पीछे छोड़ने की सामर्थ्य लेकर नहीं आते। पर बात अधूरी रह जाएगी अगर इसके अनुवादक श्री राजकमल चौधरी का उपकार न माना जाय। अनुवाद का काम कितना कठिन होता है यह अनुवादक ही जानते हैं। अगर मैं यह कहूं कि यह मूल के अत्यधिक निकट है तो मैं अपनी पूरी बात कह चुका ऐसा श्री चौधरी और शंकर दोनों ही अनुभव करेंगे।

079583
विश्वविद्यालय पुस्तकालय कांगड़ी, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में विज्ञप्ति

पुस्तकालय 029583 गुरुकुल कांगड़ी

फ़ार्म ४

(नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन का स्थान	दिल्ली
२. प्रकाशन की अवधि	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नवीन प्रेस, ६ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
४. प्रकाशक का नाम	श्रीमती शीला संधू
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
५. सम्पादक का नाम	श्री शिवदानसिंह चौहान
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६
६. उन व्यक्तियों के नाम और पते, जिनका पत्र पर स्वामित्व है तथा उन भागीदारों अथवा शेयर होल्डरों के नाम और पते, जो पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक शेयर रखते हों।	राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड ८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-६

मैं, शीला संधू, इसके द्वारा घोषित करती हूँ कि ऊपर जो ब्योरे दिये गए हैं, वे मेरी अधिक-से-अधिक जानकारी में और मेरे विश्वास में सही हैं।

(ह०) शीला संधू
प्रकाशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

नया वर्ष—नया रूप

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

सम्पादक : डॉ० नामवर सिंह

नये वर्ष से त्रैमासिक आलोचना अब डॉ० नामवर सिंह के सम्पादकत्व में नये रूप से निकलने जा रही है। साहित्य और साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों में इस बीच जो परिवर्तन हुए हैं, उनको देखते हुए 'आलोचना' की रूप-रेखा में आवश्यक परिवर्तन वांछनीय है। इस दृष्टि से हम आलोचना को एकेडेमिक क्षेत्र से अधिक व्यापक क्षेत्र के उपयुक्त एक जीवन्त त्रैमासिक का रूप देना चाहते हैं जिसमें जीवन, संस्कृति और साहित्य के नये-से-नये स्पन्दन का प्रतिफलन होगा। नयी आलोचना के मुख्य आकर्षण :

● प्रत्येक अंक का केन्द्रबिन्दु एक परिसंवाद होगा, जिसमें किसी ज्वलन्त समस्या पर कम-से-कम पाँच विचारोत्तेजक निबन्ध होंगे।

●● समसामयिक साहित्य के समुचित मूल्यांकन के लिए व्यवस्थित रूप में पुस्तक-समीक्षा दी जायेगी। यह कार्य एक सुगठित समीक्षक-मण्डल द्वारा सम्पन्न होगा।

●●● हिन्दी-जगत् को भारतीय साहित्य एवं विश्व-साहित्य की नवीनतम गतिविधियों के सतत सम्पर्क में रखने के निमित्त विभिन्न भाषाओं से 'संवाद-पत्र' प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है।

●●●● नये वर्ष १९६७ से प्रत्येक तिमाही—जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून, जुलाई-सितंबर तथा अक्टूबर-दिसंबर म २० × ३०/८ आकार में आलोचना का नया अंक नियमित रूप से समयानुसार आकर्षक आवरण तथा सुन्दर मुद्रण के साथ ग्राहकों को मिलेगा।

वार्षिक शुल्क : १२.०० रजिस्ट्री डाक से : १४.०० प्रति अंक : ३.००

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली-६ पटना-६

श्रीमती शीला संधू, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि०,
८ फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली के लिए नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar